ओ३म्

सत्यार्थभास्कर

महर्षि दयानन्द-विरचित
सत्यार्थप्रकाश का विस्तृत भाष्य

(प्रथम भाग)

भाष्यकार
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
रामलाल कपूर ट्रस्ट
सोनीपत (हरियाणा)

कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

ACCEPTED HERE

Scan & Pay Using PhonePe App

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.
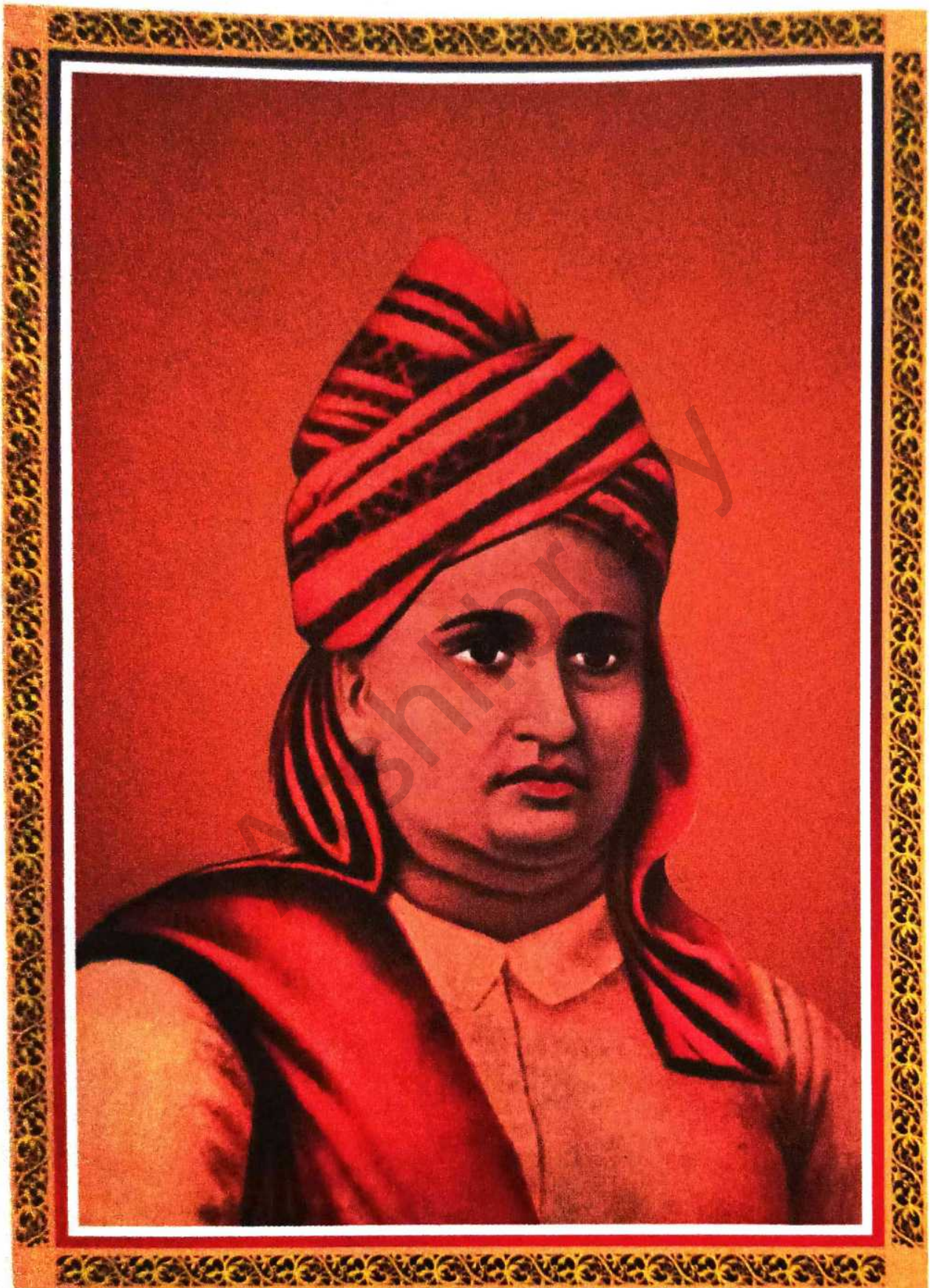
महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

सत्यार्थप्रकाश महर्षि दयानन्द सरस्वती की अद्भुत अमर रचना है। यह वैदिक सिद्धान्तों और महर्षि के मन्तव्यों का विश्वकोश है। वेद, स्मृति, दर्शन तथा अन्य विभिन्न आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों और ग्रन्थकार की युक्तियों से परिपूर्ण यह ग्रन्थ-रत्न वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए प्रकाशस्तम्भ है। ऋषि दयानन्द ने वेद के अनुयायी मध्य तथा वर्त्तमान काल के विकृत मतों-सम्प्रदायों की समीक्षा के साथ-साथ अवैदिक मतों-सम्प्रदायों की समीक्षा आर्ष पद्धति से निष्पक्षभाव से प्रस्तुत की है। उनके वचनों-वाक्यों की व्याख्या और स्पष्टीकरण का प्रयास अनेक आर्य विद्वान् समय-समय पर करते रहें है। स्वामी वेदानन्द, पं० उदयवीर शास्त्री और पं० युधिष्ठिर मीमांसक ऋषि के वचनों की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण में उल्लेखनीय योगदान कर चुके हैं। उन्हीं स्वनामधन्य विद्वानों के पदचिह्नों पर चलते हुए इस कड़ी में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का नाम भी जुड़ गया है।

पूर्व आश्रम में श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित नाम से विख्यात, डी०ए०वी० कालेज के सफल प्रिंसिपल स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वस्तुत: सरस्वती के वरदपुत्र थे। आप आजीवन वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार में संलग्न रहे। अनेक संस्थाओं से आप का सम्बन्ध था। अनेक वर्ष तक रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रधान पद को सुशोभित करते रहे। आप की लेखनी सतत प्रवाहित रही, जिससे संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के लगभग पैंतीस उत्कृष्ट रचनाएँ निर्झरित हुईं। उनके प्रकृत ग्रन्थ सत्यार्थभास्कर में महर्षि के कथनों का विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। आप ने युक्तियों और प्रमाणों से महर्षि की मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का परिपोषण किया है। आप ने अनेक उलझी गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। आप के सभी ग्रन्थों का आर्यजनता ने सादर स्वागत किया है।

यह ग्रन्थ पहली बार स्वामी विद्यानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों के समान इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन के द्वारा प्रकाशित किया गया था और विक्रय रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा होता था। पूर्व प्रकाशित संस्करण समाप्त हो गया है। अत: स्वामी जी ने अपने सभी ग्रन्थों को प्रकाशित करने का अधिकार रामलाल कपूर ट्रस्ट को प्रदान कर दिया था, अत: इस ग्रन्थ का पुन: प्रकाशन उक्त ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आर्य जनता पूर्ववत् हमें अपना सहयोग प्रदान करती रहेगी।

—मन्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट

दि० २०.८.२००६ — रेवली, सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)

विष्य-सूची

सत्यार्थभास्कर

प्राक्कथन

विशुद्ध वैदिक धर्म का लोप हुए सहस्रों वर्ष हो चुके थे। पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में उसके अवशेष यत्र-तत्र मिलते थे। जिस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की राम और कृष्ण उपासना करते थे, उसे छोड़कर उपासक राम और कृष्ण को उपास्य मानकर उन्हीं की धूप-नैवेद्य आदि से पूजा करने लग गये थे। गीता में कहा था— **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८।६१), परन्तु भक्तजनों ने उसे अपने हृदय-मन्दिरों से निकालकर गली-कूचों में बने ईंट-पत्थरों के मन्दिरों में कैद कर दिया था। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** की मनमानी घोषणा करके ईश्वर और वेद के नाम पर निरीह पशुओं की हत्या करके तथाकथित भक्तजन प्रसन्न होते थे। गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित प्राचीन वर्णव्यवस्था का स्थान जन्म पर आधारित दूषित जाति-प्रथा ने ले लिया था। दुधमुँहे बच्चों के विवाह कर दिये जाते थे। परिणामतः लाखों बाल-विधवाएँ अभिशप्त जीवन व्यतीत करने को विवश होती थीं। पुरोहितवर्ग पति की मृत्यु पर पत्नी को स्वर्ग का प्रलोभन देकर अथवा सामाजिक दण्ड का भय दिखाकर सती के नाम पर जीते-जी चिता पर जलने के लिए विवश करता था। ब्राह्मणवर्ग तरह-तरह के पाखण्ड रचकर जनता को लूटते थे। रोगों को भूत-प्रेत की लीला बताकर जहाँ एक ओर अपनी जेब गर्म करते थे, वहाँ दूसरी ओर रोगी को समुचित चिकित्सा के लाभ से वंचित कर मौत के मुँह में धकेल देते थे। ज्योतिष के नाम पर ठगविद्या जोरों पर थी। तीर्थस्थान व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः'** का मिथ्या प्रचार करके देश की आधी आबादी को तो नियमतः शिक्षा से वंचित कर रक्खा था और कुछ साधनों के अभाव में अशिक्षित रह जाते थे। इस प्रकार भारत अनपढ़-गँवारों का देश बनकर रह गया था।

इस देश के इतिहास और संस्कृति का परिचय देनेवाली पुस्तकें राजा राममोहनराय को आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में राजा राममोहनराय पहले व्यक्ति थे जिन्हों ने सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों पर प्रहार करके समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्हीं के प्रयत्न से सन् १८२८ में सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बना। उन्हीं के प्रान्त के अन्य महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने १८५६ में विधवा-विवाह को वैधता प्रदान करनेवाला कानून बनवाया। मूलतः राजा राममोहनराय वैदिक विचारधारा के प्रति आस्थावान् थे। उनके द्वारा संस्थापित 'ब्रह्मसमाज' का ट्रस्ट-डीड ८ जनवरी १८३० को लिखा गया था। उसके अनुसार ब्रह्मसमाज के निम्न सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे—

१. वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए।
२. इनमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है।
३. मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।
४. बहु-विवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि सब वेदविरुद्ध हैं, इसलिए त्याज्य हैं। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था—

"If dolatory, as now practised by our countrymen and which the learned Brahman so zealously supports as conducive to morality, is not only universally rejected by the Shastras, but must also be looked upon with great horror by common sense, as leading directly to immorality." *(Monotheistical system of the Vedas, p. 123)*

अर्थात्—जो मूर्त्तिपूजा हमारे देशवासियों में आजकल प्रचलित है और जिसको विद्वान् ब्राह्मण सदाचार का साधन बतलाने में इतना उत्साह दिखाते हैं, वह न केवल सभी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, प्रत्युत साधारण

बुद्धि से भी बड़ी भयानक है, क्योंकि इससे दुराचार बढ़ता है।

इससे आगे महादेव और पार्वती की मूर्तियों की भीषणता के याथातथ्य चित्र का संकेत करते हुए राजा राममोहनराय का कहना है कि मूर्तिपूजा और पुराणों में उपलब्ध गाथाओं से जिनके आधार पर मूर्तिपूजा प्रचलित है, सदाचार-शिक्षा की आशा करना रेत की नींव पर दीवार बनाने जैसा है। अन्यत्र वे लिखते हैं—

"For, whenever, a Hindu purchases an idol from the market, or constructs one with his own hands, or has one made under his superintendence, it is his inveriable practice to perform certain ceremonies, called Prana-pratishtha (प्राण-प्रतिष्ठा) or the endowment of animatiom, by which be believes that its nature is changed from that the mere materials of which it is formed and that it acquires not only life but also supernatural powers. Shortly afterwords, if the idol be of the masculine gender, he marries it to a feminine one, with no less pomp and magnificence than he celebrates the nuptials of his own children. The mysterious process is now complete and the god and goddess of their own making are esteemed the arbiters of his destiny." *(English Works of Raja Ram Mohan Rai by H. C. Sarkar, 1982, p. 72)*

जब एक हिन्दू बाजार से मूर्त्ति मोल लेता है, या अपने हाथों से बनाता है, या अपने निरीक्षण में किसी से बनवाता है तो सदा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करवाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मानता है कि प्राण-प्रतिष्ठा करने से मूर्त्ति की प्रकृति बदल जाती है और उसमें न केवल प्राण ही आ जाते हैं, किन्तु उसमें देवत्व भी आ जाता है। यदि वह मूर्त्ति पुल्लिग हुई तो उसका स्त्रीलिंग मूर्त्ति से उसी प्रकार विवाह किया जाता है जैसे अपनी सन्तान का। इस रहस्यपूर्ण प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने पर उसी के बनाये हुए ये देवी-देवता उसके भाग्य-विधाता बन जाते हैं।

मौर्यकाल के बाद पुष्यमित्र के समय में जिस धर्म का पोषण किया गया उसे इतिहास में ब्राह्मणधर्म के नाम से अभिहित किया गया। ऋषि दयानन्द ने उसे पौराणिक धर्म कहा (यहाँ हम धर्म शब्द का प्रयोग वर्तमान में उसके रूढ़ अर्थों में कर रहे हैं) यह धर्म अपनी परम्परा के अनुकूल सदा राज्य का आश्रय लेता रहा। मध्यकाल में इस वर्ग ने इस्लाम की सहायता से अपना प्रभुत्व बनाये रक्खा। इन्हीं के कारण सिन्धी भाषा देवनागरी की जगह अरबी अक्षरों में लिखी जाने लगी, क्योंकि यह वर्ग **'स्वार्थसिद्धये राज्याय नमो नमः'** अथवा **'यथा राजा तथा प्रजा'** में विश्वास रखता था। अंग्रेजों के युग में इस वर्ग ने नौकरियाँ पाने के लिए अंग्रेजी को अपनाया। भाषा के साथ उसके साहित्य का और साहित्य के साथ उसकी सभ्यता और संस्कृति का तो गहरा सम्बन्ध है ही, कालान्तर में उसकी अस्मिता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

राजा राममोहनराय प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनके चिन्तन में मौलिकता थी। उन्होंने अनुभव किया कि यदि हिन्दूधर्म को जीवित रहना है तो उसके वर्तमान रूप को सुधारना होगा। न हिंन्दू धर्म को ज्यों का त्यों चिपटाये रहने से काम चलेगा और न उसका त्याग करके ईसाइयत को अपनाने से कल्याण होगा। इसलिए उन्होंने मध्यम-मार्ग को अपनाने का प्रयास किया। धीरे-धीरे वे अपना सन्तुलन खोने लगे। अपने 'Autobiographical Sketch' में उन्होंने लिखा—

"Finding them generally more intelligent, more steady and moderate in their conduct, I gave up my prejudice against them and became inclined in their favour, feeling persuaded that their rule, though a foreign yoke, would lead more speedly and surely to the amelioration of the native inhabitants."

अर्थात् जब मुझे ज्ञात हुआ कि ये (अंग्रेज) प्रायः अधिक बुद्धिमान्, अधिक धैर्यवान् और व्यवहार में सन्तुलित होते हैं तो उनके प्रति मेरा पूर्वाग्रह जाता रहा और मैं उनके अनुकूल होता गया। मुझे विश्वास हो गया कि उनका राज, विदेशी होते हुए भी, भारतवासियों की उन्नति के लिए निश्चित रूप से उपयोगी है।

राजा राममोहनराय की हीन-भावना के द्योतक तथा अत्याचारी विदेशी शासकों की ठकुरसुहाती के

साक्षी ये वचन ऋषि दयानन्द के निम्न वचनों की तुलना में कितने हेय हैं—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (स. प्र. अष्टम समुल्लास)

इससे स्पष्ट है कि राजा राममोहनराय की धार्मिक अवधारणा (ब्रह्मसमाज) विशुद्ध भारतीय न होकर ईसाइयत से प्रभावित थी। इस विषय में रोम्या रोलां (Romain Rolland) का स्पष्ट मत था कि "राजा राममोहनराय ने जहाँ से प्रारम्भ किया था वह मार्टिन लूथर द्वारा प्रवर्त्तित प्रोटेस्टेण्ट एकेश्वरवाद था। उसके सम्पूर्णरूप से ईसाइयत में विलीन होने के कारण भारतीय जनसाधारण का उसमें विश्वास नहीं रहा था" (रोम्या रोलां—रामकृष्ण परमहंस, पृ. १५५)। यही कारण था कि राममोहन ने उस अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन किया जो मेकाले के अनुसार भारतीयों की प्रवृत्ति, सम्मति, नैतिकता एवं प्रज्ञा में अंग्रेज-ईसाई बनाने का सुनियोजित षड्यन्त्र था (पी. वी. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५, पृ. ४१६)। स्वयं मेकाले ने लिखा था—

"We must do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern; a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, words and intellect."

अर्थात् हमें इस देश में एक ऐसा वर्ग पैदा करने के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और हमारे द्वारा शासित करोड़ों भारतीयों के बीच दुभाषियों का काम कर सके। यह वर्ग हाड़-मांस और रंग से भले ही भारतीय दीखे, परन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल और दिल-दिमाग से अंग्रेज बन जाए। इस प्रयास में अंग्रेजों की सफलता का विवरण भी मेकाले के शब्दों में ही मिल जाता है। सन् १८३६ में अपने चाचा को लिखे एक पत्र में उसने लिखा था—

"No Hindu, who has received English education, ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure theists and some embrace Christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence."

अर्थात् जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के लिए उसे मानते रहते हैं। अधिकतर सिर्फ एकेश्वरवादी बन जाते हैं या ईसाई बन जाते हैं। मेरा पक्का और निश्चित विश्वास है कि यदि हमारी योजना पर पूरी तरह काम हुआ तो अब से तीस वर्ष के बाद बंगाल के प्रतिष्ठित घरानों में एक भी हिन्दू नहीं बचेगा।

मेकाले की शिक्षा नीति पर आधुनिक सन्दर्भ में टिप्पणी करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है—

"The policy inaugurated by Macaulay is so careful as not to make us forget the force and vitality of Western culture, it has not helped us to love our own Culture. In some cases, Macaulay's wish is fulfilled and we have educated Indians who are 'more English than the English themselves' to quote Macaulay's own words."

आशय यह है कि मेकाले की शिक्षा नीति के अनुसार शिक्षित भारतीय स्वयं अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक अंग्रेज हो गये हैं।

राजा राममोहनराय ने मेकाले की अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन ही नहीं किया, अपितु सन् १८२२ में स्वयं एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। इतना ही नहीं, "सन् १८२३ में गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखकर कलकत्ता बंगाल सरकार द्वारा स्थापित किये जा रहे संस्कृत कालेज को अनावश्यक तथा भारतीयों की उन्नति में बाध ो बताया" (आर. एन. सामधर—राजा राममोहनराय, पृष्ठ २४-२५)।

केशवचन्द्र सेन—राजा राममोहनराय के पश्चात् केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाज के शीर्षस्थ नेता के रूप में उभरकर सामने आये और अपनी वक्तृत्व शक्ति के कारण बंगाल में ही नहीं, देशभर में प्रसिद्धि पा गये। केशवबाबू के अपने कोई सिद्धान्त नहीं थे। हिन्दूधर्म की मान्यताओं को नकारने के कारण उनके द्वार सबके लिए खुल गये। वस्तुतः केशवबाबू पूरी तरह ईसाइयत के रंग में रंगे हुए थे और इस कारण वे ब्रह्मसमाज को ईसाई समाज का भारतीय संस्करण बनाना चाहते थे। उन्होंने अपने हृदय की भावना को ६ अप्रैल १८७६ को कलकत्ता के टाउन हाल में 'भारत पूछ रहा है—ईसा कौन है ?' नामक भाषण में इन शब्दों में व्यक्त किया था—"मेरा ईसा, मेरा मधुर ईसा, मेरे हृदय का सर्वाधिक मूल्यवान् हीरा, मेरी आत्मा का कण्ठहार जिसे मैंने बीस वर्ष तक अपने सन्तप्त हृदय में धारण किया है, इत्यादि" (सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६३)। फ्रांसीसी मनीषी तथा लेखक रोम्या रोलां ने लिखा है—"ईसा ने उनके अन्तस्तल को स्पर्श किया था। अब उनके जीवन का लक्ष्य ईसा को ब्रह्मसमाज में प्रतिष्ठित करना बन गया था। वे उसे संसार की धार्मिक चेतना का सर्वोच्च विचार मानते थे। क्या अब भी कोई बात उन्हें ईसाइयत से पृथक् कर सकती थी ? केशवबाबू उस समय बड़े ज़ोर से उद्‌बुद्ध हो रही राष्ट्रीय चेतना के विरुद्ध चल रहे थे" (Romain Rolland : Prophets of New India)। १० सितम्बर सन् १८६८ को केशवबाबू ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध करार दिये जाने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक बिल प्रस्तुत कराया। १६ मार्च १८७२ को यह बिल 'Native Marriage Bill' के नाम से पास हुआ। पहले उसका नाम Brahmo Marriage Act अर्थात् ब्रह्मविवाह एक्ट रक्खा गया था। जो लोग अपने-आपको हिन्दू कहते थे वे उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे, उन्होंने उसका विरोध किया। इसलिए केशवबाबू की सहमति से यह स्पष्ट कर दिया गया कि—"The term 'Hindu' does not include the Brahmos who deny the authority of the Vedas." अर्थात् हिन्दू शब्द ब्राह्मों पर लागू नहीं होता, क्योंकि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते (सत्यकेतु—आर्यसमाज का इतिहास भाग १, पृष्ठ १६८)। यही नहीं, उन्होंने भारत पर अंग्रेजों के शासन को ईश्वरीय वरदान के रूप में स्वीकार किया था। केशवबाबू को इंन्हीं प्रवृत्तियों के कारण तत्कालीन वायसराय लार्ड लारेंस ने भारतीय जनता का उद्धारक कहकर अभिनन्दित किया था (वही, पृ. १६३)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रारम्भ में भारत में नवजागरण के निमित्त राजा राममोहनराय ने प्रशंसनीय कार्य किया, तथापि पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता के प्रति उनकी तथा उनके बाद केशवचन्द्र सेन की नीति ने उन्हें भारतीय जनता से दूर कर दिया।

रामकृष्ण परमहंस—उस काल के धार्मिक पुरुषों में रामकृष्ण परमहंस की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु तत्कालीन समाज-सुधारकों में उनका कोई स्थान नहीं है। उन्हें समाज से कोई लगाव नहीं था। उनका सारा समय काली को विश्व की और अपनी माता मानकर घण्टों उसी की स्तुति, उपासना और कीर्त्तन में व्यतीत होता था। तन्त्रशक्ति से परिचय रखनेवाली एक ब्राह्मण संन्यासिनी उनकी मार्गदर्शिका थी। वस्तुतः उनकी प्रसिद्धि का श्रेय उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द को है। श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन और व्यवहार से इस बात को झुठला दिया कि मूर्तिपूजा ईश्वरप्राप्ति की सीढ़ी है और समाधि लगाने में सहायक ध्यान का अभ्यास करने का साधन है। श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द दोनों अन्तिम श्वास तक पहली सीढ़ी पर खड़े रहे। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी *(Vivekananda—A Biography by Swami Nikhilanand, Pub. by Advaita Ashram, Calcutta)* के लेखक ने लिखा है—

"At two muinutes past one early in the morning of August 16, 1886 Shri Ramkrishna uttered three times in a ringing voice the name of his beloved Kali and entered into Samadhi from which his mind never again returned to the physical world". (Page 66)

अर्थात्—मृत्यु के दिन प्रातः एक बजकर दो मिनट पर श्रीरामकृष्ण ने तीन बार अपनी प्यारी काली का नाम लिया और उस समाधि में चले गये जिससे वे फिर कभी भौतिक जगत् में नहीं लौटे।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है—

"On the supreme day he expressed his desire to worship Mother Kali at the Math and asked two of his disciples to procure all the necessary articles for the worship. " (page 339).

अर्थात्—मृत्यु के दिन स्वामी विवेकानन्द ने मठ में स्थित काली की मूर्त्ति की पूजा करने की इच्छा व्यक्त की और दो शिष्यों को पूजा की पूरी सामग्री लाने के लिए कहा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुरु (श्रीरामकृष्ण) तथा शिष्य (स्वामी विवेकानन्द) दोनों को मरते समय भी काली की ही याद आई, भगवान् की नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि हम मूर्तियों को ईश्वर नहीं मानते, हम उन्हें केवल मानसिक विकास का साधन मानते हैं। इस विषय में राजा राममोहनराय का कहना है—

"Hindus of the present age have not the least idea that it is the attributes of the Supreme Being as figuratively represented by shapes corresponding to the nature of those attributes, they offer adoration and worship under the denomination of gods and goddesses. On the contrary, the slightest investigation will clearly satisfy every inquirer, that it makes a material part of their system to hold as articles of faith all those particular circumstances, which are essential to the belief in the independent existence of the objects of their idolatory as deities clothed with divine power. *(English Works of Raja Ram Mohan Rai by H. C. Sarkar, page 71)*

आशय यह है कि वर्तमान युग के हिन्दुओं में किसी को यह ज्ञान नहीं कि जिन देवी-देवताओं की वे पूजा करते हैं, वे परब्रह्म के गुणों के प्रतिनिधिरूप हैं। थोड़ी-सी भी जाँच से पता चल जाएगा कि ये लोग उनकी स्वतन्त्र संज्ञा मानते हैं और ईश्वर मानकर ही उन्हें पूजते हैं।

स्वामी विवेकानन्द यह भी बताते हैं—"Idolatory is the attempt of undeveloped minds to grasp spiritual truths" (Teachings of Swami Vivekanand, P. 142) अर्थात् मूर्त्तिपूजा अविकसित मस्तिष्क-(अल्पबुद्धि)-वाले लोगों के लिए आध्यात्मिक सचाइयों को ग्रहण करने में समर्थ होने में साधनरूप है।

यदि मूर्त्तिपूजा अविकसित मस्तिष्कवाले लोगों के लिए है तो जिनकी सारी आयु मूर्त्तिपूजा में ही बीती हो और जिन्होनें मूर्त्ति की पूजा करते-करते और काली का नाम जपते-जपते प्राण त्यागे हों, उन्हें क्या कहा जाए?

अलवरनरेश मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे। स्वामी विवेकानन्द के जीवनीकार लिखते हैं—

"The Maharaja of Alwar ridiculed the worship of images which to him were nothing but figures of stone, clay or metal. The Swami tried in vain to explain to him that Hindus worshipped God alone, using images as symbols. The image was helpful for concentration, especially at the beginning of his spiritual life. The Maharaja was not convinced. "

अर्थात् अलवर के महाराजा मूर्त्तियों को मिट्टी, पत्थर या धातु की आकृतियों से अधिक कुछ नहीं मानते थे। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें समझाने का भरसक, किन्तु व्यर्थ यत्न किया कि मूर्त्तियाँ मन को एकाग्र करने में सहायक होती हैं और उनकी पूजा ईश्वर के प्रतीकरूप में की जाती है, परन्तु महाराजा को विश्वास नहीं हुआ।

किसी वस्तु को अपने यथार्थ स्वरूप में देखना ज्ञानी का लक्षण है। अलवर-नरेश ज्ञानी थे, इसलिए वे पत्थर को पत्थर और मिट्टी को मिट्टी समझते थे। गारे को गारा समझना विद्या है, उसे हलवा समझना अविद्या है। हिरण निश्छल भाव से, पूर्ण श्रद्धा से बालू को जल समझता है, किन्तु उससे जल का काम नहीं ले सकता। साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती और यथार्थ साधन उसी को माना जाता है जो साध्य की प्राप्ति करा दे। यदि मूर्त्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति में सहायक होती तो जीवनभर मूर्त्तिपूजा करनेवाले

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को अन्तिम समय में ईश्वर का ध्यान होना चाहिए था, काली की पूजा का नहीं, पर ऐसा नहीं हुआ।

वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द का मूर्तिपूजा के प्रति आग्रह उनके अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों के कारण था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"यदि मूर्तिपूजा में नाना प्रकार के कुत्सित विचार भी प्रविष्ट हो गये हों तो भी मैं उसकी निन्दा नहीं करूँगा" (विवेकानन्दचरित, पृष्ठ १४६)।

मूर्तिपूजा की बात करते समय स्वामी विवेकानन्द विवेक को ताक पर रख देते थे, यह निम्नलिखित घटना से स्पष्ट हो जाता है—

"When Miss Noble came to India in January 1898 to work for the education of India, he gave her the name of Sister Nivedita. At first he taught her how to worship Shiva and then made the whole ceremony culminate in an offering at the feet of Buddha." *(Vivekanand—A Biography by Swami Nikhilanand, p. 260)*

शिक्षासम्बन्धी कार्य के लिए आनेवाली एक विदेशी महिला को सबसे पहले शिवजी की पूजा सिखाना और विधि पूरी हो जाने पर शिव-पूजा के विरोधी महात्मा बुद्ध के चरणों में भेंट चढ़वाना कहाँ की समझदारी है ?

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की आराध्या देवी के विषय में उक्त जीवनी में लिखा है—

"One day in the Kali Temple of Calcutta a western lady shuddered at the sight of blood of goats sacrificed before the Deity and exclaimed— 'Why is there so much blood before the goddess ?' Quickly the Swami (Vivekanand) retorted—'Why not a little blood to complete the picture ?" (Ibid 261)

श्रीरामकृष्ण की सम्पूर्ण साधना आत्मकेन्द्रित थी। समाज-सेवा, देशभक्ति, समाज-सुधार आदि को वे पाखण्ड मानते थे। इतना ही नहीं, देश या समाज की सेवा में प्रवृत्त लोगों की खिल्ली तक उड़ाते थे। वे मूर्तिपूजक तो थे ही, उससे जुड़े अन्धविश्वासों, क्रिया-कलापों, चमत्कारों आदि के प्रति भी पूर्ण आस्थावान् थे। उनका चिन्तन भावना-प्रधान था, तर्क के लिए उसमें कोई स्थान नहीं था। विवेकानन्द के फ्रैंच जीवनी-लेखक रोम्या रोलां के अनुसार रामकृष्ण एक मुसलमान से प्रभावित होकर अपने देवता को भूलकर, अल्लाह का नाम रटने लगे। उन्होंने मुसलमानी पोशाक भी पहन ली और गोमांस-भक्षण तक के लिए तैयार हो गये। (भवानीलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ २१६)। यह सिद्ध करने के लिए कि रामकृष्ण मिशन के माननेवाले हिन्दू नहीं हैं, उनके वकील ने कलकत्ता हाईकोर्ट में बहस करते हुए कहा था—

"During his SADHANA of Islam Ram Krishna was on the verge of eating beef. According to Dr. S. C. Chatterji, during his practice of Islam Ram Krishna often read Quran."

"The practice of Islam or SADHANA took place under the guidance of Govind Ray, a convert to Islam. When the Sadhana was completed Ram Krishna saw a luminous figure appearing before him. The luminous figure is said to be that of Mohammad. Ram Krishna used to say Namaz three to five times a day in order to make it conform to the authentic five times of Islam." —Indian Express, New Delhi, 20. 9.90.

स्वामी विवेकानन्द—यहाँ हम स्वामी विवेकानन्द के हिन्दूधर्म तथा भारत-विरोधी और इसलाम तथा ईसाइयत के पोषक कुछ विचार उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं। इन विचारों का संकलन हमने अद्वैत आश्रम कलकत्ता से प्रकाशित निम्नलिखित दो पुस्तकों में से किया है—

I. Vivekanand—A Biography by Swami Nikhilanand Sarasvati.

II. Teachings of Swami Vivekanand.

सुविधा के लिए बार-बार पुस्तक का नाम न लिखकर हमने संकेतरूप में उपर्युक्त क्रम के अनुसार I और II लिखा है ।

स्वामी विवेकानन्द के भाषणों या लेखों में परस्पर विरोधी विचारों की भरमार है । पदे-पदे वदतोव्याघात के उदाहरण मिलते हैं । इस बात को ध्यान में रखकर 'Teachings of Swami Vivekanad' के सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है—

"Vivekanand was the last person in the world to worry about formal consistency. He almost always spoke extempore, fired by the circumstances of the moment, addressing himself to the condition of a particular group of hearers, reacting to the intent of a certain question. That was his nature—and he was supremely indifferent if his words today seemed to contradict those of yesterday."

स्वामी विवेकानन्द के विचार

1. "To the accusation from some Hindu that the Swami was eating forbidden food, he retorted—"If the people of India want me to keep strictly to Hindu diet, please tell them to send me a cook and money enough to keep him. " I, 129

   जब कुछ लोगों ने स्वामी विवेकानन्द के गोमांस खाने पर आपत्ति की तो उन्होंने कहा कि यदि भारत के लोग चाहते हैं कि मैं हिन्दुओं में निषिद्ध भोजन न करूँ तो उनसे कह दो कि मुझे एक रसोइया भेज दें और उसके वेतन की भी व्यवस्था कर दें ।

   किसी शाकाहारी महापुरुष ने कभी ऐसी बेहूदा माँग नहीं की ।

2. Orthodox Brahmans regarded with abhorrence the habit of eating animal food. The Swami told them about the habit of beef eating by the Brahmans in Vedic times. (I, 260)

   अर्थात् ब्राह्मण मांसाहार से घृणा करते हैं । स्वामीजी ने बताया कि वैदिक काल में ब्राह्मण लोग गोमांस खाते थे।

3. एक समय ऐसा भी था कि इसी भारत में कोई ब्राह्मण बिना मांस खाए ब्राह्मण नहीं रहता था । तुम वेद पढ़ो, तुम देखोगे, जब संन्यासी या राजा मकान में आता था, तब किस तरह और कैसे बकरों और बैलों के सिर धड़ से जुदा होते थे । (स्वामी विवेकानन्द से वार्तालाप—अनु० स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्द)

4. He advocated animal food for the Hindus, if they were to cope at all with the rest of the world and find a place anong the great nations. (I, 96)

   उनका कहना था कि यदि हिन्दू समस्त संसार का मुक़ाबला करना चाहते हैं और बड़े राष्ट्रों में अपना स्थान बनाना चाहते हैं तो उनके लिए मांसाहारी होना अनिवार्य है ।

5. So long as vegetable food is not made suitable for human system there is no alternative to meat eating. What we now want is an immense awakening of Rajasik shakti. So, I say, eat large quantities of flesh and meat. (II, 70)

   अर्थात् जब तक शाकाहार मानव-शरीर के लिए उपयुक्त नहीं बन जाता तब तक मांसाहार ही उसका विकल्प है । अब हमें राजस शक्ति की आवश्यकता है, इसलिए मैं कहता हूँ, खूब मांस खाओ ।

6. एक भक्त ने पूछा, "मांस तथा मछली खाना क्या उचित और आवश्यक है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"खूब खाओ भाई, इससे जो पाप होगा, वह मेरा होगा।......वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मांस खाने का विधान है।....घास-पात खाकर पेट-रोग से पीड़ित बाबाजी के दल से देश भर गया है।......अतः अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बनाना होगा।"—विवेकानन्दजी के संग में, पृ. २६७—२७०

मांसाहार के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार उसी के हो सकते हैं, जिसने न वेद पढ़े हैं, न मनुस्मृति, न जिसे भारतीय संस्कृति का ज्ञान है और न शरीरविज्ञान या चिकित्सा की जानकारी।

इसलाम या ईसाइयत

1. "The vast majority of perverts to Islam and Christianity are perverts by the sword or descendents of those." (II, 113)

मुसलमान-ईसाइयों में बहुत बड़ी संख्या उन हिन्दुओं की है जिनका तलवार के बल पर धर्मपरिवर्तन हुआ था।

2. "The Mohammadon rligion allows Mohammadons to kill all those who are not of their religion. It is clearly stated in the Koran-"Kill the infidles if they do not accept Islam. They must be put to fire and sword." (II, 189).

अर्थात् इसलाम उन लोगों को क़त्ल करने की आज्ञा देता है जो उनके धर्म के माननेवाले नहीं हैं। कुरान में स्पष्ट लिखा है—"काफिरों को मार डालो अगर वे इसलाम को स्वीकार न करें। या तो उन्हें तलवार के घाट उतार देना चाहिए या आग में झोंक देना चाहिए।

3. "The Mohammadons came upon the people of India always slaughtering and killing. Slaughtering and killing, they over-ran them." (II, 151)

वस्तुतः इसलाम के ख़लीफा एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर यही कहते थे—"या तो इसलाम स्वीकार करो या मौत को अपनाओ।"

इतना सब होने पर भी स्वामीजी कहते हैं—

1. "It is the followers of Islam and Islam alone who look upon and behave towards all mankinds as their own soul." (I, 254)

केवल इसलाम के अनुयायी ही ऐसे लोग हैं जो मनुष्यमात्र को अपनी आत्मा के समान मानते और वैसा ही व्यवहार करते हैं।

2. "Without the help of Islam the theories of Vedant, however fine and wonderful they may be, are entirely valueless." (I, 255).

वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही अच्छे और विलक्षण क्यों न हों, इसलाम की सहायता के बिना किसी काम के नहीं।

3. "The spirit of democracy and equality in Islam appealed to Narendras' (Vivekanand's) mind and he wanted to create a new India with Vedantic brain and Islamic body." (I,79)

इसलाम में लोक तंत्र तथा समानता की भावना से नरेन्द्र (विवेकानन्द) प्रभावित थे और वे एक नया भारत बनाना चाहते थे जिसका शरीर इसलाम का हो और मस्तिष्क वेदान्त का।

4. एक ओर वे इसलाम के थोथे भ्रातृभाव और उसकी तथाकथित सार्वभौमता की आलोचना करते हुए कहते हैं—"मुसलमान सार्वजनिक भ्रातृभाव का शोर मचाते हैं, किन्तु वास्तविक भ्रातृभाव से कितनी दूर

हैं ? जो मुसलमान नहीं हैं वे भ्रातृसंघ में शामिल नहीं हो सकते। उनके गले काटे जाने की ही अधिक संभावना है।" (धर्मरहस्य, पृष्ठ ४३)। दूसरी ओर वे कहते हैं—

"For our own motherland a junction of the two great religious systems-Hinduism and Islam-is the only hope." (I, 255, II, 218)

हमारी मातृभूमि के लिए संसार के दो महान् धर्मों का मेल ही कल्याणकारी हो सकता है।

5. फिर एक जगह वे कह देते हैं—"I want to lead mankind to the place where there is neither Veda, nor the Bible, nor the Koran." (I,255) मैं संसार के लोगों को वहाँ ले जाना चाहता हूँ, जहाँ न वेद हों, न बाइबल और न कुरान।

देश प्रेम

1. "There are people whose brains have become turned by western luxurious ideals and who have drunk deep of enjoyment, this curse of the west." (II, 159) ऐसे लोग भी हैं जिनके दिमाग पश्चिम के भोगवादी आदर्शों से दूषित हैं और जो पश्चिम के इस भोगवाद में आकण्ठ डूब गये हैं। फिर भी—

2. On April 1897 the Swami, in the course of a letter to the lady editor of an Indian magazine, had written—"It has ever been my conviction that we shall not be able to rise unless the western countries come to our help." (I, 255)

अर्थात् मेरा सदा से यह विश्वास रहा है कि पश्चिम की सहायता के बिना हम उन्नति नहीं कर सकते।

3. "When his spiritual daughter, M.E. Noble, expressed her desire to come to India, the Swami wrote on July 29, 1897—"India cannot produce great women. She must borrow them from other nations. Your education, sincerity and above all your celtic blood make you just the women wanted." (I, 259)

जब उनकी आध्यात्मिक पुत्री एम.ई. नोबल ने अपनी भारत आने की इच्छा व्यक्त की तो उत्तर में स्वामीजी ने २६ जुलाई १८६७ में लिखा—"भारत में महान् स्त्रियाँ पैदा नहीं हो सकतीं, भारत को ऐसी स्त्रियाँ दूसरे देशों से मंगानी पड़ेंगी। अपनी शिक्षा, निष्ठा और सबसे अधिक अपने केल्टिक रक्त के कारण आप बिल्कुल ऐसी स्त्री हैं, जैसी भारत को चाहिए।

"They (women of America) are Lakshmi (the Goddess of Fortune) in beauty, and like Saraswati (Goddess of learning) in virtue—they are the Divine Mother incarnate and by worshipping them one verily attains perfection in everything. I am really struck with wonder to see the women here. Most wonderful women these." (II, 136)

जिस देश ने शास्त्रार्थ-समर में विश्वविजयी जगद्गुरु शंकराचार्य को पराजित करनेवाली भारती देवी को, जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ की चुनौती देनेवाली वाचक्नवी गार्गी को, कालिदास के समकालीन देशभर के पण्डितों को धूल चटानेवाली महारानी दुर्गावती और झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई को, राष्ट्र की रक्षार्थ अपने इकलौते पुत्र का बलिदान करनेवाली पन्ना धाय को, सद्योविवाहिता अनुपम सुन्दरी पत्नी के मोह में पति चूड़ावत को ग्रस्त देखकर अपने हाथों से अपना सिर काटकर युद्ध क्षेत्र में बिदा करनेवाली हाड़ा रानी को, अपने सतीत्व की रक्षार्थ जलती चिता में तथा कुएँ में कूदकर प्राण देनेवाली पद्मिनी जैसी वीरांगनाओं को और लीलावती जैसी वैज्ञानिकों को जन्म दिया हो उसके विषय में विवेकानन्द के भारतविरोधी कथन को पढ़कर यही कहना पड़ता है कि—

घर से वैर अपर से नाता । ऐसी बहू मत देहु विधाता ॥

4. "I belong to the world as much as to India. No country has a special claim on me. Am I India's slave ?" मैं जितना भारत का हूँ उतना ही संसार का । मैं भारत का गुलाम नहीं हूँ ।

५. ब्रिटिश सरकार की प्रसन्नता को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने अपने सहयोगियों को निर्देश दिया था कि "भाषण तैयार करते समय ऐसे मुद्दों पर खास ध्यान दिया जाए जिनसे रानी (विक्टोरिया) के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट हो ।" (महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द० पृ० ३००)

६. उन्हें भारत की अपेक्षा अमरीका में रहना अधिक पसन्द था । उनकी स्पष्टोक्ति थी कि "यहाँ मुझे खाने-पीने और कपड़े-लत्ते की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं । फिर मैं कृतघ्नियों तथा बुद्धिहीनों के देश में क्यों लौटूँ ?" (वही ३०६)

७. "अंग्रेजी राज का गुणगान करने के कारण ही विवेकानन्द को सर्वप्रथम अंग्रेजों ने ही उठाने का प्रयास किया । उन्हें यह उनकी राजभक्ति का पुरस्कार था ।" (बी.बी. मजूमदार—हिस्ट्री ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज, पृष्ठ २६७)

मैक्समूलर

मैक्समूलर ही वह व्यक्ति था जिसने लार्ड मेकाले से प्रेरणा पाकर घोषणापूर्वक भारतीय साहित्य को जानबूझकर विकृत रूप में प्रस्तुत किया । उसी के लगाए विषवृक्ष के फलों का यह परिणाम है कि आज का शिक्षित समाज अपने साहित्य, समाज, सभ्यता, संस्कृति और इतिहास को हेय दृष्टि से देखता है । स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मैक्समूलर से बढ़कर देशभक्त हमारे देश में नहीं हुआ । उनके जीवनीकार ने लिखा है—

"The Swami, was deeply affected to see Maxmuller's love for India. He wrote enthusiastically—"I wish I had a hundredth part of that love for my motherland. Endowed with an extra-ordinary and, at the same time, an intensely active mind, he has lived and moved in the world of Indian thought for fifty years or more." (I, 192)

मैक्समूलर के वैदुष्य का बखान करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने यहाँ तक कह डाला—"कभी-कभी मुझे ऐसा अनुमान होता है कि स्वयं सायणाचार्य ने अपने ही भाष्य का पुनरुद्धार करने के लिए मैक्समूलर के रूप में जन्म लिया है ।" (विवेकानन्द के संग में, पृ. ६१) |

स्वामी विवेकानन्द के मैक्समूलर की प्रशंसा में युक्ति और तर्क की सीमा को लांघ जाने का कारण यह था कि उसने स्वामीजी के गुरु रामकृष्ण परमहंस की जीवनी और उपदेशों पर एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ लिखा था—"Ramkrishna : His Life and Say.ngs."

Maxmuller invited Vivekanand to lunch with him in Oxford on May 28, 1896. The swami asked Maxmuller—"When are you coming to India ? All men there would welcome one who has done so much to place the thought of their ancestors in a true light." (I, 193)

मैक्समूलर ने स्वामी विवेकानन्द को २८ मई १८९६ को भोजन पर बुलाया । वहाँ स्वामी विवेकानन्द ने मैक्समूलर से पूछा—"आप भारत कब आ रहे हैं ? वहाँ के लोग उस व्यक्ति का स्वागत करेंगे जिसने उनके पूर्वजों के विचारों को उनके सही रूप में प्रस्तुत करने में इतना परिश्रम किया है ।"

वस्तुतः यदि स्वामी विवेकानन्द ने मैक्समूलर के ग्रन्थों को और उसके जीवनवृत्त को पढ़ा होता तो कभी इस प्रकार की बात कहने का दुस्साहस न करते । इस विषय में हम आगे यथास्थान विस्तारपूर्वक

विचार करेंगे। उसे पढ़ने पर पता चलेगा कि मैक्समूलर ने जो कुछ किया उसका उद्देश्य हिन्दुओं को ईसाई बनाकर भारत की दासता की जंजीरों को सुदृढ़ करना था। मैक्समूलर की स्तुति करके स्वामी विवेकानन्द ने जाने-अनजाने अपने को इस पाप में भागीदार बनाया।

श्रीरामकृष्ण ईश्वरावतार

1. "Bhagwan Shri Ramkrishna incarnated himself in India."

भगवान् श्रीरामकृष्ण ने भारत में अवतार लिया।

2. Two days before the death of R.K., Narendra was standing by the Master's bedside when a strange thought flashed into his mind. Was the Master truly an incarnation of God ? He said to himself that he would accept Shri R.K.'s divinity if the Master declared himself to be an incarnation. He stood looking intently at the Master's face. Slowly Shri R.K.'s lips parted and he said in a clear voice—"O my Narendra ! Are you still not convinced ? He who in the past was born as Rama and Krishna, is now in this body as R.K." Thus R.K. put himself in the category of Rama and Krishna who are recognised by the Hindus as Avatars or incarnations of God." (I, 66-67)

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने को राम और कृष्ण के समान ईश्वर का अवतार होने की घोषणा की।

3. Krishna was the greatest of all incarnations of God. (II, 174)

4. On April 4, 1896 he wrote to India that R.K. was God. If people worship him as God, no harm.

5. If I had written about R.K. I would have proved, quoting from scriptures and even the holy books of Christians that R.K. was the greatest of all the prophets in the world. (I, 193)

6. Of Buddha he said that he was the greatest man that ever lived. (I, 269)

7. The omnipresent God of the universe cannot be seen, until he is reflected by the prophets, the incarnations, the embodiment of God. (II, 145-46)

8. On August 2, 1896 Swami Vivekanand entered the cave of Amarnath. He had a vision of Shiva himself. The details of the experience he told, except that he had been granted the grace of Amarnath not to die until he himself willed it. For days he spoke of nothing but Shiva. He said—"The image was the Lord himself." (I, 271)

चंगेज़खाँ ईश्वरावतार

One day he spoke of Genghis Khan and declared that he was not a vulgar oppressor. He compared him to Napoleon and alexander, saying that they all wanted to unify the world and it was the same soul that had incarnated itself three times in the hope of bringing about human unity through political conquest. In the same way one soul might have come again and again as Krishna, Buddha and Christ to bring about unity of mankind through religion. (I, 266-67)

अर्थात्—एक दिन स्वामीजी ने चंगेजखां के विषय में कहा कि वह कोई आतंकवादी या अत्याचारी नहीं था। उसकी तुलना नेपोलियन और सिकन्दर से करते हुए उन्होंने कहा कि ये सब संसार को एक करना चाहते थे। एक ही आत्मा ने राजनीतिक विजय के द्वारा मनुष्यमात्र को एकता के सूत्र में बाँधने की

आशा में तीन बार अवतार धारण किया। इसी प्रकार एक ही परमात्मा धर्म के द्वारा संसार में एकता स्थापित करने के लिए बार-बार कृष्ण, बुद्ध और ईसा के रूप में आया होगा?

इस पर किसी प्रकार की टिप्पणी की अपेक्षा नहीं, सिवा इसके कि बहुरूपिया बनकर भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर संसार में एकता स्थापित नहीं कर सका—इस संसार में जो (स्वामी विवेकानन्द के अनुसार) इसका अपना ही रूप था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के विचार न तर्कप्रतिष्ठित हैं और न उनमें कोई संगति या सामंजस्य है, न उनमें हिन्दुत्व के प्रति कोई निष्ठा है, न भारतीयता के प्रति आग्रह। जैसे उनके गुरु आत्मकेन्द्रित थे, वैसे विवेकानन्द गुरु-केन्द्रित थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि उनके द्वारा संस्थापित रामकृष्ण मिशन सन् १९८६ में कलकत्ता हाईकोर्ट से यह निर्णय कराने में सफल हो गया कि उन्हें हिन्दू न माना जाए। उनका तर्क है कि "हिन्दू वह होता है जो वेदों को मानता है। हम वेदों को नहीं मानते, हमारे लिए वेद, बाइबल, कुरान आदि सब समान हैं, इसलिए हम हिन्दू नहीं हैं।"

सर सैयद अहमद खाँ—पंजाब के हिन्दुओं के समक्ष बोलते हुए सर सैयद ने कहा था—"The word 'Hindu' that you have used for yourselves is, in my opinion, not correct because that is not in my view the name of a religion. Rather, every inhabitant of Hindustan can call himself a Hindu. I am, therefore sorry that you do not regard me as a Hindu, though I too am an inhabitant of Hindustan."

अर्थात् आपने अपने लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं किया है। हिन्दू शब्द किसी सम्प्रदाय या धर्म का वाचक नहीं है। हिन्दुस्तान में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को हिन्दू कह सकता है। मुझे दुःख है कि आप लोग मुझे हिन्दू नहीं मानते, यद्यपि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूँ।

आज कौन विश्वास करेगा कि उपर्युक्त शब्द कभी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ के मुँह से निकले थे। कुछ ही दिन बाद इन्हीं सर सैयद अहमद खाँ ने लिखा—"I object to every Congress, in every shape or form, whatsoever, which regards India as one nation." अर्थात् मैं किसी भी रूप में हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। इन शब्दों से स्पष्ट है कि १९४७ में भारत-विभाजन के लिए जिम्मेदार द्विराष्ट्र (Two nation theory) के प्रवर्तक सर सैयद अहमद खाँ थे, न कि मुहम्मद अली जिन्नाह। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटीरूपी विषवृक्ष का बीजारोपण मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियण्टल (M.A.O. College) के रूप में १८७५ में सर सैयद अहमद खाँ द्वारा हुआ था।

सन् १८८३ में बैक (Beck) नामक एक अंग्रेज की नियुक्ति इस कालेज में प्रिंसिपल के पद पर हुई। १८९९ तक यह व्यक्ति अपने पद पर बना रहा। इन १६ वर्षों में सर सैयद अहमद खाँ और उनका कालेज पूरी तरह मि० बैक के प्रभाव में रहे। परिणामतः वे दोनों राष्ट्रविरोधी गतिविधियों का केन्द्र बन गये। इंगलैंड से भारत रवाना होने से पूर्व इन्हीं मि० बैक ने वहाँ एक भाषण दिया था। अपने भाषण में भारत के लिए प्रस्तावित संसदीय पद्धति का विरोध करते हुए मि० बैक ने कहा था कि इस प्रणाली के लागू हो जने पर—

"The Muslims will be under the majority opinion of the Hindus, a thing which will be highly resisted by the Muslims and which, I am sure, they will not accept quietly."

इस प्रकार मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काकर, हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाने के इरादे से इस देश की धरती पर क़दम रक्खा और जब तक वह यहाँ रहा, इस दिशा में प्रयत्न करता रहा। सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके तीन वर्ष बाद सन् १८८८ में मि० बैक के परामर्श और सहयोग से सर सैयद ने Patriotic Association की स्थापना की, जिसका उद्देश्य

ब्रिटिश पार्लमेंट को यह विश्वास दिलाना था कि भारत के मुसलमान स्वराज्य के लिए किये जा रहे आन्दोलन में हिन्दुओं के साथ नहीं हैं ।

सन् १८६५ में मि० बैक ने इंगलैंड में एक भाषण दिया जिसका सार-संक्षेप अलीगढ़ कालेज के मैगज़ीन में इन शब्दो में छपा था—

"A friendship between the English people and Muslims was possible but not between the Muslims and followers of other religions."

अर्थात् अंग्रेजों के साथ तो मुसलमानों का मेल हो सकता है, किन्तु किसी अन्य मत वाले के साथ नहीं । इस प्रकार की भावना के रहते साम्प्रदायिक सद्भावना तथा देशभक्ति का विचार भी मुसलमानों के भीतर कैसे ठहर सकता था ?

सन् १८६८ में सर सैयद के और १८६६ में बैक की मृत्यु के बाद बेक के उत्तराधिकारी थियोडोर मौरिसन ने बेक का काम जारी रखा । वह मुसलमान विद्यार्थियों को बराबर भड़काता रहता था कि भारत में लोकतंत्र का अर्थ होगा—अल्पसंख्यक मुसलमानों को लकड़हारे, घसियारे और पानी भरनेवाले झींवर बना देना ।

मौरिसन के बाद कालेज के प्रिंसिपल के पद पर आर्चिबाल्ड नामक अंग्रेज की नियुक्ति हुई । उन दिनों बंग-विभाजन के कारण लोगों में भारी उत्तेजना थी । उसे शान्त करने के लिए अंग्रेज सरकार शासन में कुछ सुधार करना चाहती थी । जैसे ही इस बात की भनक आर्चिबाल्ड को पड़ी, वह तत्काल शिमला पहुँचा और वायसराय लार्ड मिंटो से साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की मांग की । इसी निमित्त १ अक्तूबर १६०६ को एक शिष्ट मण्डल सर आगाखाँ के नेतृत्व में भेजा गया । ब्रिटिश सरकार तो 'फूट डालो और राज्य करो'(Divide and rule) के अनुसार इसके लिए पहले से तैयार बैठी थी । उसी दिन शाम को वायसराय की पत्नी लेडी मिण्टो के नाम भेजे गये पत्र में एक अधिकारी ने लिखा था—

A big thing has happened today. A work of statesmenship that will affect India and Indian history for a long time. It is nothing less than the pulling out of 63 million people from joining the ranks of sedicious opposition."

इस प्रकार ६ करोड़ मुसलमानों को राष्ट्र की मुख्य धारा से काटकर हिन्दू और हिन्दुस्तान दोनों का कट्टर विरोधी बना दिया । अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में शिक्षित व दीक्षित मुसलमानों ने १६२० के बाद जो कुछ किया, उसी के परिणामस्वरूप १६४७ में भारत का बंटवारा हुआ ।

यह थे आधुनिक भारत के निर्माताओं और समाज-सुधारकों में अग्रणी माने जानेवाले सर सैयद अहमद खाँ ।

अंग्रेज कृतघ्न नहीं निकला । मार्च १६४७ में वायसराय बनकर भारत आने से पूर्व लार्ड माउण्टबेटन भारत की स्वतन्त्रता के कट्टर विरोधी चर्चिल से मिलने गये । इंगलैंड की सहायता करने के लिए मुसलमानों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए चर्चिल ने माउण्टबेटन से कहा—

"I am not going to tell you how to do it. But I will tell you one thing-whatever arrangements you make you must see that you don't harm a hair on the head of a single Muslim. They are the people who have been our friends and they are the people Hindus are now going to oppress. So you must take steps that they can't do it." (Indian Express Magazine, April 4, 1982)

लार्ड माउण्टबेटन ने चर्चिल को दिये वचन को पूरी तरह निभाया और भारत का बंटवारा इस प्रकार किया कि मुसलमानों को भारतभूमि का एक भाग काटकर पाकिस्तान के रूप में एक स्वतन्त्र देश मिल गया

और शेष भारत पर उनका अधिकार ज्यों-का-त्यों बना रह गया। यही कारण है कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसी १९४७ से पहले थी।

ईसाइयत का आक्रमण—सन् १८५७ तक भारत पर अंग्रेजों का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से था। कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के चेयरमैन मि० मेंगल्स ने ब्रिटिश पार्लमेंट में अपने वक्तव्य में कहा था—

"Providence has entrusted the entensive empire of Hindustan to England in order that the banner of Christ should wave triumphant from one end of India to the other. Everyone must exert all his strength that there will be no dilatoriness on any account in continuing in the country the grand work of making all Indians Christions."

विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलैंड के हाथों में इसलिए सौंपा है कि ईसामसीह का झण्डा इस देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फहरा सके। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान् कार्य में पूरी शक्ति के साथ जुट जाए।

भारतीय स्वाधीनता के प्रथम युद्ध (Mutiny ?) की समाप्ति के दो वर्ष बाद इंगलैंड के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने घोषणा की—

"It is not only our duty but in our own interest to promote the diffusion of Christianity as far as possible throughout the length and breadth of India." (Christianity and Government of India by Mayhew, page 194)

अर्थात् यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा हित इसी में है कि भारत में ईसाइयत का अधिक-से-अधिक प्रसार हो।

बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने सन् १८७६ में ईसाई मिशनरियों के शिष्टमण्डल को प्रिंस ऑफ वेल्स के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"They are doing in India more than all those civilians, soldiers, judges and governors your highness has met."

जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर और दूसरे अफसर कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक ये (मिशनरी) कर रहे हैं।

विदेशी शासन और ईसाइयत का चोली-दामन का साथ रहा है। हमारी दासता की बेड़ियों को सुदृढ़ करने में ईसाइयों ने अंग्रेजों के कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम किया है। आक्रान्ता के रूप में जाने से पहले ईसाई मिशनरी भेजे जाते थे। मिशनरियों द्वारा मैदान तैयार होने के बाद सेनाएँ उतरती थीं। सैनिक शक्ति के सहारे शासन जम जाने पर सरकार की ओर से देश के ईसाईकरण में हर प्रकार का सहयोग मिलता था। महात्मा गांधी जैसे असाम्प्रदायिक व्यक्ति को भी स्वाकीर करना पड़ा कि ईसाइयों द्वारा किये जा रहे सेवाकार्यों का वास्तविक उद्देश्य असहाय लोगों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाना है। आज भी केरल, नागालैण्ड, मिजोरम, असम आदि में जहाँ-जहाँ ईसाइयों का जोर है, वहाँ-वहाँ राष्ट्रविरोधी गतिविधियाँ जोरों पर हैं।

मुसलमान आक्रान्ता के रूप में इस देश में आये और लगभग सात सौ वर्ष तक उन्होंने शासन भी किया। यह ठीक है कि भारत के मुसलमानों में प्रायः सभी इस देश के रहनेवाले हैं, किन्तु उन्होंने स्वयं कभी भी इस देश पर शासन नहीं किया। यहाँ शासन करनेवाले—गुलाम, तुगलक, खिलजी, लोधी, मुगल आदि—सभी विदेशी थे। तथापि उनके विदेशी होने के कारण इस देश के मुसलमानों ने कभी उनका विरोध

नहीं किया । इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुसलमानों की यह मनोवृत्ति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है । सच तो यह है कि कट्टर-से-कट्टर देश-भक्त भी कलमा पढ़ते ही देशद्रोही बन जाता है । बड़े-से-बड़े राष्ट्रवादी (?) मुसलमान के हृदय में भी जो आदर विदेशी आक्रान्ता महमूद गज़नवी, मुहम्मद गौरी या बाबर के लिए है, वह महाराणा प्रताप, शिवाजी, राम या कृष्ण के लिए नहीं है ।

सन् १९०१ में जनसंख्या के अध्यक्ष (Census Commissioner) मिस्टर बर्न (Bern) ने ठीक ही लिखा था—

"Dayanand feared Islam and Christianity because he considered that the adoption and adaptation of any foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster."

ऋषि दयानन्द को आशंका थी कि इसलाम और ईसाइयत जैसे विदेशी मतों को अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रिय भावनाओं को, जिन्हें वह जाग्रत् करना चाहते थे, ठेस पहुँचेगी ।

१९११ की जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर ब्लण्ट ने लिखा था—

"The Arya Samaj doctrine and Arya Education alike sing the glories of ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation." (Census Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chap. IV, page 135)

अर्थात् आर्यसमाज के सिद्धान्त और शिक्षा दोनों समानरूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं और ऐसा करके अपने अनुयायियों में राष्ट्र के प्रति अभिमान जगाते हैं । इस कारण वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास पराभव की कहानी नहीं है ।

भारत की अस्मिता पर प्रहार

इसकी विरोधी भावना से भारतीयों को ग्रस्त करने के लिए अंग्रेजों का अभियान जारी था । लार्ड मेकाले ने अपने मित्र मिस्टर राउस को लिखा था—"अब केवल नाममात्र नहीं, हमें सचमुच नवाब बनना है और वह भी कोई पर्दा रखकर नहीं, खुल्लमखुल्ला बनना है ।" (मिल्स कृत भारतीय इतिहास, खण्ड ४, पृ. ३३२) । इसी योजना के अन्तर्गत १८६६ में आर्थर ए. मैकडानल ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' लिखा । ईसाइयत के प्रचार से भारत के उद्धार की बात करने से पहले यह सिद्ध करना आवश्यक था कि भारत के लोग सदा से बर्बर और असभ्य रहे हैं । कारण ? यदि उन्हें पहले से सभ्य मान लिया जाए तो वे उन्हें सभ्य बनाने का दावा कैसे कर सकते थे ? मैकडानल रचित पुस्तक में जो कुछ लिखा गया उसके निदर्शनार्थ कतिपय वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"इतिहासपूर्व काल में जिन आर्यों ने भारत को जीता था वे स्वयं पुराने समय में दूसरों के शिकार होते चले आये थे (पृ. ४०८); भारत में इतिहास का अस्तित्व ही नहीं है । उन्होंने कभी इतिहास लिखा ही नहीं, क्योंकि कभी कोई ऐतिहासिक कार्य किया ही नहीं (पृ. १०-११); ईरान को भारत कीमती भेंट देता था (पृ. ४०६) ।

इस प्रकार भारत सदा से हारनेवाला देश रहा है—यह सार-संक्षेप है उस इतिहास का जिसे मिथ्या होते हुए भी हमने अपनी मानसिक दासता के कारण **''आंग्लवाक्यं प्रमाणम्''** के अनुसार स्वीकार किया हुआ है ।

वास्तव में इस मत के प्रवर्त्तक मैक्समूलर थे । अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने बलपूर्वक कहा कि पाणिनि के समय तक तो भारतीय लोग लिखना-पढ़ना भी नहीं जानते थे । अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उन्होंने अपने पूर्वाग्रह को खुलकर व्यक्त किया, परन्तु

वैदिक सभ्यता के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचा हुआ समाज लेखन से अपरिचित रहे, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। वस्तुतः वेदों की भाषा, काव्य-सौष्ठव, अन्तर्वस्तु और वैचारिक गम्भीरता को देखते हुए कौन मान सकता है कि इनकी रचना निरक्षर लोगों द्वारा सम्भव थी? सन् १७८६ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के मंच से दिये गये अपने भाषण में सर विलियम जोन्स ने कहा था—"संस्कृतभाषा की प्राचीनता चाहे जो भी हो, उसका गठन अद्भुत है। वह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लेटिन से अधिक सक्षम और इनमें से किसी की भी तुलना में अधिक परिमार्जित है।" संस्कृत के सम्बन्ध में कही गयी इस बात को उच्छृंखल भावोद्‌गार नहीं माना जा सकता। भाषा का विकास शून्य में नहीं होता। वह मानव समाज के सांस्कृतिक संघर्ष के बीच अर्जित ज्ञान, अनुभव, कौशल, चिन्तन और प्रत्ययन का, उसकी अनुभूति, अभिरुचि और सौन्दर्य-दृष्टि का, उसके भौतिक योगक्षेम, नैतिक मूल्य, चेतना और सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं का याथातथ्य प्रतिबिम्ब होता है। यह एक सार्वभौम निरपवाद नियम है। वैदिक भाषा की यह समृद्धि इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि वैदिक जन वैदिक काल में एक अत्यधिक विकसित सभ्यता के निर्माता थे। उन्हें सामान्य पशुचारी यायावर के रूप में प्रस्तुत करना तथ्यों के विपरीत है।

मैक्समूलर के अनुसार वेदों को श्रुति इसलिए कहा जाता रहा है, क्योंकि इनका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही होता रहा है। यह इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन नहीं था, परन्तु मैक्समूलर की इस मान्यता के अनुसार तो वेद ही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों आदि तक के काल में, यहाँ तक कि पाणिनि के समय तक, लेखन का प्रचलन नहीं था। इससे तो इन सबका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही सिद्ध होता है। तब वेदों की तरह इन सबका नाम भी श्रुति क्यों नहीं है? यदि मैक्समूलर इस प्रश्न का उत्तर ढूँढते तो उन्हें 'श्रुति' शब्द के पीछे कोई अन्य कारण दिखाई देता। सच तो यह है कि यदि वैदिक भारत लेखन से परिचित सिद्ध हो जाता है तो उनका यह कहना मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतीयों का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा गढ़े गये इतिहास की प्रामाणिकता कैसे रह सकती थी? इसलिए वह ऐसे प्रत्येक साक्ष्य का प्रत्याख्यान करते चले गये जिससे उस काल में लेखन के प्रचलन की पुष्टि हो सकती थी।[१]

रैप्सन के अनुसार "पाणिनि के युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ में वर्णित उच्च और शुद्ध भाषा से वैदिक वाङ्मय की भाषा निश्चित पूर्वकालीन है। यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत पूर्वकालीन हो। सूत्रग्रन्थ भी, जो निस्सन्देह ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तरवर्ती हैं, एक स्वच्छन्दता दिखाते हैं, जो पाणिनि के पूर्ण प्रभाव के पश्चात् आसानी से समझ में नहीं आता।[२]"

इस लेख में इतनी सच्चाई है कि सूत्रग्रन्थ पाणिनि से पूर्वकालिक हैं, पर रैप्सन को पाणिनि के काल का पता नहीं। वह पाणिनि को ३०० ईसा-पूर्व का मानता है, जबकि पाणिनि का वास्तविक काल विक्रम से लगभग २६५० वर्ष पूर्व है। अनेक सूत्रग्रन्थ उससे कई वर्ष पूर्व के हैं। पाणिनि स्वयं उनका स्मरण करता

१ Jesperson : Language, its Nature, Origin and Development.

२ The language also of the Vedic literature is definitely anterior, though not necessarily much anterior, to the classical speach as prescribed in the epoch-making work of Panini; even the Sutras which are undoubtedly later than the Brahmanas, show a freedom which is hardly conceivable after the period of the influence of Panini." —Cambridge History of India, P. 113

है—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५)—अर्थात् पाणिनि से पहले पुरातन और उनसे अपेक्षाकृत नवीन दोनों प्रकार के सूत्रग्रन्थ बन चुके थे। पैङ्कीकल्प और आरुणपराजी (आरुण पाराशरी) आदि नूतन सूत्रग्रन्थ थे और आश्मरथ्यकल्प अपेक्षाकृत नूतन सूत्रग्रन्थ थे, किन्तु थे ये सभी पाणिनि से पूर्वकालीन। इससे भी अधिक पाणिनि के अगले सूत्र (४।३।१०६) के अनुसार शौनक की शिक्षा, शौनक की बृहद्देवता, शौनक का प्रातिशाख्य आदि भी बन चुके थे। पाणिनि से पहले अनेक वैयाकरण हो चुके थे जिन्हें पाणिनि ने स्मरण किया है। इतने अधिक व्याकरण ग्रन्थों की रचना से पूर्व अन्यान्य साहित्य भी रचा गया होगा। उसमें चिकित्सा, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान आदि अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ रहे होंगे। इतना विशाल साहित्य मौखिक रूप से रचित, प्रसारित तथा सुरक्षित रहा—यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। ये ग्रन्थ महाभारत-युद्ध के ३०० वर्ष पश्चात् तक अथवा विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व तक बन चुके थे, अतः रैप्सन का अन्यत्र (पृ. ६०) यह लिखना कि ईसा से २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने भारत में प्रवेश किया था, सर्वथा अयुक्त है।

सूत्रों तथा पुरातन स्मृतियों की भाषा महाभारत-सदृश है। महाभारत-सदृश भाषा यास्कीय निरुक्त में भी है, अतः यदि यास्क और सूत्रकार ऋषि पाणिनि से पहले के हैं तो महाभारत भी पाणिनि से पहले का है। महाभारत (पूना-संस्करण) में यद्यपि शोध का स्थान है, तथापि उसमें पाणिनि से पूर्व के और सूत्र-सदृश प्रयोग अधिक हैं। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि महर्षि वेदव्यास ने महाभारत लिखने के लिए गणेश से अनुरोध किया था। गणेश अपने समय के आशुलिपि में लिखनेवाले कुशल लेखक (Stenographer) थे। उन्होंने कुछ नियत शर्तों पर महाभारत लिखना स्वीकार कर लिया था।

वेदों, ब्राह्मणों, दर्शनों, उपनिषदों, व्याकरणग्रन्थों आदि का विभाग करते हुए मण्डल, सूक्त, काण्ड, अध्याय, प्रपाठक, पाद, खण्ड आदि का उल्लेख मिलता है। ये सब लिखित ग्रन्थों के ही विभाग-उपविभाग हो सकते हैं। अन्य किसी भी रीति से इन नामों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मौखिक रूप में भी एक दिन का पाठ विभिन्न शिक्षकों, पाठशालाओं और पीढ़ियों में वही बना रहे, और वह भी तब जब उनका आकार भिन्न हो, लिखित रचना के अभाव में असम्भव है। शतपथब्राह्मण और काठक संहिता[१] आदि में वाणी को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख है' अथर्ववेद में एक स्थल पर कोश अथवा पेटिका से निकालकर वेद का पाठ करने और फिर उसे सँभालकर उसी में रख देने का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है—

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। —अथर्व० १९।७२।१

अर्थात् जिस प्रकार पेटी से वेद का ग्रन्थ उठाते हैं और पढ़ चुकने के बाद उसी में रख देते हैं, उसी प्रकार जिस परमेश्वर से हम वेदमय ज्ञान प्राप्त करते हैं, पुनः उसी के भीतर उसे समाया पाते हैं। कोश अर्थात् पेटिका में बड़े आकार के ग्रन्थों को सँभालकर रखने का प्रचलन पुराना है और शायद इसी कारण पिटक और कोश विशाल आकार के ग्रन्थों के पर्याय बन गये प्रतीत होते हैं। वेद का यह कथन लिखित या मुद्रित ग्रन्थों के लिए ही सार्थक हो सकता है।

अथर्ववेद (७।५०।५) में **'संलिखितम्'** शब्द पठित है। 'लिख' का अर्थ होता है—'अक्षरों का विन्यास'। इस प्रकार **'संलिखितम्'** का अर्थ हुआ 'लिखा गया या लिखा हुआ'। 'सम्' उपसर्ग के साथ इसका अर्थ

१ यज्ञमुखे वै यज्ञं रक्षांसि जिघांसन्ति यत् परिलिखति रक्षसां अपहत्यै तिसृभिः परिलिखति—का. सं. १९।३।७

'अच्छी प्रकार लिखा हुआ या शिला आदि पर खुदा हुआ' भी हो सकता है। इस प्रकार वेद में लिखने का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र भी महत्त्वपूर्ण है—**'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'** (१०।७१।४)। अर्थात् कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और कोई वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वाणी को 'देखना' और 'सुनना' पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। देखना दृष्टि का काम है और सुनना कान का। वाणी तभी देखी जा सकती है, जबकि वह लिखित रूप में हो।

पाणिनि ने 'लोप' का लक्षण करते हुए कहा है—**'अदर्शनं लोपः'** (अष्टा० १।१।५६) जो कोई वस्तु होकर न रहे, दिखाई न पड़े, उसे 'अदर्शन' कहते हैं अर्थात् विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा होती है।[1] जो कभी दृश्य ही न रहा हो उसको अदर्शन नहीं कहा जा सकता। यदि भाषा लिपिरूप में न होकर श्रुतरूप में ही होती तो **'अदर्शनं लोपः** के स्थान पर **'अश्रवणं लोपः'** कहा गया होता और 'वर्णविनाश' न कहकर 'ध्वनिविनाश' कहा गया होता।

पुरातत्व की खोजों के अनुसार ब्राह्मी लिपि के नमूने मौर्य युग से मिले बताये जाते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त लिपि का आविष्कार उसी समय हुआ था। यदि मौर्य राजाओं के आदेश की खुदाई करने के लिए ही उस लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ था तो उसका नाम ब्राह्मी क्यों हुआ? 'ब्रह्म' शब्द का प्रसंगप्राप्त अर्थ वेदमन्त्र है। वेदमन्त्रों को लिपिबद्ध करने के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया गया है, वह ब्राह्मी लिपि कही जा सकती है। देवनागरी का ही प्राचीन नाम ब्राह्मी है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्रह्मदेव ने किया था। लिपिज्ञान का संकेत ऋग्वेद के **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** (१०।७१।४) मन्त्र में किया जा चुका है। वाणी का दर्शन श्रवण के प्रतिपक्ष में ही सम्भव है। इसी आधार पर ब्रह्मा ने ब्राह्मी लिपि की रचना की। स्वामी दयानन्द के अनुसार अक्षर, स्याही आदि से लिखने की रीति लोग इक्ष्वाकु के समय में प्रचार में लाये, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय वेद को कण्ठस्थ करने की रीति का ह्रास होने लग गया था। जिस लिपि में अक्षर लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी था।

पौराणिक साहित्य एवं परम्पराओं में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा रखने के लिए यमराज के कार्यालय में चित्रगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है। ईरान में भी जिधर से आर्यों के भारत में आने की सम्भावना मानी जाती है, स्वर्ग में कर्मों का लेखा रखने विषयक लेख को हर्त्सफ़ील्ड[2] ने प्राचीन ईरानियों में लेखन के प्रचलन का प्रमाण माना है' आर्यों के ईरान से भारत में आया मानने या भारत से ईरान में गया मानने—दोनों विकल्पों में से किसी भी अवस्था में भारतीय आर्यों को लेखनकला से अनभिज्ञ मानने में कोई तुक नहीं है।

भारतीय दृष्टिकोण से रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, नेपाल-राजवंशावली, कलियुग-राजवृत्तान्त, अनेक नाटक तथा चम्पूग्रन्थ आदि सब इतिहास के उपजीव्य हैं। इनके बिना केवल अधूरे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों तथा परदेशी-प्रवास-वर्णनों के सहारे तो ऑक्सफ़ोर्ड के विद्वान् भी अपने 'भारत के इतिहास' नहीं लिख सकते थे। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्वविद् महामहोपाध्याय डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने (जिनकी शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी) लिखा है—

---

१ न दर्शनम् अदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः। यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम्=अनुपलब्धिः, वर्णनाशस्तस्य लोप इति संज्ञा भवति। अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति।

२ हर्त्स 'फ़ील्ड—ज़ेरास्ट एण्ड हिज़ वर्ल्ड, १९४७', पृ. ३०७

भारत में इतिहास-लेखन

अल्बेरूनी ने लिखा है—"दुर्भाग्य से हिन्दू घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम पर पूरा ध्यान नहीं देते। वे अपने राजाओं के राज्यारोहण के तिथिक्रम की उपेक्षा करते हैं।"[1] प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० भण्डारकर ने अल्बेरूनी के इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा है कि अल्बेरूनी का यह कथन उस समय के लिए कुछ सत्य हो सकता है, जब वह भारत में आया था और जब उसकी (भारत की) सभ्यता और संस्कृति पतनोन्मुख थी, किन्तु यह कहना कि मध्यकाल से पहले भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी, तथ्यों के विपरीत होगा। भारतीय लोगों ने इतिहास लिखा ही नहीं, यह सफेद झूठ है। प्राचीनकाल में इतिहास और पुराण दोनों शब्दों से इतिहास का बोध होता था। अथर्ववेद (१५।६।११-१२) में लिखा है—**"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"** अमरकोश में इतिहास का पर्याय **'पुरावृत्त'** लिखा है। **इति-ह-आस**=ठीक ऐसा हुआ था। **पुरा-वृत्तम्**=जो पहले हुआ। इस प्रकार साधारणतया दोनों शब्दों से अतीत की घटनाओं के संकलन को इतिहास या पुराण संज्ञा ठहरती है। यास्क के निरुक्त में आये **'इत्यैतिहासिकाः'** अर्थात् 'ऐसा इतिहास माननेवाले कहते हैं' से भी उस काल में इतिहास का अस्तित्व सिद्ध होता है, परन्तु भारतीय तथा अन्य इतिहास-लेखकों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भारत के लोगों की दृष्टि में इतिहास का हेतु यह है—**"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।"** सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित लक्षणयुक्त 'पुराण' कहाते हैं।[2] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि कथाओं का नाम 'गाथा' है। वंशावलियाँ तैयार करनेवाले 'पुराविद्' कहाते थे। कौटिल्य (चाणक्य) के समय में इतिहास का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि कौटिल्य ने राजा के लिए प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर इतिहास सुनना अनिवार्य ठहराया। उसके अनुसार पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास के अन्तर्गत हैं। वर्तमान में हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में धर्मशास्त्र (Law) तथा अर्थशास्त्र (Economics) को एक दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार किया गया है। कौटिल्य ने इन्हें इतिहास का अनिवार्य अंग माना था। प्रो० भण्डारकर कहते हैं कि क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कौटिल्य ने उस समय इन्हें राजकुमारों और प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य विषयों के रूप में निर्धारित किया था?

"उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में मेरे यूरोपीय मित्र मुझे कहते थे कि भारत के इतिहास के लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों को हाथ मत लगाइए। उनका लक्ष्य था केवल सिक्के, शिलालेख, परदेशियों के प्रवास-वर्णन, पुरातत्वीय शिल्प इत्यादि से इतिहास तथा कालक्रम निश्चित करना, परन्तु अब मिस्टर पार्जिटर तथा मिस्टर जायसवाल ने पुराणों से ही कालक्रम ढूँढ निकाला है। पार्जिटर का अन्तिम कार्य पुराणों का महत्त्व प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि हमारे पुराणों जैसे साधन और परम्पराएँ जो पहले अविश्वसनीय मान ली गयी थीं, उनका महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।"[3]

---

१ Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things. They are very careless in relating the chronological succession of their Kings.

२ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

३ 'जर्नल ऑफ़ बिहार ओरियण्टल स्टडीज़', ग्रन्थ १४, पृ. ३२५-२६।

भारतीय इतिहास परिषद् (Indian History Congress) के इलाहाबाद में १९३८ में हुए अधिवेशन के अवसर पर प्रो० भण्डारकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उन भारतीय इतिहासकारों की बड़े जोर से भर्त्सना की थी जो पाश्चात्यों की विचारधारा से प्रभावित होकर यह कहते रहते हैं कि भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी। एक इतिहासकार के रूप में कल्हण को न केवल भारतीयों ने, अपितु सर ऑरेल स्टीन (Aurel Stein) जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी मान्यता प्रदान की है।

कल्हण ने अपने से पहले के लगभग एक दर्जन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनसे उसने अपना ग्रन्थ लिखने में सहायता ली है। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र के लिखने में सहायक पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि विदेशी बर्बर, अधर्मी व विधर्मी आक्रान्ताओं द्वारा हमारे सरस्वती-भण्डारों (पुस्तकालयों) में सुरक्षित हज़ारों नहीं, लाखों हस्तलेखों को नष्ट किया जा चुका है। इसी प्रकार यह कहना भी मिथ्या है कि मुसलमानों के आने से पहले भारतीयों को लेखन-सामग्री का पता नहीं था। वास्तव में वे भोजपत्रों व ताड़पत्रों का ही नहीं, कपास से बने कागज़ और चिकने कपड़े का भी लिखने के लिए प्रयोग करते थे। स्वयं अल्बेरूनी के लेख से पता चलता है कि विजयनगर के राजाओं के यहाँ महिला सचिव होती थीं। जिनका काम राज्य में घटनेवाली प्रत्येक घटना को लिखते रहना था।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

जब पाश्चात्यों का संस्कृत भाषा से सर्वप्रथम परिचय हुआ तो उनकी प्रवृत्ति संस्कृत को आदिम और मूलभाषा मानने की थी। जर्मन संस्कृतज्ञ श्लेगल एवं फ्रैंच बॉप आदि की यही भावना थी, परन्तु कालान्तर में जब उन्होंने इस सत्य के फलितार्थ को समझा तो वे शीर्षासन करने लगे। तब तक प्रो० मैक्समूलर लॉर्ड मेकाले से पूरी तरह प्रभावित हो चुका था। इसीलिए जब फ्रैंच वैयाकरण बॉप ने ग्रीक, लैटिन आदि शब्दों का मूल संस्कृत को बताना शुरू किया तो मैक्समूलर ने प्रलाप किया कि कोई अच्छा विद्वान् कभी भी ग्रीक या लैटिन शब्दों के संस्कृत से निष्पन्न होने की बात नहीं सोच सकता।[१] उसने आगे लिखा कि—"अब संस्कृत को ग्रीक, लैटिन और ऐंग्लो-सैक्सन का मूल मानने की कोई कल्पना नहीं कर सकता।"[२]

कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति भाँप लेगा कि यहाँ मैक्समूलर जान-बूझकर सत्य के साथ अन्याय कर रहा है। इसका कारण था मेकाले से मिलने और उसकी अधीनता स्वीकार करने के पश्चात् उसका भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचा गया षड्यन्त्र। मैक्समूलर ने परिस्थितियों से विवश होकर मेकाले की दासता स्वीकार की थी और भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचे गये षड्यन्त्र में वह अपनी आत्मा का हनन करके शामिल हुआ था। यह बात उसने २८ दिसम्बर १८५५ को मेकाले से भेंट होने के पश्चात् भारी मन से इन शब्दों में व्यक्त की—"मैं पहले की अपेक्षा अधिक दुःखी, किन्तु बुद्धिमान् बनकर ऑक्सफोर्ड लौटा।"[३] दुःखी इसलिए कि विद्वान् होकर उसने एक राजनितिज्ञ के आगे आत्म-समर्पण कर दिया था और बुद्धिमान्

१ 'No sound scholar can ever think of deriving any Greek or Latin words from Sanskrit.'
—Maxmueller : 'Science of Language, Vol. I, 4492.

२ 'No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin or Anglo-Saxon.'
—India, What can it teach us ?

३ 'I went back to Oxford a sadder but a wiser man'. —Camb. 'Hist, of India', Vol. VI, 1932

इसलिए कि अब वह संसार के सुखों का उपभोग करते हुए जीवित रह सकेगा। वास्तव में उन दिनों जर्मनी में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण मैक्समूलर आर्थिक अभावों में जी रहा था। मेकाले ने उसे इस ओर से निश्चिन्त कर दिया तो मैक्समूलर दुधारी तलवार लेकर इस देश के सर्वनाश पर पिल पड़ा।

अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति की जड़ को देखा, समझा और मुसलमानों के समान तलवार का सहारा न लेकर कूटनीति से काम लिया। वे भारतीय संस्कृति से प्रशंसक थे, क्योंकि यह पहले अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् कर चुकी थी। वे यह जानते थे कि युद्ध में पराजित भारतीय, सांस्कृतिक दृष्टि से अब भी अपने-आपको अंग्रेजों से उत्कृष्ट मानते हैं, अतः उन्होंने एक ऐसा मायाजाल रचा जिससे स्वयं भारतीय संस्कृति के भीतर से ही उसका विरोध होने लगा। मेकाले के मार्गदर्शन में उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का जाल बिछाया। इस जाल में फंसनेवालों को बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये। कॉलेजों से संस्कृत में एम० ए० करनेवाले मेधावी छात्रों को उच्चतम छात्रवृत्ति देकर ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में भेजा जाता था। वहाँ शिक्षा प्राप्त करके स्वदेश लौटनेवालों को यत्र-तत्र प्रिंसिपल या उच्चकोटि का प्रोफेसर नियुक्त किया जाता था। लाहौर के ओरियण्टल कॉलेज और बनारस के क्वींस कॉलेज में ऑक्सफोर्ड में निर्धारित पाठ्यक्रम रक्खा गया और इस प्रकार भारतीयों को ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के रंग में रंगा जाने लगा। उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया गया कि पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में उनकी अपनी (भारतीय) संस्कृति हेय है। कालान्तर में दास को अपनी दासता में ही आनन्द की अनुभूति होने लगी और इस प्रकार विजेता की विजय हो गयी।

पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके पालित भारतीय विद्वानों ने वेद, उपनिषद् आदि पर ऐसे मतों को आरोपित किया कि भारतीय नवयुवकों के दिमाग़ फिर गये। उनके मन में अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति हीनता की भावना भर गयी। स्कूल-कॉलेजों में सिखाया गया कि 'आर्य' नाम से अभिहित इस देश की ८०प्रतिशत आबादी विदेशी है, इसलिए कि उनको यह अभिमान न हो सके कि यह सुजला-सुफला-शस्यश्यामला भारतभूमि उनकी अपनी है। इससे नयी पीढ़ी के मन में यह भाव अंकुरित हुआ कि भारतवर्षरूपी धर्मशाला में जिस प्रकार आर्य, शक, हूण, मंगोल, तुर्क और अफ़गान आये उसी प्रकार अंग्रेज भी आये और उनका भी इस देश पर वैसा ही अधिकार बनता है जैसा अन्य पूर्ववर्ती लोगों का। इसके लिए उनके अनुकूल प्रमाणों को उजागर किया गया और प्रतिकूल प्रमाणों को दबा दिया गया। उदाहरणार्थ यहाँ मैगेस्थनीज़ के एक उद्धरण को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा जो लगभग २३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया बताया जाता है और जिसके उद्धरणों को बड़े प्रामाणिक रूप में बार-बार प्रस्तुत किया जाता है। मैकक्रिण्डल द्वारा सम्पादित Ancient India of Megasthanese के पृष्ठ ३४ पर उद्धृत है—"भारत एक विशाल देश होने के कारण उसमें विभिन्न एवं बहुसंख्यक जातियाँ बसती हैं, जिनमें मूलतः एक भी विदेशी नहीं है।"[१]

आधुनिक पाश्चात्य इतिहासविदों तथा पुरातत्ववेत्ताओं के मत से 'अनुमानतः २५०० से १५०० ईसा पूर्व तक आर्यजाति भारत में प्रविष्ट हुई और उसने इस देश के आदिम निवासियों को पराजित कर इस देश

१ 'It is said that India, being of enormous size when taken as a whole, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous; and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation'
—Mac Crindle : Ancient India, Megasthanese.

पर अधिकार कर लिया। ये आर्य हिन्दू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक तथा अन्यान्य यूरोपीय जातियों के पूर्वज थे। भारत के बाहर किसी स्थान में इनकी प्राचीन बस्ती थी।' यदि यह सचमुच सत्य है तो आर्यों का यह अभियान मैगेस्थनीज़ के भारत में आने के प्रायः १२०० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु मैगेस्थनीज़ ने बलपूर्वक कहा है कि भारत में रहनेवाले सभी लोग यहाँ के मूल निवासी हैं। इससे स्पष्ट है कि अब से २३०० वर्ष पूर्व बसे भारतीयों और तथाकथित विदेशियों में भी किसी को पता नहीं था कि आर्यजाति के रूप में हम कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं।

अब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से यह कहा जाने लगा है कि इस देश के लोगों में से मुसलमान और ईसाई बननेवाले लोगों में अधिसंख्य छोटी जातियों—अनुसूचित जातियों एवं जन-जातियों तथा गिरिजनों आदि में से हैं, क्योंकि इन्हीं वर्गों के लोग भारत के आदि=मूल निवासी हैं, इसलिए हिन्दू से मुसलमान और ईसाई बने लोग ही इस देश के असली मालिक हैं, अन्य सब विदेशी हैं। अंग्रेज चले गये, परन्तु भारत पर सबसे पहले आक्रमण करनेवाले आर्यों को पहले निकलना चाहिए था।'[१]

४ सितम्बर १९७७ को संसद् में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत फ्रैंच एन्थोनी ने माँग की थी कि संविधान के आठवें परिशिष्ट में परिगणित भारतीय भाषाओं की सूची में से संस्कृत को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यह विदेशी आक्रान्ताओं=आर्यों द्वारा लाई जाने के कारण विदेशी भाषा है।[२]' सन् १९७८ के प्रारम्भ में भारत ने अपना पहला उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ा था। उसका नाम भारत के प्राचीन वैज्ञानिक आर्यभट्ट के नाम पर रक्खा गया था। इस अवसर पर २३ फरवरी १९७८ को द्रमुक (द्रमुक मुनेत्र कषगम) के प्रतिनिधि के. लक्ष्मणन् ने राज्यसभा में माँग की थी कि भारतीय उपग्रह का नाम 'आर्यभट्ट' नहीं रक्खा जाना चाहिए था, क्योंकि यह विदेशी नाम है। कुछ वर्ष हुए, तमिलनाडु के सलेम नामक नगर में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आर्य होने के कारण उनकी मूर्ति के गले में जूतों का हार पहनाकर झाड़ुओं से मारते हुए बाजारों में जलूस निकाला गया था। इस प्रकार एक ओर उनके साहित्य को विकृत कर भारतीयों के मन में अनेकविध शंकाएँ व भ्रान्तियाँ उत्पन्न की गयीं और उन्हें अपने धर्म व संस्कृति से वितृष्ण करके अपने आत्मसम्मान से वंचित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर अंग्रेजी के माध्यम से उन्हें ईसाइयत की ओर प्रेरित किया गया।

इसी षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप पाश्चात्यों ने भाषाविज्ञान के नाप पर एक भारोपीय भाषा की कल्पना की जिसे संस्कृत का भी मूल बताया गया और भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं की तुलना करके उनसे उल्टे

१ इस संदर्भ में दिल्ली से प्रकाशित 'Muslim India' के २७ मार्च, १९८५ के अंक में प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है— "This land (India) belongs to those who are its original inhabitants and hence its rightful owners. It is they who built the Harappa and Mohenjodaro, the world's most ancient civilisation. Most of India's Muslims and Christians are converts from these sons of the soil. They are either Dalits or tribals. In all foreign invasions, it is these people who defended India. They (Aryans) don't belong to India and hence don't love India. They are foreigners, the enemy within. As Aryans, they are India's first foreigners. If Muslims and **Charistians** are foreigners and must get out of India, as India's first foreigners, the Aryans are dutybound to get out first. Those who came first must leave first."

२ 'Sanskrit should be deleted from the 8th schedule of the constitution because it is a foreign language brought to this country by foreign invaders, the Aryans.' —Indian Express, 5.9.77

परिणाम निकालकर उल्टी गंगा बहाना शुरु किया। तब उन्होंने घोषणा की कि भाषा का साक्ष्य अकाट्य है जो प्रागैतिहासिक युगों के विषय में विश्वसनीय है।[१] जर्मन संस्कृतज्ञों ने यहाँ तक दम्भ करना शुरू कर दिया कि वेद का अर्थ जर्मन-भाषाविज्ञान से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, वे जर्मनी को भाषाविज्ञान का जन्मदाता भी कहने लगे।[२] मिथ्या भाषाविज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक युग में आर्य-प्रव्रजन की कथा गढ़ी गयी। इसी के नाम पर इण्डो-यूरोपियन की कल्पना करके उसके आधार पर आर्यों का मूल अभिजन किसी यूरोपियन देश में बताया गया जहाँ से वे भारत आदि देशों में उपनिविष्ट हुए।

सारा संसार जानता है कि भाषा और व्याकरण का जैसा अप्रतिम अध्ययन भारत में हुआ वैसा संसार में कहीं नहीं हुआ। इन्द्र से लेकर पाणिनि तक शतशः महान् भाषाशास्त्री इस देश में हो चुके हैं और वे भी तब जब यूरोप के लोगों को प्रायः पढ़ना-लिखना भी नहीं आता था, परन्तु राज्याश्रय के बल पर एक ज्ञानलवदुर्विदग्ध संस्कृतज्ञ को एक महानतम विद्वान् के रूप में प्रस्तुत करके वैदिक धर्म और संस्कृति की जड़ें खोदने के लिए उसके वेदभाष्य तथा उसपर आधारित अनेकानेक ग्रन्थों को भारत के विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में प्रतिष्ठित कर दिया गया। मेकाले द्वारा मैक्समूलर की अंगुलियों में ज़बरदस्ती पकड़ाई गयी कलम से निःसृत वेदों के विद्रूप अर्थों का उद्देश्य क्या था, इसे हम अपने शब्दों में न कहकर स्वयं मैक्समूलर के शब्दों से प्रमाणित करना चाहते हैं। वेदों के सम्बन्ध में अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने लिखा—"वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, निकृष्ट, जटिल और अत्यन्त साधारण है।"[3]

चन्द्रनगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रैंच विद्वान् लुई जैकालियट (Louis Jacolliot) ने संवत् १९२६ (सन् १८६९) में 'La Bible Dans Linde' (भारत में बाइबल) नामक एक ग्रन्थ लिखा। एक वर्ष पश्चात् उसका अंग्रेजी-संस्करण प्रकाशित हुआ। भारत को मानवता का दोला (Cradle of humanity) बताते हुए उसने सिद्ध किया कि संसार की समस्त विचारधाराएँ आर्यविचार से निकली हैं। भारत की प्रशंसा पढ़कर मैक्समूलर बौखला उठा। पुस्तक की समीक्षा करते हुए उसने लिखा—"जैकालियट अवश्य ब्राह्मणों के बहकावे में आ गया है।"[४]

मैक्समूलर को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। अपनी खीज मिटाने के लिए उसने अपने पुत्र को लिखे एक पत्र में अपनी भावना इन शब्दों में व्यक्त की—"संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (बाइबल या New Testament) सर्वोत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान को, जो एक प्रकार से बाइबल का रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament), बौद्ध त्रिपिटिक, वेद और अवेस्ता हैं।"[५]

---

१ 'The evidence of language is irreferable and it is the only evidense worth listening with regard to anti-historical periods.' —History of Sanskrit Literature, P. 13

२ The principles of German school are the only one which can ever guide us to an understanding of the Vedas. Germany is far more than any other country, the birth-place and home of the science of language.' —'Language' by W.D. Whitney

३ 'A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace.' —Chips from a German Workshop. Ed. 1866, P. 27

४ 'The auther seems to have been taken in by the Brahmans in India.'

जैसे हम वेदों को कण्ठस्थ करनेवाले दाक्षिणात्य ब्राह्मणों के ऋणी हैं, वैसे ही हम पाश्चात्य विद्वानों के भी ऋणी हैं। भारतीय ब्राह्मणों ने वेदों को नष्ट होने से बचाया तो पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारत में ही सीमित न रहने देकर विश्व की सम्पत्ति बना दिया। यूरोपीय विद्वानों के प्रयत्नों से सारे संसार में वेदों की चर्चा होने लगी, किन्तु जैसे सायणादि का दृष्टिकोण यज्ञपरक था और उनके अनुसार वेद के हर मन्त्र का लक्ष्य यज्ञ की किसी प्रक्रिया को सामने रखकर मन्त्र का नियोजन करना था, वैसे ही पाश्चात्य विद्वानों का लक्ष्य वेदों का भाष्य करते हुए उनपर विकासवादी दृष्टिकोण से विचार करना था। मैक्समूलर के भाष्य पर सायण और डार्विन दोनों छाये हुए हैं। मैक्समूलर ने विकासवाद को सामने रखकर सायणभाष्य का अनुवाद किया। वस्तुतः पाश्चात्य भाष्यकारों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का विचार है। इन लोगों के लिए विकासवाद पहले है, उसके बाद जो कुछ आया उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखा जाता है। विकासवाद की कसौटी पर परखकर ही ये लोग किसी बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार का चिन्तन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। श्री अरविन्द घोष पाश्चात्य विद्वानों के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"पाश्चात्य भाष्यकारों का मत है कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन गुणों का भी वर्णन कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं और जब वह वायु की उपासना करता था तो वायु में उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता है, यह बात युक्तिसंगत भी है, जब यह मान लिया जाता है कि एकेश्वरवाद का विचार मानव-मस्तिष्क में बहुत देर में आया था। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में **"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः "**—इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) के एक नये मत की कल्पना की जिसे उन्होंने हीनोथीइज्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज्म का अर्थ है—जब किसी देवताविशेष की उपासना की जाए, तब उसी में सारे गुण आरोपित कर दिये जाएँ और इस प्रकार अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाए।"[१]

परन्तु यह कल्पना सिर्फ इसलिए की जाती है, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने को तैयार नहीं कि मानव-संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। मैक्समूलर इस बात का प्रमाण नहीं दे सके कि **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** यह मन्त्र वेद में पीछे से डाला गया है।[२] यह मन्त्र वेद का अभिन्न अंग है और यदि इससे विकासवाद

५ 'Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?... I say The New Testament. After that I should place the Koran, which, in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow....the Old Testament, the Buddhist Tripitaka...The Veda and The Avesta.'

१ The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the belief in a single God, without asserting that he is the only God; a stage between Polytheism and Monotheism. According to prof. Clayton, it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one which was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.'

खण्डित होता है तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ, राथ तथा मैक्समूलर जो कहेंगे वह प्रमाण होगा। वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है, तब उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। स्वयं वेद कहता है—'**एकं सत्**' ईश्वर एक है, '**बहुधा वदन्ति**' उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का इतना स्पष्ट वर्णन होत हुए मैक्समूलर के हीनोथीइज्म को कैसे माना जा सकता है ? श्री अरविन्द लिखते हैं—

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this lofty idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophical Dravadian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressed hymned as one with all the other Gods. Agni contains all other divine powers within himself; the Maruts are described as all the Gods; the one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, more commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrocity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions, and if you allow them to have so risen, you imperil our theory of evolutionary stages of human development. Truth must hide itself, commonsense disappear from the field so that a theory should flourish. I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayanand or the western scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर चलते हैं। अगर वेदों का अर्थ विकासवाद के सिद्धान्त को पुष्ट नहीं करता तो वे अर्थ को तोड़-मरोड़कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। श्री अरविन्द के कथनानुसार दयानन्द का भाष्य इस प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं करता। फिर भी, जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले ! यद्यपि पाश्चात्य भाष्यकार विकासवादी पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं तो भी वेदों में इतने उच्चस्तरीय विचार मिलते हैं कि वे कभी-कभी बरबस इस सन्देह में पड़ जाते हैं कि उनका पूर्वाग्रह उचित भी है या नहीं। ऋग्वेद-संहिता के चौथे खण्ड में मैक्समूलर ने लिखा—

"It is impossible for one scholar, it will probably be impossible for one generation of scholars to decipher the hymns of the Rigveda to a satisfactory conclusion."

अर्थात् मैक्समूलर के विचार में एक वैदिक विद्वान् अथवा विद्वानों की एक पीढ़ी द्वारा भी ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्य को खोज निकालना असम्भव है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना व्यक्त करने के लिए मैक्समूलर तभी विवश हुए होंगे जब उन्हें वहाँ इतने ऊँचे विचार दीख पड़े होंगे जिनके

५ मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Grammer for Students' की भूमिका में लिखा है—ऋग्वेद के १० मण्डलों में ८ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ।" उनके लिखने का अभिप्राय यह है कि पहले ८ और अगले २ मण्डलों के लिखे जाने का समय भिन्न-भिन्न है, परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' तो पहले मण्डल के १६४वें सूक्त का ४६वाँ मन्त्र है। फिर भी इसे प्रक्षिप्त माना जाता है। केवल इसलिए कि यह विकासवादी विचारधारा में फिट नहीं बैठता।

मुकाबिले में विकासवाद की दीवारें हिलती जान पड़ी होंगी। ऐसी स्थिति में वेदभाष्य करते हुए उनका विकासवाद के खूँटे से बँधे रहना दुराग्रहमात्र है।

धर्मान्तरण और वेदार्थ

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर बहुत परिश्रम किया, तो भी वे उनमें निहित ज्ञान की थाह न पा सके। सच्चाई तक पहुँचने में विकासवाद के अतिरिक्त उनका पूर्वाग्रह और स्वार्थ भी आड़े आया। यूरोपीय समाज भारत को ईसाई बनाने के कार्य में प्राणपण से जुटा हुआ था। ब्रिटेन के लोग समझते थे कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए भारतवासियों को ईसाइयत के साँचे में ढालना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस काम में काफी रुचि रखते थे। इसलिए उन्होंने वेदों का ऐसा भाष्य किया जिसे देखने के बाद इस देश के लोग अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विचारधारा को हेय दृष्टि से देखने लगे। विदेशी विद्वानों का उद्देश्य ही भारतीय जनता में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण-भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने वेद और वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेजी में किये, वे सब प्रायः सायण के आधार पर ही किये और वे वेदों को गडरियों के गीत, जंगलियों की बड़बड़ाहट और धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे सिद्ध करने में सफल हो गये।

वेद के अनुसन्धान और अनुवाद-कार्य में लगने के अपने कार्य को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने सन् १६६६ में अपनी पत्नी को भेजे पत्र में लिखा था—"मेरा यह संस्करण और वेद का अनुवाद कालान्तर में भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है। मेरा यह निश्चित मत है कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हज़ार वर्षों में इससे उत्पन्न होनेवाली सब चीजों को जड़ समेत उखाड़ फैंकने का एकमात्र उपाय है।"[1] १६ दिसम्बर १८६८ को भारत-सचिव ड्यूक ऑफ आर्गाइल को एक पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—"भारत का प्राचीन धर्म अब नष्टप्रायः है। अब यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती, तो यह किसका दोष होगा ?"[2] ईसाइयत के प्रचार की दिशा में मैक्समूलर के प्रयासों की सराहना करते हुए उसके घनिष्ठ मित्र ई.बी. पुसे ने लिखा था—"भारत को ईसाई बनाने की दिशा में किया गया आपका प्रयास एक नये युग का सूत्रपात करनेवाला होगा।"[3]

ऐसे थे मैक्समूलर, जिनकी हिन्दूधर्म के प्रति की गयी सेवाओं पर मुग्ध होकर उन्हें भारत आने का निमन्त्रण देते समय स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "भारत के लोग उस व्यक्ति का स्वागत करेंगे, जिसने उनके पूर्वजों के विचारों को उनके सही रूप में प्रस्तुत करने में इतना परिश्रम किया है।"

---

१ 'This edition of mine and the translation of the Veda will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.'

—Life and letters of Frederick Maxmueller, Vol. I , Chap. XV. P. 34.

२ 'The ancient religion of India is doomed. Now, if Christianity does not step in, whose fault will it be ?'

—Ibid, Chap. XVI, P. 378.

३ 'Your work will mark a new era in the efforts for the conversion of India.'

वस्तुतः उनके गुरु श्रीरामकृष्ण की प्रशंसा में मैक्समूलर द्वारा लिखी गयी पुस्तक के कारण विवेकानन्द उसके हाथ बिक गये थे और केशवचन्द्र सेन की तरह ईसाइयत के रंग में रंग चले थे। उनके लिए ईसा का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उन्होंने ईसा के ईश्वरत्व की घोषणा करते हुए कहा था—"ईश्वर ने ईसा होकर जन्म लिया" (देववाणी, पृ० ४०) "ईसामसीह में अलौकिक शक्तियाँ थीं। ईसा, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि के समान अवतार पुरुष ही धर्म दे सकते हैं।" (देववाणी, पृ० ४६)। 'ईशदूत ईसा' नामक एक लेख में उन्होंने लिखा—इसी महापुरुष ईसा ने कहा है—"किसी भी व्यक्ति ने ईश्वरपुत्र के माध्यम के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है और यह कथन अक्षरशः सत्य है" (ईशदूत ईसा, पृ० ३)। वार्तालालप के एक प्रसंग में उन्होंने कहा—"ईसा ईश्वरावतार थे। लोग उनकी हत्या नहीं कर सकते थे। उन्होंने जिसे सूली पर चढ़ाया था वह उसकी छायामात्र थी।" (विवेकानन्द से वार्तालाप, पृ० १२०)। "यदि मैं ईसा की उपासना करूँ तो मेरे लिए ऐसा करने की एक ही विधि है—और वह है उसकी ईश्वर के रूप में आराधना करना।" (ईशदूत ईसा, पृ० १७)।

स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन गीता और उपनिषदों तक सीमित था। मूल वेद उन्होंने नहीं पढ़े थे और गुरुभक्ति में वे इतने अन्धे हो गये थे कि वे मैक्समूलर की चालों को समझ पाने में असमर्थ थे। इसलिए **'मैक्समूलरवाक्यं प्रमाणं वाक्यम्'** मानकर उसी की इच्छानुसार ईसा के मार्ग पर आँखें मूँदकर चल पड़े थे।

इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य में, विशेषतः वैदिक वाङ्मय में, अनुकरणीय उद्योग किया, परन्तु जातीय पक्षपात, राजनैतिक स्वार्थ तथा शास्त्र-विषय में अज्ञानमूलक अनेकविध भ्रान्तियों के कारण वे वैदिक साहित्य को उसके यथार्थरूप में प्रस्तुत न कर सके। जिस ध्येय को लक्ष्य में रखकर उन्होंने इतना परिश्रम किया उसका पता मोनियर विलियम्स द्वारा अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखे इन शब्दों से लग जाता है—"(ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में) बोडनपीठ के संस्थापक कर्नल बोडन ने अपने स्वीकार-पत्र (अगस्त १८११) में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि उसकी इस विपुल राशि की भेंट का मुख्य उद्देश्य यह है कि धर्मग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया जाए जिससे उसके देशवासियों को भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में आगे बढ़ने में सहायता मिले।"[१] कुछ समय बाद इसी मोनियर विलियम्स ने लिखा—"जिस दिन ब्राह्मण-(वैदिक)-धर्म के किले की दीवारें क्रॉस के सैनिकों (ईसाई पादरियों) द्वारा आक्रान्त होकर ध्वस्त हो जाएँगी, वह ईसाइयत की पूर्ण और अपूर्व विजय का दिन होगा।"[२]

मोनियर विलियम्स बोडन पीठ का दूसरा उत्तराधिकारी था। इस पीठ का प्रथम प्राध्यापक होरेस हेमन विलसन अपने-आप में एक भला आदमी था, पर अपने अन्नदाता के भावों के प्रति कर्त्तव्य-भावना से विवश था। उसने एक पुस्तक लिखी—"Religious and Philosophical Systems of the Hindus". इस पुस्तक के प्रणयन के उद्देश्य के विषय में लिखा गया है—"ये व्याख्यान जॉन म्यूर के दो सौ पौण्ड पुरस्कार के प्रत्याशियों को सहायता

---

१ 'The founder (of the Boden Chair at Oxford) Col. Boden had stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into English to enable his contrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion.' —Sanskrit-English Dictionary by Monier Williams, 1899, Preface, P. IX.

२ "When the walls of the mighty fortress of Brahmanism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of Christianity must be signal and complete."

—Modern India and the Indians, Ed. 3, 1879, P. 261.

देने के लिए लिखे गये हैं। हिन्दूधर्म के खण्डन में लिखे गये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का लेखक इस पुरस्कार का अधिकारी होगा।"[१] इसी जॉन म्यूर ने "The Oriental Studies" नामक एक ग्रन्थ लिखा था इसके प्रकाशकों ने उसके ऊपर लिखा था—"यह पुस्तक ईसाई पादरियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।"[२]

पादरी बाप-दादा की सन्तान मेकाले तो जन्म से ही ईसाई मिश्नरी था। उसके प्रभाव में आकर मैक्समूलर (जो मूलतः विद्याव्यसनी था) भी मिश्नरी बन गया था। मेकाले कूटनीतिज्ञ था तो उसके हाथ की कठपुतली मैक्समूलर कलम का धनी था। दोनों की मंजिल एक थी—ईसाइयत का प्रचार करके भारत में विदेशी शासन की नींव को सुदृढ़ करना।

विदेशी शासन और ईसाइयत का चोली-दामन का साथ रहा। भारत की दासता की कड़ियों को सुदृढ़ करने में ईसाई पादरियों ने ब्रिटिश शासकों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है। भारतीय स्वाधीनता के प्रथम युद्ध की समाप्ति के दो वर्ष बाद ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लॉर्ड पामर्स्टन ने घोषणा की कि "यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा अपना हित इसी में है कि भारत-भर में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार हो।"[३] इससे पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के चेयरमैन मिस्टर मेंगल्स ने पार्लियामेण्ट में कहा था—"विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलैंड के हाथों में इसलिए सौंपा है कि ईसामसीह का झण्डा इस देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक लहराये। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान् कार्य में पूरी शक्ति के साथ जुट जाए।"[४] सन् १८७६ में बम्बई के गवर्नर जनरल लार्ड री ने प्रिंस ऑफ वेल्स के सामने पादरियों के शिष्टमण्डल को प्रस्तुत करते हुए कहा था—"जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर और दूसरे अफसर कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक ये (मिश्नरी) कर रहे हैं।"[५] लॉर्ड मेकाले व उसके सहयोगी तथा उसके भारतीय मानसपुत्र आज तक जो करते आये हैं उसके फलस्वरूप विसकित देश की मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है—

१ These lectures were written to help candidates for a prize of £ 200 given by John Muir, the well-known old Hailebury man and great Sanskrit scholar, for the best refutation of the Hindu Religious System.'
—Eminent Orientalists, Madras P. 72.

२ The publishers of John Muir's book 'The Oriental Studies' admit that this book will prove most serviceable to the Christian Missionaries. —Ghosh and Bros. 61 Sankaritollah, Calcutta, 1878.

३ It is not only our duty; but in our own interest to promote the diffusion of Christianity, as far as possible, throughout the length and b eadth of India. —Christianity and Government of India, Mathew, P. 194.

४ Providence has entrusted the extensive empere of India to England so that the banner of Christ should wave triumphant from one end of India to the other. Everyone must exert all his strength that there may be no dilatoriness on any account in continuing in the country of the grand work of making all Indians Christians.'

५ "They are doing in India more than all those civilians, soldiers, judges and governors your highness has met."

"Naturally some of these are not behind the hostile foreign critic in their estimate of the history of Indian culture. They look upon India's cultural evolution as one dreary scene of discord, folly and superstition. They are eager to imitate the material achievements of Western States, and tear up the roots of ancient civilisation, so as to make room for the novelties imported from the West. One of their number recently declared that if India is to thrive and flourish, England must be her 'spiritual mother' and Greece her 'spiritual grandmother'."

आचार्यों ने प्राचीन आर्ष परम्परा का अनुसरण करते हुए जहाँ वेदों को पवित्र, अपौरुषेय व ईश्वरीय ज्ञान माना, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें प्रायः मानव-पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ (Oldest book in the library of the world) मानते हुए भी उन्हें पवित्र दिव्य ज्ञान और विविध विद्याओं का भण्डार नहीं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संग्रह माना जिनसे प्राचीन असभ्यप्राय जंगली लोगों के विचारों और रीति-रिवाजों का पता चलता है।[१]

मैगेस्थनीज़ की विश्वसनीयता

जब सर विलियम जोन्स, हैनरी टॉम्स, कोलब्रुक, श्लैगल, हमबोल्ट और शोपनहावर के माध्यम से भारतीय वाङ्मय पश्चिम में पहुँचा तो लोगों की रुचि भारत से आनेवाले प्रत्येक साहित्यिक ग्रन्थ को अति प्राचीन युग का मानने की थी। कुछ लोगों को भारत के उत्कर्ष की यह बात अखरने लगी। इसका प्रमाण ए.एच. सेस के इस लेख से मिलता है—"परन्तु जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उसका इतिहास अभी तक बाइबल के प्रान्तों पर लिखी गयी तिथियों तक सीमित था। मनुष्य के अचिरकालीन आविर्भव का यह पुराना विचार अभी तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और तथाकथित सूक्ष्म इतिहासवेत्ता प्राचीन इतिहास की तिथियों की पुरातनता को कम करने में संलग्न हैं। वस्तुतः मनुष्यों की उस पीढ़ी के लिए, जो इस विचार में पली है कि मानव की उत्पत्ति ईसा-पूर्व ४००० वर्ष अथवा इसके आस-पास हुई थी, यह विचार कि मनुष्य एक लाख वर्ष पुराना है, सर्वथा अकल्पनीय एवं अविश्वसनीय है।"[१]

पाश्चात्य लेखक बुद्ध से पूर्व के इतिहास को इतिहास ही नहीं मानते, उसे प्रागैतिहासिक युग मानते हैं। जिस एक आधारतिथि (ईसा-पूर्व ३२७) के ऊपर उन्होंने भारतीय तिथिक्रम का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा किया है, वह है चन्द्रगुप्त मौर्य तथा यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर की तथाकथित समकालीनता की कहानी, जिसे मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा बताया जाता है, परन्तु जब स्वयं मैगेस्थनीज़ का भारत में आना ही विवादास्पद है, तब उसके आधार पर निर्धारित तिथिक्रम को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ? यदि मैगेस्थनीज़ भारत में आया होता और मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में रहा होता तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक होता तो यह कैसे हो सकता था कि वह नन्द और विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य का उल्लेख न करता ! परन्तु उसने इनमें से किसी का नाम तक भी नहीं लिया। इतने मात्र से मैगेस्थनीज़

१ "But as far as man was concerned, his history was still limited by the dates in the margin of our Bibles. Even today the old idea of his recent appearance still prevails and the so-called critical historians still occupy themselves in endeavouring to reduce the dates of his early history....To a generation which had been brought up to believe that 4000 B.C. or thereabout the world was being created, the idea that man himself went back to 1,00,000 years ago was both inconceivable and incredible." —Antiquity of Civilised Man, Anthropological Institute of Great Britain and Ireland, Vol. 60, July-December, 1930.

के नाम पर गढ़ी गयी चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की समकालिकता की कहानी नितान्त मिथ्या सिद्ध हो जाती है। फिर उसके आधार पर निर्धारित अन्य समस्त तिथिक्रम स्वत: खण्डित हो जाता है। भारतीय स्रोतों के अनुसार बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, आदि शंकराचार्य आदि का काल प्रचलित काल से लगभग १२०० वर्ष पीछे चला जाता है। वास्तव में मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा बताया जानेवाला ग्रन्थ 'इण्डिका' आज तक किसी ने नहीं देखा। उसके नाम की माला फेर-फेरकर भारत का इतिहास लिखा जाता रहा है। वी आर. रामचन्द्रन ने 'A Peep into Historical Past' (१८६२) तथा रामचन्द्र दीक्षितार ने 'Mauryan Polity' में कहा है कि तत्कालीन समाज व सैन्य-रचना का जो वर्णन चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है, वह मैगेस्थनीज़ के वर्णन (Classical Accounts of India—1860) से मेल नहीं खाता। प्रो० कीथ ने भी इसकी विस्तृत चर्चा की है। जहाँ पुराणों में शक, यवन, पारसी, हूणों के आक्रमणों का वर्णन है, उसमें सिकन्दर का कोई उल्लेख नहीं है। प्लीनी ने तो साफ शब्दों में लिखा है कि मैगेस्थनीज़ के वर्णन परस्पर विरोधी और अविश्वसनीय हैं। डॉ० खानबाख का भी कहना है कि इसमें सन्देह है कि मैगेस्थनीज़ ने एक बार भी पालीबोथा की यात्रा की थी या नहीं! स्ट्रेबो ने साफ शब्दों में लिखा है कि भारत के विषय में लिखनेवाले अधिकांश ग्रीक लेखक मिथ्यावादी थे, परन्तु ऐसे लेखकों को ऑक्सफोर्ड के विद्वानों ने अपने भारतीय इतिहास की आधारशिला बनाया है और भारतीयों ने भी इन्हीं के आधार पर इतिहास की रचना की है।

आजकल के पश्चिमी लेखक तो नये तथ्यों का पता लगने पर उनपर विचार करके अपने पूर्वाग्रहों को सुधारने लगे हैं, परन्तु जिन दिनों अंग्रेजी राज्य की नींव रक्खी जा रही थी उन दिनों यह स्थिति नहीं थी। समस्त लेखन पूर्वाग्रहों के आधार पर ही किया जाता था। विस्तारवादी यूरोपियनों को भारतीयों के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक आदर्श वीर की मूर्त्ति गढ़ना आवश्यक था। इसके लिए उन्हें सिकन्दर की मूर्त्ति उपयुक्त जान पड़ी। वस्तुतः ग्रीक लेखकों के मूलग्रन्थ नष्ट हो चुके थे। बाद के साहित्य से उनके उद्धरण एकत्रित किये गये। डॉ० खानबाख़ द्वारा जर्मनभाषा में प्रस्तुत यही संकलन 'इण्डिका' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८७७ में मैकक्रिंडल ने 'Ancient India after accounts of Magasthanese and Aryan' नाम से इसका अंग्रेजी में रूपान्तर किया। इसी का विस्तार कर तथा मनगढ़न्त नक़शे बनाकर विन्सेण्ट स्मिथ ने 'Oxford History of India' में उसका उपयोग किया और हमने अपने गौरांग महाप्रभुओं को आप्तपुरुष मानकर उनका अनुकरण किया, परन्तु कालान्तर में स्वयं पाश्चात्य लेखकों ने ही इन ग्रीक लेखकों को अविश्वसनीय बताना शुरू कर दिया। 'सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य समकालीन थे' विलियम जोन्स ने इस कथन का प्रतिवाद प्रो० एम० ट्रायर ने अपनी 'कल्हणकृत राजतरंगिणी' की प्रस्तावना में किया। इस विषय में उसने मैक्समूलर को पत्र भी लिखा था, परन्तु मैक्समूलर ने उसके मत का उल्लेख न करके अपने 'History of Sanskrit Literature' में विलियम जोन्स की पुष्टि करते हुए लिखा—"भारत के इतिहास को ग्रीस के इतिहास से सम्बन्धित करने तथा कालक्रम को घटाकर ठीक करने का यही एक उपाय है। कुछ उपायों विशेषकर मि० ट्रायर के राजतरंगिणी में किये गये आक्षेपों के बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य तथा ग्रीस के सैंड्राकोटस को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।" ग्रीस के सिकन्दर तथा भारत के चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालीनता के सम्बन्ध में विलियम जोन्स के मत का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है।

वेदों की स्थिति

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से वेदों का अत्यधिक महत्त्व रहा है। भारतीय परम्परागत दृष्टि से वेद मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का अक्षय भण्डार हैं। उन्हें धर्म का मूल माना गया है—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'। आस्तिकता और नास्तिकता का मानदण्ड भी वेद की निन्दा और स्तुति पर आधारित रहा

है—'नास्तिको वेदनिन्दकः' —'वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक है।' अर्थापत्ति से इसका अभिप्राय है कि जो वेद की निन्दा नहीं करता वह आस्तिक है। वेद समस्त वैदिक वाङ्मय का उपजीव्य हैं। परोक्षरूप से संस्कृत में रचित लौकिक साहित्य की विभिन्न विद्याओं में भी वह अनेक प्रकार से अनुस्यूत हैं। वेद के महत्त्व के कारण सभी धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय अपना मूल वेद में खोजने का प्रयास करते रहे हैं।

आज चाहे संसार ने कितनी ही उन्नति कर ली हो, परन्तु मानवीय समस्याओं का जैसा समाधान वेद में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मानव जीवन के लिए जो कुछ उपयोगी है, वेद में उस सबका निदर्शन है। वेद में ऐहिक के साथ पारलौकिक ज्ञान, भौतिक के साथ आध्यात्मिक ज्ञान और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का विवेचन है। यदि मानव के लिए वेद इतना उपयोगी न होता तो ब्राह्मणों ने प्राण देकर भी उनकी रक्षा के लिए प्रयास न किया होता, दाक्षिणात्यों ने वेदों को कण्ठस्थ करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता। आज भी अनेक वेदपाठी इसकी युग-युग पुरानी श्रवण और मौखिक परम्परा का पालन कर रहे हैं। उनके मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इसी अद्‌भुत आश्चर्य को देखकर एक पाश्चात्य विद्वान् ने भावविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी मुद्रित प्रतियाँ लुप्त हो जाएँ तो भी इसे ब्राह्मणों के मुख से पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

वेद की महनीयता को भारत ने स्वीकारा और इसकी सुरक्षा के लिए विश्व के इतिहास में अपने ढंग का अनूठा प्रयास किया। वेदमन्त्रों की सुरक्षा के लिए जो उपाय किये गये उन्हें आजकल की गणित की भाषा में Permutation and combination कहा जा सकता है। वेद-मन्त्र स्मरण रखने और उनमें एक भी अक्षर या मात्रा का भी लोप या विपर्यास न हो सके, इसके लिए उसे १३ प्रकार से याद किया जाता था—इन्हें संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, पुष्पमालापाठ, क्रममालापाठ, शिखापाठ, रेखापाठ, दण्डपाठ, रथपाठ, ध्वजपाठ, घनपाठ और त्रिपदघनपाठ नाम से जाना जाता है। पाठों के इन नियमों को 'विकृतिवल्ली' नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। इन प्रयत्नों की सराहना करते हुए मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ 'Origin of Religion' में पृष्ठ १३१ पर लिखा है—

"The texts of the Vedas have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word or even an uncertain aspect in the whole of Rigveda."

यदि ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठस्थ कर अपनी छाती में सुरक्षित न रक्खा होता, तो मुस्लिम शासन के बाद वेद न बचे रहते। ऐसी स्थिति में, भले ही उन पण्डितों को वेदों के अर्थों का ज्ञान न रहा हो, उन्होंने वेदों को कण्ठस्थ करके जो उनकी रक्षा की, उसके लिए सम्पूर्ण मानवजाति उनकी ऋणी रहेगी। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह केवल अन्धविश्वास ही था ? या इसकी पृष्ठभूमि में कोई गहन चिन्तन था! केवल अन्धविश्वास के आधार पर कोई भी मान्यता निरवधिक काल तक नहीं टिक सकती। मनन-चिन्तनशील मानव किसी-न-किसी कालखण्ड में उसकी परीक्षा करना चाहेगा और जब उसे अपनी मान्यता थोथे विश्वास पर आधारित लगेगी तो उसे स्वीकार न कर पाने में उसे विवशता का आभास होने लगेगा। आश्चर्य इस बात का है कि भारत के चिन्तनशील मानव को—सांख्य, वैशेषिक और न्यायदर्शन के रचयिताओं को कभी यह आभास नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है कि अति प्राचीनकाल की पीढ़ियों को वेदार्थ सुस्पष्ट था और इस कारण वे लोग वेदों की महनीयता के प्रति भी आश्वस्त थे। परम्परा के आधार पर एक-दूसरे को वेदार्थ का ज्ञान कराने की परम्परा का लोप होने पर धीरे-धीरे वेदार्थ का ज्ञान धूमिल होने लगा।

इस प्रकार वेदार्थ या वेदभाष्य की परम्परा का उपक्रम तब हुआ जब लोगों को मौखिक उपदेश द्वारा वेदार्थ को समझने में असमर्थता अनुभव होने लगी। वेदार्थ करनेवाले आचार्यों ने वेद को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और उसी के अनुसार अर्थ किया। यही कारण है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भी वेदमन्त्रों के अलग-अलग अर्थ किये।

वैदिक विचारधारा में यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कालान्तर में यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में ही होने लगा। जैसे-जैसे यज्ञों का महत्त्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे वेदों का आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थों में उनका पर्यवसान कर दिया गया। वेदमन्त्रों के केवल आधियाज्ञिक अर्थ किये जाने का प्रत्यक्ष प्रहार आधिदैविक प्रक्रिया पर हुआ। प्राचीनकाल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के जो वैज्ञानिक अर्थ किये जाते थे, वे धीरे-धीरे लुप्त होते गये। परिणामतः अत्युत्कृष्ट वैज्ञानिक अर्थों के प्रतिपादक मन्त्र चारण-भाटों के स्तुतिवचन बनकर रह गये और इस प्रकार वेद का सर्वज्ञानमयत्व नष्ट हो गया। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वेदार्थ करनेवाले ये भाष्यकार याज्ञिकवाद की कीली के गिर्द घूमते रहे। सायण के काल तक यह स्थिति हो गयी कि आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश करनेवाले मन्त्रों को भी पकड़-पकड़ कर बलात् याज्ञिक प्रक्रिया में घसीटा जाने लगा। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों का महीधर ने ऐसा अश्लील अर्थ किया कि हम सभ्य संसार के सामने मुँह दिखाने लायक न रहे।

वस्तुतः महीधर का अर्थ इतना अश्लील है कि कामशास्त्र के निकृष्टतम प्रकरणों में भी वैसी बेहूदा भाषा का प्रयोग नहीं मिलेगा। वैसा अर्थ तो मन्त्रों को तोड़-मरोड़कर भी नहीं हो सकता। ऐसी हालत में तो महीधर के अर्थों को तभी माना जा सकता है जब हमारा इरादा ही वेदों के विरुद्ध घृणा फैलाना हो। महीधर के अर्थ को पढ़कर ही चार्वाकों को कहना पड़ा—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारः धूर्त्तभण्डनिशाचराः ।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
अश्वस्यास्य शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यं जातं प्रकीर्तितम् ।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥

महीधर का अर्थ इसीलिए त्याज्य नहीं कि वह अश्लील है, अपितु इसलिए भी कि मन्त्रों का वह अर्थ है ही नहीं।

शतपथब्राह्मण में भी ऐसा ही अर्थ उपलब्ध है, परन्तु शतपथ में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवं उपादेय अर्थ भी उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि मांसभक्षण, मदिरापान, पशुबलि, गुप्तेन्द्रियपूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया गया और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गयी। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है? यदि इसका उत्तर 'हाँ' में है तो बुद्ध जैसे महात्मा के स्वर-में-स्वर मिलाकर हम भी यह कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेद को नहीं मानते, परन्तु इसमें दोष वेद का नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से सब हरा-ही-हरा दिखता है।

लॉर्ड मेकाले को अपने मिशन में पूरी सफलता मिली। लोकमान्य तिलक जैसे देशभक्त की कलम से उसने लिखवा दिया कि भारत में रहनेवाले आर्य (हिन्दू) इस देश के मूल निवासी न होकर आक्रान्ता के

रूप में बाहर से आकर बसे हुए लोग हैं। अपने ही घर में हम पराये बनकर रह गये। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने अपनी पुस्तक 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में लिखा है—"तिलक महोदय का मत (आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में) संशोधन करने के लिए गत वर्ष जब हम उनके घर गये तो उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया—'आमि मूल वेद अध्ययन करि नाई। आमि साहब अनुवाद पाठ करिया छे' अर्थात् हमने मूल वेद नहीं पढ़े, हमने तो केवल साहब लोगों का अनुवाद पढ़ा है। सायण और तदनुयायी मैक्समूलर के दूषित वेदार्थ ने सबकी आँखों पर ऐसी पट्टी बाँधी कि आज तक भी वह नहीं खुल पायी। भारतीय संस्कृति के पोषक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी पुस्तक 'लोपामुद्रा' में ऋग्वेद के आधार पर लिखा—

"आर्यों की भाषा में अभी भी जंगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मांस भी खाया जाता था और गाय का भी। '**अतिथिग्व**' गोमांस खिलानेवाले की बहुमानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। ऋषि युद्धक्षेत्र में हजारों का संहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए मन्त्रों की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे अधम नहीं माने जाते थे। कई ऋषियों के पिताओं का पता नहीं था। आर्य भेड़िये की तरह लोभी थे। बीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार न था। आत्मा का कोई ख्याल ही नहीं था। ईश्वर की कोई कल्पना नहीं, कोई नाम नहीं, मान्यता नहीं। स्वदेश की कोई कल्पना नहीं थी। दस्यु भारतवर्ष के शिवलिंगपूजक मूल निवासी थे।

जब हमने पत्र लिखकर उनसे ऋग्वेद के उन मन्त्रों को उद्धृत करने का आग्रह किया जिनके आधार पर उन्होंने यह सब लिखा था तो उन्होंने वैसा ही उत्तर दिया जैसा लोकमान्य तिलक ने दिया था। उन्होंने हमारे नाम अपने पत्र दिनांक २ फरवरी १६५० में लिखकर भेजा—

"I believe the Vedas to have been composed by human beings in the very early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated by western scholars and as given in Dr. Keith's Vedic Index. I have accepted their views of life and conditions of those times."

अर्थात्—मैं वेदों को अपनी संस्कृति के प्रारम्भिक काल में मनुष्य द्वारा रचित मानता हूँ। मैंने अपनी पुस्तक में आर्यों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतः डॉक्टर कीथ द्वारा किया गया वेदों का अनुवाद है। मैंने उस समय के लोगों के जीवन और रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है।

सायण और तदनुयायी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों का निरुक्त-प्रक्रिया की उपेक्षा करके लौकिक संस्कृत के आधार पर वेदार्थ करने का यह दुष्परिणाम निकला कि सब सत्य विद्याओं के पुस्तक वेद किस्से-कहानियों का पिटारा बनकर रह गये। इतना ही नहीं, ब्राह्मणग्रन्थों, शाखाओं, श्रौतसूत्रों आदि अनेकानेक संस्कृतग्रन्थों को भी वेद मानकर समय-समय पर उनमें हुए प्रक्षेपोंसहित सब-कुछ वेदों के मत्थे मढ़ दिया गया और इस प्रकार हमारी मस्तिष्करूपी भूमि में वेदों के प्रति अश्रद्धा की पथरीली चट्टानें खड़ी कर दी गयीं।

ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव

ऐसी विषम परिस्थिति में दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः वही भारतीय पुनर्जागरण (Renaissance) के पुरोधा थे। फ्रैंस के महान् लेखक रोमा रोलाँ ने लिखा है—

"This man with the nature of a lion is one of those, whom Europe is too apt to forget when she judges India, but whom she will probably be forced to remember to her cost; for he was that rare combination, a thinker of action with a genius for leadership. He was a hero with the athletic strength of a Hercules who thundered against all forms of thought other than his own, the only true one. He was so successful that in five years Northern India was completly changed. He possessed unrivalled knowledge of Sanskrit and the Vedas. Never since Shankara had such a prophet of Vedism appeared. Dayanand was not a man to come to an understanding with religious philosophers imbued with western ideas."

यह पुरुषसिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जबकि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है, किन्तु एक-न-एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए विवश होना पड़ेगा, क्योंकि उसमें कर्मयोगी, विचारक और नेतृत्व के लिए अपेक्षित प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था। शारीरिक बल में वह हरकुलीस (Hercules—a hero of Greek and Roman mythology, celebrated for his great strength and for the accomplishment of twelve extraordinary tasks. After death he was ranked among the gods) **के समान था, जो सत्य के विरोधी हर प्रकार के विचार के विरुद्ध गरजता था। पाँच वर्ष के भीतर उसने उत्तर भारत को पूरी तरह बदल डाला। संस्कृत और वेदों के ज्ञान में उससे बढ़कर कोई नहीं था। शंकर के बाद दयानन्द के समान वेदों का प्रवक्ता दूसरा नहीं हुआ। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित किसी धार्मिक या दार्शनिक विचारधारा से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया।**

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए श्री अरविन्द ने १९१६ में लिखा था—

"In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and agelong misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisioned fountains."

—Vedic Magazine : Dayanand and the Veda, Lahore, Nov. 1916.

अर्थात् वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या कोई भी हो, यथार्थ निर्देशों के प्रथम आविर्भावक के रूप में ऋषि दयानन्द का सदा मान किया जाएगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच यह उनकी अन्तर्दृष्टि थी जिसने सच्चाई को खोजा और उसे वास्तविकता के साथ जोड़ दिया। समय ने जिन द्वारों को बन्द कर रखा था उनकी चाबियों को उसने पा लिया और बन्द पड़े हुए स्रोत की मुहरों को तोड़ कर फैंक दिया।

मैक्समूलर का हृदय-परिवर्तन

अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण मैक्समूलर को अपनी आत्मा का सौदा करके लॉर्ड मेकाले की दासता स्वीकार करनी पड़ी थी। ऑक्सफोर्ड में रहते हुए अपने प्रारम्भिक वर्षों में उनके लिए अपने अन्नदाताओं को सन्तुष्ट करना आवश्यक था। इसलिए उस अवधि में उन्होंने जो कुछ लिखा वह उस स्थिति का परिणाम था। इस आत्मसमर्पण के कारण उनकी आत्मा उसे कचोटती रही। इसलिए जैसे ही उसे इस स्थिति से उबरने का अवसर मिला, वैसे ही उसका मन विद्रोह कर उठा और भीतर की बातें बाहर आने लगीं। वे भीतर की बातें क्या थीं ? मैक्समूलर ने लिखा है—

"Of the Rigveda, the most ancient of Sanskrit books, two editions are now coming out in monthly numbers. The one published at Bombay by what may be called the liberal party; the other at Prayag (Allahabad) by Dayanand Sarswati, the representative or Indian orthodoxy. The former gives a paraphrase in Sanskrit and Marathi and English translation, the latter a full explanation in Sanskrit followed by a vernacular (Hindi) commentary. These books are published by subscription and the list of subscribers among the natives of India is very considerable."

—India : What can it teach us.

मैक्समूलर प्रयाग से स्वामी दयानन्द द्वारा मासिक रूप में प्रकाशित हो रहे ऋग्वेदभाष्य के नियमित ग्राहक थे और उनका नाम मुखपृष्ठ पर प्रकाशित ग्राहकों की सूची में शामिल था। स्वामीजीकृत ऋग्वेदभाष्य को पढ़कर मैक्समूलर की आँखे खुल गयीं और उसके विचार पलटा खाने लगे। सन् १८८२ में कैम्ब्रिज में मैक्समूलर के कुछ व्याख्यान हुए जो सन् १८८३ में 'India : What can it teach us' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों में स्वामी दयानन्द, वेद और भारत के सम्बन्ध में मैक्समूलर का स्वर बदला हुआ था। कभी स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए मैक्समूलर ने लिखा था—

"He (Dayananda) actually published a commentary in Sanskrit on Rigveda. But in all his writings there is nothing which could be quoted as original, beyond his somewhat strange interpretations of words and whole passages of Vedas."

—Maxmueller : A Real Mahatma, P. 8.

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद का भाष्य किया है, पर उसके समूचे साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसे मौलिक कहा जा सके, सिवा इसके कि उन्होंने वैदिक शब्दों और वाक्यों के कुछ विचित्र-से अर्थ किये हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को पढ़ने के बाद मैक्समूलर ने इस महान् ग्रन्थ को संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए स्वामी दयानन्द और उनकी कृति का इन शब्दों में स्तवन किया है—

"We may divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's Introduction to his commentary of the Rigveda, into two parts."

—India : What can it teach us, P. 102.

इस प्रकार मैक्समूलर ने जहाँ संस्कृत साहित्य के एक ध्रुव पर ऋग्वेद को रखा, वहाँ दूसरे ध्रुव पर दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को प्रतिष्ठित किया।

सन् १८६६ में मैक्समूलर ने लिखा था—"A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and common place."

—Chips from a German Workshop, Ed. 1866, P. 27

अर्थात् वैदिक सूक्तों की एक बहुत बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निकृष्ट और साधारण है। उनमें न परस्पर संगति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं। जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है।

उन्हीं मैक्समूलर ने १८८२ में लिखा—"वेद में जैसी भाषा पायी जाती है, उसमें जैसा जीवन-दर्शन है और जैसे धर्म का दर्शन होता है, उनसे जो दृश्यावली दृष्टिगत होती है, वर्षों में तो कोई उसकी दूरी नाप नहीं सकता। वेद में ऐसी भावनाओं का प्रकाश हुआ है जो हम यूरोपियनों को १६वीं शती में आधुनिक प्रतीत होती हैं। उससे अधिक प्राचीन साहित्यिक कृति का हमें नाम भी सुनने को नहीं मिला। मानव विचारधारा के इतिहास के विषय में जो जानकारी हमें वेद से मिलती है, वह वेदों की खोज से पूर्व हमारी कल्पना से भी परे थी।" (हम भारत से क्या सीख सकते हैं, पृष्ठ १३०)

सन् १८६८ में मैक्समूलर ने अपने पुत्र को लिखे पत्र में वेदों का अवमूल्यन इन तिरस्कारपूर्ण शब्दों में किया था—

"Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?.....I say, the New Testament. After that I should place the koran which, in its moral teachings is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow...... The Old Testement, the Buddhist Tripitaka... The Veda and the Avesta ."

अर्थात् संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (The Bible or New Testament) सर्वोत्कृष्ट है। इसके पीछे कुरान को, जो एक प्रकार से बाईबल का ही रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament) बौद्धत्रिपिटिक, वेद और अवेस्ता हैं।

बाद में सन् १८८३ में मैक्समूलर ने इन शब्दों में वेद का प्रशस्तिगान किया—"यदि किसी को **मानव जाति** का अध्ययन करना हो, या आप चाहे तो यूँ कह सकते हैं कि यदि किसी को आर्य-जीवन के विषय में अध्ययन करना हो तो उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। **संसार का कोई भी साहित्य वैदिक साहित्य की तुलना में नहीं ठहर सकता।**" (हम भारत से क्या सीखें, पृ० १२४)

"लोगों ने वेद की महत्ता को कम करने के कोई कम प्रयत्न नहीं किये, पर उसका महत्व आज भी वैसा ही है। आज भी धार्मिक, सामाजिक या दार्शनिक विवादों में वेद को ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है।"

—वही पृ० २२७

स्वामी दयानन्द ने पाणिनि की अष्टाध्यायी और यास्क के निरुक्त के आधार पर किये गये वेदों के व्याख्यान को प्रामाणिक माना था, जबकि मैक्समूलर आदि लौकिक संस्कृत के अनुसार वेदभाष्य कर रहे थे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन करने पर उनका दृष्टिकोण बदला और उन्होंने लिखा—

"वास्तव में वेदों को समझने के लिए वैदिक प्रणाली ही एकमात्र प्रणाली है। अन्य प्रणाली से उनका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व यास्क नाम के एक विद्वान् हुए हैं। उन्हीं का अनुसरण करके हम वेदों को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।" (भारत से हम क्या सीख सकते हैं, पृ० १५०)

पाश्चात्य मत के अनुसार वैदिक आर्य अनेक देवी-देवताओं की उपासना करते थे। मैक्समूलर भी यही मानता था, क्योंकि वह विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि मानव संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। बाद में उसका यह विचार बदल गया। तब उसने लिखा—

"There are hymns in the Rigveda that assert the unity of the Divine. Thus it is said—'That which is one, sages name it in various ways. They call it Agni, Yama, Matarishwa'—"**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**" —ऋ. १।१६४।४६ —India : What can it teach us, P. 128.

'श्राद्ध' शब्द की मैक्समूलर द्वारा की गयी निम्नलिखित व्याख्या निश्चय ही स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक विचारों को मानने का परिणाम है—

"श्राद्ध शब्द अर्थपूर्ण है। इस शब्द के विषय में सर्वाधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि यह शब्द न वेद में मिलता है और न ब्राह्मणग्रन्थों में, अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यह शब्द काफी देर बाद प्रचलित हुआ है। श्राद्ध शब्द के कई अर्थ होते हैं। वास्तव में 'श्रद्धया यत्कृतमिति श्राद्धम्' अथवा 'श्रद्धार्थमिदं श्राद्धम्'। ऐसी स्थिति में जो लोग श्राद्ध शब्द को सपिण्डतिलोदकदान तक सीमित समझते हैं, वे भूल करते हैं।" वही पृ० २१६

पाश्चात्यों एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत के मूल निवासी द्रविड़, दास और दस्यु नाम से पुकारे जानेवाले लोग थे। कालान्तर में आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर इस देश के आदिवासियों को पराजित करके बलात् अधिकार कर लिया। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि आर्य इस देश के मूल निवासी हैं। उनके सम्पर्क में आने पर मैक्समूलर के विचारों ने पलटा खाया और प्रकारान्तर से उसने घोषणा की कि हम सब भारत से आये हैं। उसने लिखा—

"We have all come from the East—all that we value most has come to us from the East and by going to the East everybody ought to feel that he is going to his 'old home' full of memories, if only we can read them.

—India P. 21

अर्थात् यह निश्चित है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन में जो कुछ मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, वह सब हमें पूर्व से मिला है। ऐसी स्थिति में जब भी हम पूर्व की ओर जाएँ तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोए हुए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।

सन् १८६८ में अपनी पत्नी को लिखे मैक्समूलर के पत्र से स्पष्ट है कि मैक्समूलर योजनाबद्धरूप में भारतीयता का सर्वनाश करने पर तुला हुआ था। इसी मैक्समूलर ने भारत की प्राशसनिक सेवा (I.C.S.=Indian Civil Service) में नियुक्त युवकों को इंगलैंड से भेजे जाते समय भारत का परिचय देते समय बताया—

"आप अपने विशेष अध्ययन के लिए चाहे जो भी शाखा अपनाएँ—भाषा, धर्म, दर्शन, कानून, परम्पराएँ, प्रारम्भिक कला या विज्ञान—हर विषय का अध्ययन करने के लिए भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है। आप पसन्द करें या न करें, परन्तु वास्तविकता यही है कि मानव के इतिहास की बहुमूल्य एवं निर्देशक सामग्री भारतभूमि में संचित है, केवल भारतभूमि में।"

वस्तुतः वेदविषयक सारे अनर्थ की जड़ मध्यकालीन आचार्यों, विशेषतः सायण की वेदार्थ-विषयक भ्रान्त धारणाएँ हैं। इन विदेशी विद्वानों को सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता तो सम्भवतः वेद की ऐसी दुर्दशा न होती। पिछले पाँच हजार वर्ष में अनेकानेक आचार्य हुए किन्तु वेद के वास्तविक स्वरूप को बतानेवाला एक भी नहीं हुआ। वेदों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए और वेद के विषय में प्रचलित विविध मिथ्या मतों का उन्मूलन करने के लिए स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्ररूप से प्राचीन पद्धति को लेकर वेदभाष्य का उपक्रम किया और इस प्रकार वेदों के गूढार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। पर वे समय से पूर्व ही स्वर्लोक चले गये। इसलिए वेदों के विषय में उनका प्रयत्न मार्गदर्शनमात्र है। यदि वे अधिक समय तक जीवित रहते और चारों वेदों का भाष्य कर पाते तो वे वेद के 'सर्वज्ञानमयत्व' तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** इत्यादि मनु की स्थापना को सत्यापित करने में सफल होते। उनके समस्त चिन्तन का केन्द्रबिन्दु वेद था। इसलिए चैत्र शुक्ला पंचमी संवत् १६३२ तदनुसार १० अप्रैल सन् १८७५ को जब स्वामी

दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की तो उन्होंने लिखा था—"आ समाजनो मुख्य उद्देश्य ए छे के वेदविहित धर्मतत्त्वो प्रत्येक सभासदे मान्य करवो अने तेनो प्रसार देश-प्रदेश करवाने यथाशक्ति प्रयत्न करवो।" स्थापना के समय यही आर्यसमाज का 'पहलो नियम' निर्धारित किया गया था। स्वामीजी का विश्वास था कि वेद को अपनाने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्ततः विश्व की सभी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। इसी विश्वास और संकल्प के साथ उन्होंने वेदविरुद्ध मत-मतान्तरों तथा समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों के निवारणार्थ प्रचार करना प्रारम्भ किया।

सत्यार्थप्रकाश की रचना

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वाणी और लेखनी दोनों का उपयोग किया। सर्वप्रथम उन्होंने सन् १८६७ में हरद्वारकुम्भ के अवसर पर 'पाखण्ड-खण्डन' नाम से एक छोटी-सी पुस्तक छपवाई थी, जिसे उन्होंने बड़ी संख्या में वितरित कराया था। तत्पश्चात् १८६६ में काशी के पण्डितों के साथ हुए शास्त्रार्थ का पूरा विवरण संस्कृत तथा हिन्दी में प्रकाशित हुआ। उससे स्वामीजी के मन्तव्यों के प्रचार में अच्छी सहायता मिली थी। काशी में रहते हुए ही स्वामीजी ने 'अद्वैतमत-खण्डन' नाम से एक पुस्तक लिखी जो सन् १८७० में वहीं से प्रकाशित हुई थी। हुगली में पण्डित ताराचरण तर्करत्न का जो शास्त्रार्थ हुआ था वह भी पुस्तकरूप में १८७३ में काशी से ही प्रकाशित हुआ था। सन् १८७४ में स्वामीजी ने ग्रन्थरचना में विशेष तत्परता दिखाई जिसके फलस्वरूप अगले दो-तीन वर्षों में उनके कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था—सत्यार्थप्रकाश।

सत्यार्थप्रकाश की रचना के प्रेरणास्रोत राजा जयकृष्णदास थे। वे मुरादाबाद के रहनेवाले 'राणायनीय' शाखाध्यायी सामवेदीय ब्राह्मण थे, जो स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके परम भक्त बन गये थे। वे डिप्टी कलेक्टर के पद पर नियुक्त थे। उन दिनों कलेक्टर, जज आदि उच्च पदों पर अंग्रेजों को ही नियुक्त किया जाता था। इसलिए राजा जयकृष्णदास का डिप्टी कलेक्टर का पद प्राप्त करना बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वे समय-समय पर स्वामीजी से मिलते रहते थे। जब ज्येष्ठ संवत् १६३१ (मई १८७४) में स्वामीजी काशी पधारे तब राजा जयकृष्णदास वहाँ के डिप्टी कलेक्टर थे। एक दिन जब वे स्वामीजी से मिलने गये तो उन्होंने सुझाव दिया—"भगवन्! आपके उपदेशामृत से वे ही लोग लाभ उठा पाते हैं जो आपका व्याख्यान सुनते हैं। न तो सब लोग व्याख्यान-सभा में उपस्थित हो सकते हैं और न आप स्वयं सर्वत्र पहुँच सकते हैं। इसलिए यदि आपके मन्तव्य लेखबद्ध होकर पुस्तकरूप में छप जाएँ तो बहुत लोग लाभ उठा सकेंगे। इस प्रकार आपके उपदेश स्थाई भी हो जाएँगे और भविष्य में होनेवाले लोग भी लाभान्वित हो सकेंगे।" इस निवेदन के साथ ही राजाजी ने ग्रन्थ के लिखवाने और छपवाने के व्यय का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। 'नेकी और पूछ-पूछ'—स्वामीजी को बात जंच गयी और उन्होंने राजाजी के प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया। राजाजी ने पुस्तक लिखने के लिए चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रिय पण्डित को नियुक्त कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास था—"**क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।**" वे जिस कार्य को उपयोगी समझ लेते थे उसको प्रारम्भ करने में देर नहीं लगाते थे। तदनुसार आषाढ़ बदि १३, संवत् १६३२ (१२ जून १८७४) शुक्रवार के दिन सत्यार्थप्रकाश लिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया गया। स्वामीजी बोलते जाते थे और पं० चन्द्रशेखर लिखते जाते थे। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के लेखन में लगभग ढाई मास का समय लगा। ५०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ १८७५ में स्टार प्रेस वाराणसी द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित हो गया। इसमें १२ समुल्लास थे। ईसाई और मुस्लिम मतों से सम्बन्धित १३वाँ और १४वाँ समुल्लास जो

वर्तमान में प्रचलित संस्करण में हैं, वे प्रथम संस्करण में नहीं थे। संशोधित व परिवर्धित सत्यार्थप्रकाश यद्यपि १८८४ में प्रकाशित हुआ, तथापि उसका मुद्रण स्वामीजी के जीवनकाल में आरम्भ हो चुका था। आर्यसमाज को सन् १८८४ में प्रकाशित संस्करण ही मान्य है, जिसमें १४ समुल्लास हैं और स्वमन्तव्यामन्तव्य शीर्षक से स्वामीजी के अभिमत सिद्धान्तों का स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम संस्करण में १३वाँ-१४वाँ समुल्लास

कई व्यक्ति आरोप लगाते हैं कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध १३वाँ और १४वाँ समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छपे थे, इसलिए ये स्वामीजी के लिखे हुए नहीं हैं। इन्हें आर्यसमाजियों ने स्वामीजी की मृत्यु के बाद छपनेवाले संस्करण में अपनी ओर से जोड़ दिया है। इस आक्षेप के समाधान के लिए हम यहाँ प्रथम संस्करण के दशम समुल्लास के पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट कापी का ब्लाक छाप रहे हैं, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी १३वाँ और १४वाँ समुल्लास लिखना चाहते थे। यह फोटोस्टेट हमने अपने निजी पुस्तकालय में सुरक्षित प्रथम संस्करण की दुर्लभ प्रति से कराया है। कहा जा सकता है कि 'लिखना चाहते थे' से यह कैसे सिद्ध हो गया कि 'लिखे थे'। ऐसे लोगों के लिए स्वामीजी का वह पत्र प्रमाण है जो उन्होंने माघ बदि २, संवत् १८३१ (२३ जनवरी १८७५) को स्टार प्रेस काशी के लाला हरवंशलाल को लिखा था। उस पत्र का एतद्विषयक अंश इस प्रकार है—

"आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा सो शोधके आपके पास आया कि नहीं ? जो न आया हो, तो राजा जयकृष्णदासजी को खत लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें और बाइबिल का अध्याय सब शोधके छाप दो।" (पत्र-व्यवहार पृ० २२)

इस पत्र से कुरान और बाइबल दोनों के खण्डन-मण्डन स्वामीजी के जीते-जागते छापे जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह निश्चित हो ज़ाता है कि किसी कारण वे छप नहीं सके थे। इसकी पुष्टि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखे स्वयं स्वामीजी के इन शब्दों से हो जाती है—

"परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) किसी कारण से प्रथम न छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

प्रथम संस्करण की हस्तलिखित प्रति राजा जयकृष्णदासजी के पौत्र राजा ज्वालाप्रसादजी से प्राप्त करके उसका फोटोस्टेट करवा लिया गया है, जो परोपकारिणी सभा अजमेर में सुरक्षित है। उसमें १३वें समुल्लास में कुरान मत की और १४वें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि ऋषि ने अपने निर्वाणकाल से लगभग १४ मास पूर्व तैयार कर ली थी और उसकी प्रेस कापी बनाकर उसे प्रेस में भेजना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सत्यार्थप्रकाश उनके जीवनकाल में छपकर प्रकाशित नहीं हो सका। इसी कारण विपक्षियों को यह कहने का अवसर मिल गया कि संवत् १९४०वाला सत्यार्थप्रकाश असली नहीं है, स्वामीजी के बाद आर्यसमाजियों ने बनाकर उनके नाम से छाप दिया है।

ऋषिकृत ग्रन्थों में अशुद्धियाँ

स्वामी दयानन्द ने १८६० से १८६३ तक गुरु विरजानन्दजी के पास रहकर विद्याध्ययन किया। इन तीनों वर्षों में उन्होंने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"आगे जब उनसे (गुरुवर से) परिचय हुआ तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे

वर्तमान में प्रचलित संस्करण में हैं, वे प्रथम संस्करण में नहीं थे। संशोधित व परिवर्धित सत्यार्थप्रकाश यद्यपि १८८४ में प्रकाशित हुआ, तथापि उसका मुद्रण स्वामीजी के जीवनकाल में आरम्भ हो चुका था। आर्यसमाज को सन् १८८४ में प्रकाशित संस्करण ही मान्य है, जिसमें १४ समुल्लास हैं और स्वमन्तव्यामन्तव्य शीर्षक से स्वामीजी के अभिमत सिद्धान्तों का स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम संस्करण में १३वाँ-१४वाँ समुल्लास

कई व्यक्ति आरोप लगाते हैं कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध १३वाँ और १४वाँ समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छपे थे, इसलिए ये स्वामीजी के लिखे हुए नहीं हैं। इन्हें आर्यसमाजियों ने स्वामीजी की मृत्यु के बाद छपनेवाले संस्करण में अपनी ओर से जोड़ दिया है। इस आक्षेप के समाधान के लिए हम यहाँ प्रथम संस्करण के दशम समुल्लास के पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट कापी का ब्लाक छाप रहे हैं, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी १३वाँ और १४वाँ समुल्लास लिखना चाहते थे। यह फोटोस्टेट हमने अपने निजी पुस्तकालय में सुरक्षित प्रथम संस्करण की दुर्लभ प्रति से कराया है। कहा जा सकता है कि 'लिखना चाहते थे' से यह कैसे सिद्ध हो गया कि 'लिखे थे'। ऐसे लोगों के लिए स्वामीजी का वह पत्र प्रमाण है जो उन्होंने माघ बदि २, संवत् १८३१ (२३ जनवरी १८७५) को स्टार प्रेस काशी के लाला हरवंशलाल को लिखा था। उस पत्र का एतद्विषयक अंश इस प्रकार है—

"आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा सो शोधके आपके पास आया कि नहीं ? जो न आया हो, तो राजा जयकृष्णदासजी को ख़त लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें और बाइबिल का अध्याय सब शोधके छाप दो।" (पत्र-व्यवहार पृ० २२)

इस पत्र से कुरान और बाइबल दोनों के खण्डन-मण्डन स्वामीजी के जीते-जागते छापे जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि किसी कारण वे छप नहीं सके थे। इसकी पुष्टि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखे स्वयं स्वामीजी के इन शब्दों से हो जाती है—

"परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) किसी कारण से प्रथम न छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

प्रथम संस्करण की हस्तलिखित प्रति राजा जयकृष्णदासजी के पौत्र राजा ज्वालाप्रसादजी से प्राप्त करके उसका फोटोस्टेट करवा लिया गया है, जो परोपकारिणी सभा अजमेर में सुरक्षित है। उसमें १३वें समुल्लास में कुरान मत की और १४वें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि ऋषि ने अपने निर्वाणकाल से लगभग १४ मास पूर्व तैयार कर ली थी और उसकी प्रेस कापी बनाकर उसे प्रेस में भेजना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सत्यार्थप्रकाश उनके जीवनकाल में छपकर प्रकाशित नहीं हो सका। इसी कारण विपक्षियों को यह कहने का अवसर मिल गया कि संवत् १९४०वाला सत्यार्थप्रकाश असली नहीं है, स्वामीजी के बाद आर्यसमाजियों ने बनाकर उनके नाम से छाप दिया है।

ऋषिकृत ग्रन्थों में अशुद्धियाँ

स्वामी दयानन्द ने १८६० से १८६३ तक गुरु विरजानन्दजी के पास रहकर विद्याध्ययन किया। इन तीनों वर्षों में उन्होंने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"आगे जब उनसे (गुरुवर से) परिचय हुआ तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे

पढ़ने का निश्चय किया।" अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अतिरिक्त उन्होंने किन ग्रन्थों का अध्ययन किया, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि दण्डीजी से उन्हें वह दृष्टि प्राप्त हो गयी थी जिसके द्वारा वे सत्यासत्य का निर्धारण करने में समर्थ थे, परन्तु गुरुवर से चाबियाँ पाकर भी ताले खोलने में काफी समय लगा। आत्मकथा के अनुसार—"विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा में रहा।" आगरा से वे जयपुर गये। वहाँ उन्होंने शैव-वैष्णव विवाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"वहाँ (जयपुर में) मैंने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराजा रामसिंह ने शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष मालाएँ मैंने अपने हाथ से दीं। यहाँ शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी-घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गयीं।" जयपुर में स्वामीजी अक्तूबर १८६६ तक रहे। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा १९२३ वि. (१ मार्च अथवा पं० लेखराम के अनुसार १२ मार्च, १८६७) को स्वामीजी हरद्वार पहुँचे। इस समय हरद्वार में कुम्भ का महामेला लगा हुआ था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सप्तसरोवर नामक स्थान पर अपना डेरा जमाया और 'पाखण्ड-खण्डनी' पताका लहराकर मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवतादि पुराण, जल-स्थानों का तीर्थ नाम, कण्ठी, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों का खण्डन प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रसंग को विस्तार देने का हमारा उद्देश्य यह बताना है कि सन् १८६३ में गुरुवर से विदा लेने के समय से अक्तूबर १८६६ में जयपुर से प्रस्थान करने तक का समय अपने मत एवं सिद्धान्तों को क्रमशः निर्धारित करने का काल था। कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व की यह भूमिका थी। तब तक वे नानाविध विषयों से सम्बद्ध जटिल प्रश्नों का समाधान खोजने में लगे रहे थे। पहली बार हम दयानन्द को हरद्वार में 'पाखण्ड-खण्डिनी' के नीचे गुरुवर द्वारा प्यार में दिये गये 'कुलक्कर' या 'कालजिह्व' नामों को सार्थक करते हुए पाते हैं। 'कुलक्कर' का अर्थ है खूँटा—जो अपने पक्ष पर खूँटे की तरह अविचलित रहकर प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करदे, वह है 'कुलक्कर'। समय आने पर दयानन्द ने शास्त्रार्थ-संग्राम में प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करके, इस नाम को सर्वथा सार्थक कर दिखाया। असत्य के खण्डन में जिसकी जिह्वा काल के समान बन जाती थी—ऐसा दयानन्द यथार्थ में कालजिह्व था।

सन् १८८३ में ऋषि दयानन्द का देहावसान हो गया। इस प्रकार ऋषि का कार्यकाल १८६७ से १८८३ तक कुल १६ वर्ष रहा। इस अवधि में दिये उनके व्याख्यानों की गिनती कौन कर सकता है? पौराणिकों, जैनों, वेदान्तियों, ईसाइयों, मुसलमानों और उनके अनेकानेक सम्प्रदायों की ओर से चुनौती देनेवाले अनेक और उन सबके प्रहार सहनेवाला एक—अकेला दयानन्द। प्रायः द्वन्द्वयुद्ध होता था। पर ऐसे अवसर भी आते थे जब अभिमन्यु की तरह अकेले दयानन्द पर एक साथ सात-सात (और अधिक भी) महारथी टूट पड़ते थे। १९६६ में हुए प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ में ऐसा ही हुआ था। उस समय यात्रा के लिए आज जैसी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थी। फिर भी उन्होंने दक्षिण को छोड़कर समूचे भारत की यात्रा की। उनके द्वारा लिखे गये पत्रों की संख्या भी हज़ारों में है। जहाँ भी जाते या रहते, बड़ी संख्या में लोग मिलने आते और अपनी शंकाओं का समाधान करते। इसपर भी उन्होंने छोटे-बड़े लगभग ३२ ग्रन्थों की रचना की, परन्तु इन व्यस्तताओं के कारण वे न अपने हाथों से अधिक लिख सके, न प्रेस-कापियों का निरीक्षण कर सके और न प्रूफ ही देख सके। मुंशी बख्तावरसिंह के नाम श्रावण शुक्ला १३, बुध संवत् १९३७ (१८ अगस्त, १८८०) को भेजे एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा था—

"जो संस्कृतवाक्य-प्रबोध पुस्तक छपाया है, सो बहुत ठिकानों में संस्कृतवाक्य-प्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के तीन कारण हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन अधीन शोधने का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में कोई कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना।" (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण, १६८०, भाग १, पृ० ३८७-८८)।

सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी ने पण्डितों को बोलकर लिखवाया था। पण्डितों के लेख को हाथ में लेकर देखने का उन्हें अवकाश कहाँ था। ज्यों-का-त्यों प्रेस में दे दिया। स्वामीजी की विवशता का लाभ उठाकर लेखक पण्डितों ने उसमें ऐसी बातों का समावेश कर दिया जो स्वामीजी के मन्तव्यों के विपरीत थीं, पर इस बात का पता तो छपने के बाद चला। द्वितीय संस्करण में महर्षि ने जिन भूलों का संशोधन किया, वे महर्षि की न होकर लेखक पण्डितों की थीं, इस बात की पुष्टि स्वयं राजा जयकृष्णदास के इस कथन से होती है—

"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामीजी का लिखा गया था, जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ, उसके लिए स्वामीजी इतने उत्तरदायी नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश नहीं था। पहले-पहल स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक या मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो।" वे बातें स्वामीजी को अभिमत नहीं हैं, इस आशय का एक विज्ञापन ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य के अंक १ और २ के मुखपृष्ठ पर छपवा दिया गया था। इस विज्ञापन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखने और शोधन करनेवालों की भूल के कारण ऐसी अनेक बातें छप गयीं थीं, जो ऋषि के विपरीत थीं।

स्वामीजी की भाषा पर विचार करते समय केवल यही ध्यान में नहीं रखना चाहिए कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी, बल्कि यह भी कि उनके पास इतना समय भी नहीं था कि वे कहीं बैठकर सुस्थिर चित्त से ग्रन्थों की रचना करते। वे निरन्तर गतिमान् रहते थे और उनके पत्रों से पता चलता है कि उनके सहकर्मी उनके आदेशों-निर्देशों का पूरी तरह पालन नहीं करते थे—

१. भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे।

२. हमने भीमसेन के शोधे गये पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बड़ा ग़ाफिल है।

३. और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसीकि पहले बनाता था। वह प्रतिदिन गिरता जाता है। कहीं ग्रामीण भाषा लिख देता है और 'च' का अर्थ 'और' करना चाहिए, यह 'भी' कर देता है। (पत्र और विज्ञापन पृ. ३१७, ३३४, ४५५)।

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी अधिक स्पष्ट और परमार्जित भाषा चाहते थे। पर यह काम शान्त वातावरण और समय चाहता है और उनके जीवन में दोनों का अभाव था।

ग्रन्थों के मुद्रण आदि कार्यों में भी ऋषि दयानन्द को कैसे-कैसे लोगों से काम लेना पड़ा, यह उनके पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है। ऐसी अवस्था में लेखन और मुद्रण में साधारण भूलों का होना स्वाभाविक है। स्वामीजी को सारे जीवन में एकमात्र मुंशी समर्थदान ही ऐसा व्यक्ति मिला जो ऋषिभक्त होने के साथ-साथ सर्वथा विश्वसनीय और ऋषि के कार्य की महत्ता को समझनेवाला था। उसके समय में ऋषि के जो ग्रन्थ छपे, उनमें उसने बड़ी सतर्कता बरती।

प्रथम संस्करण में विशेष

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में कुछ ऐसी बातें हैं जो संशोधित द्वितीय संस्करण में नहीं हैं। वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें से कुछ बातें तो ऐसी हैं जिन्हें हम बड़े गर्व के साथ उद्धृत करते रहे हैं। उनके कारण महर्षि का भी गौरव बढ़ा है और आर्यसमाज का भी। वे क्यों निकाल दी गयीं, यह विद्वानों द्वारा अन्वेष्य है। निदर्शनार्थ उनमें से कुछ यहाँ दी जा रही हैं—

१. विवाह में बहुत धन का नाश करना अनुचित ही है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य नष्ट हो गये और वैश्य लोगों का तो विवाह में बहुत धन के व्यय से दिवाला निकल जाता है। इससे धन का नाश कभी नहीं करना चाहिए। (समुल्लास ४, पृ. ११०)

२. यह बात भी अवश्य जाननी चाहिए कि देश-देशान्तर में विवाह का होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तरों के व्यवहार भी जाने जाएँगे, बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन व्यवहार भी एक ही होगा। इससे मनुष्यों को बड़ा सुख होगा। जैसेकि पूर्व दक्षिण देश की कन्या और पश्चिम उत्तर देश के पुरुषों से विवाह जब होगा और पश्चिम उत्तर देश के मनुष्यों की कन्या और पूर्व तथा दक्षिण में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल, बुद्धि, पराक्रमादिक तुल्य गुण हो जाएँगे। पत्र द्वारा और आने जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण-ग्रहण होगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के मनुष्यों को विदित होंगे और परस्पर विरोध जो है सो नष्ट हो जाएगा। इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा। (समु० ४, पृ० १३६-४०)

३. जैसे ईश्वर किसी देश का नहीं, किन्तु सब देशों का है वैसे ही संस्कृत किसी एक देश की नहीं। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यावर्त्त देश में पहले प्रवृत्ति अधिक थी। सब ऋषि-मुनि और राजा लोग आर्यावर्त्तदेशवासी लोगों ने परम्परा से संस्कृत पढ़ा और पढ़ाया है। सब देशभाषाओं की मूल संस्कृत है, क्योंकि संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश कहाता है। (समु० ७, पृ० २४६-५०)

४. मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ गुण ही होता है। **'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः'** यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्दज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए, क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का पता चलने से उपकार होता है और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। जितनी देशों की भाषा जानें उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़के देशभाषा सब होती हैं। महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर और विदुरादिक अनेक देशों की भाषाएँ जानते थे। सोई जब युधिष्ठिरादिक लाक्षागृह की ओर चले तब विदुरजी ने युधिष्ठिरजी को म्लेच्छ भाषा में समझाया और युधिष्ठिरजी ने म्लेच्छ भाषा में प्रत्युत्तर दिया। यथावत् उसको समझ लिया।

महाभारत में लिखा है—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥ —आदिपर्व १४४, २०

तथा राजसूय और अश्वमेघ यज्ञ में देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर के राजा तथा प्रजास्थ आये थे। जो देश-देशान्तर की भाषा न जानते तो उनका व्यवहार कैसे सिद्ध होता ? इस्से क्या आया कि देश-देशान्तर की भाषा जानने में कुछ दोष नहीं, किन्तु बड़ा उपकार ही होता है। (समु० ११, पृ. ३२७)

५. नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है, वह मुझको अच्छा नहीं मालूम देता, क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, क्योंकि नोन सबको आवश्यक होता है और वे मजूरी मेहनत से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं , उनके ऊपर भी यह नोन का कर दण्डतुल्य रहता है। इस्से दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है। इस्से ऐसा होय कि मद्य, अफ़ीम, गांजा, भांग इनके ऊपर दुगना-चौगुना कर स्थापन होय तो अच्छी बात है, क्योंकि नशादिकों का छूटना ही अच्छा है और जो मद्यादिक बिल्कुल छूट जाएँ तो मनुष्यों का बड़ा भाग्य है, क्योंकि नशा से किसी का कुछ उपकार नहीं होता। इससे इनके ऊपर ही कर लगाना चाहिए और लवणादिक के ऊपर न चाहिए। पौन रोटी पर कर से गरीब लोगों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आवे या लकड़ी का भार। उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से अवश्य क्लेश होता होगा। इस्से पौन रोटी का जो कर स्थापन करना सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं। (समु० ११, पृ. ३८४-८५)

६. सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है। इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है। सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं। कचहरी में बिना धन के कोई बात होती नहीं। इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगता है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता। इसको छोड़ने से प्रजा में आनन्द होता है। (समु० ११, पृ. ३८७)

७. वार्षिक उत्सवादिकों से मेला करना इसमें भी हमको अत्यन्त श्रेय गुण मालूम नहीं देता, क्योंकि इसमें मनुष्य की बुद्धि बहिर्मुखी हो जाती है और धन भी अत्यन्त खर्च होता है। (समु० ११, पृ. ३६५)

८. केवल अंग्रेजी पढ़ने से सन्तोष कर लेना, यह भी अच्छी बात उनकी नहीं, किन्तु सब प्रकार की पुस्तक पढ़नी चाहिए। परन्तु जब तक वेदादि सत्य सनातन संस्कृत पुस्तकों को न पढ़ेंगे तब तक परमेश्वर, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य विषयों को नहीं जानेंगे। इससे सब पुरुषार्थ से वेदादिकों को पढ़ना चाहिए। (समु० ११, पृ. ३६५)

अन्तिम दोनों उद्धरण तत्कालीन ब्राह्मसमाज की समालोचना के प्रकरण के हैं। परन्तु आपाततः ये वर्तमान में आर्यसमाज को लक्ष्य करके लिखे गये जान पड़ते हैं। ऋषि भविष्यद्रष्टा थे। जिसकी उन्हें आशंका थी आज वही हो रहा है। शताब्दी-समारोह, आर्य-महासम्मेलन, पुस्तक-विमोचन, उद्घाटन, स्वागत समारोह आदि की आड़ में आर्यसमाज के प्रचार के नाम पर होनेवाले ये उत्सव केवल कुछ व्यक्तियों के आत्मप्रचार तथा शक्तिप्रदर्शन के निमित्त बनकर रह गये हैं। परिणामतः तालियों की गड़गड़ाहट, नारों के तुमुलनाद, पण्डाल की सजावट और बिजली की चमक के कारण बाहर से हृष्ट-पुष्ट दीखनेवाला आर्यसमाज भीतर से खोखला होता जा रहा है। जिन दोषों को दूर करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी वे स्वयं आर्यसमाज में घुसकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर रहे हैं और भीतर-ही-भीतर आर्यसमाज को खा रहे हैं। यह समय **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** के कार्यक्रम को कुछ काल के लिए स्थगित करके आत्मालोचन के द्वारा **'कृण्वन्तो स्वयमार्यम्'** का है।

सन् १८३४-३५ के लगभग भारत में अंग्रेज सरकार के सामने यह प्रश्न पैदा हुआ कि यहाँ किस प्रकार की शिक्षापद्धति को अपनाया जाए। लार्ड मेकाले ने इस प्रश्न का हल करते हुए एक लेख लिखा था, जिसमें उसने स्पष्ट शब्दों में अपने मन की बात कह दी थी। उसने लिखा था—

"We must do our best to form a class of persons who may be Indian in blood and colour but English in taste, opinions, words and intellect. "

अर्थात्—हम एक ऐसा वर्ग पैदा करने का पूरा यत्न करेंगे जो हाड़-मांस और रंग में भले ही भारतीय लगे परन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल और दिल-दिमाग़ से अंग्रेज बन जाए। क्या आज हम आर्यसमाज की ओर से दयानन्द के नाम पर चलाये जा रहे Dayanand English Medium Co-educatioal Public Schools से ऐसा ही वर्ग पैदा नहीं कर रहे हैं, जो सचमुच वैसा ही है जैसा मेकाले चाहता था। सूट पर टाई लगाये लड़के, स्कर्ट पहने, बाल कटी लड़कियाँ जो अपनी मातृभाषा में बातचीत करने में अपनी हेठी समझते हैं, नमस्ते की जगह गुडमार्निंग कहते हैं, हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी फिल्में देखना पसन्द करते हैं, आमलेट का नाश्ता करते हैं—Nationality (राष्ट्रियता) के खाने में "भारतीय" लिखा देखकर ही उनके भारतीय होने का अनुमान होता है। अन्यथा वे Tuesday को तो पहचानते हैं, मंगलवार को नहीं। इसकी नींव उसी दिन पड़ गयी थी जिस दिन 'दयानन्द' और 'वैदिक' के बीच 'ऐंग्लो' ने अपना आसन जमाया था। डी. ए. वी. कालेज की स्थापना करनेवाली त्रिमूर्त्ति (महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय और पं. गुरुदत्त विद्यार्थी) में से एक ला० लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की मौजूदा हालत' में लिखा है—"सारी स्कीम की कमजोरी इसमें थी कि कालेज का नाम 'ऐंग्लो वैदिक' रखा गया था और 'वैदिक' पर 'ऐंग्लो' को तरजीह (वरीयता) दी गयी। इसी कमजोरी के कारण सरकारी व मिशन कालेजों में और दयानन्द कालेज में बहुत थोड़ा फर्क रह गया। हमारी पार्टी हमेशा वैदिक पर ऐंग्लो को तरजीह देती रही।"

सत्यार्थप्रकाश हिन्दी में

महर्षि दयानन्द और काशी के पण्डितों के बीच मूर्त्तिपूजा विषय पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ १६ नवम्बर १८६६ को मंगलवार के दिन हुआ था। मूर्त्तिपूजा के समर्थन में एकत्र मण्डली में निम्नलिखित विद्वान् थे—

स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री, पं० शिवसहाय, पं० माधवाचार्य, पं० वामनाचार्य, पं० देवदत्त शर्मा, पं० जयनारायण तर्कवाचस्पति, पं० चन्द्रसिंह त्रिपाठी, पं० राधेमोहन तर्कवागीश, पं० दुर्गादत्त, पं० बस्तीराम द्विवेदी, पं० काशीप्रसाद शिरोमणि, पं० हरिकृष्ण, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० घनश्याम, पं० ठाकुरदत्त, पं० हरिदत्त दुबे, पं० भैरोंदत्त, पं० श्रीधर शुक्ल, पं० विश्वनाथ मैथिल, पं० नवीननारायण तर्कालंकार, पं० मदनमोहन शिरोमणि, पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पं० मायाकृष्ण वेदान्ती, पं० नारायण शास्त्री, पं० धनीराम, पं० देवधर, पं० नरसिंह शास्त्री, पं० जवाहरदास उदासी, पं० ताराचरण तर्करत्न, पं० गणेशप्रसाद श्रोत्रिय, स्वामी निरंजनानन्द, पं० रामशास्त्री, पं० शालि ग्राम शास्त्री, पं० ढुंढिराज शास्त्री, पं० रामस्वामी मिश्र, पं० भारद्वाज शास्त्री, पं० रामकृष्ण शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, प्रमदादास मित्र।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त काशी के अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों को भी शास्त्रार्थ-स्थल पर बैठने के लिए समुचित स्थान दिया गया था। वे थे—

काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह, काशी नरेश के भाई राजकुमार वीरेश्वरनारायण सिंह शर्मा, बाबू फ़तहनारायणसिंह शर्मा, ऐश्वर्यनारायणसिंह शर्मा, तेजसिंह वर्मा रईस मैनपुरी, राय कृष्णदेवशरणसिंह, चौधरी गुरुदत्तसिंह शर्मा, हज़ारी यदुनन्दन नागल, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त, बाबू गोकुलचन्द्र गुप्त (भारतेन्दु के भाई)।

स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री के पाण्डित्य की तो स्वयं स्वामीजी भी प्रशंसा करते थे। जमनत स्वामीजी के विरुद्ध था। सभापति काशीनरेश मूर्त्तिपूजा के पक्षधर तो थे ही, अपने नगर के पण्डितों से

उनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक था। फिर भी निष्पक्ष पत्रिकाओं ने जो कुछ लिखा वह निस्सन्देह विचारणीय है। 'हिन्दु पेट्रियट' (१७ जनवरी १८७०) ने शास्त्रार्थ का विवरण प्रस्तुत करके लिखा था—

"Finding it impossible to overcome the great man by regular discussion, the Pandits resorted to the adoption of a sinister end to subserve their purpose. The host of the Pandits headed by the Maharaja himself clapped their hands signifying the defeat of the great pandit in the religious warfare. Though mortified greatly at the unmanly conduct of the Maharaja, Dayanand Swami has not lost courage. Though alone, he stands undaunted in the midst of a host of opponents. He has the shield of truth to protect him. He has issued a circular calling on the Pandits of Benaras to show which part of the Vedas sanctions idol worship. But no one has ventured to make his appearance."

अर्थात् जब काशी के पण्डितों को निश्चय हो गया कि वे शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द को पराजित नहीं कर सकते तो वे ओछे हथियारों पर उतर आये और महाराजा के नेतृत्व में तालियाँ बजा-बजाकर अपनी विजय का प्रदर्शन करने लगे, परन्तु उनके व्यवहार से दुःखी होने पर भी दयानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। अपनी रक्षार्थ सत्य का कवच पहने वे शत्रु सेना के बीच निर्भीक खड़े हैं। उन्होंने बार-बार पण्डितों को वेदों से मूर्त्तिपूजा का प्रतिपादक एक भी मन्त्र दिखाने के लिए ललकारा है, किन्तु किसी ने सामने आने का साहस नहीं किया।

"पायोनियर" (१५ जनवरी १८७०) ने लिखा था—

"The Swami maintained that the Vedas did not inculcate idolatory and the Pandits could not produce at the time, nor have they produced since a single passage from the Vedas that could dislodge the Swami from his position. The answers of the Pandits were all evasive. They made a 'tamasha' of it. How can one, in the face of these facts, boldly assert that the Swami got the worst of the fight?"

अर्थात् 'मूर्त्तिपूजा वेदविहित है या नहीं' काशी के शास्त्रार्थ का यही मूल विषय था, किन्तु काशी के पण्डित इसका उत्तर न तब दे सके और न बाद में आज तक दे सके। उन्होंने शास्त्रार्थ को तमाशा बना दिया। ऐसी दशा में कोई कैसे कह सकता है कि स्वामीजी पण्डितों से पराजित हो गये ?

पर जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। जय-पराजय सापेक्ष शब्द हैं। इतना सब जानते हैं कि इस प्रसंग के बाद स्वामीजी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। उनके जीवनीकार देवेन्द्रकुमार मुखोपाध्याय ने २० वर्ष तक शोध के पश्चात् प्रमाण-पर-प्रमाण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है—

"काशी-शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामीजी प्रयाग, मिर्जापुर आदि होकर पुनः बनारस आये। इस बार काशी-नरेश ने आग्रहपूर्वक उन्हें अपने राजमहल में आमन्त्रित किया और सिंहासन पर आसीन करके शास्त्रार्थकालीन अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमायाचना की।"

इस शास्त्रार्थ के समय कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन काशी में ही थे। वे स्वामीजी से बहुत प्रभावित हुए और कलकत्ता आने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया। ऐसा ही निमन्त्रण कुम्भ मेले के अवसर पर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता तथा ब्रह्मसमाज के वरिष्ठ नेता) भी दे चुके थे। उन्होंने स्वामीजी की प्रखर प्रतिभा को पहचान लिया था। इसलिए कलकत्ता में उनके आगमन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। सन् १८७२ में स्वामीजी कलकत्ता पहुँचे। उनके आगमन का समाचार ३० दिसम्बर १८७२ के 'इण्डियन मिरर' में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—

"The redoubtable Hidu iconoclast, Pandit Dayanand Saraswati, who recently discomfited the learned Pandits at Benares in an open theological encounter, and has otherwise made himself famous throughout Northern India, has come down to Calcutta, and is now staying in the suburben garden house of Rajah Jotindra Mohan Tagore at Nynan. He has issued notices in Sanskrit, Hindi, Bengali and English inviting inquirers and others to come and discuss the theological subjects with him."

"मूर्तिपूजा के महावैरी पण्डित दयानन्द सरस्वती जिन्होंने थोड़े दिन पहले काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके भारत के उत्तरांचल में ख्याति प्राप्त की थी, अब कलकत्ता में आकर राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के नगर के निकट नैनान उद्यान (प्रमोद कानन) में ठहरे हैं और जिज्ञासुओं तथा अन्य व्यक्तियों के साथ धर्मविचार करने के अभिप्राय से उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला भाषा में विज्ञापन भी दिया है।"

स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती और अध्ययन की भाषा संस्कृत थी, पर वे तो देशभर में फैले अविद्यान्धकार को दूर करने के तथा पाखण्ड, दम्भ और मिथ्या आडम्बरों पर प्रहार करने चले थे। इसलिए उन्हें घूम-घूमकर व्याख्यान देने पड़ते थे। प्रारम्भ में वे संस्कृत में बोलते थे। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में यह था—"भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। तब मैं किस भाषा में बोलूँ? संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओं का मूल है, अतः संस्कृत में बोलना ही उचित है।" किन्तु संस्कृत में बोलने के कारण उनका प्रचार-क्षेत्र विद्वानों तक सीमित होकर रह गया।

उन दिनों कलकत्ता में एक-से-एक बढ़कर विद्वान्, साधक और महात्मा रहते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, राजनारायण बसु, महेशचन्द्र तर्करत्न, ताराचन्द तर्कवाचस्पति अनेक में से कुछ नाम हैं। कलकत्ता की जनता पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन श्री नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'महात्मा दयानन्द की संक्षिप्त जीवनी' में इस प्रकार किया है—

"केशव बाबू के घर जिस दिन मैंने प्रथम बार दयानन्द की वक्तृता सुनी, उस दिन एक ही बात मैंने अनुभव की। मैं नहीं जानता था कि संस्कृत में ऐसी मधुर और सरस वक्तृता हो सकती है। वे ऐसी सहज संस्कृत बोलने लगे कि संस्कृतभाषा में जो व्यक्ति महामूर्ख हो वह भी अनायास उनकी बात समझ लेता था और एक विषय में मुझे आश्चर्य हुआ। अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ हिन्दू संन्यासी के मुख से धर्म और समाज के विषय में ऐसे उदार विचार मैंने पहले कभी नहीं सुने थे।"

वस्तुतः उनकी वाणी और व्याख्या सुनकर श्रोता मुग्ध हो उठते थे। वे यह विश्वास नहीं कर पाते थे कि एक कोपीन-कमण्डलधारी संन्यासी जो अंग्रेजी से एकदम अनभिज्ञ है, समाज और धर्म के विषय में इस प्रकार के परिमार्जित, उत्तम और उच्च विचारों का पोषण कर सकता है। इस प्रसंग में स्वामी श्रद्धानन्दजी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना का स्मरण हो आता है। बरेली में महर्षि दयानन्द के भाषण हो रहे थे। पुलिस अधिकारी के नाते उनके व्याख्यानों की व्यवस्था का भार स्वामी श्रद्धानन्द (उस समय मुंशीराम) के पिता ला० नानक चन्द के ऊपर था। वे स्वामीजी के भाषणों से प्रभावित थे। उन्होंने चाहा कि उनका पुत्र स्वामीजी के व्याख्यान सुने। कह-सुनकर एक दिन वे उसे अपने साथ ले-जाने में सफल हो गये। भाषण सुनकर लौटने के बाद युवक मुंशीराम बरबस कह उठे—'Oh! He reasons so well without the knowledge of English.' यह लार्ड मेकाले की शिक्षा-नीति का परिणाम था कि अंग्रेजी न जाननेवाले भारतीयों को अनपढ़-गंवार समझा जाता था।

मथुरा के प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के बाद बंगाल के मनीषियों ने स्वामी दयानन्द की शक्ति को पहचाना। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन जैसे सुधारकों के मन में बार-बार यह विचार कौंध रहा था कि स्वामी का जनता से सीधे साक्षात्कार होना चाहिए। सदियों से नानारूप रूढ़ियों, कुरीतियों और अन्धविश्वासों में ग्रस्त जाति का उद्धार स्वामी दयानन्द के सिवा कोई नहीं कर सकता। इसलिए एक दिन बातों-ही-बातों में उन्होंने स्वामीजी से कहा—"यदि आप जनता के बीच में जाकर प्रचलित देशी भाषा में अपने विचार उनके सामने रखें तो निश्चय ही देश का बड़ा उपकार होगा। प्रायः अनुवाद करते समय अनुवादक आपके मन्तव्यों को विकृतरूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे आपके प्रति अन्याय होता है। इसलिए आपको बिना मध्यस्थ के जनता से सीधे बात करनी चाहिए और यह प्रचलित देशी भाषा में ही हो सकता है।"

सत्य के अन्वेषक और प्रचारक दयानन्द ने तुरन्त यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यह प्रचलित देशी भाषा हिन्दी थी, जिसे उन्होंने 'आर्यभाषा' का नाम दिया। इस नाम के दिये जाने का मूल कारण उनके पुणे में दिये गये आठवें व्याख्यान में मिलता है। जिसमें उन्होंने कहा था—

"मनुष्य-सृष्टि के उत्पन्न होने पर कुछ काल पश्चात् आर्य और दस्यु दो भेद हुए—**'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'** (ऋ० १।५१।८)। इस प्रकार आदि सृष्टि में दो ही जातियां थीं—आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् सुज्ञ विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट।"

इसके औचित्य पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि अनेक कारणों से यह नाम अपनाया नहीं जा सका और आर्यभाषा के लिए 'हिन्दी' नाम ही रूढ़ हो गया। रूढ़ हो जाने पर किसी शब्द के पुराने अर्थ खोज का विषय बनकर रह जाते हैं। हिन्दी देश की बहुसंख्यक जनता की भाषा थी। स्वामीजी हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। हिन्दी में उनका पहला व्याख्यान मई १८७४ में काशी में हुआ। व्याख्यान तो हिन्दी में ही हुआ, परन्तु संस्कृत बोलने का अभ्यास होने और हिन्दी का अभ्यास न होने के कारण वाक्य-के-वाक्य संस्कृत में बोल गये।

हिन्दी में व्याख्यान देने का यह परिणाम हुआ कि सर्वसाधारण अधिक संख्या में भाषण सुनने आने लगे, पर पण्डितों की संख्या कम होने लगी। स्वामीजी भाषा को विचारों के आदान-प्रदान का साधन मानते थे। अधिक-से-अधिक लोगों तक अपनी बात पहुँचाने की दृष्टि से ही उन्होंने हिन्दी को अपनाया था। जब वे संस्कृत बोलते थे तो वह भी इतनी सरल होती थी कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखनेवाले भी उसे समझ जाते थे। क्लिष्ट संस्कृत को वे 'काकभाषा' कहते थे। स्वामीजी के समकालीन और कालान्तर में आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० आर्यमुनिजी ने सन् १९३३ में अजमेर में सम्पन्न ऋषि-निर्वाण अर्द्धशताब्दी के अवसर पर स्वामीजी विषयक संस्मरण सुनाते हुए पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसक को बताया था कि एक दिन काशी के एक प्रसिद्ध नैयायिक ने स्वामीजी से कहा कि जब आपको संस्कृत बोलनी नहीं आती (उसकी दृष्टि में स्वामीजी की सरल और प्रसादगुणयुक्त संस्कृत, संस्कृत नहीं थी) तो यहाँ काशी में आकर बखेड़ा क्यों मचाते हो? इसपर स्वामीजी ने सौम्य तथा सरल भाव से कहा कि मैं तो वही संस्कृत बोलता हूँ जो पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखी है। यदि वह संस्कृत नहीं है तो मैं मान लेता हूँ कि मुझे संस्कृत नहीं आती, पर आप बताएँ आपकी संस्कृत कौन-सी है?

इसपर उस नैयायिक ने कहा कि मैं आपसे नव्यन्याय में शास्त्रार्थ करूँगा। यदि नव्यन्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकते तो अपनी पराजय स्वीकार करो। इसपर स्वामीजी ने 'तथास्तु' कहकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। पं० आर्यमुनिजी ने बताया कि उस अवसर पर मैं स्वयं उपस्थित

था। मुझे भी विश्वास था कि स्वामी दयानन्द नव्यन्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकेंगे, पर मुझे (आर्यमुनि को) यह देखकर आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी न थोड़े ही समय में नव्यन्याय की भाषा में उस नैयायिक के छक्के छुड़ा दिये। अन्त में स्वामीजी ने श्रोताओं से पूछा कि "क्या आपलोग हमारे वार्तालाप को समझे ?" श्रोताओं के इन्कार करने पर स्वामीजी बोले कि जैसे दो कौवे लड़ते हों तो कोई उनकी भाषा नहीं समझता, ऐसी ही नव्यन्याय की भाषा है। इसलिए मैं इसे काकभाषा कहता हूँ। मैं पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, लोगों को अपनी बात समझाने के लिए सरल संस्कृत का ही प्रयोग करता हूँ।

कलकत्ता आने से पूर्व स्वामी दयानन्द हिन्दी से सर्वथा अपरिचित नहीं रहे होंगे। गुजरात छोड़ने के बाद वे अधिकतर हिन्दीभाषी प्रदेशों में ही प्रचार करते रहे थे। उस काल में सधुक्कड़ी अर्थात् बोलचाल की हिन्दी के कामचलाऊ अनेक शब्द सीख गये होंगे, किन्तु शास्त्रीय विषयों पर व्याख्यान देने के लिए जिस प्रकार की परिष्कृत भाषा की अपेक्षा होती है, उस समय तक उसके अभ्यस्त वे अभी नहीं हो पाये थे। उसका सूत्रपात तो काशी में हुए उनके पहले व्याख्यान के साथ ही हुआ था। जिस हिन्दी में वे व्याख्यान देते थे उसी का प्रयोग उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की रचना में किया।

सत्यार्थप्रकाश की हिन्दी

जैसाकि हम पहले लिख आये हैं, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का लेखन १२ जून १८७४ को प्रारम्भ हुआ था। तब तक स्वामीजी हिन्दी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाये थे। इसलिए उसमें जाने-अनजाने भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ हो गयी थीं। अभ्यास के कारण उनमें निखार आया। इसलिए सन् १८८२ में लिखित और १८८४ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संस्करण को प्रामाणिक माना जाता है।

स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी और उनके अध्ययन की भाषा संस्कृत, अतः उनकी हिन्दी पर दोनों का प्रभाव था। वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे, तद्भव का कम। स्वामीजी पुराणे, पुनरपि, पुरश्चरण, पाषण्ड, नैरोग्य आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं। संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी वे संस्कृतव्याकरणानुसारी करते हैं। इसी कारण उनकी हिन्दी में आत्मा, आयु, सन्तान, विजय आदि शब्द पुंल्लिंग हैं, देवता स्त्रीलिंग। संस्कृत में नपुंसकलिंग माने जानेवाले शब्दों को हिन्दी में पुंल्लिंग की भाँति प्रयुक्त किया है, जैसे—'कोई भी दूसरा वस्तु नहीं था', 'एक प्राचीन पुस्तक जो विक्रम के संवत् १८७२ का लिखा हुआ था', 'बिना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है', 'यह अग्नि का सामर्थ्य है' आदि। गुजराती होने के कारण उसके अनेक शब्द उनकी भाषा में ज्यों-के-त्यों आ गये हैं, जैसे—ऊंदर, ससा, कुम्भार, जमणे (दायें)। संस्कारविधि में जातकर्म संस्कार में स्वामीजी ने लिखा है—'तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर मिलाके.......बालक की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखके.....।' आयुर्वेद के अनुसार घी और मधु बराबर मिलकर विष बन जाता है, किन्तु गुजराती में 'बरोबर' का अर्थ 'समान मात्रा में' न होकर 'उचित मात्रा' में होता है। 'अपन सब मिलके' यह वाक्य-रचना भी गुजराती से प्रभावित है।

आवश्यकतानुसार, विशेषतः इस्लाम के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने मज़हब, फरिश्ता, खर्च, सरकशी, बहिश्त, हुक्म, इंसाफ और कयामत जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जबलौं, होवै, रहै, विचारना, प्रकाशना जैसे नामधातुओं का तथा 'रखता हूँ' क्रिया के स्थान पर 'धरता हूँ' का प्रयोग तथा बहुत करके 'हारा' प्रत्यय का व्यवहार व्रज भाषा के प्रभाव के द्योतक हैं। स्वामीजी को अन्धविश्वासों और कुरीतियों का खण्डन करने के लिए सशक्त भाषा की आवश्यकता थी। ऐसी भाषा में मुहावरों और

कहावतों का खूब प्रयोग होता है। अपने व्याख्यानों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वामीजी उनका भरपूर प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ—

"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्त्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गयी थी? मूर्त्ति मक्खी की एक टांग भी न तोड़ सकी। जो कोई श्रीकृष्ण सदृश होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।"

"धिक्कार है पोप और पोपरचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को भ्रमा रक्खा है। भला इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं।" रोचकता के लिए वे दृष्टान्त कथाओं का प्रचुरता से प्रयोग करते थे। सन् १८७६ में प्रकाशित 'व्यवहारभानु' में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपने लेखों और व्याख्यानों को रोचक बनाने की दृष्टि से जिस सशक्त शैली को उन्होंने जन्म दिया उसपर मुग्ध होकर वीर विनायक दामोदर सावरकर ने लिखा था—"ऐसी सरल हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बने, जिसमें ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की।" (स्वामी दयानन्द सरस्वती की हिन्दी सेवा पृ.६६)

स्वामी दयानन्द मूलतः प्रखर चिन्तक और विचारक थे। उनके शुद्ध गद्य का रूप तो इतिवृत्तात्मक शैली में प्रकट हुआ है, जिसे उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध (प्रथम दश समुल्लास) में प्रायः अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में अपनाया है। विषय के अनुरूप उनकी गहन, गम्भीर तथा अर्थव्यंजक भाषा के दर्शन हमें उनकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में होते हैं।

श्री विष्णुप्रभाकर के शब्दों में "उनकी (स्वामीजी की) हास्य-व्यंग्यप्रधान शैली कहीं तो बड़ी कठोर है तो कहीं सहज हास्य से छलकती मन-प्राणों को पुलकित कर देती है। श्राद्धतर्पण का खण्डन करते हुए उनका व्यंग्य पैनी तलवार की तरह अन्तर को चीरता चला जाता है।" मृत जीवों के लेने के लिए यमदूत धरती पर आते हैं। इस बात पर उपहास उड़ाते हुए वे लिखते हैं—

"जब जंगल में आग लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए यम के असंख्य गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिए और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जाएँगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़-पुराण के बांचने-सुननेवालों के आंगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे या घर का द्वार या सड़क रुक जाएगी तो वे कैसे निकल वा चल सकेंगे। श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड-प्रदान उन मरे हुए जीवों को नहीं पहुँचता किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के उदर और हाथ में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती, पुनः जीव किसकी पूँछ पकड़कर तरेगा? और हाथ तो यहीं जला या गाड़ दिया गया, फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा?"

इसी से सम्बन्धित एक और उद्धरण निम्न प्रकार है। आक्रमण इसमें भी है, परन्तु स्वामीजी इसमें हास्य का पुट देकर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता इसपर खिलखिलाकर हँसे बिना नहीं रह सकता—

"मथुरा तीन लोक से न्यारी तो नहीं परन्तु उसमें तीन जन्तु ऐसे लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक—चौबेजी, कोई स्नान करने जाए तो अपना कर लेने को खड़ा रहकर बकते रहते हैं—लाओ भांग और लड्डू खाएँ-पिएँ, यजमान का जय-जयकार मनाएँ। दूसरे—जल के कछुए काट ही खाते हैं। जिनके मारे घाट पर स्नान करना भी कठिन है। तीसरे—आकाश के ऊपर लाल मुख के बन्दर। पगड़ी, टोपी, गहने और जूते तक न छोड़ें, काट खाएँ, धक्के दे गिराकर मार डालें और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं।"

सत्यार्थप्रकाश का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काशी-प्रवास में स्वामीजी की भेंट भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से हुई थी। १९६६ में हुए प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ में भारतेन्दु उपस्थित थे। उस समय वे स्वामीजी के विरोधी थे। पर १० वर्ष बाद जब उन्होंने स्वामीजी को एक सच्चे देशभक्त, प्रखर समाज-सुधारक और हिन्दी के प्रबल पक्षपाती के रूप में पहचाना तो उनकी दृष्टि बदल गयी। जब दूसरी बार स्वामीजी काशी में आये तो स्टेशन पर स्वामीजी के स्वागतार्थ आये काशी के प्रतिष्ठित लोगों में भारतेन्दुजी सबसे आगे खड़े पाये। तत्पश्चात् वे स्वामीजी से मिलने उनके स्थान पर आये और खण्डन-मण्डन को लेकर विचार-विनिमय किया। भारतेन्दुजी के साहित्य पर स्वामीजी के विचारों का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भारतेन्दुजी के 'भारत-दुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'प्रेमयोगिनी' नाटकों में रूढ़िमूलक धर्म तथा पाखण्ड की तीव्र आलोचना को पढ़ते हुए दयानन्द उनके प्रेरणास्रोत जान पड़ते हैं। एक बात बहुत कम लोग जानते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सुप्रसिद्ध नाटक 'अन्धेर नगरी' कथ्य की दृष्टि से उनकी मौलिक कृति नहीं है। स्वामीजी इस कथा का प्रयोग उनके नाटक के लिखे जाने से दो वर्ष पूर्व कर चुके थे। अपनी पुस्तक 'व्यवहारभानु' में आदर्श राजा के रूपक के रूप में इस कथा को अपनी भाषा में लिखा है। नाटक संवत् १९३८ वि० (सन् १८८१) में प्रकाशित हुआ था, जबकि 'व्यवहारभानु' का प्रकाशन संवत् १९३६ (सन् १९७९) में हो चुका था। भारतेन्दु नाटक वहीं पर समाप्त कर देते हैं, जहाँ लोग राजा को टिकटिकी पर खड़ा कर देते हैं, परन्तु स्वामीजी उसको फाँसी लग जाने के बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाकर उसके सुराज का वर्णन करते हैं—

"और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज-सम्बन्ध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है।"

स्वामीजी की विनोदप्रियता प्रायः व्यंग्यप्रधान और शिक्षाप्रद होती थी। राजा के बैंगन की प्रशंसा करने पर दरबारियों के प्रशंसा करने और राजा के बैंगन के दोष बताने पर दरबारियों के उसकी निन्दा करने सम्बन्धी कथा का बाद में पं. राधेश्याम कथावाचक ने अपने एक नाटक में प्रयोग किया था।

भारतेन्दुजी के अतिरिक्त उनके प्रभामण्डल के अन्य कई सदस्य भी स्वामीजी के विचारों से प्रभावित थे। ऐसा कहा जाता है कि प्रतापनारायण मिश्र कुछ समय तक आर्यसमाज से जुड़े रहे थे। उनका प्रसिद्ध भजन 'पितु मातु सहायक स्वामी सखा.......' उसी काल की रचना है। भारतेन्दुजी द्वारा सम्पादित 'कविवचनसुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के सम्पादक मण्डल में पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, नवीनचन्द्र राय, सत्यव्रत सामश्रमी आदि के साथ स्वामीजी का नाम भी लिखा जाता था। सिद्धान्तरूप में स्वामीजी से सहमत न होते हुए भी भारतेन्दुजी ने स्वामीजी की पुस्तक 'अद्वैतमतखण्डन' को 'कविवचनसुधा' में दो अंकों में प्रकाशित किया था। स्वामीजी के विज्ञापन भी उसमें प्रकाशित होते थे। स्वामीजी की आत्मकथा खड़ी बोली में हिन्दी की सबसे पहली आत्मकथा मानी जाती है।

प्रचलित अर्थों में स्वामी दयानन्द को साहित्यकार नहीं माना जा सकता। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रहसन, निबन्ध, पत्रकारिता आदि साहित्य की किसी विधा में प्रत्यक्षतः स्वामीजी का कोई योगदान नहीं है, परन्तु उनका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल की सभी रचनाओं में दयानन्द प्रच्छन्न रूप से ओत-प्रोत हैं। रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि "रीतिकाल के ठीक बादवाले काल में हिन्दीभाषी क्षेत्र में जो सबसे बड़ी सांस्कृतिक घटना घटी, वह

थी स्वामी दयानन्द का पवित्रतावादी दृष्टिकोण। इस काल के कवियों को शृंगार की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे स्वामी दयानन्द पास खड़े सब-कुछ देख रहे हैं। इस भय से छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जूही की कली' अथवा विहंगिनियों का आश्रय लेकर अपने भावों का विवेचन करने लगे।"

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के सहपाठी प्रेमचन्द के प्रारम्भिक साहित्य पर दयानन्द और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरणगुप्त ने अपने साहित्य में यत्र-तत्र-अनेकत्र जो अतीत का गौरवगान किया है, उसके मूल में भी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश में वर्णित प्राचीन आर्यावर्त्त की गौरवगाथा का विस्तार है और दिनकर के अनुसार तो 'साकेत' के राम दयानन्द के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं। वाद-विवाद के लिए पद्य उपयुक्त साधन नहीं है। उसके लिए सरल, सहज और सशक्त और लोकप्रचलित भाषा की आवश्यकता होती है। इसी कारण संस्कृतज्ञ और गुजराती होते हुए भी स्वामीजी की भाषा में शक्ति भी है और सहजता भी है। वह हँसाती और गुदगुदाती तो है ही, संघर्ष के लिए ललकारती भी है।

डा० राममनोहर लेहिया ने एक बार हिन्दीलब्धप्रतिष्ठ लेखक श्री विष्णुप्रभाकर से कहा था—"किसी देश पर मध्यप्रदेश का शासन होता है, सीमान्त प्रदेशों का नहीं। भारत के मध्यप्रदेशों की भाषा हिन्दी है, वही इस देश की राजभाषा होगी।" ऋषि दयानन्द ने अपनी दिव्यदृष्टि से इसी बात को सौ वर्ष पूर्व समझ लिया था और दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते थे जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। "मैंने आर्यावर्त्तभर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।" इसी आग्रह के साथ उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा—"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं का भी।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदानां नित्यत्वविचारः) में उन्होंने लिखा है—"जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको उसी देशभाषा का संस्कार होता है।" इसलिए उन्होंने अन्य देशीय भाषाओं से पहले देवनागरी अक्षरों के अभ्यास पर बल दिया है।

स्वामीजी उर्दू को म्लेच्छभाषा नहीं कहते थे, लेकिन पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुसार उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' की उपस्थिति में उसे विलासिनी और हिन्दी को कुलकामिनी कहा था। इसका एक कारण यह था कि उस समय उनके मित्र और प्रशंसक सर सैयद अहमद खाँ तक हिन्दी को गंवारू भाषा कहकर उसका उपहास उड़ाते थे। आज वही गंवारू (?) भाषा हिन्दी राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। भारतीय संविधान की धारा ३४३ के अनुसार—"The official language of the Union (of India) shall be Hindi in Devanagari script."

अर्थात् संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवानागरी होगी। फिर धारा ३५१ के अनुसार—

"It shall be the duty of the Union to promote the spread of the Hindi language, to develop it so that it may serve as a medium of expression for all the elements of the composite culture of India and to secure its enrichment by assimilating without interfering with its genius, the forms, the style and expressions used in Hindustani and in the other languages of India specified in the English Schedule and by drawing, wherever necessary or desirable, for its vocabulary, primarily on Sanskrit and secondarily on other languages."

अथात् संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाये, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी संस्कृति में हस्तक्षेप किये बिना हिनदुस्थानी में और आठवीं अनुसूची में निर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त

रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वाञ्छनीय हो वहाँ उसके शब्दभण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

भारतीय संविधान में उपर्युक्त धाराओं का समावेश १४ सितम्बर १६४६ को हुआ, परन्तु यह उस आन्दोलन का परिणाम था जिसका सूत्रपात ऋषि दयानन्द ने सन् १८८२ में सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमीशन के पास हिन्दी के पक्ष में हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन भिजवाये थे। हिन्दी के प्रसंग में यह बात समझ लेनी चाहिए कि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयास में किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात की भावना से ग्रस्त होने के कारण प्रवृत्त नहीं हुए थे। इसके विपरीत वे राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते-करते हिन्दी तक जा पहुँचे थे। उन्होंने समझ लिया था कि संस्कृत के देववाणी होते हुए भी उसमें वर्तमान में जनवाणी बनने का सामर्थ्य नहीं है। भाषा के हर शब्द की एक पृष्ठभूमि होती है। वह उस देश की संस्कृति और परम्पराओं से बनता है। भाषा के बदल जाने पर उस संस्कृतिविशेष में उथल-पुथल होने की पूरी सम्भावना रहती है। संस्कृति समाज की आत्मा होती है। उसके नष्ट हो जाने पर समाज जीवित नहीं रहता। स्वामीजी अंग्रेजी या किसी भी भाषा के पढ़ने-पढ़ाने के विरोधी नहीं थे, परन्तु वह जानते थे कि अंग्रेजी विदेशी शासकों की भाषा है और उन्हें इस बात का दुःख था कि अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा बनती जा रही थी। इसलिए उन्होंने देशभर के आर्यसमाजों को आदेश दिया कि वे भाषा-निर्धारण हेतु गठित हंटर आयोग के पास बड़ी संख्या में हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन भेजें। आर्यसमाज के फ़र्रुख़ाबाद के स्तम्भ बाबू दुर्गादासज़ी को १७ अगस्त १८८२ को लिखे अपने पत्र में स्वामीजी ने लिखा था—"यह काम एक के करने का नहीं है और अवसर चूके, वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है मुख्य सुधार की नींव पड़ जाएगी।" स्वामीजी के प्रयासों से देश के 'कोने-कोने से हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने हेतु स्मरण-पत्र भेजे गये। कानपुर से भेजे गये मैमोरियल से ज्ञात होता है कि लगभग दो लाख मनुष्यों के हस्ताक्षरों से युक्त दो सौ मैमोरियल हंटर आयोग को भेजे गये थे। आर्यसमाज मेरठ द्वारा २०×२६ /८ आकार का १६ पृष्ठों के मैमोरियल में हिन्दी के प्रयोग तथा देवनागरी लिपि में शिक्षा देने की तर्कप्रतिष्ठित आधार पर माँग की गयी थी। इसी प्रकार कानपुर के निवासियों की ओर से सर एल फ्रैड कामिन्स, लेफ्टिनेंट गवर्नर पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध क्षेत्र को जो ज्ञापन दिया गया था, उसमें भाषा आयोग के अध्यक्ष हंटर तथा सदस्य जस्टिस महमूद द्वारा हिन्दी के पक्ष में प्रस्तुत विचारों का उल्लेख करते हुए हिन्दी को राजभाषा बनाने का इस प्रकार निवेदन किया गया था कि "जब शिक्षा कमीशन इलाहाबाद में मेयो हाल में बैठा था, तब प्रेजिडेण्ट डॉ० हंटर साहब को कहना पड़ा था कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिन्दी की बड़ी चाह है। उसी समय जस्टिस महमूद साहब ने भी कहा था—'यद्यपि मैं मुसलमान हूं, लेकिन यहाँ के लोगों की राय प्रकाशित करता हूँ। सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू, जो टेढ़ी-मेढ़ी लिखी जाती है, मेरी राय से न रहे।"

हम यहाँ आर्यसमाज मेरठ तथा कानपुर के निवासियों की ओर से भेजे गये दो ज्ञापनों को उद्धृत कर रहे हैं। ये ज्ञापन पं० भगवद्दत्तज़ी द्वारा संपादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' (द्वितीय भाग) में पृष्ठ ६६० से ६७४ तक छपे हैं।

आर्यभाषा को राजकीय कार्यों में प्रचलित करने के लिए ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से भेजे गये मेमोरियलों के नमूने

ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त कराने के लिए अनेक स्थानों से राज्याधिकारियों के पास २०० मैमोरियल भेजे गये थे[१] । उनमें से हम एक ममोरिल और एक निवेदन-पत्र की प्रतिलिपि नीचे देते हैं, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि राजकार्य में आर्यभाषा हिन्दी को प्रवृत्त कराने में आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्त्तक ने (उस काल में जब कि इस ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया था) कितना महान् कार्य किया था । आज हिन्दी के इतिहास में आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक के हिन्दी के प्रचार के कार्य का उल्लेख केवल ३-४ पंक्तियों में लिखकर समाप्त कर दिया जाता है । हमारे विचार में इसका प्रधान कारण आर्यविद्वानों का इस क्षेत्र (इतिहास-लेखन) से उदासीन रहना ही है, अन्यथा किसी भी हिन्दी के इतिहास के लेखक को ऐसी धृष्टता करने का साहस ही न होता । भारत सरकार द्वारा की गयी सहायता से कई भागों में काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित 'हिन्दी के बृहद् इतिहास' में ऋषि दयानन्द के द्वारा किये गये हिन्दी भाषा के प्रचार के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया ।

आर्यसमाज मेरठ द्वारा प्रेषित मैमोरियल[२]

(मुख पत्र)

ओ३म्

मेमोरियल

अर्थात् श्रीयुत डाक्टर हंटर साहिब बहादुर की सेवा में

नागरी प्रचारक निवेदन पत्र

जिसको आर्यसमाज मेरठ की आज्ञानुसार एक सभासद ने लिखा

मिति माघ बदी १२ रविवार

संवत् १९३६

विद्या दर्पण यन्त्रालय में छपा

ओ३म्

मेमोरियल

अर्थात् नागरी प्रचारक निवेदन पत्र

श्रीयुत विज्ञातिविज्ञ महामान्यवर एज्यूकेशनल कमीशन के प्रधानाध्यक्ष श्रीमान् डाक्टर हंटर साहिब की सेवा में अति विनयपूर्वक प्रार्थना ।

---

१ अगले कानपुर से भेजे गये निवेदन-पत्र के पैरा ३ से व्यक्त होता है कि दो सौ मेमोरियल शिक्षा कमीशन के पास भेजे गये थे ।

२ यह मैमोरियल २०/२६ अठपेजी आकार के १६ पृष्ठों पर लीथो में छपा है ।

यद्यपि आज तक जितने देवनागरी प्रचारक प्रार्थनापत्र अर्थात् (मैमोरियल) आपकी सेवा में भेजे गये हैं सम्भव है कि उनकी अपेक्षा यह निवेदन पत्र अति ही तुच्छ हो, परन्तु न्यायाधीश महाशयों के लिए संकेत मात्र ही बहुत होता है, इसलिए आशा है कि इस छोटे-से निवेदन-पत्र पर अवश्य ध्यान होगा और विचारपूर्वक यथार्थ और प्रजाहित सम्मति दी जाएगी।

प्रश्न—जिस देश में जिस भाषा के द्वारा शिक्षा दी जाती है क्या वह वहाँ के सब लोगों को शिक्षा देने के लिए उपयोगी है ॥

उत्तर—जिस देश में जिस भाषा के द्वारा वहाँ के लोगों को शिक्षा दी जाए वह वहाँ के लोगों की प्राकृत और स्वाभाविक भाषा हो, अर्थात् सब स्त्री-पुरुष उसको बाहर-भीतर बिना सोचे-विचारे रात-दिन बोलते चालते हों, क्योंकि उस भाषा के केवल अक्षराभ्यास हो जाने पर क्या बालक और युवा सब स्त्री-पुरुष शीघ्र शब्द निकालने और पढ़ने लगेंगे। कारण इसका यह है कि बोली तो वही है जो माता-पिता, भाई-बन्धु और संगियों से सुनी-सुनाई और बोली हुई है, केवल अक्षरों के सीखने और उनके जोड़-तोड़ में श्रम करना रह जाएगा, परन्तु वह मातृभाषा आपस की बोल-चाल और लेख का निर्वाहमात्र ही न हो किन्तु उसमें आगे बढ़ने और विद्वान् बनने के लिए कविता और विद्या के विस्तृत मार्ग भी हों। अब रहे अक्षर उस मातृभाषा के ऐसे होने चाहिए जो सुलभ हों और उनमें सब प्रकार के शब्द लिखे जा सकें और पढ़ने में ज्यों-के-त्यों आएँ और एक के लेख को दूसरा निर्भ्रम और शुद्ध पढ़ ले। रहा यह विचार करना कि इस देश की कौन-सी प्राकृत भाषा है—यों तो इस आर्यावर्त में बंगाली, गुजराती, मरहटी आदि बहुतेरी भाषा जो क्रम से बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र आदि देशों में बोली जाती हैं, परन्तु हमारे पश्चिमोत्तर देश में मुख्य नागरी भाषा जिसे अब लोग हिन्दी कहने लगे हैं बोली-चाली जाती है और इसको छोड़ अवध, पंजाब और मारवाड़ आदि प्रदेशों में भी यही भाषा किसी-किसी शब्द की उलट-पुलट और ऊँचे-नीचे स्वरों के भेद से बोली जाती है और इसी लिए एक की बोल-चाल को दूसरा भली-भाँति समझ लेता है और यह मातृभाषा ऐसी सुगम है कि कई प्रदेशों के अनन्तर और प्रदेशों के लोग भी बंगाली, दक्षिणी आदि बिना पढ़े और सीखे समझ लेते हैं और केवल मेल-मिलाप से ही स्पष्ट बोलने लगते हैं। यह तो इसकी सुगमता-सरलता का थोड़ा-सा वर्णन हुआ अब इसके पूरे होने का व्याख्यान सुनिए कि इसमें कैसी-कैसी कविता सीधी-सीधी बोल-चाल में है कि बड़ी-बड़ी प्रसिद्ध भाषाओं की कविता लगा नहीं खातीं। टुक सूर, तुलसी, केशव और बिहारी आदि कवियों की कविता पर ध्यान दीजिए कि कैसे-कैसे अद्भुत अलंकार और गूढ़ आशय इस भाषा में बंधे और समाये हैं। गद्य भी इस ललित भाषा की बहुत रोचक है। प्रेमसागर, राजनीति, शकुन्तला आदि ग्रन्थों के देखने से उसकी उत्तमता और उत्कृष्टता भली-भाँति सिद्ध होती है।

गणित, भूगोल, इतिहास और वैद्यक आदि विद्याओं की अनगिनत पुस्तकें बन गयी हैं और प्रतिदिन बनती जाती हैं। निदान यह प्राकृत भाषा सर्वथा सबके पढ़ने और लिखने के योग्य है।

अब रहे वह अक्षर कौन-से हैं जिनमें इस भाषा और अन्य भाषा के शब्दों का पूरा-पूरा निर्वाह हो सके और वह यथावत् लिखे-पढ़े जाएँ और लिखने और पढ़नेवाला कहीं रुके और अटके नहीं।

यह अनुपम और अपूर्व अक्षर संस्कृत भाषा के जो पृथिवीमात्र के सम्पूर्ण अक्षरों से उत्तम और सुन्दर हैं। सबसे बढ़कर उनमें यह बात है कि अक्षर-अक्षर का रूप निराला है। पढ़ने-लिखने में भ्रम कभी नाम

---

१. वर्णों का यह वर्णन वर्णोच्चारण-शिक्षा के अनुसार किया गया है। वस्तुतः सानुनासिक यम वर्ण नहीं हैं, वह तो स्वरों का एक उच्चारण विशेष है। उसे द्योतित करने के लिए स्वर के ऊपर ँ ऐसा चिह्न किया जाता है, जोकि किसी स्वतन्त्र वर्ण का चिह्न नहीं है। यम स्वतन्त्र वर्ण हैं।

को भी नहीं पड़ता और ऐसे सीधे और सुगम हैं कि दो चार-दिन के अभ्यास से आ जाते हैं। यों तो संस्कृत भाषा के तेरसट अक्षर हैं जिनमें बाईस स्वर, तेंतीस व्यंजन, चार अयोगवाह और चार यम हैं। परन्तु हमारी प्राकृत नागरी भाषा में बहुधा बारह स्वर, तेंतीस व्यंजन, दो अयोगवाह विसर्जनीय और अनुस्वार और एक यम सानुनासिक' अर्थात् सब अड़तालीस अक्षर काम आते हैं और इन्हीं से इस भाषा और अन्य शब्दों का यथोचित निर्वाह हो सकता है और इन मनोहर अक्षरों में सर्वोपरि यह गुण है कि इनमें घटा-बढ़ाकर कुछ-का-कुछ नहीं बना सकते।

मुसलमानों के इस देश में आने और हेल-मेल से जो अरबी-फ़ारसी के शब्द नागरीभाषा में मिल गये हैं उसी को लोग उर्दू कहने लगे हैं, परन्तु यह उर्दू बहुधा दिल्ली, लखनऊ आदि दो चार बड़े-बड़े नगरों में जहाँ पहिले बादशाह लोग रहते थे बोली जाती है। सो उनमें भी फ़ारसी पढ़े-लिखे लोग, शेष सब स्त्री-पुरुष वही अपनी मातृभाषा बोलते हैं। हमारी भाषा में आपसी मेल-जोल से जो कोई अरबी-फ़ारसी का तथा अंग्रेजी का कोई शब्द मिल गया और सब लोगों में प्रचार पा गया, उसका बोलना और लिखना कोई ऐसी बुराई की बात नहीं जिससे कुछ हानि हो। पर हाँ, बुराई और हानि की बात तो यह है कि लोगों के जी में जो यह बात समा रही है कि फ़ारसी आरसी है उसके पढ़े लिखे बिना मनुष्य की बोल-चाल और शील ही नहीं सुधरता और संवरता है, इसलिए वह लोग फ़ारसी पढ़-पढ़कर अपने लेख में निरे अरबी-फ़ारसी के शब्द कूट-कूटकर भरते हैं और जहाँ तक हो सकता है अपनी भाषा के सीधे-सीधे शब्दों की जगह ढूँढभाल कर अरबी-फारसी के टेढ़े-मेढ़े शब्द बोलते और लिखते हैं। यहाँ तक कि इज़ाफत और तरक़ीब आदि भी अरबी फ़ारसी ही की लाते हैं।

यह फारसी के नाम पर उधार खानेवाले अपने बोल-चाल में तो बड़े-बड़े लुग़त ही अरबी-फ़ारसी के बोलते हैं। जिनको साधारण लोग नहीं समझते और बहुधा कह देते हैं कि यह तेरी फ़ारसी तो हमारी समझ में नहीं आती, ढ़बसिर कहें तो समझें। परन्तु उनका लेख जुलैख़ा बहार दानिश और माधोराम से कम नहीं होता जिसका समझना तो क्या और लोग मौज को भी नहीं पाते, फिर कहिए यह नाम की उर्दू जो सचमुच फ़ारसी का घूंघट काढ़ रही है, लोग कैसे उसको सुगम सुलभ देख सकते हैं ? कदापि नहीं॥

भला जब आदमी की सारी उमर अकेली उर्दू के लिए फारसी पढ़ते-पढ़ते बीत गई तो आगे और क्या करेगा और वह फारसी भी कैसी जिसमें ऊपरी और मुँह देखी बात बनाना, लल्लो पत्तो, चापलूसी और रसिक बातों के सिवाय और कुछ न हो॥

इसका फल जो कुछ यहाँ के लोगों पर हुआ है उसको निश्चय चतुर मनुष्य जानते होंगे। कदाचित् यह उर्दू जिससे बहुत बड़ी हानि हुई और हो रही है सर्कारी दफ़्तरों में लिखी-पढ़ी न जाती तो कभी प्रचार न पाती और जैसा अब लोग नौकरी के लालच से पढ़ते हैं, नाम भी न लेते। इसपर भी तो उर्दू जान्ने वाले नागरी जान्नेवालों का मसां करके सवां (सौवां) भाग भी नहीं। कारण इसका वही ठेठ बोल-चाल और अक्षरों की सुगमता का है। इस उर्दू भाषा का दफ्तरों में प्रचार होने से बड़ी भारी हानि तो यह है कि साधारण लोग अपने मुआमले और मुकद्दिमे के मध्ये की लिखत पढ़त सुनकर गूंगे-बहरों के समान मुँह तकते रह जाते हैं बहुतेरा कान लगाते हैं, पर समझते नहीं, जो कहीं पढ़ने-लिखनेवाले ने किसी कारण और प्रयोजन से अपना सिर खपाया और सैकड़ों दृष्टान्त दिये तो जाकर कहीं औंधा-सीधा मतलब समझे तो समझे, नहीं तो नहीं, हारकर जैसाकि किसी ने कहा वैसा मान लिया। जो पक्षपात को काम में न लावें तो वकील, मुख्तार इसकी साक्षी दे सकते हैं। साधारण लोगों के पास जब कोई सर्कारी काग़ज वा खत पत्र जाता है तो बेचारे उसको लिये मारे-मारे फिरते हैं। जो दैव से फ़ारसी पढ़ा मिल गया तो मिल गया, नहीं तो

दस दस पांच कोस जाकर पढ़वाते हैं और वह भी खाली हाथ नहीं किन्तु दे लेकर अपना काम साध लेते हैं। वह फ़ारसी पढ़े जैसा रात-दिन बोलते हैं वैसा भी नहीं लिखते। लिखने के समय निरी फ़ारसी छौंकते हैं (मानों इनकी जन्मघुट्टी फ़ारसी ही है) और क्यों न फ़ारसी बघारें, इसी में तो उनकी बड़ी जीत है। बात-बात में लोगों को मूँडते और ज़रा-ज़रा-से लिखने-पढ़ने का बहुत कुछ माँग लेते हैं जो यहाँ की ठेठ बोल-चाल में लिखें तो ओलट ही क्या रहे और किस मिष से लोगों को ठगें। निदान कहाँ तक लिखा जाए, इस उर्दू का दफ्तरी (में)प्रचार होने से बड़ी-बड़ी बुराइयाँ और लोगों की हानि हुई और होती है। उदाहरण एक नहीं हजारों दे सकते हैं। इसलिए यह तीन काल में पढ़ने और दफ्तरों में प्रचार पाने योग्य नहीं।

और यह भाषा तो जो कुछ है सो है ही, परन्तु इसके अक्षर, जिनमें यह आजकल लिखी जाती है बहुत ही निषिद्ध है। उन्होंने रहा-सहा लोगों का मठ मारा है।

इन फारसी अक्षरों की लिखत को पढ़नेवाले केवल अन्धे की लाठी के समान टटोलते चलते हैं और जो कुछ पढ़ते हैं उसको प्रसंग से निकालते हैं और प्रसंग के विना कोई किसी के लेख को निर्भ्रम और ठीक नहीं पढ़ सकता और दूसरी भाषा के शब्दों का लिखना पढ़ना तो मानो असम्भव ही है और किसी ने टूटा-फूटा लिख भी लिया तो पढ़ने में कदापि शुद्ध नहीं आता, कुछ-का-कुछ मुँह से निकल जाता है। बहुतेरे नागरी, संस्कृत और अंगरेजी के शब्द इनही अक्षरों के प्रताप से बिगड़ गये, जिनको सुनकर हँसी आती है। यह कुछ लिखने-पढ़नेवालों का दोष नहीं है, किन्तु अक्षर ही ऐसे हैं कि फ़ारसी के अनन्तर और किसी भाषा के शब्द उनमें शुद्ध नहीं लिखे जा सकते और जो सच पूछो तो फ़ारसी का भी निर्वाह यथावत् नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो साकिन्, मुतहर्रिक आदि का भेद और पढ़ने के समय अलिफ़, ऐन और ते, तोय और से, सीन, स्वाद और हे, हे और ज़ाल, जे, ज्वाद, ज़ोय का भेद लिखने के समय पूर्वस्मरण और लुग़त की किताब के विना स्पष्ट नहीं हो सकता॥

दूसरे इन अक्षरों में अलिफ, ऐन, वाव, ये —ये चार स्वर हैं, जिनमें से ऐन अरबी में ही आता है और **'वाव ये'** व्यंजन का भी काम देते हैं और **जेर, जबर, पेश** —ये चार स्वरों के संकेत और उनकी मात्रा है जो बहुधा लगाई नहीं जाती। इनही स्वर और संकेतों से सारे स्वरों का खेंच-तानकर उच्चारण करते हैं।

तीसरे इनकी बनावट और मिलावट भी बहुत भ्रमणीक है। जैसे बे, पे, ते, से और जीम, चे, हे, खे, और दाल, जाल, और रे, जे और सीन शीन और स्वाद, ज्वाद और तोय,जोय और ऐन, गैन और काफ़, गाफ़ बनावट और मिलावट में और फ़े, काफ़ और बे, पे, ते, से, नून, ये की केवल बनावट में नुक्तों और शोशों के सिवाय कुछ अन्तर नहीं अर्थात् जब ये दूसरे अक्षरों से मिलाये जाते हैं तब सबका रूप एक-सा दिखाई देता है, जो चाहो सो पढ़ लो। यदि पढ़नेवाले के भाग्य से नस्तालीक ख़त (जिसमें पूरे पूरे अक्षर और नुक्ते और शोशे लगे हुए होते हैं) हाथ का लिखा हुआ वा छपा हुआ तो उसने पढ़ लिया, नहीं तो माथा पकड़कर रह गया, परन्तु हरकात के बिना उच्चारण तब भी ठीक नहीं होगा॥

इस नस्तालीक ख़त में प्रायः पुस्तकें लिखी जाती हैं और वह मनमानी घसीट जिसमें रात-दिन लोग चिट्ठी, पत्री आदि निज के और सर्कारी काम करते हैं, उसका पढ़ना अलबत्तह कुछ काम रखता है। ऐसे-वैसे का काम नहीं जो पढ़ सके, बैठा सिर धुना करता है। उसके बांचने में अभ्यास करने के लिए लोग पढ़ने-पढ़ाने से भी अधिक श्रम करते हैं। तब भी यह लिखत बहुत सोच-विचार और पूर्वापर के सम्बन्ध से जों तों कर पढ़ने में आती है और यथार्थ में वह अक्षर और लिखित तो ऐसी नहीं कि जिसको कोई पढ़ सके, केवल पढ़नेवाले के अभ्यास की बात है। ऐसी लिखत को पढ़कर सुनाने कि लिए लोग

पहले से देखभाल रखते हैं और फिर भी जो शब्द पढ़ने में नहीं आते उनकी जगह और-का-और सुना देते हैं । इन अक्षरों में जब फारसी ही की यह दुर्दशा है तो और भाषा की तो क्या कथा, जो लिखने में ही नहीं आती । यद्यपि फारसीवालों ने यहाँ की बोल-चाल के लिए 'टे, डाल, ड़े' नये अक्षर घड़े तो भी यहाँ की भाषा का यथोचित निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने बहुतेरे यहाँ की बोली के शब्दों को अपने ढंग पर बना लिया । जैसे ब्राह्मण को बिरहमन और दक्षिण को दकन आदि । निदान इस शिकस्त खत में ही वही शब्द पढ़ने में आते हैं जो जबान पर चढ़े रहते हैं और उनमें भी जो बहुधा एक ही प्रकार से लिखे जाते हैं दुब्धा में डालते हैं और जहाँ इतर भाषा का शब्द आया और मुँह से कुछ-का-कुछ निकला, देखो जैसे नांव, गांव ठांव कभी ठीक नहीं पढ़े जाते हैं ॥

निदान इन फ़ारसी अक्षरों और उनकी लिखत की कहाँ तक बुराइयाँ लिखी जाएँ, उनसे इस देश के लोगों की बड़ी भारी हानि है । नित नये जाल बनते हैं, रात-दिन लोग धोके खाते हैं । ज़रा-ज़रा-से लिखवाने-पढ़वाने के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हैं । सरह नाम उठवाई और कलम पकड़वाई के लिए नित उठ लुटते हैं । पृथिवीभर के लोगों की यही परिपाटी है कि जहाँ बालक पाँच-सात वर्ष का हुआ और उन्होंने उसको पहिले मातृभाषा लिखानी पढ़ानी आरम्भ की और जब वह उसमें प्रवीण हो गया और गणित, भूगोल, इतिहास आदि विद्या सीख चुका तब उसकी रुचि के अनुसार इतर भाषा और विद्या सिखाते हैं । यहाँ कुछ काल से एक निराली चाल पड़ गयी है अर्थात् जब तक माँ बाप की गोद में खेलता और तुतलाता रहा तब तक तो मातृभाषा सीखता रहा और जब पढ़ने-लिखने के योग्य हुआ तब ही मुल्ला और मियाँ जी को सौंप दिया गया और यह गीत कि—

करीमा बबख्शाय बर हाल मा । कि हस्तम असीरे कमदे हवा ॥

गाने लगा और यह राग केवल जीभ तोड़ने और गला फाड़ने के लिए होती है, क्योंकि वह अवस्था तो ऐसी है ही नहीं कि दूसरी भाषा सीख सकें और उसके भार को उठा सकें, परवश विचारे शिथिल और मन्द होकर अधम रह जाते हैं । न अपनी भाषा जैसी चाहिए आई, न दूसरी जो मारपीट करके । बहुत हुआ तो दोनों भाषा का सार यह याद रहा कि—

अय अकरीम बख़शीश कर ऊपर हाल हमारे के ।
कि हूँ मैं कैदी हवा और हविस का ॥

बस यही मुंशी लोगों की सारी ऊमर की मेहनत का निचोड़ है, जिसको उन्होंने अदालतों और दफ्तरों में फैला रखा है और केवल इतनी ही करतूत पर आपे को बड़ा मान्ते हैं और जान्ते हैं कि इल्म है तो फारसी और सदा घमंड से यह पढ़ते हैं कि—

कलम गोयद की मन शाहे जहानम । कलम कश रा बदौलत मे रसानम ।

और कौतुक यह कि ज़रा-ज़रा-से लड़के छाती पर हाथ रख रसिक शेर पढ़ते हैं और ठंडी सासें लेते हैं और आपे को संवारने और वेश बनाने में वेश्या को मात करते हैं । विचार करने का स्थान है कि जिस भाषा का ऐसा बुरा गुण हो, वह क्या शिक्षा देने और प्रचार पाने योग्य है ? कभी नहीं ॥

निस्संदेह यहाँ तक हो सकता है कि जो भाषा ऐसी क्लेश साध्य हो और उसमें निरे अवगुण भरे हों उसको लोग पढ़ते-पढ़ाते ही क्यों हैं ? तो इसका समाधान यह है कि न उसमें सर्कारी कामकाज होते, न लोग उसको अंगीकार करते । कदाचित् प्रतीत न हो तो देख लीजिए, जो लोग अपनी लड़कियों की शिक्षा चाहते हैं वह सब नागरी पढ़वाते हैं । और कोई उनसे कहे भी कि अजी आप तो उर्दू-फारसी जानते हैं, लड़कियों को क्यों नहीं सिखाते तो तुरन्त उसके उत्तर में यही कहते हैं कि उनको कौन-सी नौकरी-चाकरी

करनी रह गयी। और जी में यह भी जान्ते हैं कि उर्दू, फ़ारसी पढ़कर लड़कों की क्या दशा हुई जो लड़कियों की होगी। वास्तव में पेट ऐसा ही है जो कुछ नहीं करना है, उसके लिए करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि उर्दू, फ़ारसी वही लोग पढ़ते-पढ़ाते हैं जो अदालतों से सम्बन्ध और प्रयोजन रखते हैं। शेष सब गुणग्राही पहले अपनी मातृभाषा सीखते हैं। देखिए इस देश में हजारों चटशाला और पाठशाला हैं, जिनमें लाखों लड़के नागरी पढ़ते हैं। यदि अपनी मातृभाषा में रुचि न होती तो कौन पढ़ता?

इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अपनी मातृभाषा के सिवा कोई कुछ न पढ़े, किन्तु बड़ा मनोरथ यह है कि प्राथमिक शिक्षा हमारी मुख्य नागरी में हो, तदनन्तर जिसकी जो रुचि हो उसके अनुसार संस्कृत, अंगरेजी और अरबी आदि पढ़े, और जब तक अपनी भाषा में निपुण न हो ले तब तक दूसरी भाषा में शिक्षा न दी जाए। इस नियम के बिना जो कुछ हानि हुई, उसकी साक्षी बहुधा फ़ारसी और अंग्रेजी वालों की बोलचाल और उनके अनुवाद दे रहे हैं। हाँ, रहा इसका वर्ताव, वह तबही हो सकता है जब सरकारी दफ्तरों में नागरी का प्रचार हो। निदान कहाँ तक वर्णन किया जाए, नागरी भाषा और उसके अक्षरों से जो कुछ प्रजा का लाभ है उसको सब जान्ते हैं। यहाँ तक कि विदेशी लोग भी सराहते और उसके पढ़ने में उद्यत हैं तथा च अभी इंगलिस्तान कमिश्नरों ने सिविल सर्विस की परीक्षा के उर्दू की जगह में नागरी को आवश्य[क] और प्रधान ठहराया है। इसलिए आशा है कि हमारी प्रार्थना भी अवश्य सफल होगी॥

अलमिति

आर्यसमाज मेरठ के एक सभासद ने लिखा। मिति माघ वदि १२ रविवार सम्वत् १६३६ विक्र०

—: 0 :—

कानपुर निवासियों द्वारा प्रेषित

निवेदन-पत्र[१]

अशेषगुणसम्पन्न महामान्य महामहिम श्रीत श्रीयुक्त सर एल्फ्रेड कामिन्स लायक के, सी, बी, सी, आई, ई पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के लफ्टिनेण्टगवर्नर महाशय प्रबल प्रतापेषु।

सविनय निवेदनमिदम्।

हम रईस प्रार्थी जिला कानपुर के आपसे विनय करते हैं कि हम लोगों की दीन दुर्दशा पर ध्यान दीजिए! न्यायशील सर्कार की यह इच्छा है कि प्रजा को कष्ट किसी प्रकार से न हो। हम लोगों को मूर्ख न रहने देना और हमारी साधारण भाषा में शिक्षा देना यही न्यायशीला सरकार अंग्रेज का मत चला आया है। हम लोगों क़ो बहुत आनन्द हुवा कि जब सर्कार से शिक्षा-कमीशन के बैठने की आज्ञा हुई। यह सोचकर कि अब हम लोगों की दीन दशा पर शिक्षा कमीशन अपना मत आप तक यथोचित प्रकाश करेगी। पर बड़े शोक की बात है कि हम लोगों के विषय में अर्थात् जो-जो हम आपके प्रार्थियों ने पुकारा था कुछ ध्यान न दिया गया। यहाँ पर हिन्दी-उर्दू की जगह याने देवनागरी अक्षर फ़ारसी अक्षरों की जगह सब सरकार के दफ्तरों में हो जाते, यही हमलोगों की पुकार थी। जो-जो बुराइयाँ उर्दू के जारी रहने से

१. यह निवेदन पत्र नीले रंग के फुलस्केप कागज पर ४ पृष्ठों में ग्रेट टाइप में छपा है।

होती जाती हैं उनके वर्णन करने का आपके सामने जो खुद भली-भाँति जानते हैं, कुछ प्रयोजन न था। पर हम लोगों को उर्दू से बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है। इससे आपसे, जो हमारे पिता सदृश हैं, संक्षेप में कहते हैं।

(१) १८५४ ई. के डिस्पैच में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया था कि लोगों को साधारण शिक्षा उनकी अपनी बोली में देनी चाहिए। उर्दू कि जिसमें आज तक उत्तर हिन्दुस्तान में शिक्षा दी जाती है लोगों की बोली नहीं है। हमारी मातृभाषा और देशी बोली जो हमारे घरों में स्त्री-पुरुष, लड़के-बाले नित्य प्रति बोलते-चालते हैं, हिन्दी है, किन्तु उर्दू नहीं है। हम लोगों को हमारी मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाती है। हमारी प्रथम शिक्षा हिन्दी ही के द्वारा उचित है और सर्वसाधारण मनुष्यों में हिन्दी ही के द्वारा शिक्षा फैल सकती है।

(२) हिन्दी याने जो हम लोगों की बोली है और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है बंगाली, गुजराती, मरहटी की तरह संस्कृत की एक शाखा है। पर बेंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र देशों में उनकी प्रत्येक भाषा दफ्तरों में प्रचलित है और सर्वसाधारण को शिक्षा इन्हीं में दी जाती है। इसलिए हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि उसी तरह यहां पर भी दफ्तरों में लिखा-पढ़ी होवे।

(३) शिक्षा-कमीशन की रिपोर्ट से यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि हिन्दी के द्वारा प्रथम शिक्षा चाहनेवाले अधिक मनुष्य हैं, क्योंकि दो लाख मनुष्यों के अनुमान से **दो सौ मेमोरियल** इसी प्रयोजन से शिक्षा-कमीशन की सेवा में पहुँचे और उर्दू को लाचार होकर इस कारण सीखते हैं कि देश के दफ्तरों में उर्दू लिखी-पढ़ी जाती है और उर्दू का जो कुछ प्रचार हुआ वह तभी से हुआ है जब से यह दफ्तरों की बोली ठहरायी गयी है।

(४) हिन्दी में बहुत सुगम शब्द जो सबको समझ पड़ते हैं, होते हैं और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है। उर्दू में आधे से अधिक फारसी और अरबी के शब्द बोले जाते हैं, जो सबकी समझ में नहीं आते। केवल फारसी और अरबी पढ़े मनुष्य समझते हैं और यह फारसी और अरबी अक्षरों में लिखी जाती है।

(५) मुसलमानों के राज्य के पहिले यहाँ पर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में काम होता था।

(६) यद्यपि मुसलमान और सर्कार अंग्रेजी ने उर्दू को दफ्तरों की भाषा बनाकर इसकी पाठशाला बिठाकर इसके फैलाने के बड़े-बड़े उपाय किये तथापि सर्वसाधारण मनुष्यों ने इसको अंगीकार नहीं किया और न करना चाहते हैं। केवल बड़े-बड़े नगरों में कुछ लोग उर्दू बोलते हैं शेष सब हिन्दू-मुसल्मान गांवों और कसबों में हिन्दी ही बोलते-चालते हैं। जब कभी कोई सर्कारी कागज उर्दू में लिखा हुआ उनके पास पहुँचता है तो उसके पढ़ाने को गांव-गांव भटकते फिरते हैं। हिन्दी में यह कष्ट कभी नहीं देखने में आ सकता, क्योंकि हर एक गांव और कसबे में एक दो आदमी हिन्दी पढ़े-लिखे होते ही हैं।

(७) शिक्षा विषयक डैरक्टर साहब की रिपोर्ट से और मर्दुमशुमारी की किताबों से यह साफ निश्चय हो जाएगा कि अब भी लाखों हिन्दू, मुसल्मान, सहस्रों ईसाई हिन्दी पढ़े हुए हैं। बड़े-बड़े नगरों में उर्दू पढ़े केवल वही मनुष्य हैं जो कचहरियों में नौकरी चाहते हैं या जिनका काम कचहरी में पड़ता है।

(८) ईसाई लोगों की पुस्तकें इन्हीं देवनागरी अक्षरों में उपदेश के लिए बनी हैं। इससे साफ प्रकाश पाया जाता है कि हिन्दी जाननेवाले लोग बहुत हैं।

(९) प्रेसिडेण्ट शिक्षा कमीशन श्रीमान् हण्टर साहब ने लाहौर में अपनी वक्तृता में कहा था कि मेमोरियल अधिकतर हिन्दी के लिए दिये गये हैं और विपक्ष में बहुत कम। और जिन्होंने हिन्दी के वास्ते

दिया है वह सर्वसाधारण लोग हैं और जिन्होंने उर्दू के लिए दिया है वह सर्कारी नौकर हैं । और जिनको सर्कार अमला क्लास कहती है । इस से भी साफ जाहिर है कि हम सब लोग हिन्दी ही चाहते हैं ।

(१०) मुफस्सिल में जो तहसीली और हल्काबंदी पाठशाला जारी हैं, उनमें अधिकतर हिन्दी ही पढ़ाई और लिखाई जाती है । इस विषय में इंस्पेक्टरों और डैरेक्टर स्कूल से पूछ लिया जाए और नार्मल स्कूलों में भी ज्यादा हिन्दी में ही शिक्षा दी जाती है । इसलिए आपसे प्रार्थना करते हैं कि सर्कार का बड़ा लाभ होगा यदि दफ्तरों में हिन्दी जारी करने की आज्ञा दी जावे, नहीं तो इतना रुपया जो इन मदर्सों में खर्च होता है व्यर्थ जाता है ।

(११) जो सर्कार यह चाहती है कि सर्कार की शिक्षा सर्वसाधारण मनुष्यों में फैल जाए, सर्कार की प्रजा सभी पढ़ी-लिखी हो जावे, गांव का गंवार कचहरी का कागज ऐसा ही पढ़ ले जैसा अब कचहरी का कागज कचहरीवाला पढ़ सकता है तो सर्कार का यह प्रयोजन हिन्दी को सर्वसाधारण के लिए प्रथम शिक्षा बनाकर अंग्रेजी के साथ इसको दूसरी भाषा नियत करने में सिद्ध हो सकता है । साधारण शिक्षा का प्रचार उर्दू के द्वारा कभी नहीं हो सकता ।

(१२) दफ्तरों में फारसी और अरबी अक्षरों के स्थान में देवनागरी अक्षर कर देने की जितनी आवश्यकता समझी गयी है उसमें बड़ी आवश्यकता यह है कि जब दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार हो जाएगा, सर्वसाधारण में शिक्षा फैल जाने का आप ही एक कारण हो जाएगा और दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार बड़ी सुगमता के साथ हो सकता है । वही नौकर, वही परवाना, वही रूबकार हिन्दी से लिखे हुए को छः महीने का समय पाकर सीख सक्ता है, क्योंकि देवनागरी अक्षर बड़े सुगम हैं और बड़ी जल्दी आ सकते हैं ।

(१३) हम लोग आपसे प्रार्थना करते हैं कि सेण्ट्रल प्राविन्सेज अर्थात् मध्यप्रदेश में और बिहार में जहाँ कि अभी हाल ही में हिन्दी जारी हुई है और जिला तराई और राज्य रीवां वहाँ भी हिन्दी का प्रचार कर दिया गया है आप सब रिपोर्ट इस संक्षेप से देखें ।

(१४) देवनागरी अक्षर ऐसे सुगम हैं कि हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई तीन दिन में ४८ अक्षर और १२ मात्रा सीखकर लिखने-पढ़ने लगते हैं और ६ महिने में तो इतना अभ्यास हो सक्ता है जैसा अब कचहरीवालों को उर्दू अक्षरों के लिखने पढ़ने में छः वर्ष लगते हैं ।

(१५) सब हिन्दू, मुसल्मान अपनी बही खाता देवनागरी व उसी के अदल-बदल के अक्षरों में लिखते हैं ।

(१६) पटवारियों के कागज अधिकतर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में लिखे जाते हैं ।

(१७) उर्दू अक्षरों में बड़े-बड़े दोष हैं । अलग-अलग अक्षरों का जो उच्चारण होता है वह उनको शब्द में मिलाने से और का और हो जाता है । लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है । एक बिन्दु के छोड़ने वा जोड़ देने से इधर का जगत् उधर हो जाता है । अब उर्दू में जाल तो बड़ी सुगमता से होता है औ सर्कार कुछ बन्दोबस्त नहीं कर सकती । इसलिए आपसे प्रार्थना करते हैं कि जड़ ही काट डालिए ताकि फिर पेड़ अर्थात् उर्दू ही नहीं रहेगी तब जाल काहे को होगा और सर्कार का एक बड़ा भारी उपकार होगा । उर्दू अक्षरों में बहुतों का उच्चारण एक-सा और सूरत भिन्न-भिन्न होती है ।

(१८) उर्दू अक्षरों में तीन मात्रा और ३३ व्यंजन हैं। देवनागरी अक्षरों में १२ मात्रा और ३३ व्यंजन हैं, मात्राओं में तीन भेद ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। यही कारण है कि अरबी, तुर्की, अंग्रेजी किसी बोली का शब्द हो जैसा उच्चारण होता है वैसा ही देवनागरी में लिखा जाता है, तैसा ही पढ़ा जाता है। उर्दू में एक शब्द कई-कई प्रकार पढ़ा जाता है। आपसे प्रार्थना करते हैं कि नक्शा देखिए, जिसमें यह थोड़ा सा-प्रकाश किया गया है कि किस तरह उर्दू कई तरह से पढ़ी लिखी जाती है।

शब्द	उर्दू में कितनी तरह से पढ़ा जा सकता है।
१-निरंजन	निरज्जन, बिरहमन
२-प्यारेलाल	प्यारेलाल, बिहारीलाल
३-वच्चन	थम्मन, भम्मन, वच्चन
४-साहेब दर्या पार होंगे कसबी मौजूद रहै।	किश्ती मौजूद रहे
५-नवात सुफेद	बनात सुफेद।
६-मुरैथा	मुड़ैना, मुरनिया, मुरंथा, मुरंतिया, मुरटा, मुहना, मरहटा।
७-आलूबुखारा	उल्लू विचारा
८-वेनी ने मारा	नवी ने मारा, तैंने मारा।
९-पारवती	नारायनी
१०-तमस्सुक	नमक, तमक।
११-होली फुकवा दो	होली फिकवा दो
१२-एक साहब 'छतमरा पट्टी दनका' को	'जमराही डंका' पढ़ते थे
१३-और 'खुगौर कुहनह' को	चुकर घंट

(१९) जब शिक्षा कमीशन इलाहबाद मेयोहाल में बैठी थी तब प्रेसीडेन्ट ओनेरिबिल डाक्टर हंटर साहेब को कहना पड़ा था कि हिन्दी की पश्चिमोतर प्रदेश में बड़ी चाह है।

(२०) उसी समय ओनेरेबिल जस्टिस् सय्यद महमूद ने भी कहा था कि यद्यपि मैं मुसलमान हूँ लेकिन यहाँ के लोगों की राय प्रकाश करता हूँ वह सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू जो टेढी-मेढी लिखी जाती है मेरी राय में न रहनी चाहिए।

(२१) आपसे प्रार्थना करते हैं कि हिन्दी के जारी होने के लिए कमिश्नर मेजिस्ट्रेट और सेशन्स जजों की राय ली जावे।

(२२) शिक्षा कमीशन के साम्हने लगभग ४० आदमियों ने पञ्जाब से शिक्षा विषय में साक्षी दी थी और उसमें आधे से ज्यादह पुरुषों ने उर्दू के स्थान में हिन्दी प्रचलित करने के लिए जोर दिया था, विशेष कर पञ्जाब के लार्ड पादरी ने भी इसपर अच्छी तरह साक्षी दी थी।

(२३) अब आपसे हम लोगों की यही प्रार्थना है कि आप ऊपर की लिखी हुई बातों और शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करते समय हिन्दी पर पूरा-पूरा ध्यान दीजिए और हिन्दी और देवनागरी

अक्षरों को कचहरियों में वर्तने की आज्ञा दे दीजिए और हम सब लोग आपकी प्रजा आपके चिरंजीवी होने की विनय करते हैं।

—: 0 :—

स्वामीजी ने तत्कालीन राजाओं को प्रेरित किया कि वे अपने राज्य का काम हिन्दी में चलाएँ। तदनुसार उदयपुर के महाराजा ने देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। राजकीय कार्यालयों के नाम संस्कृत शैली में रक्खे, जैसे-महद्राज सभा, शैलकान्तार सम्बन्धिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्पसभा आदि। मेवाड़ राज्य का राजपत्र (गज़ट) सज्जनकीर्त्तिसुधाकर' नाम से प्रकाशित होने लगा। उन्होंने जोधपुर नरेश को पत्र लिखा कि राजकुमारों को पहले हिन्दी (देवनागरी), फिर संस्कृत और तत्पश्चात् (यदि समय हो) अंग्रेजी पढ़ाएँ। १२ अगस्त सन् १८८३ को राज्य के प्रधानमन्त्री के अधिकार से कर्नल प्रतापसिंह ने एक दिन अर्जियाँ सुनते समय उर्दू में लिखी ५०-६० अर्जियाँ फाड़कर फैंक दीं। उसी दिन से राज्य का सारा काम हिन्दी में होने लगा।

हिन्दी देश की एकता के लिए आवश्यक समझ लेने के बाद वे जीवन के अन्तिम क्षण तक उसके प्रचार व प्रसार के लिए सर्वात्मना समर्पित रहे। उन्होंने श्री श्यामजी कृष्णवर्मा को वेदभाष्य के डाक पार्सलों पर देवनागरी में पते लिखने की प्रेरणा की। महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित समाजसुधारक श्रीगोपाल हरिदेशमुख को आर्यभाषा के प्रचार में पुरुषार्थ करने को प्रेरित किया। उन्हीं से प्रेरणा पाकर कर्नल आल्क ाट ने हिन्दी पढ़नी प्रारम्भ की।

एक सज्जन ने जब उनसे उनके ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुमति चाही तो उन्होंने लिखा—"जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा को सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए होता है।" मैडम ब्लैवत्स्की को स्वामीजी ने लिखा था—"मेरा विचार आपको अनुवाद करने से रोकने का नहीं है, क्योंकि बिना अंग्रेजी अनुवाद के यूरोपियन जातियाँ सत्य-सत्य के प्रकाश को नहीं पा सकतीं। किन्तु भारत की आर्यजनता मेरे भाष्य के अं ग्रेजी में प्रकाशित होने पर संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन त्याग देगी। मेरा वेदभाष्य समझने के लिए संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन, जो मेरा मुख्य उद्देश्य है, नष्ट हो जाएगा।"

स्वामीजी का किसी भी भाषा से द्वेष या विरोध नहीं था, किन्तु उनका कहना था कि "जो इस देश में उत्पन्न होकर इसकी भाषा नहीं सीख सकता उससे और क्या आशा की जा सकती है?" इसलिए उन्होंने आर्यभाषा (हिन्दी) का जानना प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए अनिवार्य ठहराया था।

हिन्दी के जिस स्वरूप का प्रचार व प्रसार स्वामीजी चाहते थे उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण सत्यार्थप्रकाश में यह है—

"जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्यार्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश करे, किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"

देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता

स्वामी दयानन्द आर्यभाषा हिन्दी की श्रेष्ठता और देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता के प्रति पूरी तरह आश्वस्त थे। नागरी लिपि की परिपूर्णता को उन्होंने किस प्रकार सिद्ध किया, इससे सम्बन्धित एक घटना प्रकाश में आई है—

"एक प्रसिद्ध मौलवी और एक प्रसिद्ध पादरी का अपनी-अपनी लिपियों की श्रेष्ठता पर वाद-विवाद हुआ। स्वामीजी ने कहा कि जो लिपि तीनों में श्रेष्ठ हो, वही स्वीकार की जाए, शेष दो का त्याग किया जाए। श्रेष्ठता का ज्ञान कैसे हो, इसके लिए यह निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी भाषा के कठिन-से-कठिन वाक्य सब बोलें और उन्हें जिस लिपि में ठीक-ठीक लिखा जा सके वही लिपि श्रेष्ठ होगी। स्वामीजी को जो भी वाक्य अरबी या अंग्रेजी के सुनाएँ गये उन्होंने देवनागरी में वैसे ही लिख दिया, परन्तु स्वामीजी ने जो शब्द बोले वे अरबी या रोमन लिपि में नहीं लिखे जा सके। स्वामीजी ने जो शब्द बोले थे, वे पाणिनि के प्रत्याहार-सूत्रों में से एक 'ञमङणनम्' था। इसके लिए देवनागरी को छोड़कर अन्य किसी लिपि में वर्ण ही नहीं हैं।" (सरस्वती, अक्तूबर १६३६ में पं० धर्मदेव शास्त्री का लेख 'रोमन लिपि का मोह')।

स्वदेशी

स्वदेश में बनी वस्तुओं से स्वामीजी को कितना प्रेम था, यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—"हम और आपको उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा उस देश की उन्नति तन, मन, धन, से सब मिलकर प्रीति से करें।"

पर भाषा पर भाव पर भूषण पर परिधान।
पराधीन नर की अहो यह पूरी पहचान॥

देश की आर्थिक स्थिति पर ऋषि दयानन्द ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। विचार ही नहीं किया अपितु निश्चित योजना भी तैयार की और उसके आधार पर देश के औद्योगीकरण के लिए विदेशों से पत्र-व्यवहार भी किया, दैवगति से वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं कर पाये। स्वामीजी इस बात को बड़े दुःख के साथ अनुभव करते थे कि विदेशी माल की खपत से देश को कितनी हानि हो रही है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा कि—"जब परदेशी स्वदेश में व्यवहार (व्यापार) करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ नहीं हो सकता।" यह उन दिनों की बात है जब "भारत के निवासी प्रायः मानचेस्टर में बने सूती वस्त्र धारण करते थे। बच्चे इंगलिश और फ्रेंच खिलौनों से खेलते थे, मुंशी लोग विदेशी कागज को लिखने के काम में लाते थे। भारतीय विलायती गिलास से ब्रिटिश और फ्रेंच ब्रांडी पीते थे।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीयों की समग्र मानसिकता समग्ररूप से विदेशी रंग में रंग चुकी थी और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग फैशन या आधुनिकता के विरुद्ध समझा जाता था। ऐसी स्थिति में स्वामी दयानन्द ने विदेशी वस्तुओं तथा रहन-सहन का बहिष्कार करने और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की प्रेरणा करते हुए बड़े जोरदार शब्दों में कहा था—"इतने ही से समझ लेओ कि यूरोपियन लोग अपने देश के जूतों का भी जितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं। अपने देश के बने जूते को कार्यालय और कचहरियों में जाने देते हैं, इस देशी जूती को नहीं। देखो! कुछ सौ वर्ष ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसेकि स्वदेश में पहनते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल करली। इससे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का कार्य नहीं।" (स.प्र.)। संस्कारविधि में भी स्वामीजी ने विवाह-संस्कार के प्रकरण में विशुद्ध स्वदेशी (हाथ के कते, हाथ के बुने) वस्त्रों का प्रयोग करना वैध ठहराया है। 'अन्य देशस्थ मनुष्यों का भी उतना मान नहीं करते जितना अपने देश के बने जूते का' लिखनेवाले व्यक्ति के हृदय में विदेशी शासन और विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के विरुद्ध कितनी घृणा होगी? छावली निवासी ठाकुर ऊधोसिंह को विदेशी वेशभूषा में देखकर महर्षिजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—"क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने

वेश से विभूषित होकर अपने पिताजी से अधिक संस्कृत हो गये हो ? अपने ही देश के वस्तुवेश को अपनाने में शोभा है ।" वास्तव में स्वामीजी के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, मस्तिष्क, हृदय सभी पर स्वदेश की छाप थी । उनका अन्दर बाहर सभी स्वदेशी के रंग में रंगा था ।

स्वामी जी ने अपने समसामयिक ब्रह्मसमाज एवं प्रार्थनासमाज की भर्त्सना करते हुए लिखा है—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है । ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं । खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं । अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर, उसके स्थान पर भरपेट निन्दा करते हैं ।"

महर्षि का प्रयास विफल नहीं गया । जोधपुर राज्य के कर्मचारी, पदाधिकारी और अभिजात्य वर्ग के लोग मारवाड़ में खादी वस्त्रों का प्रयोग करने लगे । कर्नल प्रतापसिंह ने आदेश देकर राजकर्मचारियों के लिये खादी पहनना अनिवार्य कर दिया । स्वामी दयानन्द की शिक्षा का यह परिणाम था कि अंग्रेजी समाचार पत्र 'स्टेट्समैन' की १४ अगस्त सन् १८७६ की रिपोर्ट के अनुसार "पं० दयानन्द सरस्वती द्वारा लाहौर में स्थापित आर्यसमाज के सब सदस्यों ने समाज-मंदिर में एकत्र होकर यह निर्णय किया था कि विदेशी वस्त्रों को धारण नहीं करेंगे और केवल अपने देश में बने वस्त्रों को ही प्रयोग में लाएँगे ।" श्री दत्तात्रेय वाब्ले ने अपनी पुस्तक 'The Arya Samaj' में पृ. १३७ पर लिखा है—"यही कारण है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन के आधार का श्रेय स्वामी दयानन्द के विचारों को देते हुए कहा था कि "स्वामी दयानन्द ने अपनी भविष्यदर्शी दृष्टि द्वारा हस्तनिर्मित वस्त्रों एवं अन्य स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का जो विचार प्रस्तुत किया उसी को पचास वर्ष के बाद महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता संग्राम का एक मुख्य मुद्दा बनाया ।"

गोरक्षा

भारतीय संस्कृति में अनादिकाल से गौ का उतना ही आदर रहा है जितना मातृभूमि का । जन्मदात्री माता, गौमाता तथा धरती (भारत) माता तीनों समान रूप से श्रद्धा, सेवा तथा रक्षा के पात्र रहे हैं । भारत में तो वह व्यावहारिक अर्थशास्त्र का केन्द्रबिन्दु रही है । सत्यार्थप्रकाश विविध विषयविभूषित ग्रन्थ है । उसका एक विषय गौ है, किन्तु इस विषय को लेकर उनके 'गोकरुणानिधि' नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करने से इस विषय का महत्त्व बढ़ जाता है । दयानन्द वास्तव में दयासागर थे । एक बार उदयपुर में दशहरे के अवसर पर चढ़ाई जानेवाली पशुबलि से दयार्द्रहृदय दयानन्द ने द्रवीभूत होकर महाराणा सज्जन सिंह से पूछा—"आप राजा हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं । मैं इन मूक प्राणियों का वकील बनकर आपके सामने अभियोग लेकर उपस्थित हूँ । बताइए, इनका क्या अपराध है जो देवताओं के नाम पर इन्हें प्राणदण्ड दिया जा रहा है ?" महाराणा ने चिरकाल से चली आ रही इस प्रथा को बन्द करने का वचन दिया ।

"गोकरुणानिधि" में स्वामीजी ने लिखा है—"हे परमेश्वर ! तू क्यों इन पशुओं पर, जो निरपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ? क्या इनपर तेरी प्रीति नहीं है ? क्या इनके लिए तेरी न्यायसभा बन्द हो गयी है ? क्यों नहीं उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान देता ? क्यों नहीं उनकी पुकार सुनता ?" यहाँ खुल्लमखुल्ला ईश्वर की न्यायव्यवस्था को चुनौती दी जा रही है । उसपर क्रूरता अत्याचार और पक्षपात का आरोप लगाया जा रहा है । उसे विश्वासघातियों तथा कृतघ्नों का रक्षक बताया जा रहा है । और यह सब वह कर रहा है, जिसके मुंह से कभी बड़ी-से-बड़ी आपत्ति आने पर आह नहीं निकली । वह जिसका परमेश्वर की दया और न्याय पर इतना अटल विश्वास था कि मरते समय भी "हे दयामय ! तेरी इच्छा पूर्ण हो,

तूने अच्छी लीला की'' कहता है। गोहत्या के कारण कितनी कष्टदायक पीड़ा होगी दयानन्द के हृदय में जिससे दुःखी होकर उसने यह सब कह डाला। दयानन्द के अनुसार दुष्कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति के मन में भय, शंका और लज्जा का भाव उत्पन्न होता है। इसी को स्मरण कर वह अपने प्रभु से याचना करता है कि तू ''क्यों तू इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया का प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता, जिससे वे इन बुरे कामों से बचें।''

जिसने विदेशी शासकों द्वारा अपनी रक्षार्थ की जानेवाली व्यवस्था को ठुकरा दिया वही दयानन्द गौमाता के प्राणों की भीख माँगने के लिए उनके द्वार खटखटाने में संकोच नहीं करता। कभी वह अजमेर में मेजर ए.जी. डेविडसन कमिश्नर के पास जा पहुँचता है और कभी कर्नल ब्रुक से गोवध बन्द करने की माँग करता है। ब्रुक ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए दयानन्द को इस सम्बन्ध में वायसराय से बात करने का अनुरोध किया। इसी क्रम में स्वामीजी ने सन् १८७३ में फर्रुखाबाद में उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) के लेफ्टीनेंट गवर्नर श्री म्योर से गोहत्या जैसे नृशंस कुकृत्य को समाप्त करने के सम्बन्ध में पूछा कि यदि लण्डन में आप इण्डिया कौंसिल के सदस्य हो जाएँ तो क्या आप गोवध को बन्द कराने का प्रयास करेंगे? स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किये जाने की अनुमति नहीं दी। परन्तु 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी में अनुवाद कराके विलायत भेजे जाने का प्रयत्न करना तथा समय-समय पर अंग्रेजों से वार्ता करना स्वामीजी की गोवंश के प्रति दया तथा प्रेम के आतिशय्य का द्योतक है।

स्वामी दयानन्द ने अपनी मान्यताओं में से दो को सार्वजनिक आन्दोलन का विषय बनाया था और इस निमित्त हस्ताक्षर-अभियान का आश्रय लिया था। हिन्दी को राजभाषा बनवाने से सम्बन्धित मतसंग्रह का उल्लेख किया जा चुका है। गोरक्षार्थ जनमत-संग्रह के लिए उन्होंने दो करोड़ हस्ताक्षर कराने का अभियान चलाया था। उनकी योजना थी कि हस्ताक्षरयुक्त एक ज्ञापन ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की सेवा में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन (जिसका कार्यकाल सन् १८८४ तक शेष था) के माध्यम से दिया जाए। इस ज्ञापन की वैधानिकता के सम्बन्ध में उन्होंने उच्च कोटि के अनेक वकीलों से भी परामर्श कर लिया था। (देखें—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र तथा विज्ञापन, सं. ३, भाग २, पृ. ५३७, ५५८, ७५६ तथा भाग ३, पृ. ४४६, ४६०-६१)। बंबई से आर्यसमाज दानापुर के मन्त्री के नाम १२ मार्च १८८२ को भेजे एतद्विषयक पत्र में उन्होंने इस प्रकार लिखा था—

''मैं आप परोपकारप्रिय धार्मिक जनों को सब जगत् के उपकारार्थ गाय, भैंस और बैल की हत्या के निवारणार्थ दो पत्र—एक तो सही करने का दूसरा जिसके अनुसार सही करनी है—भेजता हूँ। इसको आप प्रीति और उत्साहसहित स्वीकार कीजिए जिससे आप महाशय लोगों की कीर्त्ति इस संसार में सदा विराजमान रहे। इस काम को सिद्ध करने का विचार इस प्रकार किया गया कि दो करोड़ से अधिक राजे महाराजे और प्रधान आदि महाशय पुरुषों की सही कराके आर्यावर्त्तीय श्रीमान् गवर्नर जनरल साहेब बहादुर से इस विषय की अर्ज़ी करके उपरिलिखित गाय आदि पशुओं की हत्या को छुड़वा देना। मुझको दृढ़ निश्चय है कि प्रसन्नतापूर्वक आप लोग इस महोपकारक कार्य को शीघ्र करेंगे। अधिक प्रति भेजने का प्रयोजन यह है कि जहाँ-जहाँ उचित समझें वहाँ-वहाँ भेज कर सही करा लीजिए। पुनः नीचे लिखित स्थान में रजिस्टरी कराके भेज दीजिए।''

इस आशय के पत्र स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर भेजे थे। महारानी विक्टोरिया को भेजे जानेवाले ज्ञापन का प्रारूप यहाँ संलग्न है—

सही करने का पत्र

ओ३म्

ऐसा कौन मनुष्य जगत् में है, जो सुख के लाभ होने में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में अप्रसन्न न होता हो। जैसे दूसरे के किये अपने उपकार में स्वयं आनन्दित होता है, वैसे ही परोपकार करनें में सुखी अवश्य होना चाहिए। क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था, है और होगा, जो परोपकाररूप धर्म और परहानिस्वरूप अधर्म्म के सिवाय धर्म व अधर्म की सिद्धि कर सके ? धन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन, और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं। निन्दनीय मनुष्य वे हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थवश होकर अपने तन, मन और धन से जगत् में परहानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टिक्रम से ठीक-ठीक यही निश्चय होता है कि परमेश्वर ने जो-जो वस्तु बनाया है, वह-वह पूर्ण उपकार लेने के लिए है। अल्पलाभ से महाहानि करने के अर्थ नहीं। विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। इसी अभिप्राय से आर्य्यवर शिरोमणि राजे महाराजे और प्रजाजन महोपकारक गाय आदि पशुओं को न आप मारते और न किसी को मारने देते थे। अब भी इन गाय, बैल, भेंस को मारने और मरवाने देना नहीं चाहते हैं, क्योंकि अन्न और पान की बहुताई इन्हीं से होती है। इससे सबका जीवन सुख से हो सकता है। जितना राजा और प्रजा का बड़ा नुकसान इनके मारने और मरवाने से होता है, उतना अन्य किसी कर्म से नहीं। इसका निर्णय गोकरुणानिधि पुस्तक में अच्छे प्रकार प्रकट कर दिया है। अर्थात्—एक गाय के मारने और मरवाने से ४,२०,००० चार लाख बीस हज़ार[1] मनुष्यों के सुख की हानि होती है। इसलिए हम सब लोग स्वप्रजा की हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी क्विन् विक्टोरिया की न्याय-प्रणाली में जो यह अन्यायरूप बड़े-बड़े उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या होती है इसको इनके राज्य में से प्रार्थना से छुड़वाके अति प्रसन्न होना चाहते हैं। यह हमको पूरा निश्चय है कि विद्या, धर्म्म, प्रजा-हित-प्रिय श्रीमती राजराजेश्वरी क्विन् महाराणी विक्टोरिया पार्लियामेण्ट सभा और सर्वोपरि प्रधान आर्य्यावर्त्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहिब बहादुर सम्प्रति इस बड़ी हानिकारक गाय, बैल तथा भैंस की हत्या को उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र बन्द करके हम सबको परम आनन्दित करें। देखिए कि उक्त गाय आदि पशुओं के मारने और मरवाने से दूध, घी और किसानों की कितनी हानि होकर राजा और प्रजा की बड़ी हानि हो गयी और नित्य प्रति अधिक हो जाती है। पक्षपात छोड़के जो कोई देखता है तो वह परोपकार को ही धर्म और पर-हानि को अधर्म निश्चित जानता है। क्या विद्या का यह फल और सिद्धान्त नहीं है कि जिस-जिससे अधिक उपकार हो उस-उसका पालन, वर्धन करना और नाश कभी न करना। परमदयालु न्यायकारी सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस समस्त **जगदुपकारक काम करने में ऐकमत्य करे॥**

हस्ताक्षर

विज्ञापनपत्रमिदम्[2]

सब आर्यपुरुषों को विदित किया जाता है कि जिस पत्र के ऊपर (ओम्) और नीचे (हस्ताक्षर) ऐसा वचन लिखा है वही सही करने का है। उसपर सही इस प्रकार करनी होगी कि जिसके स्वराज्य व देश में ब्राह्मण आदि मनुष्यों की जितनी संख्या हो उतनी संख्या लिखके अर्थात् इतने सौ, हजार, लाख व करोड़ मनुष्यों की ओर से मैं

---

१. इसका पूर्ण विवरण 'गोकरुणानिधि' (रा.ला.क. ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह, पृ. ५४७-५४८) तथा सत्यार्थप्रकाश समु. १० (आ.स. शताब्दी सं. २, पृ. ४१५-४१६) में देखें। दोनों ग्रन्थों में संख्य में कुछ भेद है।

२. सही करनेवाले पत्रों के साथ यह विज्ञापन भी अनेक स्थानों में भेजा गया था।

अमुक नामा पुरुष सही करता हूँ इस प्रकार एक श्रीयुत महाशय प्रधान पुरुष की सही में सर्व साधारण आर्यपुरुषों की सही आ जाएगी, परन्तु जितने मनुष्यों की ओर से एक मुख्य पुरुष सही करे, वह उनसे सही लेके अपने पास अवश्य रखे। और जो मुसलमान वा ईसाई लोग इस महोपकार विषय में दृढ़ता और प्रसन्नता से सही करना चाहें तो कर दें। मुझको दृढ़ निश्चय है कि आप परम उदार महात्माओं के पुरुषार्थ उत्साह और प्रीति से यह सर्वोपकारक महापुण्य कीर्तिप्रदायक कार्य यथावत् सिद्ध हो जाएगा।

चै० कृष्ण ६ सं० १६३६[1], तदनुसार १४ मार्च १८८२ मुंबई

दयानन्द सरस्वती

इस हस्ताक्षर अभियान में स्वामीजी को अपेक्षित सफलता मिली। शाहपुराधीश सर नाहरसिंह द्वारा ४०,०००, फर्रुखाबाद के गोपालराव हरि द्वारा ७२०००, कटिला की ठकुरानी साहिबा द्वारा ६०,३०८, एटा के जालिमसिंह रूपधनी तथा उनके भतीजे गुलाबसिंह द्वारा १०,०००, बंबई के सेवक लालकृष्णदास द्वारा १५३२०, बाबू कृपारामजी द्वारा ५०,००० (कुल २,७७,६२८) हस्ताक्षरयुक्त पत्र प्राप्त हुए थे कि दुर्भाग्यवश स्वामीजी के निधन के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका।

महर्षि द्वारा किये गये सभी कार्यों में फर्रुखाबाद के आर्यसमाज का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सरकार को भेजे जानेवाले आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर कराने के साथ-साथ इस कार्य के लिए धन जुटाने में भी उसने समुचित उत्साह दिखाया। महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर २८ जनवरी सन् १८८१ के दिन आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने गोरक्षा के लिए क्रियात्मक रूप से कार्य करने का निश्चय किया। सभा का विचार था कि यदि एक वर्ष में दो सौ गौवों को मृत्यु के मुख से बचाकर उनको क्रय कर लिया जाए और उनके पालन की उचित व्यवस्था की जाए तो इस कार्य में ६५०० रुपये वार्षिक व्यय होगा। अन्तरंग सभा ने अपने बजट में प्रतिवर्ष होने वाले इस व्यय को स्वीकृति दे दी।

महाराणा सज्जनसिंह ने गवादि पशुओं की हत्या बन्द करने के विषय में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को पत्र लिखा था। उसके उत्तर में जोधपुर-नरेश ने लिखा था—

"म्हारी प्रजा १४,६१,१५६ हिन्दू ने, १,३७,११६ मुसलमान या तीन पशु (गाय, बैल और भैंस) नहीं मारिया जावणरा प्रबन्ध में खुशी है और मैं पिण रजामन्द हां। सं.१६३६., पोष बदि ५

दस्तखत—राजराजे श्वर महाराजाधिराज जसवन्त सिंह

मारवाड़, जोधपुर

यह पत्र ठाकुर जगदीश सिंह गहलोत ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' भाग १, पृ. २८७ पर उद्धृत किया है। सं० १६३६, पौष बदि ५ को शुक्रवार २६ दिसम्बर १८८२ था। इन दिनों में महर्षिजी उदयपुर में थे। जयपुर राज्य में भी गोवध और पशुओं के निर्यात पर रोक लगा दी गयी थी। दानापुर के ईसाई जोन्स साहब ने स्वामीजी की युक्तियों से प्रभावित होकर भविष्य में गोमांस भक्षण को त्यागने की प्रतिज्ञा की थी।

आर्यसमाज के ही नहीं, आधुनिक भारत के इतिहास में रिवाड़ी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण वहाँ की वह गौशाला है जिसकी स्थापना महर्षि की प्रेरणा से राव युधिष्ठिरसिंह (राव वीरेन्द्र

---

१. यहाँ सं० १६३८ चाहिए, चैत्र शुक्ल १ से नया सं. चलता है। फर्रुखाबाद का इतिहास नामक ग्रन्थ पृ. २०० पर भी सं. १६३६ ही छपा है। वहाँ अंग्रेजी तारीख २४-३-१८६८२ दी है, वह भी अशुद्ध है। १४ मार्च चाहिए।

सिंह के पितामह) ने १८७६ में की थी। सम्भवतः आधुनिक युग में यह भारत की सबसे पहली गोशाला थी जिसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से स्थापित किया गया था।

समाज में नारी का स्थान

फ्रांस के मनीषी रोमां रोलां के अनुसार, "आर्यसमाज सब मनुष्यों और देशों के प्रति न्याय और स्त्री-पुरुषों के समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वह जन्मना जाति का विरोधी है। स्वामी दयानन्द से बढ़कर हरिजनों के हितों का रक्षक कोई कठिनाई से ही मिलेगा। स्त्रियों को दयनीय स्थिति से उबारने और समान अधिकार दिलाने में दयानन्द ने बड़ी उदारता से काम लिया।" दयानन्द ने स्त्री को मात्र भोग्या न मानकर उसे प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान समर्थ घोषित कर एक क्रान्तिकारी चेतना को जन्म दिया। नारी-उत्थान की दिशा में महर्षि की यह संकल्पना उनके चिन्तन की उदात्त भावना की द्योतक है। उनका अभीष्ट था कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जिससे वे राजकार्य और न्याय-प्रशासन आदि में पुरुषों से पीछे न रहें। न्यायकार्य में स्त्री की सहभागिता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"राजाओं की स्त्रियों को चाहिए कि सब स्त्रियों के लिए न्याय और अच्छी शिक्षा देवें और स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें, क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर बोल ही नहीं सकती।" (यजुर्भाष्य १०।२६)। स्वामीजी के अनुसार रानी राजा से कहे—"जैसे आप पुरुषों के न्यायाधीश हो, वैसे ही मैं स्त्रियों का न्याय करनेवाली हूँ। मैं आपसे न्यून नहीं हूं" (ऋग्भाष्य १।१२६।७)। न्याय प्रशासन जैसे कठिन कार्य में स्त्रियों की सहभागिता का उद्घोष तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक अभूतपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात था, जिसे स्वतन्त्र भारत ने संवैधानिक मान्यता प्रदान की।

ऋषि दयानन्द नैयायिक प्रक्रिया में स्त्रियों के साथ सम्भावित कुचेष्टाओं के प्रति सावधान थे। इसलिए उदयपुरनरेश महाराणा सज्जनसिंह को उन्होंने निर्देश दिया था—"स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजनों से पूछकर निश्चय करें, परन्तु स्त्रियों से राणी पूछे। अथवा यदि पड़दे में रक्खे तो बड़े प्रबन्ध से रखके पूछें जिससे वहाँ उसके बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे तो कोई उसपर दृष्टि न डालने पाये, न हास्य करे और न डरावे" (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र व विज्ञापन, सं० ३, भाग २, पृ. ६२६)।

सत्यार्थप्रकाश

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। —मनु० १।१०८

श्रुति (वेद)तथा स्मृति में निर्दिष्ट आचरण सर्वश्रेष्ठ धर्म है। परन्तु 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी'—श्रुति और स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति का प्रामाण्य होगा। श्रुति में शाश्वत धर्म का प्रतिपादन होता है, जबकि स्मृतियों में देश और काल की विशेष परिस्थितियों में अपेक्षित धर्म का निर्देश होता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतःप्रमाण हैं, स्मृतिग्रन्थ मनुष्योक्त होने से परतःप्रमाण हैं। इसलिए मनु का वचन है—**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**। दूसरे शब्दों में स्मृतियों की प्रामाणिकता उसी अंश तक है जहाँ तक वे वेदाविरूद्ध हैं।

अरब लोगों ने जब सिन्धु को अपने अधीन कर हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाना, उनकी स्त्रियों का अपहरण करना और उनके साथ बलात्कार करना आरम्भ किया तो एक नई समस्या उत्पन्न हुई। इसके समाधान के लिए देवल मुनि ने एक स्मृति बनाई, जिसमें बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये व्यक्तियों को शुद्ध

करके फिर से हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। इस कारण देवलमुनि की कृति को स्मृतिग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली। सन् १९४६ में पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए मुसलिम लीग के आदेशानुसार पूर्वी बंगाल के अन्तर्गत नोआखाली क्षेत्र में हज़ारों हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया और हज़ारों को तलवार के घाट उतार दिया गया। शान्ति स्थापित होने पर मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं के परावर्तन पर विचार करने के लिए डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी (अखिल भारत हिन्दु महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष) ने एक बैठक बुलाई। उस बैठक में सनातनधर्म का प्रतिनिधित्व स्वामी करपात्रीजी कर रहे थे और आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व इन पंक्तियों के लेखक पं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित कर रहे थे। स्वामी करपात्रीजी ने कहा कि हिन्दूधर्म में पुनः प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को धर्मशास्त्र के अनुसार एक पाव गौ का गोबर खाना होगा। इसपर डॉ. मुकर्जी ने एक मार्मिक घटना सुनाई। उन्होंने कहा कि नोआखाली में बलात् मुसलमान बनाई गयी एक बुढ़िया से मैंने पूछा कि तुम्हें मुसलमान कैसे बनाया गया था? उसने मुझे बताया कि मुझे और मेरी तरह अन्य बहनों को इस प्रकार मुसलमान बनाया गया कि दो मौलवियों ने पगड़ी का एक-एक छोर पकड़ा और हमें तलवार का भय दिखा कर पगड़ी को हाथ लगाने का आदेश दिया। डर के मारे हमने पगड़ी अपने हाथों में लेली। मौलवियों ने कलमा पढ़ा और हमें मुसलमान मान लिया गया, परन्तु जिस समय वे मौलवी कलमा पढ़ रहे थे तो मैं मन-ही-मन राम-राम कर रही थी। मुझे बताओ, वह बुढ़िया मुसलमान कहाँ हुई जो मैं उसे फिर से हिन्दू बनने के लिए एक पाव गोबर खाने के लिए कहूँ? यह कहकर डॉ० मुकर्जी ने मेरी राय पूछी तो मैंने कहा—जो यह कहे कि मैं हिन्दू हूँ, उसे हिन्दू मान लिया जाए। उसके लिए किसी प्रकार के शुद्धि-संस्कार की आवश्यकता नहीं है। डॉ० मुकर्जी ने मेरी दी हुई व्यवस्था को स्वीकार करते हुए सर्वत्र तदनुसार घोषणा करादी। यह स्मार्त्त धर्म था। मनुस्मृति आदि के समान सत्यार्थप्रकाश ऋषि दयानन्द द्वारा रचित स्मृति है।

ऋषि दयानन्द के प्रादुर्भाव के समय देश की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का अनुमान करके ही कलेजा काँप जाता है। व्यक्तियों के धर्म-कर्म और समाज की सामाजिक व्यवस्था पर पण्डों, पुजारियों, पुरोहितों और पंचों का एकाधिपत्य था। राजा लोग उनकी मार्फ़त प्रजा पर अपना पंजा जमाये हुए थे। ऐसा लगता था जैसे सबने मिलकर भोली-भाली अनपढ़ जनता को लूटने का षड्यन्त्र रचा हुआ था। यह स्थिति केवल हमारे देश की ही नहीं थी। किसी-न-किसी रूप में सारा संसार ही इस दुरवस्था का शिकार था। यूरोप में पोप की, टर्की में ख़लीफ़ा की और अन्य देशों में वहाँ के धर्म-गुरुओं की तूती बोलती थी। राजा से अधिक शक्ति इन लोगों के हाथों में थी। भगवान् के ठेकेदार जिसको चाहें स्वर्ग में भेज सकते थे और जिसको चाहें, नरक में धकेल सकते थे। जन्म की आकस्मिक घटना को इतना महत्त्व दिया जाता था कि उसके सामने मनुष्य की योग्यता, क्षमता और परिश्रम आदि का कोई मूल्य नहीं था। मनुष्य-मनुष्य के बीच जन्मगत जात-पात, छूत-छात और धर्म-कर्म की फ़ौलादी दीवारें खड़ी कर दी गयीं थीं। धर्म के नाम पर मन्दिरों में, सड़कों पर और गलियों में खून की नदियाँ बहाई जाने लगी थीं। ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, वैमनस्य और विनाश की सृष्टि धर्म की नींव पर खड़ी थी। अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक धर्म विभिन्न रूपों में व्यक्ति, समाज और देश के सर्वनाश का कारण बन गया था। ईश्वर के जितने भी नाम मिल सके, उतने ही देवी-देवताओं की कल्पना करके न जान कितने मत, मठ और सम्प्रदाय इस देश में कुकुरमुत्तों या बरसाती मेंढकों की तरह उभर रहे थे। सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में ऋषि ने इनकी संख्या एक हज़ार से अधिक बताई है। जैनियों के बारे में यह व्यवस्था दी गयी कि हाथी के पैर तले कुचले जाने का भय होने पर भी आत्मरक्षा तक के लिए जैन मन्दिर में नहीं जाना चाहिए। जैनियों

ने यह उपदेश देना शुरू किया कि गंगा आदि तीर्थों और काशी आदि क्षेत्रों से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और गिरनार, पालिताना तथा आबू आदि तीर्थ-क्षेत्र मुक्ति देनेवाले हैं। पुराणों की समीक्षा करते हुए ऋषि ने लिखा है कि—"शिवपुराण में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, गणेश आदि को दास बनाया। वैष्णवों ने विष्णुपुराण में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु का दास, देवी भागवत में देवी को परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि को उसके किंकर बनाया। गणेशखण्ड में गणेश को ईश्वर और सबको उसका दास बनाया। शिवपुराणवाले शिव से, विष्णुपुराणवाले विष्णु से, देवीपुराणवाले देवी से, वायुपुराणवाले वायु से सृष्टि की उत्पत्ति और उसी में प्रलय मानते हैं। अब सोचिए, इन सबमें परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप और सद्भाव होगा या परस्पर द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई झगड़ा ?" ऋषि ने कहा है कि—"यदि ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती ?"

ऋषि ने प्रथम समुल्लास में परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या इसलिए की कि आर्यावर्त्त में प्रचलित मत-मतान्तरों के आराध्य देवों की एकरूपता बनाई जाए। पुराणों एवं पौराणिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार परमात्मा के एक-एक नाम को लेकर उसी को सब-कुछ मानते हुए एक-एक मत प्रवर्तित कर दिया गया। शैवों ने शिव, वैष्णवों ने विष्णु आदि एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नामों को लेकर अनेक सम्प्रदाय चला दिये। ऋषि ने लिखा कि शिव, विष्णु आदि एक ही अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर के विविध नाम हैं। "इन नामों का जैसा अर्थ प्रथम समुल्लास में कर आये हैं, उस सात्यार्थ को न जानकर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि लोग परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हैं। मन्दमति लोग तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नहीं विचारते कि विष्णु, रुद्र, शिव आदि सब एक ही सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुण-कर्म-स्वभाव-युक्त होने से उसी के वाचक हैं।" सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक होने से ब्रह्मा, रक्षक होने से विष्णु, संहारक होने से रुद्र, नियामक होने से यम आदि एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस बात को न समझकर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने एक-एक नाम को लेकर भक्ति चालू कर दी। यह भेद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि वह पारस्परिक निन्दा, विरोध एवं द्वेष में परिणत होकर सिर फुटौवल, यहाँ तक कि पारिवारिक कलह का कारण बन गया। इस प्रकार के वैर-विरोध को दूर करने के लिए महर्षि ने प्रथम समुल्लास में परमात्मा के सौ नामों की व्याख्या की।

स्वामीजी के खण्डनात्मक लेखों का अभिप्राय समझने के लिए प्रारम्भिक भूमिका तथा ११वें से १४वें समुल्लासों के आदि की भूमिका-अनुभूमिकाओं को पढ़ना आवश्यक है। हो सकता है कि कोई उनसे पूरी तरह सहमत न हो और किसी को उनकी भाषा कठोर और तीखी लगे, परन्तु उनकी भावना की सराहना किये बिना नहीं रहेगा। ग्याहरवें समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि लिखते हैं—"इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ से सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य को छोड़ना सहज होगा।" फिर लिखते हैं—"इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें, क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है। .... मनुष्यजन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद व विरोध करने-कराने के लिए। ......यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिए यह सब असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रखा है। यदि ये

लोग अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो सभी ऐक्यमत हो जावें।" इसी प्रकार बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में उन्होंने लिखा है—"जो-जो जैनियों के मत-विषय में लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के मतपूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो-जो हमने इनके मत के विषय में लिखा है, वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध व हानि करने अर्थ। इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे, तब सबको सत्यासत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाए, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वानों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को अविद्यान्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए सत्य की जय और असत्य की क्षय के अर्थ मित्रता से वाद व लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।"

तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका में भी अपने इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए ऋषि ने लिखा है—"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य का ह्रास होने के लिए लिखा है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।" चौदहवें समुल्लास में इसलाम की आलोचना की गयी है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से उसे काफी आपत्तिजनक माना गया है। सन् १६४२ में सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार ने सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास के पढ़ने, छापने, बेचने, रखने आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। प्रतिबन्ध को हटाने के लिए सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा तथा सिन्ध सरकार के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा। जब इसका कोई फल नहीं निकला तो २१-२२ फरवरी को दिल्ली में डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी की अध्यक्षता में आर्य-महासम्मेलन हुआ, जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर सत्याग्रह करने का निर्णय हुआ। शान्तिपूर्ण हल निकालने के उद्देश्य से एक बार फिर सिन्ध के प्रधानमन्त्री (अब मुख्यमन्त्री) सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला के साथ पत्राचार का क्रम चला। अन्ततः सार्वदेशिक सभा ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। सभा के निश्चयानुसार सभा-प्रधान महात्मा नारायण स्वामीजी के नेतृत्व में ५ सत्याग्रहियों का पहला जत्था कराची पहुँच गया। इस जत्थे में शामिल थे—

१. ला. खुशहालचन्द आनन्द (श्री आनन्द स्वामी)—पंजाब
२. श्री स्वामी अभेदानन्द सरस्वती—बिहार
३. राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती)—उत्तर प्रदेश
४. कुंवर चांदकरण शारदा—राजस्थान
५. पं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित—दिल्ली

जत्थे के पहुँचते ही सिन्ध सरकार ने हथियार डाल दिये और महात्मा नारायण स्वामीजी ने सफलतापूर्वक सत्याग्रह की समाप्ति की घोषणा कर दी।

इस चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि ने लिखा है—"न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई या भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने वा न माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के लिए, क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है।" इसी समुल्लास के अन्त में स्वामीजी ने लिखा है—"परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करें

कि सबसे प्रीति, परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना या दूसरे मत-मतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, वैसा ही यदि सब विद्वान् करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सम्भव हो।"

सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम प्रकरण 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में ऋषि लिखते हैं—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतामतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से एक का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन है उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से बहिः है।" इन सब उद्धरणों को पढ़ने के बाद महर्षि पर पक्षपात या असहिष्णुता का दोष लगाना सर्वथा अन्याय्य होगा।

भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन सदा से होता आया है। समन्वयवाद के नाम पर आजकल यह कहना कि 'अपनी-अपनी जगह सब सही हैं' आधुनिकता या भलमनसाहत की पहचान बन गया है। अधिक समझदार लोगों को यह कहते सुना जाता है—समालोचना तक तो ठीक है, पर खण्डन करना उचित नहीं है। ऐसा कहते हुए उनके मन में 'समालोचना' अंग्रेजी के criticism का तथा खण्डन अंग्रेजी के condemnation का भाव लिये रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे लोग समालोचना और खण्डन शब्दों के निहितार्थों को नहीं समझते। समालोचना शब्द सम्+आ उपसर्गपूर्वक 'लुच्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु को सब प्रकार से विधिपूर्वक देखने की व्यवस्था। ध्यानपूर्वक देखने में हम उस वस्तु के रूप-रंग, गुण-कर्म-स्वभाव एवं गुण-दोष के आधार पर उससे सम्भावित हानि-लाभ का विवेचन करते हैं। तभी हमें उस वस्तु का पूर्ण अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है। किसान या माली अपने खेत या बगीचे में उत्पन्न घासपात और पौधों पर समालोचनात्मक दृष्टि से देखता है। खरपतवार के नाम से बदनाम व्यर्थ के या हानिकारक घासपात को वह निकाल फैंकता है और उपयोगी पौधों को खाद-पानी देकर पुष्ट करता है। इसी प्रकार समाज के हितचिन्तक महापुरुष समाज में व्याप्त दोषों, अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर कर समाज के विकास में सहायक विचारों का प्रचार व प्रसार करते हैं। यही खण्डन-मण्डन का वास्तविक स्वरूप है। शरीर को हानि पहुँचानेवाले अंग को काटकर फैंक देना और स्वस्थ अंग का उसके स्थान पर प्रत्यारोपण करना शरीरशास्त्र की दृष्टि से खण्डन-मण्डन ही तो हैं। समाज को स्वस्थ तथा पुष्ट बनाने के लिए मिथ्या विश्वासों को दूर करना आवश्यक था। दयानन्द के खण्डन का यही प्रयोजन था।

ऋषि की दूरदर्शिता

महर्षि कितने निरभिमान और दूरदृष्टि थे, इसके निदर्शनार्थ हम 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' से आर्षसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा महर्षि के ग्रन्थों के गवेषक महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक के वक्तव्य का एक अंश यहां उद्धृत कर रहे हैं—

"ऋषि दयानन्द के जीवनचरितों, उनके ग्रन्थों, पत्र और विज्ञापनों में ऋषि दयानन्द की दीर्घदृष्टि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। बम्बई आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व एक घटना 'मुंबई आर्यसमाजनोइतिहास' में पृ. ८ पर उल्लिखित है—

.......त्यार बाद (शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराभव के बाद) एमना निवासस्थान मा एमने माटे मान धरावता मुम्बई ना संभावित गृहस्था ए जाई ने धार्मिक चर्चा करता-करता मुम्बई मां आर्यसमाज स्थापन करवानी स्वामीजी ने विनंति करी। त्यारे एमणे सर्वने उद्देशो ने स्पष्ट जणावी दीयुं के'(= उसके

बाद [शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराजय के पश्चात्] इनके निवासस्थान पर इनके प्रति सम्मान रखनेवाले बम्बई के सम्भ्रान्त गृहस्थों ने जाकर धार्मिक चर्चा करते करते बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की स्वामी जी से प्रार्थना की। इसपर उन्होंने सबको उद्देश करके स्पष्ट बता दिया कि)—

"भाई हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुच्छ-कुच्छ भेद है। सो विचार करने से आप ही छूट जाएगा। मैं संन्यासी हूँ और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ, इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता हूँ। मैं कुछ कीर्त्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे मेरी कोई स्तुति करे या निंदा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझके अर्थबोध कराता हूँ। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि-लाभ नहीं है।"

त्यारे एक भाई ए कह्युं के अमे जो समाज स्थापन करीए, तो एमां कोई सार्वजनिक नुकसान छे ? तेनो जवाब स्वामीजी ए दीं के—(=एक भाई ने कहा कि हम जो समाज स्थापित करें तो इसमें कोई सार्वजनिक नुकसान है ? इसका जवाब स्वामीजी ने दिया कि)—

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, तो समाज कर लो। इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जाएगा। मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूँ वैसा ही आपको भी करूँगा और इतना लक्ष में रखना कि कोई स्वतन्त्र मेरा मत नहीं है और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाए, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसको भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा और इसी प्रकार से **'बाबावाक्यं प्रमाणम्'** करके इस भारत में नाना प्रकार के मतमातान्तर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह करके धर्मान्ध होके, लड़के नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। इसमें यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो यह है कि इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं वे सब भी वेदों को मानते हैं। इस से वेद-शास्त्ररूपी समुद्र में यह सब नदी-नाव पुनः मिला देने से धर्म ऐक्यता होगी और धर्म ऐक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी और इस से कला कौशल्यादि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्यमात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्म-बल से, अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है।"

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना करने की स्वीकृति बहुत झिझकते हुए दी थी। मतमतान्तरों का जो इतिहास उनके सामने था, उसको ध्यान में रखते हुए उन्हें यह आशंका होती थी कि कहीं आर्यसमाज भी मेरे पीछे मेरे नाम पर एक सम्प्रदाय न बन जाए।"—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, सं. ३, भाग २, पृ. ८।

वस्तुतः मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु के पश्चात् मनुष्य के व्यक्तिगत तथा समष्टिगत एवं ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन के लिए अपेक्षित समग्र धर्म का प्रतिपादन करनेवाला दयानन्द से अतिरिक्त अन्य कोई आचार्य अथवा ऋषि नहीं हुआ। ऋषि दयानन्द अपनी बात सीधी वेद के आधार पर कहते थे। वेद के बाद मनुष्योक्त ग्रन्थों में उन्हें मनु का प्रमाण्य स्वीकार था। मनुस्मृति के बाद यह गौरव सत्यार्थप्रकाश को प्राप्त है।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "ऋषि दयानन्द के लेखों को समझने के लिए यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि ऋषि दयानन्द की शैली पर महर्षि पतञ्जलिकृत महाभाष्य का अत्यधिक प्रभाव था। अतः जैसे महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में अनेक स्थानों पर प्रौढ़िवाद से समाधान किये हैं, उसी प्रकार ऋषि के ग्रन्थों में भी कुछ स्थलों में प्रौढ़िवाद का आश्रयण लिया गया है। इस प्रकार के समाधान सामयिक होते हैं; सिद्धान्त नहीं माने जाते। प्रौढ़िवाद को ऋषि दयानन्द अवस्थाविशेष में स्वीकार करना अनुचित नहीं समझते। इस प्रसंग में उनके शंकराचार्य के विषय में लिखे गये 'जो (शंकराचार्य ने) जैनियों के

खण्डन के लिए उस (अद्वैत) मत को स्वीकार किया हो तो **कुछ अच्छा है'** शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इस दृष्टि से दयानन्द का कौन-सा लेख सिद्धान्तयुक्त है और कौन-सा प्रौढ़िवाद से लिखा गया है, इसका भेद करना भी आवश्यक है। अन्यथा प्रौढ़िवाद से दिये गये समाधान को सिद्धान्त मान लेने पर कई स्थानों पर वेदादि सच्छास्त्रों से (और कहीं-कहीं उनके अपने लेख से भी—भाष्यकार) विरोध होगा।''

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में सत्यार्थप्रकाश अन्यतम है। सत्यार्थप्रकाश वेद नहीं है, पर वेदमार्ग पर अग्रसर होने में परम सहायक है। वैदिक सिद्धान्तों तथा महर्षि की मान्यताओं का वह विश्वकोश (Encyclopaedia) है। सत्यार्थप्रकाश-सम्बन्धी शंकाओं के समाधान तथा उस पर उठाई गयी आपत्तियों के निवारणार्थ आर्यविद्वान् पहले से प्रयास करते रहे हैं। वे सभी हमारे लिए वन्दनीय हैं। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के भाष्य की चर्चा तो अनेक बार हुई—आर्यसमाज के संगठन के विभिन्न स्तरों पर, परन्तु सफलता नहीं मिली। इसलिए इस कार्य में मेरे सदृश अल्पमति का प्रवृत्त होना अनधिकार चेष्टा ही मानी जाएगी। सत्यार्थप्रकाश वैदिक ज्ञान का अगाध सागर है। उसकी थाह तो कोई ऋषिकल्प आप्त पुरुष ही पा सकता है। सागर की गहराई की थाह पाना मछली के सामर्थ्य से बाहर है। पर वह उसकी लहरों में उछलकूद मचाकर आनन्दलाभ तो कर ही सकती है। इस ग्रन्थ के विषय में मेरी यही स्थिति है—**स्वान्तः सुखाय।**

सत्यार्थप्रकाश के 'सत्यार्थभास्कर' नामक इस भाष्य में मैंने महर्षि के कथन का स्पष्टीकरण और विशदीकरण करते हुए अतिरिक्त युक्तियों और प्रमाणों से यथासम्भव उनकी मान्यताओं की पुष्टि करने का प्रयास किया है। यह सम्भव है कि इस भाष्य में कुछ विषयों पर अत्यल्प लिखा गया हो और कुछ अस्पष्ट भी रह गये हो। यह भी सम्भव है कि जाने-अनजाने कहीं कुछ अन्यथा भी लिखा गया हो। मानुषदोष, स्वभावदोष, स्मृतिदोष आदि के कारण अल्पबुद्धि मनुष्य की कृति में दोष एवं अनेक प्रकार की त्रुटियों का होना अवश्यम्भावी है। यह ग्रन्थ भी इसका अपवाद नहीं होगा। अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार जितना और जैसा बन पड़ा, उतना और वैसा कहने का साहस मैंने किया है। उसका मूल्यांकन विद्वानों द्वारा ही सम्भव है। आशा है अन्य विद्वान् मेरी भूलों का परिमार्जन करते हुए समाधेय गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास करेंगे।

इस महान् उद्योग में प्रत्यक्ष सहयोग करनेवाले विद्वज्जनों के अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात कितने ही ऐसे विद्वान् हैं जिनके ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है। उन सबको मैं कृतज्ञतापूर्वक नमन करता हूँ।

यदि मैं पूज्य स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ, पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण न करूँ तो कृतघ्नता का दोषी हूँगा। श्री पं० युधिष्ठिरजी तथा स्वामी वेदानन्द जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश सदा मेरे सामने रहे हैं, अतः मेरी इस कृति में उनका चिन्तन अनेकत्र ओत-प्रोत है। उनके प्रति आभार को शब्दराशि में व्यक्त करना उसे सीमित करना होगा, जो केवल साहस कहा जा सकता है। पाठ के विषय में मैंने प्रायः श्री मीमांसकजी का अनुसरण किया है। प्रथम समुल्लास की टिप्पणियां प्रायः उन्हीं की हैं। आचार्य उदयवीरजी शास्त्री के प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा और आदर भाव है उसे प्रकट करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ।

मैं इस दुरूह कार्य को न कर पाता यदि मुझे समय-समय पर पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्दजी महाराज के आशीर्वाद का सम्बल प्राप्त न रहता। उनके प्रति मेरा विनयावनत होना स्वाभाविक है।

डी-१४/१६ माडल टाउन, दिल्ली
विजयादशमी (आश्विन शुक्ला दशमी २०४६ वि.)
तदनुसार २६ सितम्बर १९९० ईसवी

विदुषामनुचरः
विद्यानन्द सरस्वती

सत्यार्थ-प्रकाशः

वेदादि-विविध-सच्छास्त्र-प्रमाण-समन्वितः

सत्यार्थभास्कर

सत्यार्थप्रकाशविषयक अप्रकाशित पाँच श्लोक

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (संवत् १६३२ विक्रमी) की कापी में सत्यार्थप्रकाश की रचना से सम्बन्धित श्लोक एक पत्रे पर लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितस्-
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा ।
तदा ख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
स को दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः ॥१॥
सत्यदर्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः ।
वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः ॥२॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्विकीम् ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥३॥
न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम् ।
लभते सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता हि न सः ॥४॥
धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो-
ऽधर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः ।
येनाऽसौ विधिवाक्यमानमनसा पाखण्डखण्डः कृतः,
सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तु तारब्धि सः ॥५॥

इस प्रकार के श्लोक ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि के प्रारम्भ में भी लिखे हैं। उसी परम्परा में सत्यार्थप्रकाश के आदि में लिखे उक्त श्लोक प्रथम संस्करण में भूल से छपने से रह गये थे। इसी कारण वे द्वितीय संस्करण, एवं तदनुसारी बाद के संस्करणों में भी नहीं छपे। स्वल्पभेद से प्रथम श्लोक 'संस्कारविधि' तथा 'आर्याभिविनय' के आरम्भ में तथा तृतीय श्लोक 'आर्याभिविनय' के आरम्भ में मिलता है।

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

भूमिका

जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत-भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने, और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द-वाक्य-रचना का भेद हुआ है, सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक-ठीक कर दी गयी है।

यह ग्रन्थ १४ (चौदह) समुल्लास, अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० (दश) समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।

(१) **प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्काराऽऽदि नामों की व्याख्या।**

(२) **द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।**

(३) **तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठनपाठन-व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम, और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।**

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लेखन का प्रारम्भ आषाढ़ बदी १३ संवत् १६३१ तदनुसार १२ जून सन् १८७४ शुक्रवार के दिन हुआ था और पं० भगवद्दत्तजी के अनुसार 'यह सारा लेख संवत् १६३१ के मध्य अथवा सितम्बर १८७४ में लिखा गया होगा।'

"इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार .... ठीक-ठीक कर दी गयी है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण को सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कहा है। परन्तु "जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक कर दी है" तथा "प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है" इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण में से कुछ छोड़ा गया है तो द्वितीय संस्करण में कुछ जोड़ा गया है। अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य के प्रथम तथा द्वितीय अंक, जो श्रावण और भाद्रपद संवत् १६३५ में छपे थे, के मुखपृष्ठ पर निम्न विज्ञापन छपवाया था—

"सबको विदित हो कि जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, मैं उनको मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो-जो मेरे बनाये 'सत्यार्थप्रकाश' व 'संस्कारविधि' आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों से बहुत-से वचन लिखे हैं, उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ। जो-जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं, उन सबको प्रमाण मानता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वर-वाक्य होने से मुझको सर्वथा मान्य हैं और जो-जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदानुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के समान प्रमाण मानता हूँ।"

इस विज्ञापन का उद्देश्य एक साथ सभी भ्रान्तियों का निवारण करना था।

चौदह समुल्लास—प्रथम संस्करण राजा जयकृष्णदास (मुरादाबाद) ने छपवाया था। वे अंग्रेजों के

(४) चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार।
(५) पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।
(६) छठे समुल्लास में राजधर्म।
(७) सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर-विषय।
(८) अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्तत्ति, स्थिति और प्रलय।
(९) नवम समुल्लास में विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।
(१०) दशवें समुल्लास में आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय।
(११) एकादश समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन-मण्डन विषय।
(१२) द्वादश समुल्लास में चारवाक, बौद्ध और जैनमत का विषय।
(१३) त्रयोदश समुल्लास में ईसाई-मत का विषय।
(१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय।

और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य, और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए, किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना **'सत्य'** कहाता है।

पृष्ठपोषक और उनकी चाकरी में थे। राजा की उपाधि भी उन्हें अंग्रेज शासकों से मिली थी। उधर राजाजी का मुसलमानों (सर सय्यद अहमद खाँ आदि) से भी विशेष सम्पर्क था। वे इन लोगों को रुष्ट नहीं कर सकते थे। इस कारण प्रथम संस्करण में १३वाँ और १४वाँ समुल्लास नहीं छपे। राजाजी के परिवार में प्रथम संस्करण की हस्तलिखित कापी सुरक्षित है। उसमें ये दोनों समुल्लास विद्यमान हैं। परोपकारिणी सभा के स्वर्गीय मन्त्री दीवान बहादुर हरविलास शारदा ने राजाजी के उत्तराधिकारी से प्रथम संस्करण की हस्तलिखित कापी मँगवाकर उसे फोटोस्टेट (Photostate) करवा लिया था। यह फोटो कापी परोपकारिणी सभा के संग्रह में सुरक्षित है, परन्तु उसमें (हस्तलेख में) १३वाँ समुल्लास इसलाम के सम्बन्ध में है और १४वाँ ईसाई मत के सम्बन्ध में है।

प्रयोजन—सत्यार्थप्रकाश के प्रणयन में ग्रन्थकार का प्रयोजन मनुष्यमात्र को सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में समर्थ करना था। वे अन्यत्र लिखते हैं—

"इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें।"

"इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है। जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन करना लिखा है वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है। इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों (पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी) के मूलग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदन कर देना मैंने उत्तम समझा है, क्योंकि विज्ञान लुप्त हुए का पुनर्मिलन सहज नहीं है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य सबको विदित हो जाएगा। पश्चात् अपनी-अपनी समझ

जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्याऽसत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताऽहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

मनुष्य का आत्मा सत्याऽसत्य का जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है, किन्तु जिससे मनुष्य-जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्याऽसत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा।"—अनुभूमिका १

"इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्य के विषय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा।" —अनुभूमिका २

तुलनात्मक अध्ययन—सब मतमतान्तरों का तुलनात्मक अध्ययन किये बिना सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। एतदर्थ ग्रन्थकार ने यत्र-तत्र-सर्वत्र विभिन्न मतों के प्रतीक वा प्रतिनिधियों को वादी-प्रतिवादी के रूप में प्रस्तुत करके उनके परस्पर संवाद द्वारा सत्यार्थ को जानने-जनाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है—

"जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।" —अनुभूमिका २

"इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना, सुनना, लिखना आदि करना सहज होगा।....... सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझकर कुछ सम्मति व असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें, क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके तथापि आप तो समझ ही जाता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वालों के विषय में जानें और अन्य न जानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर जाते हैं। ऐसा न हो, इसलिए इस ग्रन्थ में प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे। जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सबमें एक-से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा तथा दूसरा झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा-सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिए वाद-प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाए।" —अनुभूमिका ३

"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य निर्णय के लिए है, अर्थात् सब मतों के विषय में थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी को झूठा चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये जाने पर भी जिसकी इच्छा हो वह माने वा न माने, किसी पर भी बलात्कार नहीं किया जाता। और यही सज्जनों की

इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाए, उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जाएगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उसपर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।

यद्यपि आजकाल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ '**सर्वतन्त्र सिद्धान्त**' अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण, और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीत से वर्तें-वर्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे, क्योंकि **विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जोकि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब समुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।**

इनमें से जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **'सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः'**, अर्थात् 'सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय, और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है' इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से नहीं हटते।

रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें।"—अनुभूमिका ४

सत्य का स्वरूप—पाँचवें समुल्लास में 'सत्य' का लक्षण इस प्रकार किया है—"जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में और जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी सत्य कहाता है।"

योगदर्शन के अन्तर्गत (२।३०) सत्य का स्वरूप वर्णन करते हुए व्यासभाष्य में लिखा है—"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागयुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति" अर्थात् यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है, अर्थात् जिस प्रकार का दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन सत्य है। वह वाक्य यदि वञ्चनात्मक या भ्रान्तिकारक या श्रोता के पास अर्थशून्य न हो (तो वह वाक्य सत्य होता है)।

वृद्धचाणक्य (२।६०) का वचन है—**"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"**।

आत्मा की पवित्रता—जीवात्मा स्वभाव से पवित्र है। इसलिए वह सत्यासत्य का निर्णय करने में सर्वथा समर्थ है। वे अन्यत्र लिखते हैं—"मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य का निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। हाँ, जो कोई पक्षपातयानारुढ होके देखते हैं, उनको न अपने, न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।"—अनुभूमिका १

हानि करना नहीं—किसी के मन को दुखाना, किसी की हानि करना, किसी का विरोध करना या किसी पर मिथ्या आरोप लगाना ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं था। वे लिखते हैं—

"इस मेरे कर्म में यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें, क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी का विरोध वा हानि करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने में है।—अनुभूमिका १

"इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो-जो हमने इनके मत-विषय में लिखा है, वह

केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध या हानि करने के अर्थ।''—अनुभूमिका २

''यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिए है, न कि किसी को दुःख वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।''—अनूभूमिका ३

''क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ, क्योंकि एक-दूसरे को हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य धर्म है।''—अनुभूमिका ४

सत्यासत्य को जानने का उद्देश्य—सत्यासत्य का विवेचन मात्र बुद्धि-विलास नहीं है। इसका उद्देश्य मानवजाति की उन्नति में सहायक होना है। महर्षि वेदव्यास ने अपने योगदर्शन के भाष्य में लिखा है—

''एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्र सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्याप्रतिरूपकेण कष्टंतममं प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।''—योगसूत्र २।३०

अर्थात् सत्य का कथन करनेवाला वाक्य सर्वभूत का उपघातक न होकर उपकाररूप से प्रयुक्त होना चाहिए, क्योंकि वाक्य कहने पर यदि किसी का उपघात हो जाए तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं, परन्तु पाप ही होता है। इस प्रकार पुण्यवत् प्रतीयमान, पुण्य वाक्य से दुःखमय तम का लाभ होता है, अतएव सर्वहितजनक सत्यवाक्य ही कहना चाहिए।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि ''सत्य के जय और असत्य के क्षय अर्थ मित्रता से वाद (संवाद) और लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।''—अनुभूमिका २

''मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए है, न कि वाद-विवाद, विरोध करने-कराने के लिए। इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं। जब तक इस मनुष्यजाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़, सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है।''—अनुभूमिका १

सत्य के प्रति अगाध श्रद्धा और आस्था के कारण ही ग्रन्थकार ने अपने द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के नियमों में उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। आर्यसमाज का चौथा और पाँचवाँ नियम क्रमशः इस प्रकार हैं—

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिएँ।

ईश्वर और वेद के प्रति दृढ़ विश्वास, असीम श्रद्धा एवं गहरी आस्था के मूल में भी ग्रन्थकार की यह मान्यता थी कि ईश्वर ''सब सत्य विद्याओं का आदिमूल'' (नियम १) है, और वेद ''सब सत्य विद्याओं'' का पुस्तक है।

संशोधन—सत्य को सर्वोपरि मानने के कारण ग्रन्थकार ने अपनी बात को कभी **'अन्तिमेत्थम्'** के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। लेखन अथवा मुद्रण में असावधानी के कारण हुई भूल का संकेत होने पर 'जैसा वहाँ सत्य होगा वैसा ही करने' के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। मुंशी बख्तावरसिंह के नाम भेजे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"जो संस्कृत वाक्यप्रवोध पुस्तक छपाया है, सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध है और के ठिकानों में संस्कृतवाक्यप्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के कारण तीन हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के अधीन शोधने का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में कोई कम्पोज़ीटर बुद्धिमान् न होना।"—मुंशी बख़्तावरसिंह के नाम ग्रन्थकार का पत्र, श्रावण शुक्ला १३, बुध संवत् १६३७ (१८ अगस्त १८८०)—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण १६८०, भाग१, पृष्ठ ३८७-८८

धार्मिक एकता—ग्रन्थकार का विश्वास था कि "विभिन्न मत वाले विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने-अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्यमत हो जाएँ।"—अनुभूमिका १

सन् १८५७ की याद अभी लोगों को भूली नहीं थी, परन्तु उसके कारण जो स्वाभाविक एकता भारतीयों में पैदा हो गयी थी वह धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। जनता में निराशाजन्य अकर्मण्यता की भावना व्याप्त होती जा रही थी, मानो १८५७ की पराजय के बाद उसने अपने-आपको भाग्य के हाथों में सौंप दिया था। उसकी दशा उस रूपवती विधवा जैसी थी जिसका जीवन-साथी तो चला गया हो, किन्तु रूप के कारण अनेक लोलुप और कामुक पुरुष उसपर अत्याचार कर रहे हों। ऐसी दशा में वह पीड़ा और व्यथा के कारण किसी का सामना न कर पाने के कारण अपने-आपको उनकी दया पर छोड़ने को विवश हो जाती है।

पर जहाँ अन्याय और अत्याचार होता है, वहाँ उसका प्रतिरोध करनेवाले भी पैदा हो जाते हैं। देश में व्याप्त असन्तोष के फलस्वरूप यत्र-तत्र विद्रोह के अंकुर फूट रहे थे। बंगाल में राजा राममोहन राय की परम्परा में ब्रह्मसमाज के वरिष्ठ नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और ओजस्वी वक्ता बाबू केशवचन्द्र सेन थे। बम्बई में प्रार्थनासमाज के महादेव गोविन्द रानाडे और रायबहादुर भोलानाथ साराभाई आदि सुधारक थे। मुसलमानों में सर सैय्यद अहमद खाँ एक नया जीवन फूँक रहे थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग कारणों से भारत का नव-निर्माण होता दिखाई दे रहा था, परन्तु अखण्ड भारत की एकता अभी तक छिन्न-भिन्न थी। इस दिशा में प्रयत्न अवश्य हो रहे थे। स्वामी दयानन्द यत्र-तत्र-सर्वत्र उभरती हुई शक्तियों को देख रहे थे। उन्हें ऐसा लगा जैसे एक ही सचाई का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाश हो रहा हो। उनकी प्रतिभा केवल भेदों को देखने और काट-छाँट करनेवाली न थी। वे बुराइयों को दूर करके बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्यजाति को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। वे चाहते थे कि देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक नेताओं को एक मंच पर लाकर उन्हें ऐसी प्रेरणा करें जिससे उनकी विचारधारा में एकता आ जाए और वे सब मिलकर सुधार की दिशा में आगे बढ़ें। वे उपयुक्त अवसर की तलाश में थे। 'जहाँ चाह तहाँ राह'—उन्हें राह मिल गयी।

जनवरी १८७७ में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल और वायसराय लार्ड लिटन ने महारानी विक्टोरिया के भारत की सम्राज्ञी घोषित किये जाने के उपलक्ष्य में दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया। ऐसा जान पड़ता था कि वह दरबार ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव और भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्ति का प्रदर्शन था। इस दरबार में राजकुल और शासन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख व्यक्तियों के अतिरिक्त भारत के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता तथा समाजसुधारक महापुरुष भी आये। **'सन्तन कहा सीकरी सों काम'**—पर स्वामी दयानन्द भी वहाँ पहुँचे। सबके आने के कारण अलग-अलग थे। स्वामी दयानन्द इसलिये आये थे कि वहाँ पर एकत्र सामाजिक नेता मिलकर चलने का कोई मार्ग निर्धारित करें।

उनका विचार था कि देश के सारे राजा लोग वहाँ इकट्ठे होंगे और यदि वे मेरी बात सुनेंगे तो बहुत जल्दी देश में एकता हो जाएगी, परन्तु राजराजेश्वरी के दरबार के अवसर पर राजाओं को अपना-अपना वैभव प्रदर्शित करने से अवकाश कहाँ था कि वे एक ऐसे संन्यासी की बात सुनते जो उस समय का सबसे बड़ा विद्रोही था और घोर नास्तिक के रूप में विख्यात था। इसलिए इस दिशा मे उन्हें सफलता नहीं मिली।

स्वामी दयानन्द के दरबार में आने का दूसरा कारण भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये सुधारकों से मन्त्रणा करना था। इसलिए दरबार में आये हुए समस्त सुधारक नेताओं को उन्होंने अपने निवास-स्थान पर आमन्त्रित किया। आज के युग में इस प्रकार के एकता-सम्मेलनों का होना सामान्य बात है, परन्तु उस समय इस प्रकार का आयोजन एक अनोखी बात थी। उसे भारत का पहला एकता सम्मेलन कह सकते हैं। उसमें भारत के सभी सुधारक सम्मिलित हुए थे। कलकत्ता से प्रकाशित 'इण्डियन मिरर' (Indian Mirror) ने अपने १४ जनवरी १८७७ के अंक में लिखा था—"हमने सुना है एक पापुलर मीटिंग देहली में हुई। पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक कान्फ्रेंस इसलिए हुई कि भारत के वर्तमान सुधारकों में परस्पर एकता का सम्बन्ध स्थापित किया जाए। हमारे मिनिस्टर श्री केशवचन्द्र सेन भी उसमें मौजूद थे। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों के सुधारकों में एकता का सम्बन्ध सच्ची और व्यावहारिक नींव पर स्थिर हो जाए, तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत भारी और नेक परिणाम पैदा होंगे। हम इसकी सफलता की प्रार्थना करते हैं।" इस सम्मेलन में आमन्त्रित नेताओं में प्रमुख थे—ब्रह्मसमाज के श्री केशवचन्द्र सेन, लाहौर के प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी नेता श्री नवीनचन्द्र राय, मुसलमानों के सर्वाधिक प्रतिष्ठित नेता सर सैय्यद अहमद खाँ, रायबहादुर श्री गोपालराव हरिदेशमुख पूना, प्रसिद्ध वेदान्ती मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी लुधायाना, मुंशी इन्द्रमणि मुरादाबाद, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि बम्बई और पं० मनफूल।

स्वामी दयानन्द के साथ राजा जयकृष्णदास सी.आई.ई. आदि अनेक प्रमुख लोग भी थे, परन्तु वे सभा में सम्मिलित भी हुए थे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इस सभा का पूरा विवरण कहीं नहीं मिलता, परन्तु इतना निश्चय है कि उसमें बड़ी स्पष्टता और उदारता के साथ विचार हुआ था। स्वामी दयानन्द ने अपना विचार रक्खा था कि यदि हम सब लोग एक मत हो जाएँ और एक ही रीति से देश के सुधार की दिशा में काम करें तो देश शीघ्र सुधर सकता है। देश की एकता और सुधार के सम्बन्ध में सब एक मत थे। देश का लोकमत भी उनके साथ था। 'इण्डियन मिरर' की भावना का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। लाहौर के 'बिरादरे हिन्द' ने इस बारे में लिखा था—

"हम दिली मुसर्रत के साथ इस बात का इजहार करते हैं कि दिल्ली दरबार की तकरीब में हिन्दुस्तान के मशहूर और लायक रिफार्मर्स (इसलाह कुनन्दगान) ने पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक जलसा खास इस गरज से मुनक्कद किया कि हमारी असल अलगताई इन मजहब से एक ही है। बेहतर हो कि आइन्दा से बजाय अलहदा-अलहदा काम करने के कुल मुत्तफिक होकर कौम की इसलाह में मसरूफ हों और आपस में अगर किसी तरह का इख़्तलाफ़ हो तो उसका भी बाहमी तन्कीह के साथ फैसला कर लें।"—बिरादरे हिन्द, लाहौर, जनवरी १८७७

इतना सब-कुछ होते हुए भी यह सभा एकमत न हो सकी। इसकी असफलता के बारे में इस सभा के एक सभासद बाबू नवीनचन्द्र राय ने आठ वर्ष बाद अपने पत्र 'ज्ञानप्रदीप' में लिखा था—"फिर दूसरी बार हम लोगों की मुलाकात स्वामीजी से दिल्ली में क़ैसरे हिन्द के दरबार में हुई। वहाँ उन्होंने हमें बाबू केशवचन्द्र सेन और श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को आमन्त्रित किया और हम लोगों से प्रस्ताव किया कि हम लोग अलग-अलग धर्मोपदेश न करके एकता के साथ काम करें तो अधिक फल होगा, पर मूल विश्वास

में हम लोगों का उनके साथ मतभेद था। इसलिए जैसा वह चाहते थे, एकता न हो सकी।"

—ज्ञानप्रदीप, भाग ४, नं. ३१-३२, जनवरी १८८५

स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि देश का अभ्युदय और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाए और वह एक धर्म वैदिक धर्म ही हो सकता है। ब्रह्मसमाजी और मुसलमान वेद को निभ्रान्त ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस सम्मेलन की असफलता के कारण का स्पष्ट उल्लेख बा० केशवचन्द्र सेन की जीवनी में मिलता है—

"बाबू केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्ली में स्वामी दयानन्द से मिले तो उन्होंने कहा कि वे बहुत-सी बातों में उनसे सहमत हैं, किन्तु एक बात उनकी समझ में नहीं आती कि वेद का सहारा लिये बिना धार्मिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है।"

—पी.एस.बसु द्वारा लिखित 'Life and Words of Keshav Chandra Sen', P.328

इस प्रकार इस सम्मेलन का जहाज वेद की अपौरुषेयता तथा निर्दोषता पर आकर टकरा गया। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि बा० केशवचन्द्र सेन ने एक बार स्वामीजी से कहा था कि यदि आप वेद की बात न कहकर यह कहें कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह ईश्वर का सन्देश है तो लोग आसानी से आपकी बात मान लेंगे और आपको अपने एकता के प्रयासों में सफलता मिल जाएगी। स्वामीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। हज़रत मुहम्मद या ईसामसीह की तरह वे अपने आपको खुदा का पैग़म्बर कैसे मान सकते थे?

सर सैयद अहमद खाँ स्वामीजी का आदर ही नहीं करते थे, बल्कि यह भी मानते थे कि जिस प्रकार स्वामीजी वेदों का अर्थ करते हैं, वही ठीक है। इतना ही नहीं, स्वामीजी की अर्थ करने की नीति पर ही उन्होंने कुरान का अर्थ किये जाने पर भी बल दिया।

तीन वर्ष बाद दिसम्बर १८८० में स्वामीजी ने सेंट पीटर्स चर्च आगरा के बिशप महोदय से कहा कि यदि हम, आप तथा अन्य धर्मों के नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते हैं तो एकता स्थापित हो सकती है। फिर हमारे मुक़ाबले पर नास्तिक ही रह जाएँगे। यह उनका अन्तिम प्रयास था, क्योंकि तीन वर्ष बाद १८८३ में उनकी मृत्यु हो गयी, किन्तु प्रयत्नों के विफल होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे ईमानदारी से भारत की एकता में विश्वास रखते थे और इसके लिए वे धार्मिक नेताओं के परस्पर मतभेद को दूर करना आवश्यक समझते थे।

स्वामीजी जब एकता के प्रयत्नों में असफल होते गये तो स्वाभाविकरूप से उनका मत वेद और वैदिक धर्म पर केन्द्रित होता गया और जो कुछ भी उन्हें वेद के विरुद्ध लगा, उसका उन्होंने बलपूर्वक प्रत्याख्यान किया, परन्तु उनकी आलोचना में कहीं द्वेषभाव का लेशमात्र भी नहीं रहा। बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से उन्होंने कहा था—"मेरा उद्देश्य सबको ऐसे प्रयास में मिलाना है, जैसे जुड़े हुए हाथ। मैं कोल से लेकर ब्राह्मण तक में एकजातीयता को जगाना जागता हूँ। मेरा खण्डन हित के लिए है।" (देवेन्द्रनाथ मुखोपध्याय लिखित जीवनचरित)

उनके सम्पर्क में आनेवाले सभी लोग उनकी सद्भावना से पूरी तरह अवगत थे। उन्होंने गिरजे में जाकर बाइबल का खण्डन किया और जहाँ भी अवसर मिला, कुरान की भी भरपूर आलोचना की, तथापि अनेक प्रबुद्ध ईसाई और मुसलमान उनके भक्त थे। लाहौर में उनके प्रचार का केन्द्र डॉ० रहीम खाँ की कोठी बनी तो बम्बई में आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में एक मुसलमान ने उदारतापूर्वक सहयोग दिया। स्वामीजी की महानता को सभी ने स्वीकार किया था और उनके विरोधी (जिनमें काशी और महाराष्ट्र के

प्रकाण्ड विद्वान् थे) भी उनकी विद्वत्ता को हो ही नहीं मानते थे, बल्कि यह भी स्वीकार करते थे कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं, वही ठीक है, परन्तु युग का विरोध करके उनका साथ देने का साहस वे नहीं कर सकते थे ।

लेकिन फिर उन्हें गलत क्यों समझा गया ? वस्तुतः किसी व्यक्ति और उसके विचारों को समझने के लिए उसे बार-बार हर पहलू से देखना आवश्यक है । तब उसका वह रूप दिखाई देगा जो एकदम नया लगेगा । जो इस प्रकार देखेगा उसे दयानन्द की बाहरी रूक्षता के पीछे प्रेम से छलकते हुए कोमल और उदार हृदय के दर्शन होंगे । टाल्स्टाय परम आस्तिक था और मैक्सिम गोर्की परम नास्तिक परन्तु टाल्स्टाय के प्रति अपने हृदय की भावना को व्यक्त करते हुए गोर्की ने जो शब्द लिखे हैं, वे कितने भावपूर्ण और सत्य हैं—

"नास्तिक होते हुए भी मैंने किसी अज्ञात प्रेरणा से खूब सावधान होकर, किन्तु डरते-डरते, उन्हें देखा और देखकर सोचा—यह मनुष्य तो परमात्मा जैसा है ।"

दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही कहने को मेरी लेखनी मचल रही है ।

यह कहा जा सकता है कि यदि स्वामी दयानन्द को एक सर्वसम्मत धर्म की स्थापना करना अभीष्ट था तो उन्हें वेद पर आग्रह नहीं करना चाहिए था, परन्तु उनका ऐसा करना सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से सर्वथा उचित था । वेदों का सबसे प्राचीन होना निर्विवाद है । उनकी महनीयता को भी विश्व ने स्वीकार किया है । क्या यह केवल अन्धविश्वास था या इसकी पृष्ठभूमि में कोई गहन चिन्तन था? केवल अन्धविश्वास के आधार पर कोई भी मान्यता निरवधिक काल तक नहीं टिकी रह सकती । मनन-चिन्तनशील मानव किसी-न-किसी कालखण्ड में उसकी परीक्षा करना चाहेगा ही और जब उसे अपनी मान्यता थोथे अन्धविश्वास पर आधारित लगेगी तो उसे स्वीकार न कर पाने में उसे विवशता का आभास होने लगेगा । वेद के सम्बन्ध में किसी को यह आभास नहीं हुआ । वेदों की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए यह मानना भी कठिन नहीं होना चाहिए कि वेद द्वारा प्रतिपादित मूलधारा ही विविध सम्प्रदायों व मतों के रूप में विभक्त हो गयी है । जस्टिस गंगाप्रसाद द्वारा लिखित 'Fountain Head of Religions' में इस विचार तो सर्वथा सिद्ध किया गया है । क्रियात्मक दृष्टि से इसका एक लाभ यह था कि हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों की वेद में श्रद्धा होने के कारण उन्हें एक मंच पर लाना आसान था । अन्य मत-मतान्तर भी किसी सीमा तक वेद के प्रति आस्थावान् हैं ।

वेदों के प्राचीनतम होने से किसी भी धर्म के वैदिक धर्म से प्राचीन अथवा समकालीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता । वर्तमान में संसार में अनेक मत प्रचलित हैं । सभी के अपने-अपने धर्मग्रन्थ हैं । इसलिए उनके किसी-न-किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण वे सभी साम्प्रदायिक हैं । इसके विपरीत वेदों के समय में अन्य किसी भी धर्म का अस्तित्व न होने से वेदों तथा इस कारण वैदिक धर्म का मानवधर्म के रूप में असाम्प्रदायिक, सार्वभौम, सार्वकालिक एवं सर्वमान्य होना तर्कप्रतिष्ठित है । विवाद के लिए कम-से-कम दो का होना आवश्यक है । अनेक में से किसी एक का भी छाँटना विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु जब केवल एक ही हो तो उसका चुनाव निर्विरोध सर्वसम्मत हो सकता है । इस प्रकार सब मत-मतान्तरों में एकता के लिए स्वामी दयानन्द का साँझे धर्म के रूप में वैदिक धर्म के प्रति आग्रह सर्वथा युक्तियुक्त तथा अवसरोचित था ।

इसी प्रकार की एक सभा का आयोजन स्वामी दयानन्द के गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी ने सन् १८६१ के प्रारम्भ में करना चाहा था । उस समय देशी रियासतों के राजाओं का एक दरबार आगरा में हुआ

यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्''** यह गीता (१८।३७) का वचन है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जो-जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य, और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं'। ऐसी बातों को चित्त में धरके मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देखके इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन-उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सर्वसाधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है। जिससे सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें।

था, जिसमें बहुत-से राजा-महाराजा उपस्थित हुए थे। जयपुर के राजा रामसिंह उनमें प्रमुख थे। दण्डीजी ने उनके सामने यह विचार प्रस्तुत किया था कि एक सार्वभौम सभा का आयोजन किया जाए जिसमें देशभर के पण्डित आमन्त्रित किये जाएँ। वे इस विषय पर विचार करें कि कौन-से ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिन्हें सत्यासत्य एवं धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए प्रमाण माना जा सकता है। राजा जयसिंह ऐसी सार्वभौम सभा का सारा खर्च उठाने को तैयार थे, परन्तु अनेक कारणों से इस सभा का आयोजन नहीं किया जा सका। १६ वर्ष बाद गुरुवर विरजानन्द के शिष्य स्वामी दयानन्द ने वैसा ही प्रयास किया, पर वे भी सफल न हो सके। हा हन्त !

यत्तदग्रे विषमिव—गीता १८।३७ का यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

> **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।**
> **तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥**

अर्थ—जो आरम्भ में तो विष के समान जान पड़ता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह (आध्यात्मिक) सुख सात्त्विक होता है। आशय यह है कि जब बुद्धि अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ हो जाती है तब मनुष्य को सत्य और अत्यन्त सुख का अनुभव होता है। यहाँ इस वचन को उद्धृत करने का ग्रन्थकार का अभिप्राय पाठकों को यह स्पष्ट करना प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में मैंने जो कुछ लिखा है, वह आपाततः कटु हो सकता है, किन्तु जब इसपर गम्भीरता से विचार किया जाएगा तो यह सर्वहितकारी सिद्ध होगा। इंजेक्शन की सुई की तरह इसकी चुभन से पीड़ा अनुभव होने से यह भले ही अच्छा न लगे, किन्तु अन्ततः यह मानवमात्र के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रोगों को शान्त करनेवाली सर्वश्रेष्ठ ओषधि सिद्ध हो—इस पवित्र भावना से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

मत-मतान्तरों का जाल—

ग्रन्थकार के समय में ही असंख्य मत और सम्प्रदाय विद्यमान थे। उनकी संख्या का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वैष्णव, शैव और शाक्त इन तीन बड़े मतों में से अकेले वैष्णव मत के निम्नलिखित २१ सम्प्रदाय थे, जो एक-दूसरे को झूठा कहते थे—

१. श्रीसम्प्रदाय, २. वल्लभाचारी, ३. मध्वाचारी, ४. सनकादि सम्प्रदाय, ५. रामानन्दी, ६. राधावल्लभी, ७. नित्यानन्दी, ८. कबीरपन्थी, ९. खाकी, १०. दादूपन्थी, ११. मलूकदासी, १२. रामदासी, १३, सेनाई, १४. मीराबाई, १५. सखीभाव, १६. चरणदासी, १७. हरिश्चन्द्री, १८. साधनापन्थी, १९.

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकाल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करने, और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य-शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्यस्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही **'मनुष्य'** कहाता है और जो स्वार्थवश होकर परहानिमात्र करता रहता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

माधवी, २०. वैरागी, २१. नागे।

शेवों के सात बड़े सम्प्रदाय हैं—

१. संन्यासी या दण्डी आदि, २. योगी, ३. जंगम, ४. ऊर्ध्वबाहु, ५. गूदड़, ६. रूखड़, ७. कड़ा लिंगी।

शाक्तों के बड़े भेद निम्नलिखित हैं—

१. दक्षिणाचारी, २, कानचेलिये, ३. वाणी, ४. कसरी, ५. अघोरी, ६. गाणपत्य, ७. सौरपत्य, ८. नानकपन्थी, ६. बाबा लालो, १०. साध, ११. सतनामी, १२. प्राणनाथी, १३. शिवनारायणी, १४. शून्यवादी।

कतिपय अन्य सम्प्रदाय—चारवाक, वाममार्ग, चक्राङ्कित, रामस्नेही, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, स्वामी-नारायण।

बौद्ध और उसके भेद ; जैन और उसके भेद।

विदेशी मत—ईसाइयत और उसके भेद ; इसलाम और उसके भेद।

तब से अब तक न जाने कितने नये-नये मत पैदा हो चुके हैं और कुकुरमुत्तों की तरह आये दिन पैदा होते जा रहे हैं। जैसे—राधास्वामी, निरंकारी, ब्रह्माकुमारी, हंसामती, साईंबाबा, रजनीश, महेश योगी, आनन्दमार्ग, झूलेलाल आदि।

एकधर्म की निश्चायक प्रक्रिया—अनेक मत-मतान्तरों के बीच सत्यासत्य का निर्णय होकर वास्तविक धर्म का निश्चय कैसे हो, इसका उपाय ग्रन्थकार ने ११वें समुल्लास में बताया है। वहाँ लिखा है—

एक जिज्ञासु ने किसी आप्तपुरुष के पास जाकर कहा—महाराज ! अब इन सहस्रों सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है, इसलिए आप मुझे उपदेश कीजिए जिसको मैं ग्रहण करूँ। आप्त-पुरुष ने कहा—जिस बात में सब एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें विरोध हो, वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है। जिज्ञासु ने पूछा कि इसकी परीक्षा कैसे हो ? आप्तपुरुष ने बताया—

"तू जाकर इन-इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जाएगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली के बीच खड़ा होकर बोला—'सुनो सब लोगो ! सत्याभषण में धर्म है वा मिथ्याभाषण में ?' सब एकस्वर होकर बोले—सत्यभाषण में धर्म और मिथ्याभाषण में अधर्म है।' वैसे ही 'विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्यव्यवहार आदि में धर्म है वा अविद्याग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्यव्यवहार, छल-कपट, हिंसा, परहानि करने आदि में ?' सबने एकमत होकर

कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म है।"

जो लोग स्वामी दयानन्द को एक संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं वे उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत धर्म के यथार्थ स्वरूप और दरबार के अवसर पर एकता की दिशा में किये गये उनके प्रयास पर विचार करेंगे तो उनकी यह धारणा बदले बिना न रहेगी। ग्रन्थकार की सत्य के प्रति निष्ठा की साक्षी यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलती है। विभिन्न मतमतान्तरों का प्रत्याख्यान करते समय भी उनका लक्ष्य शाश्वत सत्य की खोज करके मनुष्यमात्र में उसको प्रवृत्त करना था। पूर्वार्द्ध की समाप्ति पर दशम समुल्लास के अन्त में वे लिखते हैं—

"विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं।"

मनुष्य का लक्षण—"मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु, अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ और निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी, चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे, अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

सत्याग्रह—स्वामीजी ने जो कहा, उसे जीवनभर जिया। जिस 'मनुष्यरूप धर्म' का उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, उन्होंने अपना सारा जीवन उसकी सोदाहरण व्याख्या में लगा दिया।

स्वामी दयानन्द प्रचारार्थ बरेली गये। वहाँ वे उस समय करोड़पति समझे जानेवाले ख़जानची लक्ष्मीनारायण की कोठी पर ठहरे। अंग्रेजों का राज था। लक्ष्मानारायणजी स्वामीजी की सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता से शंकित रहते थे। बरेली के कमिश्नर से आदेश पाकर उन्होंने एक दिन डरते-डरते स्वामीजी से कहा कि अंग्रेजों को नाराज़ करना अच्छा नहीं। उस रात्रि को टाउन हाल में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। उस समय वहाँ कमिश्नर मिस्टर एडवर्ड्स, कलक्टर रीड, पादरी स्काट और १५-२० अन्य अंग्रेज उपस्थित थे। उस दिन के व्याख्यान का विवरण स्वामी श्रद्धानन्द (जो उस समय सभा में उपस्थित थे) ने अपनी आत्मकथा (कल्याणमार्ग का पथिक) में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"व्याख्यान का विषय था—आत्मा का स्वरूप। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुए आचार्य (दयानन्द) ने कहा—'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रंकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।' इसके पीछे एक श्लोक (संभवतः—**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः**॥—गीता २।२३) पढ़कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य है, अमर है। फिर गरजते शब्दों में बोले—'यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है।' फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—'किन्तु वह वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरी आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर पुरुष इस संसार में दिखाई नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं।' सारे हाल में सन्नाटा छा गया। रुमाल का गिरना भी

अब आर्यावर्त्तियों के विषय में विशेषकर ११ ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है । इन समुल्लासों में जो कि सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य है और जो नवीन पुराण, तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं ।

यदपि जो बारहवें समुल्लास में चारवाक का मत लिखा है, वह इस समय क्षीणाऽस्त-सा है, और यह चारवाक बौद्ध-जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वरवादादि में रखता है । यह चारवाक सबसे बड़ा नास्तिक है । उसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है, क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जाए, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जाएँ ।

चारवाक का जो मत है वह, तथा बौद्ध और जैन का जो मत है, वह भी बारहवें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है । और बौद्धों तथा जैनियों का भी चारवाक के मत के साथ मेल है, और कुछ थोड़ा-सा विरोध भी है और जैन भी बहुत-से अंशों में चारवाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है, और थोड़ी-सी बातों में भेद है, इसलिए जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है । वह भेद १२ बारहवें समुल्लास में लिख दिया है, यथायोग्य वहीं समझ लेना । जो इनका भिन्न है, सो-सो बारहवें समुल्लास में दिखलाया है । बौद्ध और जैनमत का विषय भी लिखा है ।

सुनाई देता था ।"

शाहपुरा से जोधपुर के लिए प्रस्थान करते समय अजमेर के आर्यपुरुषों ने स्वामीजी को जोधपुर जाने से विरत करने का प्रयास करते हुए कहा—

"जोधपुर के लोग वहाँ की धरती की तरह शुष्क प्रकृति, संवेदनाहीन तथा कठोर स्वभाव के हैं । आपका वहाँ जाना किसी भी प्रकार श्रेयस्कर नहीं है ।" अजमेर के लोगों ने तो तत्कालीन मारवाड़ को राक्षस-भूमि की संज्ञा दी और स्वामीजी के आसन्न अहित की कल्पना से वे बड़े दुःखी हुए; परन्तु स्वामीजी भय और उद्वेगहीन वाणी में बोले—"सत्य के प्रचारार्थ बड़े-से-बड़े कष्ट को सहन करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होगा ।" अपने इसी कथन का उपबृंहण करते हुए उन्होंने यहाँ तक कह दिया—"यदि वहाँ के लोग उनके सत्य कथन से चिढ़कर उनकी अंगुलियों को बत्तियों की तरह जला भी दें तो भी वे सत्य को कहने से पीछे नहीं हटेंगे ।"

उदयपुर राज्य राजस्थान का शिरोमणि है । उसके तत्कालीन शासक महाराणा सज्जनसिंह ने एक दिन स्वामीजी से कहा—"मेवाड़ राज्य में एकलिंग महादेव की अत्यधिक प्रतिष्ठा है । मेवाड़ के शासक महाराणा भी अपने-आपको एकलिंग महादेव के दीवान मानकर ही देश का शासन करते हैं । कितना अच्छा हो यदि आप इसके महन्त बन जाएँ । लाखों की सम्पत्ति के आप स्वामी होंगे । जिसका उपयोग आप वेदभाष्य-प्रकाशन तथा अन्य लोकोपकारी कार्यों में कर सकेंगे । आप मूर्तिपूजा न करें । बस, नीति के तौर पर उसका खण्डन न करें ।"

महाराणा के इस सद्भावनापूर्ण विचित्र प्रस्ताव को सुनकर दयानन्द जैसे धीर प्रकृति के पुरुष भी एक बार क्रोधाविष्ट हो गये । उन्होंने ओजस्वी, किन्तु प्रखर वाणी में कहा—"राणाजी ! यह प्रस्ताव आप किस व्यक्ति के सामने रख रहे हैं ? आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर इसके बाहर जा सकता हूँ, परन्तु सत्य को छोड़कर परमेश्वर के ब्रह्माण्डरूपी राज्य को छोड़कर कहाँ जाऊँगा ?"

जैनियों के ग्रन्थ—आर्यसमाज मुम्बई के तत्कालीन मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णदास ने अपने १५ जनवरी

इनमें से बौद्धों के **दीपवंशादि** प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धमत-संग्रह **'सर्वदर्शनसंग्रह'** में दिखलाया है, उसमें से यहाँ लिखा है और जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं।[1] उनमें से—

४ **चार मूलसूत्र,** जैसे—१.आवश्यकसूत्र, २. विशेष आवश्यकसूत्र, ३. दशवैकालिकसूत्र, और ४. पाक्षिकसूत्र।

११ **ग्यारह अंग,** जैसे—१. आचारांगसूत्र, २. सुगडांगसूत्र, ३. थाणांगसूत्र, ४. समवायांगसूत्र, ५.भगवतीसूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ७. उपासकदशासूत्र, ८. अन्तगड़दशासूत्र, ९. अनुत्तरोववाईसूत्र, १०. विपाकसूत्र, और ११. प्रश्नव्याकरणसूत्र।

१२ **बारह उपांग,** जैसे—उपवाईसूत्र, २. रावप्सेनीसूत्र, ३. जीवाभिगमसूत्र, ४. पन्नगणासूत्र,

---

१८८१ के पत्र में जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार सेवकलाल कृष्णदास ने ये पुस्तक श्री स्वामीजी महाराज के आदेश से संगृहीत किये थे। इस पत्र के अन्त में जैनियों के अन्य बहुत-से ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जिन्हें उन्होंने संगृहीत किया था। यह पत्र महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धान्द) जी, द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' प्रथम भाग में पृ० २५५ से २६४ तक छपा है। सत्यार्थप्रकाश में छपे नामों से इस पत्र में जिन नामों में स्वल्प भेद है, वे इस प्रकार हैं—

ग्यारह अङ्ग..........३-ठाणांगसूत्र.......।

बारह उपांग..........२-रायपसेनीसूत्र.....४-पन्नवणासूत्र........ ५-जम्बुद्दिपपन्नत्तीसूत्र ६-चन्दपन्नत्तीसूत्र ७-सुरपन्नत्तीसूत्र ८-निरियावलिसूत्र ११-पुप्पियासूत्र १२-पुप्पचूलियासूत्र।

छः भेद....४-पिण्डनिर्युक्तिसूत्र ५-औघनिर्युक्तिसूत्र ६-पर्युषणासूत्र।

दशपन्नसूत्र....१-चतुःशरणसूत्र २-पंचखानसूत्र ३-तंदुलवैयालिकसूत्र ४-भक्तिपरिग्यानसूत्र ७-गणिविज्वासूत्र ६-देवेन्द्रस्तवनसूत्र १०-संस्थारसूत्र।

पाँच पंचाँग.....२-निर्युक्ति ३-चर्णी......।

न देते न सुनाते—इत्यादि लिखने के कारण जैन लेखकों ने ग्रन्थकार को अनेक कुवाच्य लिखे हैं।

---

१. नीचे लिखे गये जैनियों के सिद्धान्त-पुस्तकों के नाम श्री सेवकलाल कृष्णादास, मन्त्री आर्यसमाज बम्बई के १५ जनवरी सन् १८८१ के पत्र में उल्लिखित हैं। सेवकलाल कृष्णदास ने ये पुस्तक श्री स्वामीजी महाराज के आदेशानुसार संगृहीत किये थे। इस पत्र के अन्त में जैनियों के अन्य बहुत-से ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जिन्हें उन्होंने संगृहीत किया था। यह पत्र महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार' प्रथम भाग में पृष्ठ २५५ से २६४ तक छपा है। सत्यार्थ-प्रकाश में छपे नामों से इस पत्र में जिन नामों में स्वल्पभेद है, वे इस प्रकार हैं—
ग्यारह अङ्ग ....३. ठाणांगसूत्र .... ।
बारह उपाङ्ग ....२. रायपसेनीसूत्र ..... ४. पन्नवणासूत्र
५. जम्बुद्दिपपन्नत्तीसूत्र ६. चंदपन्नत्तीसूत्र ७. सुरपन्नत्तीसूत्र ८. निरियावलिसूत्र.....११. पुप्पियासूत्र १२. पुप्पचूलियासूत्र। छः छेद... ४. पिण्डनिर्युक्तिसूत्र ५. औघनिर्युक्ति सूत्र ६. पर्युषणासूत्र।
दस पन्नासूत्र.. १. चतुःशरणसूत्र २. पंचखानसूत्र ३. तंदुलवैयालिकसूत्र ४. भक्तिपरिग्यानसूत्र ... ७. गणिविज्वासूत्र ...६. देवेन्द्रस्तवनसूत्र १०. संस्थारसूत्र।
पांच पंचांग... २. निर्युक्ति ३. चर्णी ...।
सत्यार्थ-प्रकाश और सेवाकलाल द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ-नामों में कुछ अशुद्धियाँ हैं। हमने द्वि० सं० का ही पाठ रक्खा है।

५. जम्बुद्वीपपन्नतीसूत्र, ६. चन्दपन्नतीसूत्र, ७. सुरपन्नतीसूत्र, ८. निरियावलीसूत्र, ६. कप्पियासूत्र, १०. कपबड़ीसयासूत्र, ११. पूप्पियासूत्र, और १२. पुप्पचूलियासूत्र ।

५ पाँच्र कल्पसूत्र, जैसे—१. उत्तराध्ययनसूत्र, २.निशीथसूत्र, ३. कल्पसूत्र, ४. व्यवहारसूत्र, और ५. जीतकल्पसूत्र ।

६ छः छेद, जैसे--१. महानिशी वृहद्वाचनासूत्र, २. महानिशीथलघुवाचनासूत्र, ३. मध्यमवाचनासूत्र, ४. पिंडनिरुक्तिसूत्र ५. औघनिरुक्तिसूत्र, ६. पर्य्यूषणासूत्र ।

१० दश पयन्नसूत्र[1], जैसे—१. चतुस्सरणसूत्र, २. पञ्चखाणसूत्र, ३. तदुलवैयालिकसूत्र, ४. भक्तिपरिज्ञानसूत्र, ५. महाप्रत्याख्यानसूत्र, ६. चन्दाविजयसूत्र, ७. गणीविजयसूत्र, ८. मरणसमाधिसूत्र, ६. देवेन्द्रस्तवनसूत्र[2] और १०. संसारसूत्र । तथा नन्दीसूत्र, योगोद्धारसूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं ।

५. पञ्चाङ्ग, जैसे—१. पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २. निरुक्ति ३. चरणी[3], भाष्य । ये चार अवयव और सब मूल मिलके **'पञ्चाङ्ग'** कहाते हैं ।[4]

इनमें ढूंढिया अवयवों को नहीं मानते और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं । इनके मत पर विशेष विचार १२ बारहवें समुल्लास में देख लीजिए ।

जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्तदोष हैं और इनका यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत वाले के हाथ में हो वा छपा हो, तो कोई-कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं । यह बात उनकी मिथ्या है, क्योंकि जिसको कोई माने कोई नहीं, इससे वह ग्रन्थ जैन मत से बाहर नहीं हो सकता । हाँ, जिसको कोई न माने, और न कभी किसी जैनी ने माना हो, तब तो अग्राह्य हो सकता है । परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो । इसलिए जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा, उस ग्रन्थस्थ-विषयक खण्डन-मण्डन भी उसी के लिए समझा जाता है, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते-जानते हों, तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं । इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं । दूसरे मतस्थ को न देते, न सुनाते और न पढ़ाते हैं । इसलिए कि उनमें ऐसी-ऐसी असम्भव बातें भरी हैं, जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता । झूठ बात को छोड़ देना ही उत्तर है ।

ऐसे लोगों के सन्तोष के लिए हम यहाँ एक प्रामाणिक जैन विद्वान् की पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

Worse than this, they were religiously averse to letting non-Jains read or even see or touch their sacred books.—Outlines of Jainism, Preface, Page XII by Jagmandralal Jain M.A.

अर्थात्—इससे भी बुरी बात यह है कि जैन अपने पवित्र ग्रन्थ अजैनों को पढ़ने तो क्या, देखने या छूने भी नहीं देते ।

आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य के बिना वाक्य का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता ।

१. 'पयन्नासूत्र' अपपाठ संस्करण ८ से छप रहा है ।
२. अ० मु० सं० ६ से 'देवेन्द्रस्तमनसूत्र' ऐसा अपपाठ छप रहा है ।
३. चरणी=चूर्णि ।
४. इसके आगे संस्करण ३४ (अजमेर मुद्रित) में कोष्ठक में [तुलना कीजिए—प्रकरणरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १७१ से] पाठ मूलग्रन्थ में बढ़ाया है । सं० ३५ में भी यह पाठ छपा है ।

तेरहवें समुल्लास में ईसाईयों का मत लिखा है। ये लोग बायबल को अपना धर्म-पुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी १३ तेरहवें समुल्लास में देखिए और १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत-विषय में लिखा है। ये लोग कुरान को अपने मत का मूल पुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४वें समुल्लास में देखिए और इसके आगे वैदिकमत के विषय में लिखा है।

जो कोई इसे ग्रन्थकर्ता के तात्पर्य्य से विरुद्ध मनसा[1] से देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि **वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं**—'आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य, जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है—

आकाङ्क्षा—किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकाङ्क्षा परस्पर होती है।

योग्यता—वह कहाती है कि जिससे जो हो सके। जैसे जल से सींचना।

आसत्ति—जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसके समीप उस पद को बोलना वा लिखना।

तात्पर्य—जिसके लिए वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना।

बहुत-से हठी-दुराग्रही मनुष्य होते हैं, कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँसके नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ वैसा सबको करना योग्य है।

इसलिए ग्रन्थकार ने यहाँ इसका निर्देश करना आवश्यक समझा। साधारणतया 'आकांक्षा' का अर्थ किया जाता है—पद से प्रतीत होनेवाले अर्थ का अन्वय-बोध कराने से अभिलाषा का न होना, परन्तु ग्रन्थकार के अनुसार इससे वाक्यस्थ पदों का एक-दूसरे की, वक्ता की भाँति आकांक्षा करना अभिप्रेत है, अर्थात् वाक्य रचना ऐसी हो जिसमें पद परस्पर सम्बद्ध हों। तभी उनमें योग्यता की भी सम्भावना हो सकती है। ग्रन्थकार का यह मत मनमाना नहीं है, किन्तु आकांक्षा पद के लोकसिद्ध अर्थ के अनुकूल है। वाक्य में किस पद का किसके साथ अन्वय होना चाहिए, इसका निर्धारण आकांक्षा के द्वारा ही होता है। अतएव आकांक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए ग्रन्थकार ने सबसे पहला स्थान आकांक्षा को दिया है। इस रीति से विचार करने पर आसत्ति गौण हो जाती है। वात्स्यायन मुनि ने कहा है—**'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'**—न्यायभाष्य १।२।६

अर्थात्—जिस पद का जिस पद के साथ अर्थगत सम्बन्ध हो वह दूर होता हुआ भी उसी का है, अर्थ से असमर्थ=निराकांक्ष और अयोग्य पदों की समीपता भी अन्वय का कारण नहीं बन सकती। इसीलिए आलंकारिकों ने आसत्ति के उदाहरण देते हुए कहा कि एक पद 'गाम्' को प्रातः काल और दूसरे पद 'आनय' को सायंकाल बोला जाए तो इन पदों के अन्वय की योग्यता होने पर भी ये वाक्य नहीं कहला सकते।

योग्यता—योग्यता का सामान्य अर्थ है—सामर्थ्य, सक्षमता, अनुरूपता, समुपयुक्तता अथवा औचित्य।

---

१. 'मन' शब्द के तृतीया के एकवचन का प्रतिरूपक शब्द। इसी का अपभ्रंश 'मन्शा' प्रयुक्त होता है। मन्शा=इरादा वा विचार।

इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्याऽसत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें, क्योंकि एक मनुष्य-जाति में बहकाकर विरुद्ध बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।

यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे। इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझता, और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूँ। इसको देख-दिखलाके मेरे श्रम को सफल करें और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ[1] वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है।

सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु॥

इति भूमिका॥

स्थान महाराणाजी का उदयपुर (स्वामी) दयानन्द सरस्वती
भाद्रपद, शुक्लपक्ष संवत् १९३६

दर्शन में यह शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की असंगति के अभाव की द्योतक है। 'जलेन सिंचति' योग्यता का उदाहरण है, जबकि 'अग्निना सिंचति' में योग्यता नहीं है। इसकी परिभाषा है—**'एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गो योग्यता।'**

आसत्ति—'कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते'—जिससे निकटस्थ पदों के सम्बन्ध तथा उनके द्वारा अभिव्यक्त भाव का ज्ञान होता है, उसे आसत्ति कहते हैं।

तात्पर्य—'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्'—वक्ता जिस विचार से प्रेरित होकर शब्दोच्चारण करता है, उसे तात्पर्य कहते हैं। इसके निश्चायक तत्त्वों का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् उपक्रम (आरम्भ), उपसंहार (समापन), पुनरुक्ति, अपूर्वता, अर्थवाद (स्तुति), अवाप्ति (युक्तियुक्त होना) के द्वारा तात्पर्य का पता लगाता है।

---

१. अर्थात् मेरा। यह गुजराती भाषा का प्रयोग है। अजमेरमुद्रित संस्करण ४ में 'करके मेरा वा' तथा संस्करण ५ से 'करना मेरा वा' पाठ छप रहा है।

-:ओ३म्:-

अथ सत्यार्थ-प्रकाशः

[अथ प्रथम-समुल्लासारम्भः]

[अथेश्वरनामानि व्याख्यास्यामः]

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम् ॥
ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ १॥

['ओम्' की संक्षिप्त व्याख्या]

अर्थः—(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म्

अथ अथवा ओङ्कार (ओ३म्) शब्द के प्रयोग को माङ्गलिक माना जाना भारतीय साहित्य में **परम्परागत है । दर्शनशास्त्रों के** प्रारम्भिक सूत्रों तथा अन्य सूत्रग्रन्थों के आदि में माङ्गलिक प्रयोग की प्रवृत्ति तथा मङ्गलाचरण-भावना स्पष्ट उपलब्ध है। प्रारभ्यमान ग्रन्थ के नामनिर्देश में 'अथ' पद का प्रयोग भी इसी भावना का द्योतक है। यद्यपि 'अथ' पद का अर्थ 'प्रारम्भ करना' माना जाता है, पर प्राचीन परम्परा उच्चारणमात्र से इसे माङ्गलिक मानती आई है। अज्ञातकाल से गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा एक श्लोक चला आता है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने प्राचीन परम्परागत शैली का अनुसरण किया है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रारम्भ में **'सहनाववतु'** इत्यादि पाठ भी इसी परम्परा का द्योतक है। मङ्गलाचरण की प्रथा मध्यकालिकचार्यों से चली है—ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं। उन्हें मङ्गलाचरण की पौराणिक व तान्त्रिक प्रथा अमान्य है, प्राचीन वैदिक प्रथा नहीं। पौराणिक परम्परा में मङ्गलाचरण के शब्दों के उल्लेखमात्र को विघ्न-बाधाओं का नाशक माना जाता है। वैदिक मान्यता के अनुसार किसी कार्य

की निर्बाध सम्पन्नता अथवा किसी ग्रन्थ की सम्पूर्णता व्यक्ति के तद्विषयक ज्ञान, धैर्य, अध्यवसाय तथा अनवरत परिश्रम पर निर्भर करती है। किसी भी कार्य में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ सम्भव हैं। ऐसी बाधाओं के प्रतीकार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मङ्गलाचरण के शब्दों के उल्लेखमात्र से उनका प्रतीकार सम्भव नहीं, अतः मङ्गलाचरण की वास्तविकता को समझकर ही उसकी उपादेयता पर ध्यान देना उपयुक्त होगा।

ओ३म्—यहाँ पर 'ओ३म्' मन्त्र का अवयव नहीं है। प्रारम्भ में प्लुत ओङ्कार के उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से यहाँ प्लुत ओङ्कार मन्त्र के आरम्भ में पढ़ा है। (**ओमभ्यादाने** पाणिनि ८।२।८७) मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण परम्परागत है। कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नामस्मरण सर्वसम्मत मङ्गलाचरण है। वेद इस बात का आदेश देता है कि कार्यारम्भ में परमेश्वर के नाम का स्मरण अवश्य करना चाहिए। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा 'अग्निमीळे' इत्यादि इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अन्यत्र (ऋ०१।५७।४) इसका स्पष्ट निर्देश इन शब्दों में किया है—**"इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।"** वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र उपलब्ध उक्त सन्दर्भ के द्वारा परमेश्वर के सहाय से प्रारब्ध कार्य में सफलता की कामना की गयी है। यह प्रार्थना तो है ही, जिन भावनाओं के साथ ग्रन्थकार ने इस महान् ग्रन्थ का प्रारम्भ किया, यह सन्दर्भ एक प्रकार से उसका प्रतिज्ञावाक्य भी है—उसके सदुद्देश्य का प्रतीक है।

उद्धृत सन्दर्भ तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक ७, अनु० १) के अन्तर्गत है। तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठकों में बँटा हुआ है। उसी का ७वाँ, ८वाँ तथा ९नवाँ प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद्रूप हैं। वहाँ भी (शिक्षावल्ली, अनु० १) यह ज्यों-का-त्यों उपलब्ध है। सन्दर्भान्तर्गत **"शन्नो मित्रः.........उरुक्रमः"** इतना अंश वेदमन्त्र है। (ऋग्० १।९०।९ ; यजुः० ३६।९ ; अथर्व० १९।९।६)

ओम्—वेदादि शास्त्रों में ओंकार शब्द यदि प्रारम्भ में उच्चरित हो तो उसकी 'टि' को प्लुत हो जाता है, ऐसा वैदिकों का नियम है और उसके द्योतन के लिए 'ओ३म्' इस प्रकार लिखा जाता है। यहाँ प्लुत निर्देश होने पर भी अभिप्राय शुद्ध 'ओम्' पद से है। शास्त्रों में वह प्रायः इसी रूप में उपलब्ध होता है। तद्यथा—

ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर।—यजुः० ४०।१५
ओम् खं ब्रह्म।—यजुः० ४०।१७
ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास अगत। दाश्वांसो दाशुषाःसुतम्। —ऋ० १।३।७
मनोजूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टम्।
यज्ञं समिमं दधातु विश्वे देवास इह मादयन्तामों प्रतिष्ठ॥ यजुः० २।१३

उपनिषदों में ओम् शब्द का प्रयोग

छान्दोग्य—ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।—१।१।१;
ओमिति ह्युद्गायति।—१।४।१;
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः।—१।१।५;
एतन्मिथुनम् ओम् इत्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते।—१।१।६;
यद्धि किञ्चानुजानाति ओमित्येव तदाह।—१।१।८;
ओमित्याश्रावयति, ओमिति शंसति, ओमित्युद्गायति।—१।१।८;

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।—१।४।१;
यदा वा ऋचमाप्नोति ओम् इत्येवातिस्वरति ।—१।४।१
ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ।—१।५।१;
ओ३म् अदा३म्, ओ३म् पिबा३म्, ओ३म् देवः.......अन्नमिहाहराहर, ओ३म् इति ।—१।१२।५ ;
स ओ३म् इति वा होद्गामीयते ।—८।६।५
ईश—ओ३म् क्रतो स्मर ।—१७
कठ—तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ।—२।१५
प्रश्न—पुनरेतत् त्रिमात्रेणैव ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति ।—५।५; द्रष्टव्य—५।१, ५।२; तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।—५।७
मुण्डक—ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् ।—२।२।६
माण्डूक्य—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।—१
तैत्तिरीय—ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्, ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओम् शोमिति शास्त्राणि शंसन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति, ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति, ओमति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति, ब्रह्मैवोपाप्नोति ।—१।८।१
बृहद्—ओमिति होवाच.—५।६।१ (यहाँ ७ बार आया है) । ओं खं ब्रह्म ।—५।१।१ ; ओमिति होवाच.—५।२।१, २, ३, ६।२।१ ; ओं क्रतो स्मर—५।१५।१
गीता—ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।—१७।२३
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।—१७।२४

'ओम्' शब्द—इस विषय में चिरकाल से दो विचारधाराएँ चली आती हैं । एक में इसे अव्युत्पन्न प्रातिपदिक एकाक्षररूप माना गया है, और दूसरी में व्युत्पन्न प्रातिपदिक । दूसरी धारा के फिर दो रूप हैं । एक में वह प्रकृति-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न एक शब्द है और दूसरी में वह भिन्न-भिन्न तीन अक्षरों का समुदाय है । प्रत्येक अक्षर का अपना-अपना अर्थ है और ऐसे तीन अक्षरों से मिलकर 'ओम्' बना है । इ[स] प्रकार समूहावलम्ब से इस विषय में तीन मान्यताएँ हमारे सम्मुख आती हैं—

१. अव्युत्पन्न प्रातिपदिक एकाक्षररूप ओम् ।
२. प्रकृति-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न ओम् ।
३. पृथक्-पृथक् अर्थोंवाले तीन अक्षरों से निष्पन्न ओम् ।

अव्युत्पन्न प्रातिपदिक

'ओम्' को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माननेवाली धारा का उल्लेख गोपथब्राह्मण में मिलता है । वहाँ ओंकार को निपात और अव्यय मानकर एकाक्षररूप अव्युत्पन्न लिखा है—

स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे, त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओंकारो यजुर्वेदे, दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकारः सामवेदे, ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽथर्ववेदे ।—गो०पू० १।१५

अर्थात् एकाक्षर ओंकार ऋग्वेद में स्वरितोदात्त, यजुर्वेद में त्रैस्वर्योदात्त, सामवेद में दीर्घप्लुतोदात्त अ[ौर] अथर्ववेद में ह्रस्वोदात्त माना गया है । आगे चलकर फिर ब्राह्मणकार कहते हैं—

निपातेषु चैनं वैयाकरणाः समामनन्ति उदात्तं तदव्ययीभूतम् ।

अर्थात् वैयाकरण इसको निपात मानकर उदात्त अर्थात् अव्यय मानते हैं ।

इस व्याख्या में ओंकार एक ही अक्षर है। इसीलिए उपनिषदादि में ओंकार को एकाक्षररूप कहनेवाले अनेक वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—**ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत** ।—छां०१।१।१

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।—मा० १

स ओमित्येतदेवाक्षरं समारोहन् ।—जै०उ०ब्रा० १।१८

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।—गीता २।१६

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।—गीता ८।१३

इन सबमें ओंकार को एकाक्षर माना है। ऐसा मानने पर ही **'वर्णात् कारः'** (पा०३।३।१०८) वार्तिक से 'कार' प्रत्यय होकर 'ओंकार' बन सकता है। योगसूत्र भी कहता है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'** (१।२५) अर्थात् ओंकार (प्रणवः) उसका (तस्य) प्रतीक (वाचकः) है। 'प्रणव' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'णु स्तुतौ' धातु से निष्पन्न है। जिस पद द्वारा प्रकृष्टरूप से परमेश्वर की स्तुति की जाए उसे 'प्रणव' कहते हैं। ऐसा वह पद 'ओम्' है। (**य उद्‌गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्‌गीथः**।—छां०१।५।१) 'ओम्' ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य। ओम् अभिधान और ईश्वर अभिधेय है। प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अनुसार ओम् पद और ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतजन्य नहीं, नित्य है। 'प्रणव' ईश्वर का वाचक है' यह संकेतकथन पहले से विद्यमान सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है, उत्पन्न नहीं करता। जिस प्रकार 'देवदत्त, यज्ञदत्त का पिता और यज्ञदत्त, देवदत्त का पुत्र है' यह संकेतकथन पिता-पुत्र के सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है; अथवा जैसे अँधेरे घर में रक्खे पदार्थों को दीपक केवल प्रकाशित करता है, उन्हें उत्पन्न नहीं करता—इसी प्रकार प्रणव ईश्वर का वाचक है, यह कथन ईश्वर और प्रणव के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को केवल प्रकट करता है, फलतः यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध नित्य है, संकेतजन्य नहीं।

व्युत्पन्न प्रातिपदिक—प्रकृति-प्रत्यय का योग

वैयाकरण ओम् पद को 'अव' धातु से निष्पन्न मानकर 'अवतीत्योम्' ऐसा निर्वचन मानते हैं। (अव-रक्षण-कान्ति-गति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचना-इच्छा-क्रिया-दप्ति-अवाप्ति-आलिंगन-हसा-दान-भाग-वृद्धिषु। **'अवतेष्टिलोपश्च'**—(१।१४१) उणादिसूत्र से 'मन्' प्रत्यय और 'टि' लोप होकर 'अव' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है।) ग्रन्थकार ने भी निर्वचन 'अवतीत्योम्' ही माना है, किन्तु अर्थ का सम्बन्ध 'रक्षण' से माना है, अर्थात् रक्षा करने से भगवान् 'ओम्' पद वाच्य है। योगशास्त्र की दृष्टि से 'ओम्' का निर्वचन है—**'उन्नमयतीत्योम्'**। योगसम्बन्धी अथर्वशिख उपनिषद् में लिखा है—**'ऊर्ध्वमुन्नयतीत्योंकारः'**। इस अवस्था में 'उत्' पूर्वक 'नम्' धातु से ओम् बनेगा। अर्थ होगा—जीव का उन्नयन करने से भगवान् ओम् कहाते हैं। यही विषय अथर्वशिख में इस प्रकार कहा गया है—**अथ कस्मादूर्ध्वोच्यते ओंकारो यस्मदुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति**। अर्थात्—क्योंकि ओम् के उच्चारण से प्राणों का उत्क्रमण ऊर्ध्वोन्मुख होता है, अतः उसे ओम् कहते हैं।

ओम् की रचना के विषय में ब्राह्मणकार कहते हैं—**को धातुरिति आप्धातुः अवतिमप्येके रूपसाम्याद् अर्थसाम्यान्नेतीयस्तस्मादापेरोंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्** (गो० पू० १।२६)।

आशय यह है कि ओंकार किस धातु से बना है? 'आप्' (सम्भवतः यही आप् कालान्तर मे आप्लृ बन गयी) धातु से। कोई-कोई ओंकाररूप सादृश्य से 'अव' धातु भी मानते हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से आप्

धातु समीप है। ओंकार कृदन्त प्रातिपदिक है। इसका अर्थ है—सबमें व्याप्त होना। इस दृष्टि से निर्वचन हुआ 'आप्नोतीत्योम्'।

व्युत्पन्न प्रातिपदिक—तीन अक्षरों का योग

इस मत में 'ओम्' को अ-उ-म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बना हुआ माना गया है, किन्तु इस बना हुआ समुदित शब्द 'ओम्' किसी एक अर्थ का वाचक है या नहीं ? यदि है तो उसका वाच्य ईश्वर ही है या कुछ और—यह विवेच्य है। अकार-उकार-मकार से मिलकर ओम् बना है, यह विचार ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। वहाँ ऋग्वेदादि की क्रमागत उत्पत्ति का उल्लेख करने के बाद पाँचवीं पञ्चिका के पाँचवें अध्याय में लिखा है—

तान् वेदानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार—उकारो मकार इति। तानेकदा समभरत् तदोमिति।

अर्थात् वेदों को तपाया, उन तपे हुए वेदों से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद से स्वः। फिर उन तीन शुक्रों को तपाया गया और उनसे तीन वर्ण उत्पन्न हुए—अकार, उकार, और मकार। इन तीनों से मिलकर 'ओम्' बना।

इसका यह तात्पर्य हुआ कि ओम् सब वेदों का सार है और इसलिए वही वेदों का मुख्य विषय है। इसी बात को मनुस्मृति में इस प्रकार कहा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च॥ —२।७६

अर्थात्—प्रजापति (परमात्मा) ने अकार, उकार और मकार (अ-उ-म्=ओम्) अक्षरों और भूः, भुवः, स्वः (गायत्री की तीन व्याहृतियों) को तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला।

माण्डूक्योपनिषद् में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा, अकार उकार मकार इति॥८॥

अर्थात्—यह आत्मा (परमात्मा) अक्षर में अधिष्ठित है। वह अक्षर ओंकार=ओम् है। वह ओंकार मात्राओं में अधिष्ठित है और वे मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं।

विश्वादि—जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा (माण्डूक्य ९) अर्थात् ओम् की प्रथमा मात्रा 'अकार=अ' है। उसका सम्बन्ध जागरित स्थान से है और वह वैश्वानर=विश्वानर=विश्वसम्बन्ध है।

तैजसादि—स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा (मा० १०) अर्थात् ओम् की द्वितीया मात्रा 'उकार =उ' है। उसका सम्बन्ध स्वप्नस्थान से है और वह तैजस् है।

प्राज्ञादि—सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा (मा० ११) अर्थात् ओम् की तृतीया मात्रा 'मकार = म्' है। उसका सम्बन्ध सुषुप्तस्थान से है और वह प्राज्ञ है। (आप्टे के कोष में इस विषय में लिखा है—The letter 'A' is Vaishvanar, the spirit of waiking souls; 'U' is Taijas, the spirit of dreaming souls in the world of dreams and 'M' is Prajna, the spirit of sleeping souls.)

ग्रन्थकार के लेख से चार बातें स्पष्ट होती हैं—

१. ओंकार परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।

२. यह अ, उ, और म् इन तीन अक्षरों का समुदित रूप है।

तीन अक्षर मिलकर एक **ओ३म्** समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे—अकार से **विराट्, अग्नि** और **विश्वादि;** उकार से **हिरण्यगर्भ, वायु** और **तैजसादि;** मकार से **ईश्वर, आदित्य** और **प्राज्ञादि** नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

---

३. अ, उ, और म् पृथक्-पृथक् ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों के वाचक हैं।

४. ओंकार विराट् आदि नामों का वाचक और ग्राहक है।

वाचकता व ग्राहकता में भेद—वाचकता और ग्राहकता में भेद इस प्रकार समझा जा सकता है—'द्विरेफ' पद वाचक है 'भ्रमर' शब्द का और ग्राहक है उस कृष्णवर्ण जीव का जो फूलों से रस लेता फिरता है। यही स्थिति ओम् की बनती है। जब ओम् का प्रत्येक घटक ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों का वाचक है तो उनका समुदाय भी उनसे सम्बद्ध होगा। इसलिए वह शब्द ग्राहक तो होगा, वाचक नहीं। प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न ओम् ईश्वर का वाचक है। उसी रूप में वह परमेश्वर का निज नाम है।

फिर एक व्यवस्था ऐसी हो सकती है जिससे प्रत्यक्षर का भिन्न-भिन्न अर्थ मानने पर भी समुदित अ पद ईश्वर का वाचक हो सकता है। गोपथब्राह्मण (पू० १।५) में अ, उ और म् को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु उ शिव का वाचक बताया है। कोशकार भी इन अक्षरों का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानते हैं।

वैदिक दृष्टि से संसार को उत्पन्न करनेवाली भगवान् की शक्ति ब्रह्मा कही जाती है, पालन-पोषण करनेवाली विष्णु, संहार करनेवाली शिव। पौराणिक मान्यता के अनुसार भी ब्रह्मा का कार्य संसार को उत्पन्न करना, विष्णु का पालन-पोषण करना और शिव का संहार करना है। अ, उ और म् इनके प्रतीक हैं। इस प्रकार ओम् का वाच्य होगा वह 'जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है'। निश्चय ही वह ब्रह्म वा ईश्वर है। उसी को लक्ष्य करके तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में कहा है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'**। इसी को बादरायण (वेदव्यास) ने अपने वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२ इस प्रकार तीनों अक्षरों का वाच्य एक में संगत हो जाता है।

ओम् का महत्त्व—'ओम्' परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है—वैदिक तथा लौकिक साहित्य में ग्रन्थकार के इस वचन के पोषक अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। तद्यथा—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। –तै० उ० १।८
ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। –मण्डूक्य० १
तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। –योगसूत्र १।२७-२८
य उद्गीथः स प्रणव यः प्रणवः स उद्गीथः। –छान्दोग्य० १।५।१
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। –मुण्डक० २।२।४
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ –कठ० २।१५
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। –कठ० २।१६
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ –कठ० २।१७

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ –गीता ८।११
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ –गीता ८।१३
ओंकारः स्यात्परं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकः । –वृद्धहारीत १०।३५
अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥ –योगियाज्ञवल्क्य

शंकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् (माण्डूक्योपनिषत्कारिका) के नाम से विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में यह उद्धरण दिया है—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

अर्थात् मनुष्य ओम् को सबके हृदय में बसनेवाला ईश्वर ही जाने । उस सर्वव्यापी का मनन करके बुद्धिमान् शोकादि में नहीं पड़ता ।

किसी समय ओंकार का इतना महत्त्व था कि यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों ने भी किञ्चित् रूपान्तर करके इसे अपने धर्म का अंग माना और आज भी मानते हैं । मुसलमानों का 'आमीन' तथा यहूदियों तथा ईसाइयों का 'एमन' (Amen) ये सब ओम् के ही विकृत रूप हैं ।

(Buddhists place OM at the beginning of their Shadakshari or mystical formulary in six Syllables, Viz. On mani Padme Hum—Sanskirt English Dictionary by Monier Williams.

अकारादि से गृहीत नाम—अकारादि से विराट् आदि का ग्रहण यदृच्छया न होकर शास्त्रानुमोदित है । माण्डूक्योपनिषद् से उद्धृत प्रमाण के आधार पर अकार से वैश्वानर, उकार से तैजस तथा मकार से प्राज्ञ का ग्रहण होना स्पष्ट है । शेष नामों की व्याख्या इस प्रकार है—

उपनिषद् में वैश्वानर शब्द तो आया ही है । वैश्वानर और विश्व एक ही नाम हैं । गौडपादाचार्य की कारिका, उपनिषद् पर शांकरभाष्य और उसपर आनन्दगिरि की टीका में अनेक स्थलों पर वैश्वानर के विकल्प में विश्व का प्रयोग हुआ है—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधास्मृतः ॥ —का०२

इस कारिका में वैश्वानर के स्थान पर विश्व आया है । माण्डूक्य की श्रुति ६ पर आनन्दगिरि की टीका देखें—

विश्वस्य वैश्वानरस्य जगद्व्याप्तिं श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति ।

यहाँ स्पष्ट ही विश्व का अर्थ वैश्वानर बताया है । वैश्वानर शब्द अग्नि का पर्याय है यह अनेक कोशों में लिखा है । शब्दकल्पद्रुम कोश में अग्नि के पर्यायवाची शब्दों में वैश्वानर लिखा है । आप्टे ने अपने कोश में लिखा है— वैश्वानरः—an epithet of fire—अग्नि का नाम है ।

२. त्वत्तः खाण्डवरङ्गताण्डवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः—भामिनी० १।५७
३. जठराग्निः—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमासयुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ वेदान्त०
४. परमात्मा ।

[अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-निश्चय में हेतु]

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं ? ब्रह्माण्ड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवाता और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि[1] ओषधियों के भी ये नाम हैं, वा नहीं ?

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।[2]

प्रश्न—केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो, वा नहीं ?

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है ?

विराट् अग्नि का नाम है—**विराडग्निः** । —शत० ६।२।२।४४, ६।१।१।३१

अतः इस प्रकार अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि का ग्रहण शास्त्रसम्मत है। इसी प्रकार—

उकार से तैजस का ग्रहण ऊपर माण्डूक्योपनिषद् में किया है। शंकराचार्य अपने माण्डूक्यभाष्य में लिखते हैं—

तैजसो हिरण्यगर्भः । —आगमाख्य प्रथम संस्करण

शतपथ में आता है—**प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः** । —६।२।२।५

ऐतरेय में कहा है—**वायुर्ह्येव प्रजापतिस्तदुक्तमृषिणा पवमानः प्रजापतिः** । ४।२६

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार—**तेजो वै वायुः** । —३।२।६।१

इससे स्पष्ट है कि हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस नामों का उकार से ग्रहण होता है।

मकार से प्राज्ञ का ग्रहण माण्डूक्य में किया गया है। उपनिषद् में उसी स्थल पर कहा है कि मकार माङ् धातु का है, अर्थात् जो मापनेवाला, न्याय व शासन करनेवाला है। न्याय वा शासन करनेवाला ईश वा ईश्वर है। शासन वा न्याय बुद्धि=प्रज्ञा से होता है, अतः ईश्वर नाम का प्राज्ञ से सीधा सम्बन्ध है।

शतपथ में आता है, **आदित्यो वा ईशानः आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे** (६।१।३।१७)। स्पष्ट है कि ईशान और आदित्य पर्यायवाची हैं, अतः मकार से आदित्य, ईश्वर और प्राज्ञ का ग्रहण स्पष्ट है।

पञ्चदशी में इन नामों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यागर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टि ॥ —१।२४
तेजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥ —१।२६

अनेकार्थवाची शब्द—ग्रन्थकार **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** इस मत के समर्थक हैं। तदनुसार संस्कृत के प्रायः सभी शब्द आख्यातज हैं—प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न हैं। इसी कारण वे यौगिक कहाते हैं। उणादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि 'अमुक शब्द अमुक धातु से अमुक प्रत्यय करके बनता है'। इस प्रकार प्रत्येक शब्द के मूल में एक-न-एक धातु निहित है। यौगिकवाद का मूलाधार धातुओं की अनेकार्थता है। इसलिए सभी वैयाकरणों तथा वेदभाष्यकारों को न्यूनाधिक धातुओं की अनेकार्थता का सिद्धान्त मान्य है। महाभाष्यकार की तो स्पष्ट घोषणा है—**'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति** (१।३।१)। जब

---

१. ऊपर पढ़े गये नामों में 'विश्व' शब्द का स्त्रीलिंग 'विश्वा' रूप आयुर्वैदिक निघण्टुओं में 'शुण्ठी' का पर्याय माना गया है।

२. यहाँ प्रश्न में निर्दिष्ट 'विराट्' आदि पद ईश्वर के वाचक भी हैं, यह तात्पर्य जानना चाहिए, न कि 'ब्रह्माण्ड.... शुण्ठी' आदि।

एक-एक धातु के अनेक अर्थ होंगे तो उनसे निष्पन्न शब्द भी अनेकार्थवाची होंगे। ऐसी अवस्था में अर्थ की नियामकता कैसे होगी ? किस शब्द का वहाँ कौन-सा अर्थ अपेक्षित है—इसका निर्धारण कैसे होगा ? इस विषय में भर्तृहरि ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यमविरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ २।३१६, ३१७

शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय केवल रूप को देखकर नहीं कर लेना चाहिए, अपितु इसके निर्णय के लिए वाक्य, प्रकरण, औचित्य तथा देशकालादि का भी ध्यान रखना चाहिए। संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, अविरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग तथा अन्य शब्द का सामीप्य—इन आठ नियमों के अनुसार वाच्यार्थ का निर्णय करना चाहिए।

मीमांसा के अनुसार **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (३।३।१८)—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या (संज्ञा), ये छह अर्थ के नियामक हैं। इनमें भी पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान् होता है।

लोक में भी प्रकरणभेद से एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक होता है। जैसे—'गुण' शब्द सामान्यतया धर्म, स्वभाव, विशिष्टता, श्रेष्ठता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु व्याकरणशास्त्र में **'अदेङ् गुणः'** (पाणिनि १।१।२) । सूत्र के अन्तर्गत वह गुणसंज्ञा के रूप में प्रसिद्ध है, तो अलंकारशास्त्र में माधुर्य आदि गुणों का वाचक है। सांख्यदर्शन में सत्त्व-रजस्-तमस् के लिए प्रयुक्त है तो वैशेषिकदर्शन में वह छह पदार्थों में से एक है। संगीतशास्त्र में वह वाद्य-यन्त्र का तार है तो धनुष् के प्रसंग में वह उसकी डोरी और मेखला के साथ लगकर सामान्य रस्सी के लिए प्रयुक्त है। गणितशास्त्र में संख्या के साथ समास के अन्त में लगकर (द्विगुणः, चतुर्गुणः) आवृत्ति का द्योतक है।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य में इन्द्र आदि नाम प्रकरणानुसार परमात्मा तथा अन्य पदार्थों के वाचक हो जाते हैं। इन्द्र शब्द किस प्रकार जीवात्मा, परमात्मा, सूर्य, विद्युत्, आकाश, अश्व, प्राण, वायु, राजा आदि का वाचक है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से जाना जा सकता है—

इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष (सूर्यः) तपति । –शत० ४।६।७।११
स यस्स आकाश इन्द्र एव सः । –जै० उ० १।२८।२।१
तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति । –शत० ११।१।६।१८
प्राण एव इन्द्रः । –शत० १२।६।१।१४
हृदयमेवेन्द्रः । –शत० १२।६।१।१५
स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । –शत० ११।६।३।६
वीर्यं वा इन्द्रः । –तां० ६।७।५।८
इन्द्रो वा अश्वः । –कौ० १५।४
तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति । –कौ० ६।१२

मायावादी शंकरस्वामी भी **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** में इन्द्र शब्द का अर्थ स्वर्गस्थ पौराणिक देवता न करके **'इन्द्रः परमेश्वरः'** करते हैं (बृहद० उप०)। महर्षि वेदव्यास वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र से ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर आगे १८ सूत्रों में (२ से १६ तक) ब्रह्म के इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं।

प्रश्न—देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूँ।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है ? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते ? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध नहीं और उसके तुल्य भी कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा ? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं, क्योंकि आपके इस कहने में बहुत-से दोष भी आते है। जैसे—**'उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः ।'** किसी ने किसी के लिए भोजन का पदार्थ रखके कहा कि—आप भोजन कीजिए' और वह जो उसको छोड़के अप्राप्त भोजन के लिए जहाँ-तहाँ भ्रमण करे, उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिए, क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसलिए जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं, वैसा ही आपका कथन हुआ, क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाण-सिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थिति अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं। इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं।

[अर्थज्ञान में सहायक—प्रकरण]

जो आप ऐसा कहें कि—"जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है। जैसे किसी ने किसी से कहा है कि—**'हे भृत्य ! त्वं सैन्धवमानय'** अर्थात् तू सैन्धव को लेआ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है, क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है—एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो स्वस्वामी का गमन-समय हो तो घोड़े, और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है और जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े को ले आवे, तो उसका स्वामी उसपर क्रुद्ध होकर कहेगा कि—'तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमन-समय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था ? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिए था, उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था, वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास

अनन्तर प्रथम अध्याय की समाप्ति तक मुख्यरूप से कतिपय ऐसे पदों का विवेचन करते हैं जो उपनिषद् आदि आध्यात्मविषयक शास्त्रों में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं, पर जिनसे आपाततः स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप से अन्य अर्थों की प्रतीति होती है। शास्त्र में ब्रह्म का वर्णन अनेक पदों द्वारा हुआ है, जो लोक में और वेद में अन्य अर्थों के भी वाचक हैं। **'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'अत एव प्राणः'** (वेदान्त० १।१।२२, २३) में 'आकाश' एवं 'प्राण' पद ब्रह्मवाचक हैं। इसका निश्चय करानेवाले चिह्न उन सन्दर्भों में हैं। शंकर, भास्कर आदि भाष्यकारों ने इन शब्दों को परमात्मवाची ही माना है। शंकरस्वामी ने तो माना ही नहीं, युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध भी किया है कि ये और ऐसे ही अनेक पद परमात्मा के वाचक हैं। **'अग्ने नय सुपथा राये'** में 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा ही संगत हो सकता है, क्योंकि भौतिक अग्नि से सुपथ और कुपथ में विवेक की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः अध्यात्मशास्त्र में इन्द्र, सविता, वायु आदि परमात्मा के ही पर्याय हैं। अग्नि आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा कैसे है, इसकी व्याख्या ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य में प्रथम मन्त्र के व्याख्यान में विस्तार से की है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा है—**सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणोऽनघ** (३।१२३।१३) अर्थात् ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

'उपस्थितं परित्यज्य' इत्यादि लोकव्यवहारोपयोगी इस कहावत के कई रूप हैं। मीमांसान्यायप्रकाश की प्रभाटीका में इसका **'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'** रूप है। अर्थ दोनों का एक ही है।

से चला जा।' इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहाँ उसी का ग्रहण कर चाहिए।'' तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

॥ अथ मन्त्रार्थः ॥

ओं खम्ब्रह्म ॥१॥ —यजुः० अ० ४० । मं० १७ ।

देखिए वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में **'ओम्'** आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥२॥ —छान्दोग्य उपनिषत् १।१॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥३॥ —माण्डूक्य उपनिषत् १॥

खम्ब्रह्म—खम् पद लोकव्यवहारमें 'आकाश' का पर्याय है, परन्तु अध्यात्मप्रसंगों एवं सृष्टिकर्तृत्वादि प्रसंगों में वह परमात्मा का वाचक है और उसकी सर्वव्यापकता को अभिलक्षित करता है। इस प्रकार 'खं ब्रह्म' का अर्थ 'ब्रह्म आकाश है' न होकर 'ब्रह्म आकाशवत् व्यापक है' बनता है। वैयाकरणों का निर्वचन है—**'खर्वत्यस्मिन् जगदिति खम्'** (खर्व गतौ-भ्वा० प०)जिसमें समस्त जगत् गति करता है, **वह खम् है।** खम् और आकाश पर्यायवाची हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (१।६।१) में प्रसंग है—प्रवाहण जैवलि शिलक शालावत्य से कहता **है—'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्'**। इस लोक की गति—आश्रय क्या है ? उत्तर मिला—आकाश है, क्योंकि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते, उसी में लीन होते हैं। आकाश ही इनसे महान् है, वही इनका आधार है। यह सब भूताकाश के लिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार उस ब्रह्म से स्वतः आकाश की उत्पत्ति बताई है—**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** (२।१)। वहीं ३।१में बताया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति।

इससे सर्वथा स्पष्ट है कि जिसमें समस्त जगत् गति करता है, वह खम् है और वही ब्रह्म है। इस प्रकार खम् ब्रह्म का वाचक है।

उद्गीथः—'गै शब्दे' (भ्वा.प.अ.) से निष्पन्न। **'उदुपपदाद् गाधातोस्थक्। य उद्गीयत उच्चैः शब्दयते स उद्गीथः सामध्वनिः प्रणवो वा'**—उणादि २।१० ; **'उद्गीथः प्रणवः सामवेदध्वनिः'** इत्युरुणः।

ओम् उद्गीथ नाम से उद्गाता द्वारा सोमयज्ञ में उच्च स्वर से गायन किया जाता है। सोमयज्ञ सात प्रकार के होते हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम। इन यज्ञों में प्रायः १६ ऋत्विज् होते हैं, जिनमें ४ अनिवार्यतः सामवेदी होते हैं। उन सामवेदियों में मुख्य उद्गाता होता है। व्रती उद्गाता सामवेद के भाग, उद्गीथ को, ओम् से आरम्भ करके गाता है।

सर्वं तस्योपव्याख्यानम्—'ओम्' यह छोटा-सा अक्षर है, परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् उसी का विस्तार है—उसी की व्याख्या है। जैसे 'अदस्' परोक्ष का द्योतक है, 'इदम्' प्रत्यक्ष की ओर संकेत करता है। प्रत्यक्ष संसार इदम् ही नहीं , जो था, जो है और जो होगा (भूतं भवद् भविष्यत्) वह सभी (सर्वम्) उसकी व्याख्या है। इतना ही नहीं, यदि इन तीनों कालों से बाहर भी कुछ रह जाता है, (यच्च अन्यत् त्रिकालातीतम्) वह भी ओंकार ही है (तदपि ओंकार एव)। यास्काचार्य का कथन है—**'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा** बहुधा **स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति** (निरुक्त ७।४)। अर्थात् उस एक परमात्मदेव के सर्वशक्तिमत्वादि अनेकविध ऐश्वर्य होने से वही बहुत प्रकार से स्तुति किया जाता

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥४॥
—कठोपनिषत्, वल्ली २ मं० १५

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥५॥
एतमग्निं वदन्त्यके मनुमन्ये प्रजापतितम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥६॥
—मनु० अ० १२ । श्लोक १२२, १२३

है—अनेक गुणों के कारण वह अनेक नामों से बखाना जाता है । अन्य सब देव एक परमात्मा—महादेव—के सामर्थ्यैकदेश में प्रकाशित होते हैं । इसलिए ग्रन्थकार के मत में **'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे अत्यन्तं त्यागो भवति'** (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—प्रतिज्ञाविषयः) निर्देश है । इस प्रकार वेद का मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर है ।

सर्वे वेदाः—'आ' उपसर्गपूर्वक 'म्ना' धातु से निष्पन्न 'आमनन्ति' का अर्थ है 'बार-बार कथन करते हैं'। जिस पद के द्वारा वेदों में परमेश्वर का बार-बार बखान किया गया है और जिसे जानने और पाने के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन किया जाता है, उन सबका संक्षिप्त रूप 'ओम्' है । इस एक पद में सबका समावेश हो जाता है ।

एतमग्निमिति—मनु ने परमेश्वर का मुख्य नाम ओम् माना है (२।४६,५३) । प्रस्तुत श्लोक के अन्तर्गत 'ओम्' पदवाच्य परमात्मा के कतिपय गौण नामों का उल्लेख हुआ है । इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों पर प्रकाश पड़ता है —

अग्निः—'अञ्चु गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है । गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति । पूजा का अर्थ है यथायोग्य सत्कार । 'योऽञ्चति, अच्यते, अगत्यङ्गतेति सोऽयमग्निः' अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, सबके जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, उसे अग्नि कहते हैं । वह परमात्मा है, इसलिए अग्नि शब्द उसी का वाचक है । ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—'आत्मा एव अग्निः' (शत० ६।७।१।२०) ।

आत्मा शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का बोध होता है । **'अग्निरेव ब्रह्म'** (शत० १०।४।१।५)। **'सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः'** (अथर्व० १३।४।५) अर्थात् वही अग्नि (नामक) है, वही सूर्य (नामक) है तथा वही महायम नामक है ।

मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से निष्पन्न मनु परमात्मा का नाम है । 'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः'— जो विज्ञानरूप है, और ज्ञेय है, वह मनु है ।

प्रजापति—प्रजा एवं पति का समस्त रूप है प्रजापति । निरुक्त में कहा है—'प्रजापतिः पाता वा पालयाता वा'=प्रजापति प्रजा का पालक व रक्षक होता है । ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—**'ब्रह्म वै प्रजापतिः'** (शत०१३।६।२।८) 'प्रजापतिहि आत्मा (शत० ६।२।२।१२) 'प्रजापतये मनवे स्वाहा' (यजुः० ११।६६) अर्थात् प्रजापालक मनु (नामक) भगवान् के प्रति निष्ठामयी वाणी बोलो । **'प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत'** (शत० ६।६।१।१६) अर्थात् प्रजापालक भगवान् का नाम मनु है, क्योंकि वह समस्त संसार का मनन (ज्ञान) करता है ।

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवसस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् ।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥७॥ —कैवल्य उपनिषत् १।८

'दिवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः' (ऋक् ० ४।५३।२) अर्थात् प्रजापति संसार को धारण करनेवाला है ।

'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना' (साम० १४०२) अर्थात् आओ शुद्ध इन्द्र =परमात्मा की शुद्ध साम के द्वारा स्तुति करें ।

'तस्मादिन्द्रो ब्रह्मेति' (कौ०उप० ६।१४) इसलिए इन्द्र ब्रह्म का नाम है ।

इन्द्र—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०' (उणादि० २।२६) सूत्र से 'रन् 'प्रत्यय के योग से 'इन्द्रः 'शब्द सिद्ध होता है । इन्दति परमैवर्यवान् भवति स इन्द्रः' —अखिल ऐश्वर्युक्त होने से परमात्मा का नाम इन्द्र है । **'इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः'** (निरुक्त १०।८) । **'यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः'** (तै० १।२।२।५) ।

प्राण—प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से प्राण शब्द सिद्ध होता है । प्राणनात् प्राणः—सबका जीवन-मूल=जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है । **'प्राणापानौ देवः=ब्रह्म'** (गोपथ० १।२।११) ।

'प्राणो ब्रह्म' (छन्दोग्य० ४।१०।१५) । 'प्राणो ह सर्वस्येश्ववरो यच्च प्राणति यच्च न' (अथर्व ०११।४।१०) अर्थात् चाहे कोई वस्तु सांस लेती हो, चाहे न लेती हो—प्राण सबका ईश्वर है ।

ब्रह्म—'बृहि वृद्धौ' धातु से **'बृहेर्नोच्च'** (उणादि० ४।१४६) सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है । 'योऽखिलं जगत् निर्माणेन बर्हयति वर्द्धयति स ब्रह्म' जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर बढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम ब्रह्म है ।

(ब्रह्म शब्द परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति तीनों का वाचक है । परमात्मा के अर्थ में इस शब्द के साथ 'ज्येष्ठ', जीवात्मा के अर्थ में 'इदम्' तथा प्रकृति के अर्थ में 'महत्' पद जोड़ दिया जाता है । तद्यथा—

'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' । —(अथर्व० १०।८।१ ; १०।७।३२-३४)
'तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते' । —(अथर्व ० ११।८।३२)
'इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति' । —(अथर्व ० १।३२।१)
'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । —(गीता ०१४।३)

जहाँ केवल ब्रह्म पद का प्रयोग होता है, वहाँ उसके अर्थ का निश्चय प्रकरणानुसार होता है । तथापि ब्रह्म पद से प्रायः परमात्मा का ग्रहण होता है ।

स ब्रह्मा—वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों में प्रायः यह पाठ मिलता है—

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ।

दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है । वस्तुतः वेद को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई ऐसा ग्रन्थ होगा जिसमें प्रक्षेप न हुए हों । बड़े-बड़े प्रामाणिक ग्रन्थों में पाठभेद पाये जाते हैं । आद्य शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र १।३।३० के भाष्य में मनुस्मृति के दो श्लोक इस प्रकार उद्धृत किये हैं—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रपेदिरे ।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते । —मनु० १।२८-२९.

यह पाठ बंगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से मुद्रित संस्करण में है, किन्तु निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में यह पाठ नहीं है—

यं तु कर्माणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ।
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥

यहाँ ग्रन्थकार पर या आचार्य शंकर पर जानबूझकर पाठपरिवर्तन का आरोप लागाना न उचित है, न युक्तियुक्त। वास्तव में जो प्रति शंकर को मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने अपने वेदान्त-दर्शन के भाष्य में उद्धृत किया है और निर्णयसागर मुद्रणालयवालों को जो पाण्डुलिपि ग्रन्थ छापने के लिए मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने छापा है। इसी प्रकार कैवल्योपनिषद् की जो प्रति ग्रन्थकार को मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने यहाँ उद्धृत किया है।

ग्रन्थकार ईशादि दस उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं। कैवल्योपनिषद् उनमें नहीं है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस ग्रन्थ को वह प्रामाणिक नहीं मानते उसे प्रमाणरूप में प्रस्तुत क्यों करते हैं? वस्तुस्थिति यह है कि जिन ग्रन्थों को ग्रन्थकार सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानते उनकी भी वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध बातों को मानने का विरोध नहीं करते।

दूसरे यह कि जो लोग किसी ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं यदि उसी के प्रमाण से हम अपने मत का पोषण और उनके मत का प्रत्याख्यान करके दिखाते हैं तो सत्यासत्य का निर्णय करने में सहायता मिलती है।

(बहुत दिन हुए, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री और विशिष्ट विद्वान् डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नाम से एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने **'गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे'** इत्यादि प्रसिद्ध मन्त्र (यजु० २३।१९) का अत्यन्त अश्लील और बेहूदा अर्थ प्रस्तुत किया था। जब हमने इसपर आपत्ति की तो उन्होंने अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ में लिखा—"जब मुझे उन मान्यताओं और प्रथाओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातनधर्मावलम्बी जनता में प्रचलित हैं तो मैं सदा एक काम करता हूँ। लोगों के सामने मैं उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ, जिनको वह प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को आधार बनाता हूँ जिनको वे स्वीकार करते हैं। इसी का अवलम्बन 'गणेश' में किया है। मेरे तर्क का रूप यह है—

मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, आप लोग उव्वट और महीधर के भाष्य को प्रामाणिक मानते हैं। उन दोनों ने इस मन्त्र को अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में इसका विनियोग किया है। अतः आपके माने हुए आचार्यों के ही अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते, अतः आपके माने हुए प्रमाणों के ही अनुसार श्रुति गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती।" इस प्रकार श्री सम्पूर्णनन्दजी ने सनातनधर्मावलम्बियों के प्रामाणिक अर्थों के आधार पर ही सिद्ध किया कि जिस वेदमन्त्र से आप लोग गणेशपूजन करते हैं, उसका सूँडवाले गणेश और उसकी पूजा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

स ब्रह्मा स विष्णुः—ब्रह्मा—'सब जगत् के बनानेवाला' इस अर्थवाला 'ब्रह्मा' शब्द 'बृह उद्यमने' (धातु० ६।१९) धातु से निष्पन्न होता है।

'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुतितः' (निरुक्त १।८)। 'जातविद्यां' इस समस्त पद का विग्रह—जाते जाते विद्यां वेदत्रयीं वाचम्। ब्रह्मा सम्पूर्ण त्रयी विद्या

को जाननेवाला होता है, वह सब-कुछ जानने के योग्य होता है। यह निर्वचन ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् को दृष्टि में रखकर किया गया है। वस्तुतः जो हर प्रकार से सबसे बड़ा है, जो **'ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेत० ६।१८) वह **'सर्वतः परिवृढं'** सबसे बड़ा व समर्थ है, वही ब्रह्मा है

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥ —अथर्व० १६।४३।८

विष्णु—'विष्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर विष्णु शब्द सिद्ध होता है—**'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'** जो सब जगत् में व्यापक होय, वही विष्णु है (स० प्र० प्र० सं०)। श्रुति का वचन है—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८)। निरुक्तकार ने विष्णु शब्द को 'वि' उपसर्गपूर्वक 'षिञ् बन्धने, विश प्रवेशने तथा वि पूर्वक अशूङ् व्याप्तौ' (१२।१८) धातु से बनाया है। वहाँ का लेख है—**'अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुरिति'** यहाँ विपूर्वक षिञ् धातु है। निर्वचन का रूप होगा—**'विषिनोति विषिनाति या स विष्णुः'**। अथवा **'विष्णुर्विशतेर्वा'** यहाँ धातु 'विश प्रवेशने' है। निर्वचन होगा—**'विशतीति विष्णुः'** अथवा **'विशति सर्वस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः प्रविशति यद्वा व्यश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णुः'**। (तत्सृष्ट्वा **तदेवानुप्राविशत्**—तै० २।६)। **'विविधैः कर्मभिः तत्फलैश्च सिनोति जीवान् इति विष्णुः'** अर्थात् कर्म तथा कर्मफल के बन्धन में डालने से भगवान् विष्णु है। इस शब्द के निम्न निर्वचन भी भगवत्परक हैं—

'विश्वं नियमपतीति विष्णुः'—संसार का नियमन करने से ईश्वर विष्णु कहाता है। **'विशेषेण नूयते स्तूयते जनैरिति विष्णुः'**—जिसकी नाना प्रकार से स्तुति की जाती है, वह विष्णु कहाता है। तद्यथा—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋक्० १।१५४।५) अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर के परम पद में आनन्द का स्रोत है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋक० ७।२२।२०) अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् के प्राप्तव्य पद को विद्वज्जन आकाश में प्रकाशमान सूर्य की भाँति स्पष्ट देखते हैं।

रुद्र—'रुदिर् अश्रुविमोचने' इस धातु से 'णिच्' प्रत्ययान्त से रक् प्रत्यय होने से **'रोदेर्णिलुक् च'** (उणादिकोष, २।२२) सूत्र से रुद्र शब्द सिद्ध होता है। **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करनेवालों को रुलाता है, इससे परमेश्वर रुद्र कहलाता है। उणादिकोष के उक्त सूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने फिर लिखा है—'पापिनो रोदयतीति रुद्रः'। सर्वत्र निर्वचन में मूल स्वर है—**रोदयतीति रुद्रः**। विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में 'प्रजा संहरन् रोदयतीति रुद्रः' प्रजाओं का नाश कर रुलाने से भगवान् रुद्र कहाते हैं, ऐसा निर्वचन दिया है।

कुछ अन्य निर्वचन भी इस शब्द (रुद्र) के मिलते हैं, जो परमेश्वर की विविध शक्ति और गुणों का निदर्शन कराते हैं, जैसे—

(क) **तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुत् तं द्रावयतीति रुद्रः**—जगत के तापत्रय से उद्धार करने के कारण भगवान को रुद्र कहते हैं।

द्रष्टव्य—**'रुत् संसाराख्यं दुःखम्, तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः।**

—सायण, ऋग्भाष्य १।११४।४

(ख) **रुदन्ति जना, अस्मिन्निति रुत्, स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्, तं राति आदत्ते प्रलयकाले इति रुद्रः** अर्थात् जगत् का प्रलय करने से भी भगवान् रुद्र हैं।

(ग) **रुत् शब्दराशिर्वेदः तं कल्पादौ राति ददातीति रुद्रः**—अर्थात् सर्ग के आदि में वेद-प्रदाता होने से भगवान् रुद्र हैं।

द्रष्टव्य—**रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा ताम् उपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः ।**

—सायण, ऋग्भाष्य १।११४।१

रुतः शब्दरूपा उपनिषदः ताभिः द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः ।

—तदेव

अर्थात्—वेदप्रतिपाद्य वेदविद्या का प्रदान करने तथा उपनिषत्-प्रतिपाद्य होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। निम्न मन्त्र में रुद्र शब्द भगवान् का वाचक है—

य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ।

—अथर्व० ७।६१।१

शिव—'शिवु कल्याणे' इस धातु से शिव शब्द सिद्ध होता है। **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** इससे शिवु धातु माना जाता है। **'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व'** आदि उणादिसूत्र (१।१५३) की व्याख्या में लिखा है—**'शेते सर्वमस्मिन्निति शिवः'** अर्थात् जिसमें प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् शान्तिपूर्वक सोता है, वे भगवान् शिव हैं। निरुक्तकार इस शब्द को शिष् धातु से निष्पन्न हुआ मानते हैं। वे लिखते हैं—**'शेव इति सुखनाम शिष्यतेः वकारो नामकरणः अन्तःस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः, शिवमप्यस्य भवतीति'** (निरुक्त १०।१७)।

सारांश यह कि शेव का अर्थ सुख है। यह शिष् धातु से व प्रत्यय करके बनता है। तब निर्वचन का स्वरूप होगा—'शिष्यते सुखावहो भवतीति शिवः ।' तात्पर्य वही कि सुख देने वा कल्याण करनेवाले भगवान् को शिव नाम से स्मरण करते हैं।

'शिवमस्यास्तीति शिवयतीति वा शिवः' स्वयं कल्याणरूप होने तथा जगत् का कल्याण करने से भगवान् शिव कहाते हैं। महाभारत में लिखा है—**'मनुष्यान् शिवमन्विच्छन् तस्मादेष शिवः स्मृतः'** (अनु० १६१।१०)। अथवा **शेते सर्वं कारणसहितं जगदस्मिन्निति शिवः, सर्वाधारः स्वयं च निराधारः'** प्रलय में कारणसहित जगत् इसमें लीन होकर रहता है, इसलिए भगवान् शिव कहाते हैं।

नैरुक्त धातुप्रक्रिया को दृष्टि में रखकर निर्वचन होगा—**'शिष्यते प्रलयानन्तरमिति शिवः'** अर्थात् प्रलय के पश्चात् भी बचे रहने से शिव कहाते हैं। श्रुति कहती है—**'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनासः'** (ऋक्० १०।१२६।२)। **'नमः शिवाय'** (यजुः० १६।४१) अर्थात् कल्याणकारी (शिव) परमात्मा को नमस्कार हो।

'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' (श्वेत० ४।१४)। अर्थात् सबको लपेटनेवाले अद्वितीय शिव को जानकर अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है।

अक्षर—उणादिसूत्र 'अशेः सरः' (३।७०) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्'**। सर्वव्यापी तथा अविनाशी होने से भगवान् का नाम अक्षर है। अन्यत्र ग्रन्थकार ने यह शब्द 'अशूङ् व्याप्तौ' तथा 'क्षर संचलने' इन दो धातुओं से बनाया है—**'यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम् ।'** निरुक्तकार लिखते हैं—**'अक्षरं न क्षरति=क्षीयते वा क्षयं भवति, वाचोऽक्षर इति वा'** (निरुक्त १३।१२)। इस दृष्टि से निर्वचनों का स्वरूप होगा—'न क्षरतीत्यक्षरम्'। जिसका संचलन व परिणाम नहीं होता। इस निर्वचन का मूल है—**'वाग्वै समुद्रो न वै वाक्क्षीयते'** (ऐत० ब्रा०५।३।१)। यद्यपि निरुक्तकार का यह निर्वचन वर्णवाची अक्षर का है, तथापि परमेश्वर के वेदरूपी वाणी का क्षय=निवासस्थान व धुरा होने से यह भगवत्परक भी हो सकता है।

समस्त भौतिक जगत् क्षर है, क्योंकि वह विनाशी है और भगवान् अविनाशी होने से अक्षर है। तदनुसार गीता में कहा है—**'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (गीता १५।१६)। इस श्लोक में अक्षर पद का वाच्य परमात्मा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥८॥

—ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० ४६॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । —ऋ०१।१६४।३६

आकाशवत् व्यापक जिस अविनाशी भगवान् का सब मन्त्र प्रतिपादन करते हैं, **'तदेतदक्षरं ब्रह्म'** (मुण्डक० १।२।३) सो यह ब्रह्म अक्षर=अविनाशी है।

स्वराट्—'स्वराट् स्वयमेव वश्यः अनेकवश्यः **विधिनिषेधकिंकरो न भवतीति यावत्'** । आशय यह है कि किसी के अधीन न होने से वह स्वराट् नाम से जाना जाता है। निम्न मन्त्रों में स्वराट् पद ईश्वर का वाचक है—

स्वयुरिन्द्रः स्वराडसि । (ऋक् ० ३।४५।५) । तू स्वयु, इन्द्र और स्वराट् है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा, य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥

—अथर्व० १८।३।५६

अर्थात् जो हमारे पिता, पितामह आदि इस महाशून्य में प्रवेश करते हैं, अर्थात् जिनका स्वर्गवास हो चुका है उनको प्राणों को प्राप्त करानेवाले अर्थात् पुनर्जन्म देनेवाले स्वराट्=परम स्वाधीन भगवान् स्वकर्मानुसार शरीर प्रदान करते हैं।

कालाग्नि—'ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित्' (श्वेत० ६।१६) अर्थात् वह परमेश्वर काल का काल (कालाग्नि) सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है। प्रलयकाल में जगत् के संहारकर्त्ता होने से भगवान् कालाग्नि हैं।

'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'। —गीता ११।३२
'ततः कालाग्निरूपोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः' ॥ —विष्णुपुराण ६।३।२४

चन्द्रमा—'चदि आह्लादने' धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है। 'चदि' धातु का अर्थ दीप्ति भी है—'चदि आह्लादने दीप्तौ च'। 'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः' आनन्दस्वरूप और सबको आनन्ददायक होने से ईश्वर का नाम चन्द्र है। यास्क लिखते हैं—**'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः'** (निरुक्त ११।५)। चन्द्रमाह्लादं मिमीते निर्मिमीते, मिमीते आनन्दम् इति माः=चन्द्रमा। **'चन्द्रमा वै ब्रह्मा'** (शत० १२।१।१।२), **'प्रजापतिर्वै चन्द्रमा'** (शत० ६।१।३।१६)। छान्दोग्यब्राह्मण (१।६।१२) में चन्द्र शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है—

'चन्द्र व्रतपते व्रतं चारिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्' ।

इन्द्रं मित्रमिति—(विप्राः) बुद्धिमान् लोग (अग्निं) अग्निस्वरूप (एकं) एक=अद्वितीय परमेश्वर को (बहुधा) अनेक नामों से (वदन्ति) पुकारते हैं, जैसे—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा। यहाँ उत्तरपद 'अग्नि' विशेष्य है जो परमेश्वर का वाचक है, शेष सभी नाम पद-विशेषणरूप हैं।

मित्र—'ञिमिदा स्नेहने' धातु से 'क्त्र' प्रत्यय होकर मित्र शब्द सिद्ध होता है—**'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः'**—जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे परमेश्वर मित्र कहाता है। निरुक्तकार ने इस शब्द को अलग-अलग तीन धातुओं से निर्वचन करके बनाया है—**'मित्रः प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवति मेदयतेर्वा** (निरुक्त १०।१२)।

'प्रमीतेस्त्रायते इति मित्रः'—**'प्रमीतिः=कृच्छ्रं कष्टं वा ततः त्रायते'**, सब कष्टों से रक्षा करनेवाला

होने से ईश्वर मित्र कहाता है। निरुक्तसमुच्चय के रचयिता वररुचि के अनुसार **'मात्वा निर्माय कृत्स्नं जगत् त्रायते इति मित्रः'** सम्पूर्ण जगत् की रचना करके उसकी रक्षा करने से भगवान् मित्र कहाते हैं। मित्र शब्द के निर्वचन इस प्रकार भी हो सकते हैं—

(क) 'माति परिमापयति इति मित्रम्'—सब संसार को मापे हुए है, इससे ईश्वर मित्र कहाता है।

(ख) 'मितं कर्मफलं ददातीति मित्रः'—कर्मफल-दाता होने से भी भगवान् को मित्र कहते हैं।

निम्न मन्त्र में मित्र शब्द भगवान् का वाचक है—

मित्रो जनान् यातयाति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ —ऋक्० ३।५६।१

(मित्रः) कष्टों तथा दुःखों से रक्षा करनेवाला भगवान् (ब्रुवाणः) वेद का उपदेश देकर (जनान् यातयाति) मनुष्यों को शुभकर्म करने के लिए प्रेरित करता है। (मित्रः) जगत् की रचना और उसकी रक्षा करनेवाला भगवान् (पृथिवीं उत द्यां दाधार) पृथिवी, आकाशादि सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है। (मित्रः) शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला भगवान् (अनिमिषा) भलीभाँति (कृष्टीः) कर्म करनेवाले मनुष्यों को (अभिचष्टे) देखता है। ऐसे (मित्राय) मित्र=परमेश्वर के लिए (घृतवत् हव्यं जुहोतन) घृत तथा हविष्य प्रदान करो अर्थात् यज्ञ आदि शुभ कर्मों द्वारा भगवान् की उपासना करो।

दिव्य—निरुक्तकार लिखते हैं—'दिव्यः दिविजः' (७।८)। निरुक्त का यह निर्वचन इस पद को सूर्य का विशेषण मानकर लिखा गया है। सूर्य के सामान प्रकाशमान होने से भगवदर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। विद्याविज्ञानसम्पन्न प्रकाशस्वरूप भगवान् के रूप में निम्न मन्त्र में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—**(देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु"** (यजु:० ६।१) अपने पवित्र ज्ञान से संसार को पवित्र करनेवाले, वेदवाणी को धारण करनेवाले दिव्य -(प्रकाश)-स्वरूप भगवान् हमारे ज्ञान को पवित्र करें। **'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'** (मुण्डक० २।१।२) अर्थात् वह बाहर-भीतर सर्वत्र पूर्ण, अजन्मा, अमूर्त्त परमात्मा दिव्य है। **'दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्षु वीड्यः'** (अथर्व० २।२।१) अर्थात् वह परमात्मा दिव्य गन्धर्व है जो अकेला ही संसार का पति है, वही नमस्कार और पूजा के योग्य है।

वरुण—'वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्' इन दो धातुओं से वरुण शब्द सिद्ध होता है। **'वृणोति सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् मुक्तान् धर्मात्मनो यः स वरुणः'** अथवा **'व्रियते शिष्टैः मुमुक्षुभिः मुक्तैः धर्मात्मभिः यः स वरुणः'** अथवा **'वरयति शिष्टादीन् वर्यते वा शिष्टादिभिः स वरुणः परमेश्वरः'** अर्थात् जो वृणोति नाम स्वीकार करता है, शिष्ट मुमुक्षुओं और धर्मात्माओं को उसका नाम वरुण है। सो वरुण नाम परमेश्वर का है। व्रियते नाम शिष्टादिक जिसका स्वाकीर करते हैं उसका नाम वरुण है। अथवा वरयति नाम जो सबको प्राप्त हो रहा है, उसका नाम वरुण है। वर्यते नाम और जो सब श्रेष्ठ लोगों को प्राप्त होने योग्य होय उसका नाम वरुण है और यह भी अर्थ होता है कि वरुणो नाम वरः वरो नाम श्रेष्ठः जो सबों में श्रेष्ठ होय उसका नाम वरो वरः परमेश्वर ही है और दूसरा कोई भी नहीं। (स० प्र० प्र० स० पृ० ७)

आशय यह है कि वरणीय ईप्सिततम होने से तथा सर्वश्रेष्ठ होने से भगवान् वरुण कहाते हैं। निरुक्तकार ने भी वरुण शब्द का निर्वचन **'वृणोतीति सतः'** (१०।४) लिखकर 'वृञ् वरणे' से माना है, किन्तु इस शब्द का अर्थ अपनी दृष्टि के अनुसार सूर्य या विद्युत्परक किया है। इस शब्द की रचना चुरादिगणीय 'वृञ् आवरणे' से भी हो सकती है। तब निर्वचन होगा 'वारयतीति वरुणः'। सम्पूर्ण जगत् का आच्छादन करने से भगवान् वरुण कहाते हैं। अलब्धमूल एक लेख यह भी है—

वरं वृणन्ति तं देवा वरदश्च वरार्थिनाम् ।
धातुर्वै वरणे प्रोक्तः तस्मात् स वरुणः स्मृतः ॥

इसी आशय से ग्रन्थकार ने 'शिष्टैर्मुमुक्षुभिः धर्मात्मिभः व्रियते' लिखा है ।

'वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा' (शत० १४।३।२।४) अर्थात् वरुण सब पदार्थों का आत्मा=अन्तर्यामी है । **'सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्'** (अथर्व० ४।१६।५) अर्थात् सर्वप्रकाशक जगद्राजा वरुण उस सबको देखता है जो इस त्रिलोकी में और जो उससे भी परे है । प्राणियों के तो निमेष-उन्मेष उसके गिने हुए हैं ।

यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ (अथर्व० ४।१६।२) । इस मन्त्र में वरुण राजा (परमेश्वर) की सर्वान्तर्यामिता, सर्वव्यापकता तथा गुप्त-विज्ञता दर्शाने के लिए कहा है—जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन दोनों के बीच तीसरा वरुण=परमेश्वर उनकी बातों को जान लेता है ।

सुपर्ण—निघण्टु में सुपर्ण शब्द आता है । उसका व्याख्यान करते हुए देवराज यज्वा ने लिखा है—**'शोभनं पृणान्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणाद् अथवा पूरयन्ति वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा, सुष्ठु प्रीणयन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः । यद्वा सुः मत्वर्थे, भावे च 'न' प्रत्ययः पतनादिमन्तः सुपर्णाः'** । निघण्टु में सुपर्ण शब्द किरणों का वाचक लिखा है, अतः यज्वा ने निर्वचन भी तदनुसार ही किये हैं, परन्तु सु=**शोभनं पृणाति=पालयति जगत्, पूरयति च विविधैः पदार्थैः—शोभनं पतनं ज्ञानं यस्य, सुष्ठु प्रीणयति तर्पयति च जगद् इति सुपर्णः परमेश्वरः** । इस प्रकार ये निर्वचन भगवत्परक भी हो गये हैं । विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या में इस शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

१. **शोभनं पर्णं यस्येति सुपर्णः**—शोभन है पर्ण जिसका । पर्ण से अभिप्राय यहाँ फलप्रदान के सामर्थ्य से है ।

२. **शोभनधर्माधर्मरूपपर्णत्वात् सुपर्णः**—उत्तम धर्माधर्म पर्णवाला होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं । धर्माधर्म से आशय यहाँ धर्माधर्मजन्य फल से है, अर्थात् समुचित रूप से धर्माधर्म का फल देने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं ।

३. **शोभनानि पर्णानि छन्दांसि संसारतरुरूपिणोऽस्येति सुपर्णः**—अर्थात् छन्द=वेद ही जिसके सुन्दर पर्ण हैं । गीता में कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दाँसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ —गीता १५।१

विशिष्टाद्वैतानुसारिणी व्याख्या में लिखा है—

संसारपारनयनात् सुपर्ण इति वा मतः ।
प्रत्यायन्नसमाधीन् यः समाधेः परिपाकतः ।
तमसः पारं नयति सुपर्ण इति कथ्यते ॥

आशय यह है कि सामर्थ्यवान् होने से, संसार-सागर से पार करने से तथा समाधि का परिपाक होने पर अज्ञान का नाश कर परमपद प्राप्त कराने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं ।

इस व्याख्या में त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता का प्रतिपादन हुआ है—पार लेजानेवाला परमात्मा, पार जानेवाला जीवात्मा तथा जिससे पार जाना है, उस तमस्=प्रकृति (संसारसागर) का ।

वृद्धहारीत (१०।५२) के अनुसार 'छन्दोमयमुदाहृतम्' वेदमन्त्रों द्वारा वर्णीय होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं—**'सुवर्ण एव सुपर्णः वर्णव्यत्ययात्'** । निम्न मन्त्रों में सुपर्ण नाम से भगवान् का उल्लेख हुआ है—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं भुवनं वि चष्टे ।

—ऋक् ० १०।११४।४

अर्थात् वह अद्वितीय सुपर्ण=उत्तम पालक परमात्मा संसार में अवशिष्ट है, व्यापक है। वही इस संसार का ज्ञाता तथा ज्ञापयिता है।

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दाँसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥

—ऋक् ० १०।११४।५

आशय यह है कि वेदवित् तत्त्वदर्शी अज्ञान का नाश करके संसार-सागर से पार उतारनेवाले सुपर्ण नामधारी भगवान् को नाना रूपों और नाना नामों से स्मरण करते हैं और सोमादि यज्ञों द्वारा उन्हीं की उपासना करते हैं। इस मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

विप्रा मेधाविनः कवयः क्रान्तप्रज्ञा मनुष्याः सुपर्णं सुपतनमेकं सन्तं परमात्मानं वचोभिः स्तुतिलक्षणैर्वचनैर्बहुधा बहुप्रकारं कल्पयन्ति किं च त एव कवयोऽध्वरेषु यज्ञेषु छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि दधतः धारयन्तो द्वादश संख्याकान् सोमस्य ग्रहान् ग्रहणसाधनानि पात्राण्युपांश्वन्तर्यामादीनि मिमते निर्मिमते ।

इस प्रकार सुपर्ण शब्द का अर्थ सायण ने 'सुपतनमेकं सन्तं परमात्मानम्' किया है। सुपर्ण नाम परमात्मा का स्वीकार करने पर इस मन्त्रगत अन्य नामों का भी परमात्मपरक होना स्वतः सिद्ध है।

गरुत्मान्—निरुक्तकार कहते हैं—**'गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मामहात्मेति वा'**(निरुक्त ७।१८)। यहाँ प्रथम निर्वचन आधिभौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक। ग्रन्थकार ने द्वितीय का उपादान कर लिया है—'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्'। निरुक्त के व्याख्याकार स्कन्द गरुत्मान् का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—**'गरुत्=गरणं भौमानां रसानां रश्मिभिर्गरणेन तद्वान्** अथवा **गुर्वात्मा सन् गरुत्मान्'**। यहाँ भी प्रथम वचन आधिभौतिक तथा सूर्यपरक है, किन्तु **'गरुत् गरणं निगरणं प्रलये सर्वस्य जगतः निगरणेन गरुत्मान् परमेश्वरः'** इस प्रकार परमात्मपरक अर्थ भी बन सकता है, अर्थात् प्रलय में सम्पूर्ण जगत् को निगलने से भगवान् गरुत्मान् हैं।

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मान् (शत० १०।२।२।४) अर्थात् परमेश्वर सुपर्ण=सुपालक गरुत्मान् है। यजुर्वेद में निम्न मन्त्र में इसी का विशदीकरण है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद ।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान् तेजसा दिश उद्दृंह ॥ —यजुः० १७।७२

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप गरुत्मान् हैं, न किसी के पास आपसे अधिक बल है और न शक्ति, अतएव आप सुपर्ण हैं। आपके तेज से यह सब प्रदीप्त हैं, प्रकाशित हैं, उद्भासित हैं। आप मेरे हृदयाकाश में ऐसा प्रकाश करें जिससे अज्ञान का नाश होकर ज्ञान का उदय हो।

मातरिश्वा—निरुक्तकार ने मातरिश्वा का निर्वचन इस प्रकार दर्शाया है—**'मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा'** (नि० ७।२६)। यह निर्वचन मातरिश्वा को वायु का पर्याय मानकर किया है। यही निर्वचन अन्तर्णीत ण्यर्थ मानकर ईश्वरपरक भी उपपन्न हो जाता है। **'मातरि मातुर्योनौ श्वसिति प्राणयति आशु अनिति आनयति वा स मातरिश्वा भगवान् ।'** अर्थात् जो माता के गर्भ में भी प्राणित करता है, वह भगवान् मातरिश्वा है।

'ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा' (अथर्व० १३।३।१६), अर्थात् मातरिश्वा सर्वव्यापक परमेश्वर ज्ञानपूर्वक सृष्टि के विस्तार का निर्माण करता हुआ सब दिशाओं को पवित्र करता है।

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ।। —ऋक्० १०।८५।४७

यह मन्त्र विवाह-प्रकरण में विनियुक्त है। पति-पत्नी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वायु के समान बलवान् तथा प्राणवायु के समान प्रिय मातरिश्वा भगवान् हमारे हृदयों को परस्पर एक कर दे।

ऋग्वेद १।१६४।४६ में **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** तथा १०।११४।५ में **'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** में स्पष्टतः वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन हुआ है। इस पर डॉक्टर ग्रिस्वोल्ड (Dr. Griswold) की टिप्पणी है—

"Swami Dayananda's theory of Monotheism in the Rigveda—Taking his case from the late passages R.V.I. 164-46 and X .114-5, the founder of Arya Samaj held that all the gods mentioned in the Rigveda are simply variant names for one God. This process of reduction from multiplicity to unity would have been easier if there had been no dual gods or group gods mentioned in the Rigveda....... The monotheistic interpretation of the Rigveda involved on the part of Swami Dayananda much wild and unscientific exegesis......"—Religion of the Rigveda, Pages 109, 110.

अर्थात् "स्वामी दयानन्द का ऋग्वेदीय एकेश्वरवाद—आर्यसमाज के प्रवर्तक ने ऋग्वेद के पीछे के बने हुए स्थल ऋक् १।१६४।४६ और १०।११४।५ को आधार बनाकर यह वाद खड़ा किया कि ऋग्वेद में आये हुए सब देवता एक परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह बहुत्व से कम करते-करते एकत्व पर पहुँचने का ढंग सरल होता, यदि ऋग्वेद में द्वित्व देवता या गणदेवता न होते। ऋग्वेद-मन्त्रों का एकेश्वरवादीय अर्थ करने में स्वामी दयानन्द को बहुत-सी अप्रासंगिक और विज्ञानविरोधी खींचातानी करनी पड़ी है।"

वस्तुतस्तु ग्रिस्वोल्ड की यह टिप्पणी सर्वथा अनपेक्षित है, क्योंकि ग्रन्थकार का यह सिद्धान्त ही नहीं कि वेदों में सब देवता सब स्थलों पर परमात्मा के ही वाचक हैं और न ही उन्होंने अपने वेदभाष्य में ऐसे अर्थ करने का प्रयास किया है। ग्रन्थकार की मान्यता है—"जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। .... जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हैं, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। .... जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है।" ग्रन्थकार के इस लेख से स्पष्ट है कि उनकी मान्यता के अनुसार देवतावाची पदों से प्रकरणानुसार ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का भी ग्रहण होता है। जब उनका यह सिद्धान्त ही नहीं कि प्रत्येक देवता सब स्थलों पर ईश्वरवाची है तो उनके खींचातानी करके वैसा सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। द्वित्व देवता (Dual gods) तथा गणदेवताओं (Group gods) के प्रकरणानुसार अन्यान्य अर्थ हो सकते हैं—इसे सिद्ध करने के लिए हम यहाँ एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

ऋग्वेद १।१०८ सारे सूक्त का देवता इन्द्राग्नी है। इसके मन्त्र १, २, ३ में इन्द्राग्नी का अर्थ ग्रन्थकार ने 'वायुपावकौ' अर्थात् वायु और अग्नि किया है। मन्त्र ४, ११, १२ में वायु और विद्युत् किया है; ५, ७, ८ में स्वामी और भृत्य किया है ; ६, १० में न्यायाधीश और सेनाध्यक्ष किया है; ६ में स्वामी और शिल्पी किया है तथा १३ में परम धनाढ्य और युद्ध-विद्या में प्रवीण किया है—परमात्मा अर्थ एक भी मन्त्र में नहीं किया है।

ऋग्वेद १।११० के देवता ऋभु (गणदेवता) हैं। इस सूक्त में ऋभु का अर्थ मेधावी, सूर्य की किरणें

और बहुत विद्याओं के प्रकाशक विद्वान् किये हैं। इस सारे सूक्त में इस शब्द को परमात्मा का वाचक कहीं भी नहीं लिखा है। प्रार्थना, उपासना आदि के प्रकरणों में द्वित्व देवता तथा गणदेवता को परमात्मा की शक्तियाँ बताने में कोई खींचातानी नहीं है।

भारतीय इतिहासविदों में डॉ० ताराचन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी खोज के अनुसार आदि शंकराचार्य को एकेश्वरवाद की प्रेरणा नवम शताब्दी में मालाबार के तट पर उतरनेवाले अरब व्यापारियों से मिली थी। भारतीय स्रोतों के आधार पर आदि शंकर का जन्म ५०६ ईसापूर्व में हुआ था। शंकर ६ वर्ष की आयु में घर छोड़कर वेदाध्ययन के लिए नर्मदा-तट पर स्थित ओंकारनाथ के निकटस्थ गोविन्द भगवत्पाद के आश्रम में चले आये थे। पाश्चात्यों के अनुसार शंकर स्वामी का काल ईसा की सातवीं शताब्दी में पड़ता है। डॉ० ताराचन्द इतना भी न सोच सके कि सातवीं शताब्दी (उनकी मान्यता के अनुसार) में जन्म लेनेवाले और नर्मदा के तट पर रहनेवाले व्यक्ति का नवम शताब्दी में मालाबार के तट पर उतरनेवाले अरबों से कैसे सम्पर्क हो सकता था? फिर शंकर के जन्म-समय (सातवीं शताब्दी) तो अभी मुहम्मद साहब ने मक्का में इसलाम का प्रचार प्रारम्भ किया था। यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं मुहम्मद साहब को एकेश्वरवाद की प्रेरणा अब्राहम से मिली थी, जबकि शंकराचार्य के दादागुरु गोविन्दपाद के गुरु गौड़पादाचार्य थे।

—Influence of Islam on Hindu Culture.

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का पूर्वाग्रह है। इन लोगों के लिए विकासवाद का सिद्धान्त पहले है, उसके बाद जो कुछ आता है, उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखने का प्रयास किया जाता है। विकासवाद की कसौटी पर परखकर ही ये लोग किसी बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। श्री अरविन्द पाश्चात्य विद्वानों के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—"पाश्चात्य भाष्यकारों का मत है कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। जब वह वायु की उपासना करता था तो वायु में उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो अन्य किसी देवता में देखता था। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि एकेश्वरवाद का विचार तो मानव-मस्तिष्क में बहुत देर बाद आया। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में **"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। (मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य, मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Reader for Students' की भूमिका में लिखा है—'ऋग्वेद के १० मण्डलों में से आठ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि पहले आठ और अगले दो (९-१०) के लिखे जाने का समय भिन्न है। परन्तु **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** तो ऋग्वेद के पहले मण्डल का मन्त्र है। फिर भी इसे बाद का माना जाता है। केवल इसलिए कि यह उनकी विकासवादी विचारधारा में फिट नहीं बैठता)। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) और एकेश्वरवाद (Monotheism) के मुकाबले में एक नये मत की कल्पना की, जिसे उन्होंने हीनोथीइज़्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज़्म का अर्थ है—जब किसी देवता की उपासना की जाए, तब उसी में सब गुण आरोपित कर लिये जाएँ, अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाए।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथवीं दृं॑ह पृथिवीं मा हिं॑सीः ॥६॥

—यजुः० १३।१८

१ २ ३ १ १२ ३ २ ३२ ३ १ ३
इन्द्रो महना रोदसी पप्रथच्छवइन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥१०॥

—सामवे० प्रपा० ७। त्रिक ८। मं० २॥

(The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the belief in a single God, without asserting that he is the only God; a stage between Polytheism and Monotheism. According to Prof. Clayton it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one that was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.)

परन्तु यह कल्पना इसलिए की जाती है, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं कि मानव-संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। मैक्समूलर इस बात का प्रमाण नहीं दे सके कि **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** वेद में पीछे से डाला गया है। यह मन्त्र वेद का अभिन्न अंग है और इससे विकासवाद खण्डित होता है तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ, राथ तथा मैक्समूलर जो कहेंगे, वह प्रमाण होगा। वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है तो उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। वेद स्वयं कहता है—**'एकं सत्'** ईश्वर एक है, **'बहुधा वदन्ति'** उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए मैक्समूलर के हीनोथीइज्म को कैसे माना जा सकता है?" श्री अरविन्द आगे लिखते हैं—

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this lofty idea which it expresses with so clear a force rose up somehow, or was borrowed by those ignorant fire-worshippers from their cultured and philosophic Dravadian enemies. But throughout the Veda we have conformatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressed hymned as one with all other Gods. Agni contains all other divine powers within himself; the Maruts are described as all the gods; the one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, more commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes appropriate to the Supreme Deity. Why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions, and if you allow them to have so risen, you imperil our theory of evolutionary stages of human development. Truth must hide itself, common sense disappears from the field so that a theory may flourish. I ask—in this point, and it is the fundamental point, who deals more straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर चलते हैं। यदि वेदों का अर्थ उनकी विकासवाद की मान्यता को पुष्ट नहीं करता तो वे अर्थ को तोड़-मरोड़कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा क्यों करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार दयानन्द के भाष्य में ऐसा नहीं किया गया।

इन्द्रो महनेति—(इन्द्र) परमेश्वर ने (महना) अपनी महिमा से (रोदसी) द्युलोक और भूलोक में (शवः) अपना अनन्त बल (पप्रथत्) फैलाया हुआ है। (इन्द्रः) परमेश्वर ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) चमकाया है। (इन्द्रे) परमेश्वर में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकलोकान्तर (येमिरे) नियन्त्रित हैं। (इन्दवः) ज्ञान से

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥११॥

—अथर्व वे द काण्ड ११ । सू ० ४। मं ० १

अर्थः—यहाँ इन प्रमाणों के लिखने का तात्पर्य यही है कि जो ऐसे-ऐसे प्रमाणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, यह लिख आये ।

तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं **गौणिक** कहीं **कार्मिक** और कहीं **स्वाभाविक** अर्थों के वाचक हैं ।[1] 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं । जैसे—

(ओं खं०) 'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म' रक्षा करने से **'ओ३म्'**, आकाशवत् व्यापक होने से **'खम्'** और सबसे बड़ा होने से **'ब्रह्म'** ईश्वर का नाम है ॥१॥

(ओमित्ये०) 'ओ३म्' जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ॥२॥

(ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम 'ओ३म्' को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ॥३।

(सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम **'ओम्'** है ॥४॥

(प्रशासिता०) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि[2] से जानने योग्य है, उसको परमपुरुष जानना चाहिए ॥५॥

(एतम०) और स्वप्रकाश होने से **'अग्नि'**, विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने से **'प्रजापति'**, और परमैश्वर्यवान् होने से **'इन्द्र'**, सबका जीवन-मूल होने से **'प्राण'**, और निरन्तर[3] व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है ॥६॥

प्रकाशित तथा शीतल स्वभाववाले उपासक (स्वानासः) सदुपदेश देते हुए (इन्द्रे) परमेश्वर के ही आश्रय में रहकर (रेमिरे) अपने नियमों का पालन करते हैं ।

प्राणायेति—(प्राणाय) समस्त जगत् के मुख्य प्राण परमेश्वर को (नमः) नमस्कार हो (यस्य वशे) जिसके वश में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है । (भूतः) अनादिकाल से वर्तमान सत्स्वरूप (यः) जो प्राण (सर्वस्य) समग्र जगत् का (ईश्वरः) अधीश्वर है और (यस्मिन्) जिसमें सम्पूर्ण जगत् (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

जड़-चेतन जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अपना-अपना प्राण है, जिसके कारण उस-उस पदार्थ की सत्ता बनी रहती है । यह प्रातिस्विक प्राण परमेश्वररूप प्राण द्वारा प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त है । अतएव परमेश्वर

---

१. गौणिक=गुणनिमित्तक, कार्मिक=कर्मनिमित्तक, स्वाभाविक=स्वभावनिमित्तक । द्रष्टव्य— इसी समुल्लास में १०० नामों के आगे का सन्दर्भ—'उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म्म और स्वभाव का एक-एक नाम है ।'

२. जर्मन विद्वान बूहलर ने यहाँ Sleep (like abstraction) अनुवाद किया है । यह मूल के अभिप्राय के विरुद्ध है ।

—भगवद् दत्त

३. निर् अन्तर=विना व्यवधान के अन्दर-बाहर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् सबसे बड़ा । इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' (धातु० १।४८८) धातु से बनता है ।

(स ब्रह्मा स विष्णुः) सब जगत के बनाने[1] से **'ब्रह्मा'** सर्वत्र व्यापक होने से **'विष्णु'**, दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से **'रुद्र'**, मंगलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से **'शिव'**। **''यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्'** ॥१॥ **'यः स्वयं राजते स स्वराट्'** ॥२॥ **'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलकर्ता स कालाग्निरीश्वरः'** ॥३॥ **'अक्षर'** जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, **'स्वराट्'** स्वयं प्रकाशस्वरूप, और **'कालाग्नि'** प्रलय में जो अग्नि के समान सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'कालाग्नि'** है ॥७॥

(इन्द्रं मित्रं०) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। **'द्युषु शुद्धेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः'; 'शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य स सुपर्णः'; 'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्'; 'यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा'**।

'दिव्य' जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, **'सुपर्ण'** जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, 'गुरुत्मान' जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, **'मातरिश्वा'** जो वायु के समान अनन्त बलवान् है इसलिए परमात्मा के **'दिव्य'**, **'सुपर्ण'**, **'गरुत्मान्'** और **'मातरिश्वा'** ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥८॥

(भूमिरसि०) **'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः'**[2] जिसमें सब भूतप्राणी होते हैं, इसलिए ईश्वर का नाम **'भूमि'** है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥६॥

(इन्द्रो मह्ना०) इस मन्त्र में **'इन्द्र'** परमेश्वर ही का नाम है इसलिए यह प्रमाण लिखा है ॥१०॥

(प्राणाय०) जैसे प्राण के वश में सब शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है, इससे परमेश्वर का नाम् **'प्राण'** है ॥११॥

समस्त जगत् का मुख्य प्राण है।

यास्कादि नैरुक्तों का सिद्धान्त है—**'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (नि०२।१)। उपलब्ध परम्परा अथवा व्यवहार प्राप्त अर्थ का निर्वचन द्वारा समर्थन किया जाना चाहिए। न्यायानुमोदित शास्त्रप्रसिद्ध तथा व्यवहार-प्राप्त सिद्धान्त के अनुसार सब शब्द भगवान् के वाचक हैं। अतएव अर्थानुसारी निर्वचन करने के लिए तदनुकूल प्रकृति-प्रत्यय का ग्रहण करना अवश्यक है। 'प्राण' शब्द का निर्वचन करने के लिए ग्रन्थकार ने इसी नियम का आनुसरण किया है। यदि इस शब्द का निर्वचन **'प्राणतीति प्राणः'** अर्थात् सांस लेने से भगवान् प्राण कहाते हैं, ऐसा किया जाए तो वह भूतार्थ नहीं होगा, क्योंकि भगवान् सांस नहीं लेते। इसलिए मुख्यार्थ में इसका व्यवहार हो ही नहीं सकता। तब, यह व्यवहार औपचारिक है। तदनुसार ग्रन्थकार ने निर्वचन का स्वरूप रखा है—**'सर्वेषां प्राणस्य=जीवस्य मूलं प्राणः'**। आशय यह है कि 'प्राणकारणत्वात् **प्राणं ब्रह्म यथा आयुष्कारणत्वात् आयुर्घृतम्'**। उपनिषत् में कहा है—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः'** (केन० १।२)। अर्थात् भगवान् श्रोत्र को श्रवणशक्ति, मन को मननशक्ति, वाणी को उच्चारण शक्ति तथा प्राण को प्राणनशक्ति देते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राण शब्द का ईश्वर अर्थ में जो व्यवहार है,

---

१. इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द 'बृह उद्यमने' (धातु० ६।५६) धातु से निष्पन्न होता है।

२. 'भूमि' शब्द भीमादिगण में पठित है, अतः 'भीमादयोऽपादाने' (अ० ३।४।७४) के नियम से अपादान में प्रत्यय होना चाहिए। ग्रन्थकार के स्वीय उणादिकोष ४।४६ की वृत्ति में भी 'भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः' ऐसी व्युत्पत्ति जाननी चाहिए।

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि 'ओ३म्' और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसाकि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि-मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है, वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है।

['अग्नि' आदि नामों के ईश्वर या भौतिक अर्थ में नियामक हेतु]

परन्तु **'ओ३म्'** यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और **'अग्नि'** आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम-कारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि **जहाँ-जहाँ स्तुति प्रार्थना उपासना आदि प्रकरण, और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।**

और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः ॥१॥
श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत ॥२॥ —यजुः० ३१।१२
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त ॥३॥ —यजुः० ३१।६
प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥४॥ —यजुः० ३१।५

उसी को दृष्टि में रखकर उक्त शब्द लिखे गये हैं। अन्यत्र लिखा है—**'प्राणः प्रजापतिः'** (शत० ६।३।१।६); **'प्राणस्य प्राणम्'** (बृहद्० ४।४।१८)। **'अतएव प्राणः'** (वेदान्त० १।१।२३) पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है—**'ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, प्राणशब्दो ब्रह्मैव'**। पुनः **'प्राणस्तथानुगमात्'** (वेदान्त० १।१।२८) पर शंकराचार्य लिखते हैं—**'प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्'**। इन सूत्रों पर भामती और रत्नप्रभा टीकाओं में भी यही स्वीकार किया गया है।

ततो विराडिति—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥ —यजुः० ३१।५

अध्यात्म के सम्बन्ध में 'विराट्' शब्द परमेश्वरवाची है, परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के सन्दर्भ में उससे ब्रह्माण्ड का ग्रहण होता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत सृष्टिविद्याविषय में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का विनियोग ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में करते हुए लिखा है—**'सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैः राजमानः सन् विराट् ब्रह्माण्डरूपः'**। मन्त्र की विस्तार से व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—"**(ततो विराडजायत)** ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलंकारलक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थैः राजमानः सन् विराडजायतोत्पन्नोऽस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद् विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देवः पृथक्-पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत्। **(स जातो)** स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽतिरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति। **(पश्चाद् भूमिमथो)** पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात् स जीवोऽपि धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति।"

अर्थात्—"ब्रह्माण्ड, जिसका अलंकाररूप से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य-चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं,

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः[१] । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥५॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्र० वल्ली१) का वचन है ॥

वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह समष्टि देह है, को विराट् कहाता है । वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिसमें सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है । फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ।"

आचार्य सायण ने भी यहाँ विराट् का अर्थ ब्रह्माण्ड किया है—**"विस्पष्टं राजत इति ब्रह्माण्डदेहः पुरुषो विराट्"** । कहीं-कहीं उन्होंने ब्रह्माण्डाभिमानी देव को भी विराट् कहा है—**'विराट् कृत्स्नब्रह्माण्डाभिमानी देवः'** । ग्रन्थकार ने यहाँ जिस ब्रह्माण्डरूप विराट् का संकेत किया है, अथर्ववेद (१०।७।३२-३४) में उस ब्रह्म की पुरुषाकृति का आलंकारिक वर्णन स्पष्टतः उपलब्ध है । (द्रष्टव्य—अथर्ववेद १०।७।१८-१६ ; ६।५।२०-२१ तथा ११।३।१-२)

महाभारत में लोकात्मा का इस प्रकार वर्णन किया है—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ —शान्तिपर्व ४७।६६

उपर्युक्त शेष सन्दर्भों को उदाहरणरूप में उद्धृत करके ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जहाँ सृष्टि की उत्पत्त्यादि का प्रसंग होता है वहाँ विराट्, अग्नि आदि शब्दों से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता, सृष्टि के निमित्तकारण के रूप में अथवा स्तुतिप्रार्थनोपासनादि के प्रसंग में ही इनसे परमेश्वर का ग्रहण होता है । इस सिद्धान्त को न समझने के कारण पाश्चात्य विद्वानों एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने यह धारणा बना डाली है कि वेदों में जड़ पदार्थों (अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा आदि) की पूजा का विधान है ।

तस्मादिति—(तस्माद्वा एतस्मादात्मनः) उस आत्मतत्त्व से आकाश सम्भूत हुआ । (आकाशाद्वायुः) आकाश से वायु (वायोरग्निः) वायु से अग्नि (अग्नेरापः) अग्नि से जल (अद्भ्यः पृथिवी) जल से पृथिवी (पृथिव्या ओषधयः) पृथिवी से ओषधियाँ (ओषधिभ्यः अन्नम्) ओषधियों से अन्न (अन्नाद्रेतः) अन्न से वीर्य (रेतसः पुरुषः) वीर्य से प्राणी बना । शरीर अन्न के रस से बनने के कारण पुरुष अन्नरसमय कहा जाता है—**'सः वा एषः पुरुषः अन्नरसमयः'** । यहाँ सृष्ट्युत्पत्ति का प्रसंग होने से आकाशादि नाम लौकिक= भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, परमेश्वर के नहीं ।

सत् से ही सत् होता है, असत् या अभाव से सत् या भाव उत्पन्न नहीं होता । इसलिए जब उपनिषद् कहती है कि आत्मा से आकाशादि उत्पन्न हुए तो इसका यह अर्थ है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—इन सबका बीजरूप में आत्मा के साथ अस्तित्व वर्तमान था । दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ

---

१. तै० उ० और तै० आ० में प्रायः 'ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः' पाठ मिलता है । ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ तै० आरण्यक ८।२ के पाठान्तर में उपलब्ध होता है । द्र०-आनन्दाश्रम पूना-संस्करण । बम्बई की छपी 'मणिप्रभायुक्त एकादशोपनिषद्' में भी यह पाठ मिलता है ।

ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं, क्योंकि **जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता । वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है ।** और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहाँ 'विराट्' आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है । **किन्तु जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा, और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हो, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है ।** ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता । इससे 'विराट्' आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं ।

अब जिस प्रकार 'विराट्' आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

['ओम्' की विस्तृत व्याख्या]

अथ ओङ्कारार्थः—'वि' उपसर्गपूर्वक **राजृ दीप्तौ** इस धातु से **'क्विप्'** प्रत्यय करने से 'विराट्' **शब्द** सिद्ध होता है । **'यो विविधं नाम चराऽचरं जगद् राजयति प्रकाशयति स विराट्'** विविध अर्थात् जो **बहु** प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे, इससे **'विराट्'** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है ।

कि आत्मा (परमात्मा) सृष्टि का उपादानकारण न होकर निमित्तकारण है, जिससे पहले से कारणावस्था में विद्यमान प्रकृतितत्त्व से जगत् सम्भूत=अभिव्यक्त होता है । इसी से मिलता-जुलता वर्णन छान्दोग्योपनिषद् (६।२।१।४) में मिलता है ।

विराट्—वैयाकरणों के मतानुसार दीप्त्यर्थक धातुएँ आकर्मक होती हैं, यथा— **'लज्जासत्तास्थिति-जागरणं, वृद्धिक्षयजीवितमरणम् ।.....रुचिदीप्त्यर्थान् धातुगणानकर्मकमाहुः'** । अतः यहाँ 'राजते' को अन्तर्णीतण्यर्थक समझना चाहिए । इसकी पुष्टि उत्तर उद्धरण के 'राजयति' निर्देश से भी होती है । इसी दृष्टि से उभयत्र दीप्त्यर्थक 'काशृ' से णिजन्त 'प्रकाशयति' प्रयोग भी अञ्जसा उपपन्न हो जाता है ।

विविध जगत् को प्रकाशित करने का अभिप्राय अव्यक्तावस्था से व्यक्त करना है, अभाव से भाव की उत्पत्ति करना नहीं । इस प्रकार भगवान् में जगत्कर्तृत्व आने से वे जगत् के कर्त्ता सिद्ध होते हैं । **'विशेषेण राजते इति विराट्'** विशेषरूप से प्रकाशित होने से भगवान् विराट् कहाते हैं । भगवान् के प्रकाशित होने में विशेषता यही है कि वह पर-प्रकाश्य न होकर स्वयंप्रकाश है । इस निर्वचन का मूल **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक० २।२।१०) इस वचन में निहित है । आचार्य सायण **'ततो विराडजायत'** का भाष्य करते हुए विराट् पद का निर्वचन करते हैं—**'विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्'**। जिसमें नाना प्रकार की वस्तुएँ (स्थावर-जंगमात्मक जगत्) विराजमान है, अतः वह भगवान् विराट् है । श्रुति का वचन है—**'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुः० ३१।२) यहाँ 'पुरुष एवेदं सर्वम्' का अर्थ 'पुरुषस्थ एवेदं सर्वम्' अर्थात् 'यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान् में ही है' ऐसा समझना चाहिए । **'यो ब्रह्माण्डस्यान्तरबहिर्व्याप्नोति स विराट्'** (रामोत्तरतापन्युपनिषद् ५) अर्थात् जो ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर व्याप्त है, वह विराट् है । **'प्रजापतिर्विराट् चैव'** (चूलिकोपनिषद् १३)—प्रजापति विराट् ही है । **'विराड् वाग् विराट् पृथिवी .... स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु'** (अथर्व० ६।१०।२४) । आशय यह है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् की शक्ति से व्यक्त होकर उसी में विराजता है, अतः वह विराट् कहाता है ।

अञ्चु गतिपूजनयोः:अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। **'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः'। 'योऽञ्चति' अच्यते, अगति, अङ्गति, एति वा सोऽयमग्निः** जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'अग्नि'** है।

अग्नि—'गति' के गमन और प्राप्ति अर्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं, ज्ञानार्थ वैसा प्रसिद्ध नहीं है, अतः इस निमित्त कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—(१) **'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः'** (स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका २।१६)। (२) **'गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् गमेर्ज्ञानार्थता'** (ऋग्भाष्यटीका, जयतीर्थ, पृ० २)। (३) **'गत्यर्था ज्ञानार्थाः'** (न्यायसंग्रह, हैमपरिभाषापाठ, पृ० २०)।

निरुक्तकार ने अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन दिये हैं। प्रथम निर्वचन है—'अग्रणीर्भवति' और द्वितीय निर्वचन है—**'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'**। यतः यास्क मुख्यतः आधिभौतिक एवं आधिदैविक दृष्टिकोण से लिख रहे हैं, अतः उनके निर्वचन भी वैसे ही हैं, परन्तु ग्रन्थकार ने ऋग्भाष्य के नमूने के अंक में तथा **ऋग्वेदभाष्य** (१।१।१) में 'अग्रणीः' का अर्थ 'सर्वोत्तमः' तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' का 'सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्' किया है। आचार्य शंकर ने भी 'अग्रणीर्भवति' का अर्थ अपने वेदान्तभाष्य में इस प्रकार किया है—**'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति'** (१।२।२८)। परमेश्वर 'अग्रणीर्भवति' क्योंकि किसी भी कार्य में सर्वप्रथम उसी का स्मरण-स्तवन किया जाता है।

'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (यजुः० ३२।१) पर भाष्य करते हुए महीधर ने लिखा है—**'अग्निः तदेव कारणं ब्रह्मैव आदित्यस्तदेव वायुस्तदेव चन्द्रमास्तदेव। उ एवार्थे। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धम्. . . . . . ताः प्रसिद्धा आपः जलानि स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म'**। इसमें महीधर ने स्पष्ट ही अग्नि को परमात्मा का वाचक बताया है।

'श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह' में अग्नि का एक नवीन निर्वचन इस प्रकार किया है—**'न गच्छति स्वतो न प्रवर्त्तते इत्यगः, विश्वम् अगं नयतीत्यग्निः'** अर्थात् इस जड़ जगत् का संचालन करने से भगवान् अग्नि कहाते हैं। यह संचालन दो प्रकार से होता है। एक सर्गादिकाल में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके जगद्रचनारूप से, दूसरा निर्मित जगत् के नियन्त्रणरूप से।

वैयाकरण 'अगि' धातु से अग्नि शब्द को सिद्ध करते हैं। उणादि का सूत्र है—**'अङ्गेर्नलोपश्च'** (४।५०)। तब निर्वचन होगा—'अङ्गतीत्यग्निः'। इस उणादिसूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सोऽग्निः'**। वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र अग्नि के परमेश्वरवाची होने का उल्लेख मिलता है। तद्यथा—**'अग्निरेव ब्रह्म'** (शत० १०।४।१।५)। **'अग्निपरेशमाहुः'** (ऋग्वेद १।१६४।४६ पर आत्मानन्द का भाष्य)। **'ब्रह्म वा अग्निः'** (कौषी० ६।१।५।; शत० २।५।४।८ तथा तैत्ति० ३।६।१६।१)।

> **पाहि नोऽग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।**
> **पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥** —ऋक्० १।३६।१५

इस मन्त्र में अग्नि नामक परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह धूर्तों और राक्षसों से रक्षा करे। अग्नि के परमेश्वरवाची होने में सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—

> **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**
> **होतारं रत्नधातमम्॥** —ऋक्० १।१।१

विश प्रवेश ने इस धातु से 'विश्व' शब्द सिद्ध होता है **'विशन्ति प्रविष्टानि भवन्ति सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन्, यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः'** जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं, अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्व'** है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकारमात्र[१] से होता है।

'ज्योतिर्वै हिरण्यम्'[२] ;**'तेजो वै हिरण्यम्'**[३] । इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे[४] । **'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः'** जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम [उत्पत्ति] और निवास-स्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'हिरण्यगर्भ'** है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण है[५]—

इस मन्त्र में आये विशेषण तथा क्रियापद इस बात को प्रमाणित कर रहे हैं कि यहाँ अग्नि शब्द परमात्मा का वाचक है। भौतिक अग्नि से सुपथ-कुपथ में भेद करने और फिर प्रार्थयिता को सुपथ से ले जाने की प्रार्थना अथवा आशा कैसे की जा सकती है ?

(अग्नि शब्द ब्रह्म का वाचक है, इसके विस्तार से जानने के लिए ग्रन्थकार के ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अंक तथा ऋग्भाष्य के प्रथम मन्त्र की व्याख्या देखें। ग्रन्थकार के समकालीन पं० महेशचन्द के एतद् विषयक आक्षेपों का उत्तर ग्रन्थकार ने अपनी पुस्तक 'भ्रान्तिनिवारण' में दिया है।)

विश्व—उणादिसूत्र १।१५१ की व्याख्या में एक निर्वचन यह किया है—**'विशति सर्वत्र स विश्वः'**। यह निर्वचन भगवान् की सर्वव्यापकता की दृष्टि के किया है। भगवान् इस जगत् में ओत-प्रोत हैं—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८) । विष्णुसहस्रनाम की शांकरमतानुसारी व्याख्या में इस शब्द के दो निर्वचन इस प्रकार मिलते हैं—**'विशतीति विश्वं ब्रह्म'** अर्थात् जगत् में प्रवेश करने से वह विश्व कहाता है। इस निर्वचन का मूल **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै०उ० २।६) इस उपनिषद्वचन में निहित है। 'संहृतौ विशन्ति सर्वाणि भूतान्यस्मिन्निति विश्वं ब्रह्म'। प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् उसमें लीन होता है, इसलिए परमात्मा को विश्व कहते हैं। इस निर्वचन का मूल **'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'** इस उपनिषद्वचन में उपलब्ध है।

ऋग्वेद में कहा है—**"गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्। अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः।"** (ऋक्० १।७०।२) अर्थात् जो जलों का गर्भ=आधार है, जो वनों का आधार है, जो स्थावरों का आधार है, जो जंगमों का आधार है, प्रजाओं के समान देह में दीर्ण न होनेवाले जीवादि में रहनेवाला यह विश्व=परमात्मा अविनाशी तथा स्वाधार है। जो सम्पूर्ण कार्यजगत् में प्रविष्ट है और सम्पूर्ण कार्यजगत् जिसमें प्रविष्ट है, इससे दोनों प्रकार से विश्व ब्रह्म है।

---

१. उत्तरवर्ती संस्करणों में 'अकारमात्रा, उकारमात्रा' पाठ मिलता है। ग्रन्थकार ने भी इस प्रकरण के अन्त में 'एक-एक मात्रा से' ऐसा निर्देश किया है। 'माण्डूक्य उपनिषद्' में भी 'मात्रा' शब्द का ही प्रयोग है। अतः 'अकारमात्र' आदि में 'मात्रा' का ही पुल्लिंग प्रयोग जानना चाहिए।

२. शत० ब्रा० ६।७।१।२॥ ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्। ऐ० ब्रा० ७।१२॥

३. तै० ब्रा० ८।१।६।१॥

४. मूलपाठ यही है। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'ऐतरेये शतपथे च ब्राह्मणे' पाठ बनाया है। मूलपाठ में 'ऐतरेयं च शतपथं च=ऐतरेयशतपथम्, ऐतरेयशतपथं च तद् ब्राह्मणं च ऐतरेयशतपथब्राह्मणम् तस्मिन्' ऐसा समास जानना चाहिए।

५. यजुः० १३।४॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
इत्यादि स्थलों में '**हिरण्यगर्भ**' से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है ।

हिरण्यगर्भ—ग्रन्थकार ने इस शब्द में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों समास माने हैं—'**हिरण्यं तेजसो नाम हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः**' तथा '**हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भः हिरण्यगर्भः।**' (स. प्र.प्र.सं.) निघण्टु में हिरण्य शब्द धन के पर्यायों में लिखा है । देवराज यज्वा इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'**अथवा द्विधातुजं रूपं हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाद् रूपसिद्धिश्च, हितं च तद् आपदि दुर्भिक्षादौ रमयति च सर्वदा सर्वमिति ।**' आशय यह है कि हितकर तथा रमणीय होने से धन का नाम हिरण्य है । यह निर्वचन भगवान् में इस प्रकार संगत है—'हितं च रमणीयं च हिरण्यम्' अर्थात् हितकर तथा रमणीय पदार्थ कहाते हैं, 'हिरण्य' और हिरण्य का गर्भ अथवा निवासस्थान होने से भगवान् हिरण्यगर्भ है । श्वेताश्वतर के भाष्यकार निरुक्त को दृष्टि में रखकर हिरण्यगर्भ का एक सुन्दर निर्वचन करते हैं—'**हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भे अन्तःसारो यस्य**' अर्थात् रमणीय तथा उज्ज्वल ज्ञान जिसमें विद्यमान है, वह भगवान् हिरण्यगर्भ है ।

सुबोधिनीकार कहते हैं—'**हर्षते स्वप्रभया दीप्यते इति हिरण्यम्**' अर्थात् स्वयंप्रकाशपिण्ड हिरण्य कहाते हैं, '**एतादृशानां हिरण्यानां गर्भ उपादाता हिरण्यगर्भः परमेश्वरः**' इन तेजस्वी पदार्थों के उपादाता होने से भगवान् का नाम हिरण्यगर्भ है ।

मैत्र्युपनिषद् ६।८ में लिखा है—'**एवं हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्घिरण्यागर्भः**'।

यहाँ आत्मा, ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृक् और हिरण्यगर्भ परमात्मा के नाम हैं । शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।५ में लिखा है—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः' । ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद १०।१२१ (हिरण्यगर्भसूक्त) का प्रथम मन्त्र है । इसपर भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—'**प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः**'। तथा च तैत्तिरीयसं०—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः....' (तै.सं. ५।५।१।२) ।

मन्त्रगत 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है । यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—हिरण्य को अपने गर्भ में धारण करनेवाला । हिरण्य यहाँ प्रकृति का उपलक्षण है । प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है । व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्तावस्था में अदृश्य रहती है । सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में परमात्मा अकेला नहीं, प्रकृति को अपने भीतर समेटे हुए बना रहता है—'**आनीदवातं स्वधया तदेकम्**' (नासदीयसूक्त) । यदि उस काल में प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में वह कहाँ से आ जाती—'**कथमसतः सज्जायेत**' (छान्दोग्य) । उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में पृथिवी-द्यौ आदि को धारण कर रखा है । उसी के लिए अन्यत्र कहा गया है—'**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः**' (यजुः०३२।६) ।

न्यूटन के आगमन से पूर्व विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रमुख प्रश्न था कि सूर्य बिना किसी माध्यम के किसी ग्रह आदि को कैसे आकृष्ट कर सकता है । न्यूटन के ही समकालीन प्रमुख दार्शनिक जॉनलॉक (John Locke) की मान्यता थी कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से टकराये बिना न उसमें गति पैदा कर सकता है और न उसके सम्पर्क में आये बिना उसे प्रभावित कर सकता है, पर न्यूटन ने युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया कि निराकार होकर भी विभिन्न तरंगें चलकर अन्य पदार्थों को प्रभावित करती हैं । बाद

वा गतिगन्धनयोः[1] इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। गन्धनं हिंसनम्[2]। **'यो वाति चराऽचरं जगद्धरति [जीवयति] प्रलयति बलिनां बलिष्ठः स वायुः** जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता, और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम **'वायु'** है।

में यह तथ्य भी सामने आया कि विद्युच्चुम्बकीय तरंगें निर्वात में भी, एकदम शून्य आकाश में महावेग से चलकर दूरस्थ पदार्थों को प्रभावित करती हैं। सूर्य द्वारा अन्य लोकों को आकर्षित करने का यही आधार है। अथर्ववेद के एक सूक्त (१०।७) में बार-बार पूछा गया कि वह खम्भा बताओ जिसके सहारे यह समस्त विश्व टिका है—**'स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः'**। इसके उत्तर में बताया गया—वह परब्रह्म परमेश्वर है। अन्ततः लॉक को स्वीकार करना पड़ा कि 'जो कुछ हमारी समझ से परे है, वह परमात्मा की शक्ति से बाहर नहीं है।' यह 'सः (परमेश्वरः) दाधार' इस वैदिक सिद्धान्त की विजय थी।

वायु—'वी' धातु के दो अर्थ व्याप्ति तथा प्रजनन हैं—**'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** (धातुपाठ)। तब निर्वचन का स्वरूप होगा— 'वेति व्याप्नोति प्रजनयति वा सर्वं जगत् स वायुः' सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से तथा सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने से भगवान् वायु कहाते हैं। **'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्'** इस उणादिसूत्र (१।१) का व्याख्यान करते हुए वायु का निर्वचन होगा—'वाति गच्छति जानाति वेति वायुः'। यहाँ 'गच्छति' साधारण वायु की दृष्टि से है और 'जानाति' भगवान् की दृष्टि से।

यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि हिंसार्थक धातु से धारण करना अर्थ कैसे बन सकता है। एक अन्य शंका यह भी हो सकती है कि 'बलिनां बलिष्ठः' का निर्वचन से क्या सम्बन्ध है?

प्रथम शंका का समाधान यह है कि यद्यपि धातु का सम्बन्ध तो प्रलय से ही है, तथापि उत्पत्ति के बिना प्रलय की कल्पना नहीं हो सकती, अतः अविनाभाव सम्बन्ध के कारण उत्पत्ति का स्वयं ही ग्रहण हो जाता है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने उपलक्षणपरकतया उत्पत्ति तथा स्थिति का उल्लेख भी कर दिया है।

निरुक्तकार के अनुसार तीन ही देवता हैं—अग्नि, वायु या इन्द्र तथा सूर्य—**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः'** (निरुक्त ७।५)। आगे चलकर फिर कहा है—**'या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्'** (निरुक्त ७।१०)। यहाँ पर व्याख्याकारों ने अनेक तर्क उठाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि वायु और इन्द्र ये दो नाम एक ही देवता के हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बल सम्बन्धी कार्य वायु का ही है, अतः ग्रन्थकार का वायु के सम्बन्ध में 'बलिनां बलिष्ठः' तर्कसंगत है। इस विषय—वायु के ईश्वरवाची होने में निम्न मन्त्र प्रमाण हैं—

स धाता स विधर्त्ता स वायुः।—अथर्व० १३।४।३

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः।—यजुः० ३२।१

तैजस्—निघण्टु में तेजः शब्द किरणों के पर्याय में पढ़ा है। देवराज यज्वा ने इसे **'तिज निशाने'** तथा **'तेज पालने'** दोनों धातुओं से निष्पन्न माना है। 'तिज निशाने असून् निश्यति तनूकरोति तमः पापं

---

१. धातु० २।४३॥

२. द्र०—'बस्त गन्ध अर्दने' (धातु० १०।१५२), 'अर्द हिंसायाम्' (धातु० १०।२५५)। 'गन्धनं मर्दनम्' इति क्षीरतरङ्गिण्यां क्वाचित्कः पाठः (२।४३, पृष्ठ १७८, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)।

तिज निशाने[1] **इस** धातु से तेजः, और इससे तद्धित[2] करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'तैजस'** है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं।

ईश ऐश्वर्ये[3] इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। **'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः'** जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम **'ईश्वर'** है।

वा' इस निर्वचन के अनुसार 'तेजसि=निश्यति तनूकरोति वा अज्ञानं पापं वेति तेजः' स्वार्थे अण् तैजसः—इस प्रकार यह शब्द परमात्मा का वाचक सिद्ध होता है। 'स्वप्नस्थानस्तैजसः' (माण्डूक्य १०)। इसपर गौडपादाचार्य की कारिका है—'विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्' —कारिका ३

ईश्वरः—उणादिकार की दृष्टि से ईश्वर शब्द का निर्वचन है—**'आशुः करोतीतीश्वरः'** तथा धातु होगी **'अशूङ् व्याप्तौ'**। वहाँ का सूत्र है—**'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट्'** (५।५७)। इस प्रकार ईश्वर में व्यापकत्व तथा आशुकर्त्तृत्व आता है। अथर्ववेद (११।४।१) के अनुसार **'यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्'** जो सबका ईश्वर है और जिसमें यह सब स्थित है, (वह ईश्वर कहाता है)। यजुर्वेद में बताया है—'य ईशे महतो महान्' जो महान्-से-महान् का भी सर्वोपरि स्वामी है (वह ईश्वर है)। गीता (१८।६१) में कहा है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** हे अर्जुन! ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विद्यमान है। न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर के बिना कर्मफल की व्यवस्था नहीं हो सकती—**'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'** (४।१।१९)। माण्डूक्योपनिषद् पर अपने भाष्य में गौडपादाचार्य लिखते हैं—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥ —कारिका २८

यहाँ सबके हृदय में विद्यमान प्रणव को ईश्वर का पर्यायवाची बताया है। ऋक्परिशिष्ट (२३।१८) में लिखा है—

योऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यतेऽनद ईश्वरः।
अकार्यो निर्वर्णो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

लोकलोकान्तरों के ईशनकर्त्ता=रचयिता होने से वेद जिन्हें प्राणदाता ईश्वर कहते हैं (**स उ प्राणस्य प्राणः**—केन २) जो सर्वव्यापक हैं, नित्य (अकार्य) हैं तथा अविकारी (अव्रण) हैं, वे भगवान् मेरे मन को शुभ विचारोंवाला करें।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—**'निरुपाधिकमैश्वर्यमस्येतीश्वरः'**—जिसका ऐश्वर्य निरुपाधिक है, वह ईश्वर है।

अद्वैतमतानुसार ब्रह्म तथा ईश्वर नाम से अभिहित दो स्वतन्त्रता सत्ताएँ हैं। ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष एवं निष्क्रिय सत्ता है, जबकि ईश्वर में कर्तृत्व होने से वह सृष्टि के व्यापार से सम्बद्ध है। शांकरमत में ब्रह्म के दो रूप हैं—एक परब्रह्म जो सर्वथा निर्गुण है, और दूसरा अपर ब्रह्म जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। परब्रह्म सत्तामात्र है और निर्विकल्प समाधि का विषय है। माया की उपाधि से बननेवाला अपर ब्रह्म 'ईश्वर' कहाता है जो सविकल्प समाधि का विषय है। परब्रह्म सृष्टि की उत्पत्त्यादि के बखेड़े में नहीं

---

१. धातु० १।६६८॥

२. **'प्रज्ञादिभ्यश्च'** (अ० ५।४।३८) सूत्र से प्रज्ञादि के आकृतिगण होने से स्वार्थ में 'अण्'।

३. धातु० २।१०॥

दो अवखण्डने[1] इस धातु से [नञ् अव्यय उपपद होने से][2] 'अदिति', और इससे तद्धित[3] करने से 'आदित्य' शब्द होता है। **'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः'** जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की **'आदित्य'** संज्ञा है।

ज्ञा अवबोधने[4] 'प्र' पूर्वक इस धातु से **'प्रज्ञ'** और इससे तद्धित[5] करने से 'प्राज्ञ' शब्द सिद्ध होता

पड़ता। माया की उपाधि से अभिभूत ब्रह्म का घटिया रूप ईश्वर है। वही जगत् का निमित्तोपादानकारण है। मायारूपी अपनी शक्ति (प्रकृति) के सहयोग से वह लोकों की रचना करके उनका नियमन करता है—**'ब्रह्मैव स्वशक्तिप्रकृत्यभिधेयमाश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा नियन्तृत्वादीश्वरः'**। वस्तुतस्तु ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं।

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों (वेदान्तदर्शन) में ब्रह्म का यह भेद कहीं उपलब्ध नहीं होता। ब्रह्मसूत्र का आरम्भ **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** से होता है। इस प्रकार उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म है। दूसरे सूत्र **(जन्माद्यस्य यतः)** में उसी ब्रह्म का लक्षण किया है। दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि जिज्ञास्य ब्रह्म वही है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है। शांकरमत के अनुसार तो यह लक्षण अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ठहरता है, परन्तु सूत्र में तो इस बात का संकेत तक नहीं है कि अपर ब्रह्म अथवा माया की उपाधि से ईश्वर बना हुआ ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण है। यदि दुर्जनतोषन्याय से इसे माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म मान लिया जाए तो बादरायण ब्रह्मजिज्ञासु को अध्यस्त ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के बताने के दोषी होंगे। यह जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर भेज देने जैसा होगा। फिर, जैसे सीप में अध्यस्त चाँदी के आभूषण नहीं बन सकते और रस्सी में अध्यस्त साँप के बच्चे नहीं हो सकते, वैसे ही अतात्विक=अध्यस्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती।

वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर में किंचिद् भेद नहीं है। एक होने पर भी परमात्मा को विविध नामों से पुकारा जाता है।

(In the eyes of the Hindus, there is but one Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words—'Ekam sadvipra bahudha vadanti' which may be translated as—'The sages name the One Being variously'—An Englishman defends Mother India by Ernest Wood, P.128.)

विष्णुसहस्रनाम के भाष्य से उद्धृत वचन से स्पष्ट है कि परमात्मा को ईश्वर इसलिए कहते हैं कि उसका ऐश्वर्य निरुपाधिक अर्थात् निरवच्छिन्न है, इसलिए नहीं कि वह उपाधिग्रस्त है।

आदित्य—'दो अवखण्डने' इस धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है। 'अवखण्डनं नाम विनाशः' उससे क्तिन् प्रत्यय करने से दिति शब्द होता है। दिति किसका नाम है, जिसका नाश होता है। उससे जब नञ्

---

१. धातु ४।३६॥
२. 'अदिति' शब्द की सिद्धि के लिए कोष्ठान्तर्गत पाठ आवश्यक है। तुलना करो—'शनैश्चर' नाम की व्याख्या। 'चर गतिभक्षणयोः इस धातु से शनैस् अव्यय उपपद होने से......।'
३. 'अदित' शब्द से अ० ४।१।८५ सूत्र से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होकर 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। ग्रन्थकार ने स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय माना है। अतः यहाँ 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (महा० ५।१।१२४) वार्तिक से स्वार्थ से 'ष्यञ्' प्रत्यय जानना चाहिए। चातुर्वणर्ण्यादि आकृतिगण हैं।
४. धातु० ६।४०॥
५. अ० ५।४।३८। सूत्र से स्वार्थ में 'अण्'।

समास हुआ तब अदिति शब्द सिद्ध हुआ। अदिति जिसका कभी नाश न होय। जो आदिति है, वही अदित्य है।

—सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण

यहाँ यह शंका होती है कि **'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः'** (४।१।८५) सूत्र से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है, ऐसा पाणिनि का मत है, तब स्वार्थ में ण्य प्रत्यय कैसे हो सकता है? परन्तु पाणिनि ने 'दित्यदित्यादित्य' आदि सूत्र से ण्य प्रत्यय केवल अपत्य अर्थ में विधान नहीं किया, अपितु 'प्राग्दीव्यतीयार्थ' में। 'तस्येदम्' अर्थ प्राग्दीव्यतीय है। शब्द का स्वार्थ भी 'तस्य-इदम्' उसका सम्बन्धी है। अतः यहाँ **'तस्येदम्'** (४।३।१२०) सूत्र से स्वार्थ में ण्य हो सकता है। सूत्रकार ने इसी सूत्र से आदित्य शब्द से भी तो ण्य प्रत्यय का विधान किया है। यह आदित्यपद अपत्यार्थक प्रत्यय के बिना ही तो बना है। अपत्यार्थक प्रत्यय अपत्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी हुआ करते हैं, ऐसा प्राचीन आचार्यगण मानते चले आये हैं। पूर्वमीमांसा के वेदापौरुषेयाधिकरण में **'बवरः प्रावाहणिरकामयत'** इस वाक्य में प्रावाहणि कोई प्रवाहण का पुत्र व्यक्तिविशेष नहीं है, यह प्रतिपादन करते हुए पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी लिखते हैं—**'इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः तथा क्रियायामपि कर्तरि, तस्माद् यः प्रवाहयति, स प्रवाहणिः'** (पूर्वमीमांसा १।१।८।३०) अर्थात् अपत्यार्थक इञ् कर्त्ता अर्थ में भी होता है। इसी प्रकार यहाँ उपत्यर्थक ण्य प्रत्ययस्वार्थ में हुआ है, परन्तु इस इञ् से उपसर्ग और धातु दोनों में वृद्धि नहीं हो सकती।

उपनिषत्कार इसका निर्वचन भिन्न प्रकार से करते हैं—**'यस्मात्सर्वमादत्ते तस्मादादित्यः'** सबका आदान करने से भगवान् आदित्य कहाते हैं। (तुलना करें—**यस्मात् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च**.....शाण्डिल्योप० ३।२।१) यहाँ प्रथम **'आदानात् अदितिः तस्य भावः आदित्यः'** यह स्वरूप समझना चाहिए। बृहदारण्यक में आङ्पूर्वक दद और इण् धातु से आदित्य बनाया है। वहाँ का निर्वचन है—**'ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति'** (बृहद० ३।६।५)।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में आदित्य पद के ये निर्वचन मिलते हैं—(क) **'अदिताया अखण्डितायाः पतिः'** (ख) **'आदित्यात् साधर्म्याद् आदित्यः'**। आशय यह है कि भगवान् अपनी अखण्डता— अविनाशिनी शक्ति के स्वामी हैं, इसलिए उन्हें आदित्य कहते हैं अथवा आदित्य सबका प्रकाशक है, उसी सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के प्रकाशक होने से भगवान् आदित्य कहाते हैं। आदित्य के परमात्मवाची होने के कतिपय प्रमाण—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । —यजुः० ३२।१
सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम०पू०१।२।१०।१
असौ वा आदित्यो ब्रह्म । —शत० ७।४।१।१४
आदित्यो वै ब्रह्म । —जै०उ० ३।४।६
हन्तेति चन्द्रमा ओमित्यादित्यः । —जै०उ० ३।६।२
ओमित्यादित्यः । —जै०उ० ३।१३।१२

प्राज्ञः—स्वार्थ में अण् प्रत्यय लगकर प्रज्ञ से प्राज्ञ शब्द बनता है। प्राज्ञ शब्द के निम्न निर्वचन भी बनते हैं—

प्रज्ञा अस्यास्तीति प्राज्ञः—यह निर्वचन वैयाकरणों का है।

है । **'यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः'** जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे ईश्वर का नाम **'प्राज्ञ'** है । इत्यादि नामार्थ मकार [मात्र] से गृहीत होते हैं । जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहाँ व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं ।

[मन्त्रगत 'मित्र' आदि नामों की व्याख्या]

जो **(शन्नो मित्रः शं व०)** इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं, वे भी परमेश्वर के हैं, क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है । **'श्रेष्ठ'** उसको कहते हैं—जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो । उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ, उसको **'परमेश्वर'** कहते हैं । जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा । जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है ? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं है । जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं ।

प्रकृष्टा ज्ञा यस्य स प्रज्ञ, प्रज्ञः एव प्राज्ञः, अर्थात् जिनमें प्रकृष्ट ज्ञान विद्यमान है । **'प्राज्ञः सुषुप्तस्थान'ः** (माण्डूक्य ११)।

'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तौ न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृहदारण्यक ४।३।२१) । यह पुरुष (जीवात्मा) प्राज्ञेनात्मना (परमात्मा) के साथ सम्पर्क में आया हुआ न कुछ बाहर जानता है, न अन्दर ।

श्रेष्ठः—श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ —६।८

अर्थात् वह (परमात्मा) न किसी का उपादानकारण है और न उसका कोई कारण है । न उसके समान कोई है और न ही कोई उससे बड़ा है । उसकी महती शक्ति सुनी जाती है—उसका ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है ।

वस्तुतः चेतन सत्ता न किसी का कार्य होती है और न किसी का उपादानकारण हो सकती है । वह नित्य है । सांसारिक मित्रादि नश्वर हैं । एक-दूसरे की अपेक्षा से छोटे-बड़े भी हैं । इसलिए उपासना के प्रसंग में 'महेश्वर' एवं 'परमदेव' (**तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्**—श्वेत० ६।७) ही सर्वश्रेष्ठ होने से उपासना के योग्य है—वही 'ईड्य' है ।

शन्नो मित्र—'देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुताः' (ऋक्० १।६४।१३) अर्थात् आप देवों के देव और अद्भुत मित्र हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में आता है—**'ब्रह्म वै मित्रः'** (शत० ४।१।४।१) ; **'ब्रह्म हि मित्रः'** (शत० ५।३।२।४) ।

मित्रं पवित्रं वनितां विनीतां सम्पत्तिमापत्तिहरीमुर्के ।
त्येजत् स्वतः को गुणवान् समर्थो वैधोऽन्तरायो यदि नान्तरो स्यात् ॥

इस और ऐसे अनेक वाक्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि देवतावाचक सूर्यार्थक मित्र शब्द पुल्लिंग होता है और सखिवाचक नपुंसकलिंग, परन्तु वेद में अनेक स्थलों पर मित्र शब्द सखिवाचक होते हुए भी पुल्लिंग में आया है । ऊपर उद्धृत मन्त्र (ऋक्० १।६४।१३) में मित्र शब्द स्पष्ट ही सबके सखा परमात्मा के लिए आया है, सूर्य के लिए नहीं । यह शब्द सखावाचक है, इसके लिए इस मन्त्र पर सायण का भाष्य द्रष्टव्य है—

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य-दानवादि निकृष्ट मनुष्य, और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सबको करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना-विषय में किया जाएगा।

[मित्रादि यहाँ ईश्वर के ही वाचक हैं]

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा, और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर—यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता, इसलिए परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, **गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।**

ञिमिदा स्नेहने[1] इस धातु से औणादिक **'क्त्र'**[2] प्रत्यय के होने से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। **'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः'** जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

वृञ् वरणे; वर ईप्सायाम्[3] इन धातुओं से उणादि **'उनन्'**[4] प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् शिष्टान्मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'** जो आत्मयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता, अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर **'वरुण'** संज्ञक है। अथवा **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** जिसलिए परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिए उसका नाम **'वरुण'** है।

'हे अग्ने देवो द्योतमानस्त्वं देवानां सर्वेषामद्भुतो महान् मित्रोऽसि प्रौढः सखा भवसि।'

इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र और उसपर सायणभाष्य भी ग्रन्थकार के मत का पोषक है—

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥

—ऋक्० १।७५।४

इसपर सायणभाष्य—**"हे अग्ने त्वमुक्तप्रकारेणाचिन्त्यरूपोऽप्यनुग्रहीतृतया सर्वेषां जनानां जामिर्बन्धुरसि, तथा प्रियः प्रीणयिता त्वं यजमानानां मित्रः प्रमीतेस्त्रायकोऽसि।"** **'मित्रं वयं हवामहे'** (ऋक्० १।१३।४) इन दोनों मन्त्रों में मित्र शब्द पुल्लिंग होते हुए भी स्पष्टतः सखावाचक है।

---

१. धातु० ४।१२६॥

२. 'अमिचिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः' (उ० ४।१६५) से। सूत्र का यही प्रायिक पाठ है। उणादिकोष ४।१६५ में 'अमिचिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः' पाठ मानकर 'मिञ्' (स्वादि) धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है।

३. वृञ्–धातु० ५।५८; 'वर' –धातु० १०।२८०॥

४. **कृवृदारिभ्य उनन्** (उ० ३।५३) बहुल-ग्रहण से 'वर' धातु से भी 'उनन्' जानना चाहिए।

ऋ गतिप्रापणयोः[1] इस धातु से **'यत्'**[2] प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है, और **'अर्य्य'** पूर्वक **माङ् माने**[3] इस धातु से **'कनिन्'**[4] प्रत्यय होने से **'अर्य्यमा'** शब्द सिद्ध होता है। **'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्य्यमा'** जो सत्यन्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करनेवालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम **'अर्य्यमा'** है।

वरुण— **मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।**
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ —यजुः० ३२।१५

इस मन्त्र में सर्वश्रेष्ठ वरुण परमात्मा और अग्नि, प्रजापति आदि नामक परमात्मा से मेधा की प्रार्थना की गयी है। मैत्र्युपनिषद् में कहा है—

त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः । —५।१

सन्ध्या के अन्तर्गत 'प्राची दिगग्निः' आदि मनसापरिक्रमा के मन्त्रों तथा उनके ऋषिकृत अर्थों को देखकर यह भ्रान्ति हो सकती है कि अग्नि, वरुण आदि शब्द दिक्पालों के वाचक हैं, परमात्मा के नहीं। परन्तु मनसापरिक्रमा मन्त्रों के अर्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

'सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं सन्ध्यायामग्न्यादिभिः नामभिः प्रार्थयेत्' अर्थात् सन्ध्या में अग्न्यादि नामों से सब दिशाओं में व्याप्त परमेश्वर से प्रार्थना करे। **'प्रतीची दिग्वरुणो.........'** मन्त्र का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—**'वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरः'** (पञ्चमहायज्ञविधि)।

अर्यमा—भाषा की दृष्टि से निर्वचन होगा—**'ऋच्छति मनुष्याणां शुभाशुभानि कर्माणि जानाति अथ च तेभ्यस्तेषां फलानि प्रापयतीत्येतदर्यमा'**। ऐसा निर्वचन होने पर यह शब्द ऋ धातु से मनिन् प्रत्यय होकर निपातन से सिद्ध होगा। 'श्वन्-उक्षन्-पूषन्' इत्यादि उणादिसूत्र का व्याख्यान करते हुए ग्रन्थकार ने एक और निर्वचन किया है—**'अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति वा अर्यमा'** शुभाशुभ कर्मों के ज्ञानपूर्वक फलप्रदाता होने से, शुभाशुभ कर्मों को जानकर फलांश में उनका नियमन करने से, सत्यवक्ता, न्यायकारी मनुष्यों को सम्मानकर्त्ता होने से भगवान् अर्यमा कहाते हैं।

वैयाकरण अर्यमा का निर्वचन **'ऋ गतौ'** जुहोत्यादिगणी धातु से करते हैं। तब निर्वचन का स्वरूप होगा—**'इयर्तीत्यर्यमा'**। इस अवस्था में सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् अर्यमा है, क्योंकि गति से ज्ञान, गमन और प्राप्ति गृहीत होती है। ब्राह्मणकार कहते हैं—**'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'** (तै०ब्रा० १।१।२।४)। आशय यह है कि जो दाता है वह अर्यमा है। तब निर्वचन होगा—**'अरं गच्छतीत्यर्यमा'** (तै०ब्रा० १।१।२।४) सर्वकर्मफल प्रदाता ईश्वर ही है, यह सर्वथा सत्य है।

अथर्ववेद में कहा है—**'सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः'** (१३।४।५); वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वह अग्नि है, वह सूर्य है और वही महायम है। वहीं आगे कहा है—

---

१. धातु० १।६७०॥

२. अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अ० ३।१।१०३) सूत्र में स्वामी अर्थ में यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है।

३. धातु० ३।६॥

४. श्वन्नुक्षन्.......अर्यमन्......(उ० १।१५६) में कनिन्-प्रत्ययान्त निपातित है।

इदि परमैश्वर्ये[1] इस धातु से 'रन्'[2] प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः'** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे उस परमात्मा का नाम **'इन्द्र'** है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक पा रक्षणे[3] इस धातु से 'डति'[4] प्रत्यय, बृहत् के तकार का लोप और सुडागम[5] होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः'** जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चतु नामुतः ॥ —अथर्व० १४।१।१७
इन्द्र—सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रनोनुमो जेतारमपराजितम्। —साम० उ० २।१।१६

कौषितकि ब्राह्मण का वचन है—**'तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति'**। —६।१४

शंकराचार्य भी इन्द्र शब्द से देवराज इन्द्र नामक व्यक्तिविशेष का ग्रहण नहीं करते। बृहदारण्यक २।५।१६ के भाष्य में उन्होंने लिखा है—**'इन्द्रः परमेश्वरः'**।

बृहस्पति—ग्रन्थकार ने 'बृहत्' तथा 'पति' इन दो शब्दों से मिलाकर बृहस्पति शब्द को बनाया है। (द्रष्टव्य—**तद् बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च** (महाभाष्य ६।१।१५७)। इस शब्द के निर्वचन सम्बन्धी पाश्चात्य मत के निराकरण के लिए श्री युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थ का अध्याय ८ देखना चाहिए।) यहाँ बृहस्पति शब्द के तीन अर्थ किये हैं—

१. **बड़ों से भी बड़ा**—निरुक्तकार बृहत् पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं—**'बृहदिति महतो नामधेयम् परिवृढं भवति'** (नि० १।७)। परिवृढ शब्द के विषय में पाणिनि कहते हैं—**'प्रभौ परिवृढः'** (७।२।२१) अर्थात् परिवृढ का अर्थ है— प्रभु वा पति। इस प्रकार बृहस्पति का अर्थ हुआ बड़ों-से-बड़ा।

२. **आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी**—जड़ पदार्थों में आकाश, काल, दिक् आदि महान् हैं। ब्रह्माण्ड भी महान् है। इन बड़ों के पालक, रक्षक भगवान् बृहस्पति हैं। इस प्रकार आकाशादि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं।

३. **ब्रह्मादिकों का स्वामी**—चेतनों में ब्रह्मा सबसे बड़े हैं, वे महान् हैं, पूज्य हैं, क्योंकि वे सृष्टि के आदि में उत्पन्न होनेवाले चारों वेदों के प्रवक्ता महापुरुष हैं—**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८)। इन ब्रह्मा को उत्पन्न करके वेद का ज्ञान देनेवाले भगवान् निश्चय ही ब्रह्मा से बड़े हैं। आशय यह है कि जड़-चेतन जगत् में सबसे बड़े होने से भगवान् बृहस्पति कहाते हैं।

पति का अर्थ योगक्षेम करनेवाला भी होता है। इस प्रकार **'बृहतां ब्रह्माण्डानां पतिः योगक्षेमकरः बृहस्पतिः'** भगवान् ही समस्त चराचर के पालक एवं संरक्षक हैं। पति शब्द **'पा पाने'** से भी बनता है।

---

१. धातु० १।५१॥
२. **ऋज्रेन्द्राग्र०** (उ० २।२६) सूत्र में रन्-प्रत्ययान्त निपातित है।
३. धातु २।४६॥
४. **पातेर्डतिः** ॥ उ० ४।५८॥
५. **तद् बृहतोश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च** (गण० ६।१।१५१ के) पारस्करादिस्थ गणसूत्र से।

विष्लृ व्याप्तौ[1] इस धातु से 'नु'[2] प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः'** चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

'उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्तपराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है।

तब बृहतः—**'ब्रह्मणः तृणपर्यन्तान् लोकान् पिबति विनाशकाले इति बृहस्पतिः'** अर्थात् प्रलयकाल में बड़े-बड़े लोकलोकान्तरों को अपने में लीन करनेवाला होने से भगवान् बृहस्पति है।

सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम० ९१

इस मन्त्र में परमात्मा के कई नाम आये हैं, उन्हीं में एक बृहस्पति है।

कतिपय अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं—'स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु' (ऋक् ० १।८९६) ; **'ब्रह्म वै बृहस्पतिः'** (ऐत० १।१३।१।१६ ; कौषी० ६।१० ; शत० ३।१।१४-१५ ;जै०उ० १।३७।६) ; **'ब्रह्म बृहस्पतिः'** (गोपथ० ६।७)।

विष्णु— 'यस्माद् विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥' —विष्णु० ३।१।४५

अर्थात् जो समस्त जगत् में व्यापक हो, वह विष्णु है। व्याप्ति अर्थवाले विष्लृ धातु से नुक् प्रत्यय लगकर विष्णु शब्द बनता है। इसलिए वह विष्णु कहाता है।

उरुक्रमः—इस शब्द का यह निर्वचन भी हो सकता है—**'उरुः महान् क्रमः क्रान्तिर्यस्य'** अर्थात् जिसकी क्रान्ति महान् है। जो **'धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** (ईश ४) बैठा-बैठा ही दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है, क्योंकि वह 'पूर्वमर्षत्' सर्वव्यापक होने से पहले ही सर्वत्र विद्यमान है=पहुँचा हुआ है—यही उसकी क्रान्ति है। निम्न स्थल पर उरुक्रम शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त हुआ है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवमवो भवन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥

—ऋक् ० १।१५४।५

वाचस्पत्य कोष में उरु शब्द का अर्थ लिखा है—**'उरवो भूम्यादिव्यापकत्वात् क्रमाः पादविक्षेपो यस्य ।'**

मित्रादि शब्दों की व्याख्या के अनन्तर ग्रन्थकार ने लिखा है—

'ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान् इत्यादि ।'

परन्तु इससे पूर्व वे बलपूर्वक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे हैं कि वेदों में किन्हीं व्यक्ति-विशेष के नाम न होकर यौगिक अर्थों के आधार पर परमेश्वर के ही वाचक हैं और उसके विविध प्रकार के गुणों या धर्मों का बोध कराते हैं। इससे ग्रन्थकार वदतोव्याघात के दोषी हैं, क्योंकि ये दोनों पाठ परस्पर विरोधी हैं। ग्रन्थकार के मन्तव्य को भली प्रकार न समझने के कारण यह बात कही जा सकती है। वास्तव में उन्होंने यह कहीं भी नहीं लिखा कि ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य पदार्थों या मनुष्यों के नाम नहीं हो सकते। इनका कहना है कि—

---

१. धातु ३।१३॥
२. विषेः किच्च । उ० ३।३९॥

जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त, (मित्रः) सबका सुहृत्, अविरोधी है, वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम, वह (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्य्यमा) [न्यायाधीश, वह] (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) [सकल ऐश्वर्यवान्], (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सबका अधिष्ठाता, विद्याप्रद, और (विष्णुः) जो सबमें व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा (शम्)[1] कल्याणकारक (भवतु) हो ।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) **बृह बृहि वृद्धौ**[2] इन्[3] धातुओं से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध हुआ है। जो सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा, अनन्तबलयुक्त परमात्मा है, उस **'ब्रह्म'** को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! (त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि) आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। (त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि) मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सबको नित्य ही प्राप्त हैं। (ऋतं वदिष्यामि) जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है, उसी को मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूँगा। (सत्यं वदिष्यामि) सत्य बोलूँ सत्य मानूँ और सत्य ही करूँगा। (तन्मामवतु) सो आप मेरी रक्षा कीजिए। (तद्वक्तारमवतु) सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो, क्योंकि जो आपकी आज्ञा है वही **'धर्म'** और जो उससे विरुद्ध वही **'अधर्म'** है।

"ओं यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियामक हैं।"

मनुस्मृति के निम्न श्लोक से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

वाचस्पति, वरुण, बृहस्पति, आदित्य, विश्वेश्वर आदि नाम परमेश्वर के भी हैं और लोक में अनेक मनुष्यों के भी, परन्तु जहाँ वेद में ये नाम यौगिक हैं वहाँ लोक में रूढ़ हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह समझने की है कि व्यक्तिवाचक नाम वेद से लोक में आये हैं, लोक से वेद में नहीं।

मित्र आदि शब्दों से मुख्य अर्थ में परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए, गौण अर्थ में सुहृद् आदि का ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार माता, पिता, पति आदि शब्दों से मुख्यरूप में परमेश्वर का तथा गौणरूप से इन सम्बन्धों से निर्दिष्ट मनुष्यों का ग्रहण करना युक्त है। कारण ? पूर्णरूप से इन शब्दों के अर्थ परमेश्वर में ही घट सकते हैं। अन्य वस्तुओं में तो इन अर्थों का कुछ अंश ही पाया जाता है। जैसे—अग्नि का गुण प्रकाश है, किन्तु भौतिक अग्नि में तो बहुत कम प्रकाश होता है और वह भी कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत परमेश्वर नित्य प्रकाशस्वरूप है। यही स्थिति अन्य नामों की समझनी चाहिए। इसलिए अग्नि आदि नामों से मुख्यरूप से परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्यक्ष ब्रह्म—प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण न्यायदर्शन में इस प्रकार किया है—**"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"** (१।१।४)। एतदनुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना

१. वैयमु० संस्करणों में '(शम्)' पद पूर्व पंक्ति में 'विद्याप्रद' शब्द से पूर्व अस्थान में पठित है।

२. धातु० १।४८८॥

३. बृंहेर्नोच्च (उ० ४।१४७) सूत्र से 'बृहि (बृंह) धातु से बनाया है। 'बृह' पक्ष में बहुलग्रहण से 'अम्' आगम जानना चाहिए।

किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। परमेश्वर इन्द्रियातीत है—इस विषय में सभी एकमत हैं। इसलिए ग्रन्थकार का परमेश्वर के लिए **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** कहना किसी प्रकार उपपन्न नहीं होता, किन्तु ग्रन्थकार का यह कथन उपनिषत्कार के अनुकूल है और उपनिषत्कार साक्षात्कृतधर्मा ऋषि है। इसलिए यह वचन अन्यथा नहीं हो सकता।

चक्षु, श्रोत्रादि पाँच बाह्येन्द्रियाँ हैं। इनसे अतिरिक्त एक आन्तरेन्द्रिय 'मन' है। (**'एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्'**; **'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्'** (सांख्य २।१७,१६) अर्थात् कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है।) चक्षु आदि इन्द्रियों के वर्ग में मन का उल्लेख इनके धर्मभेद के कारण नहीं किया जाता। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से याथायथ इनकी उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मन अभौतिक पदार्थ है, पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के समान रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर मन रूप, रस आदि सभी का ग्रहण करता है। बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का यह भेद होने के कारण इन्द्रियवर्ग में इसका पाठ नहीं किया जाता, परन्तु है यह एक आन्तर इन्द्रिय और इसी के द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का (मानस) प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द, स्पर्श आदि की सूचनामात्र हैं। मन में इन सबकी सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेत रूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। वस्तुतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है।

जिस प्रकार घ्राण आदि के द्वारा गन्ध आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से गुणी पृथिवी का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही परमात्मा के लिङ्गों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। जगद्रचना को देखकर उसके रचयिता का, नियमों के उपपन्न होने से उसके नियामक का, कर्मफलव्यवस्था को देखकर उसके व्यवस्थापक का ऐसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे बग़ीचे की शोभा और व्यवस्था को देखकर माली का। कलाकृति को चक्षु से प्रत्यक्ष करते हुए कलाकार का मानस प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस व्यवस्था का मूल ऋग्वेद के इस मन्त्र में उपलब्ध है—

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना। —८।१००।४

परमेश्वर कहता है— हे स्तुतिकर्त्ता! मैं तेरे सामने प्रत्यक्ष हूँ। मुझे यहाँ इस जगत् के रूप में देख। मैं अपने महान् सामर्थ्य से सब पदार्थों को वश में किये हुए हूँ।

उपनिषद् ने उसे **'आविः सन्निहितं गुहाचरन्'** (मुण्डक० २।२।१) प्रकट, निकट और हृदय में स्थित बताया है। यजुर्वेद (४०।५) में उसे **'तद्दूरे तद्वन्तिके'** दूर और निकट कहा है। अपने ही भीतर निकटस्थ होने से उसे देखा जा सकता है—**'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। सूक्ष्म बुद्धिवाले सूक्ष्मदर्शी योगियों के लिए वह प्रत्यक्ष है, चर्मचक्षुओं से देखनेवालों के लिए परोक्ष है। महर्षि दयानन्द वेदविद्या में पारङ्गत, परम तपस्वी एवं योगविद्या में निष्णात योगी थे। साक्षात्कृतधर्मा होने के कारण ही उन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में घोषणा की—**'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** और अपनी प्रतिज्ञा का उन्होंने अक्षरशः पालन किया। इसलिए ग्रन्थ में अन्त में घोषणा की—**'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्'**। इस प्रसंग में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ और महर्षि के शिष्य एवं वेदभाष्य में उनके सहयोगी पं० ज्वालादत्त

शर्मा के बीच हुआ निम्न वार्तालाप द्रष्टव्य है—

आचार्यजी ने पं० ज्वालादत्त से पूछा कि स्वामीजी वेदभाष्य कैसे करते थे ? पण्डितजी ने बतलाया—

"प्रातः नित्यकर्मों से निपटकर हम सब पण्डित (३ या ४) नियत समय पर, नियत स्थान पर एकत्र हो जाते थे। इतने में स्वामीजी आ विराजते। आते ही स्वामीजी कहते—चलो, वेदमन्त्र पढ़ो। हममें से कोई वेदमन्त्र पढ़ता था (प्रायः मैं ही पढ़ता था)। दो-तीन बार वेदमन्त्र पढ़ने के पश्चात् स्वामीजी हमको पदच्छेद, अन्वय लिखाते थे फिर पूछते, निरुक्त क्या कहता है, पूर्वमन्त्र में क्या है, अगले मन्त्र को पढ़ो इत्यादि। यह सब-कुछ हो जाता तब स्वामीजी पासवाले कमरे में चले जाते, कमरे के दरवाज़े बन्द हो जाते और घण्टे के पश्चात् स्वामीजी बाहर आकर संस्कृत में भाष्य लिखवाते, भावार्थ भी लिखवाते। फिर हमसे कहते कि इसकी हिन्दी करदो। भीतर कमरे में स्वामीजी समाधि लगाते थे। उनकी समाधि का फल ही वेदभाष्य है। किसी-किसी समय स्वामीजी आध घण्टे में ही बाहर आ जाते थे। स्वामीजी की समाधि और तर्क-ऋषि ही निर्णय करते थे।

इस कथन की पुष्टि स्वामीजी के साक्षात्कर्त्ता इतिहासपुरुष श्री नथमल तिवाड़ी के 'परोपकारी' के अगस्त १९८६ के अंक में प्रकाशित लेख से भी होती है। ऋषि दयानन्द को परमेश्वर प्रत्यक्ष था। परमेश्वर से अनभिज्ञ व्यक्ति न वेदों का सत्यार्थ कर सकता था और न **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** की घोषणापूर्वक प्रतिज्ञा कर सकता था।

ऋत एवं सत्य—वेदों में अनेकत्र ऋत और सत्य का एक साथ प्रयोग पाया जाता है। **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** (ऋ० १०।१९०।१) इस मन्त्र में भी ये दोनों शब्द एक साथ आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द एक वर्ग के किन्तु सर्वथा एकार्थवाची नहीं हैं। ऋग्वेद ९।११३।८ में ऋत शब्द सत्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है—**'ऋतवाकेन सत्येन'**। इससे स्पष्ट है कि सत्य से ऋत ऊँची वस्तु है। सत्य कैसा हो ? ऋतवाक् हो, अर्थात् सत्य की वाणी में ऋत हो। यह सब देखकर निष्कर्ष यह निकलता है कि ऋत दैवीय नियम है, सत्य सामाजिक नियम हैं। ऋत अखण्ड ईश्वरीय विधान के लिए प्रयुक्त हुआ है और सत्य सामाजिक विधान के लिए। ईश्वरीय विधान अखण्ड, अपरिवर्तनीय है; सामाजिक विधान सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए सामाजिक विधान ईश्वरीय विधान के अनुकूल होना चाहिए।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में अनेकशः इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। उनके विचारों के अनुसार—

ऋतम्—यथार्थसर्वविद्याऽधिकरणं वेदशास्त्रम्; ऋतस्य प्राप्तसत्यस्य; सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा।

सत्यम्—यद् वेदविद्यया, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः, विदुषां सङ्गेन सुविचारणाऽऽत्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं, सर्वहितं, तत्त्वनिष्ठं, सत्यप्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्।

जब मनुष्यों में वेद का ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान, अधीत ज्ञान और अनुभूत ज्ञान समा जाता है तब वह कह सकता है—**'ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि'**। उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्याओं के आदिमूल वेदों का प्रकाश हुआ और उसी से त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्राकृत जगत् का आविर्भाव हुआ। मैं अध्यात्म तथा भौतिक दोनों क्षेत्रों में सत्य का पोषण और असत्य का खण्डन करूँगा। सत्यार्थप्रकाश में ग्रन्थकार ने इस प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन किया है। इसी कारण उन्होंने अन्त में लिखा—**'ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम्'**।

(अवतु मामवतु वक्तारम्) यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ[1] के लिए है। जैसे—**'कश्चित् कश्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ'** इसमें दो बार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहाँ कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो, अर्थात् धर्म से सुनिश्चित प्रीति और अधर्म से घृणा सदा करूँ, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा।

[त्रिविध ताप-निवारण]

(ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) इसमें तीन बार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविध ताप अर्थात् इस संसार में **तीन प्रकार के दुःख हैं**। एक **'आध्यात्मिक'**[2] जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग-द्वेष मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा **'आधिभौतिक'** जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा **'आधिदैविक'** अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिए, क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता, और धार्मिक मुमुक्षुओं के कल्याण के दाता हैं। इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिए कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त हों, और दुःखों से पृथक् रहें।

सत्य का अनुष्ठान अत्यन्त दुष्कर है। **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥'** (मनु० ४।१३८) ; **'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः'** (महा० उद्योगपर्व) **'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'** इतने अवरोधों के होते हुए सत्यवक्ता होना छुरे की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** (कठ० ३।१४)।

इस कठिन मार्ग पर दयानन्द जैसे दृढ़व्रती ही चल सकते हैं—**'दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'** (कठ० ३।१४)। इसपर चलते हुए ग्रन्थकार को कितनी विघ्न-बाधाओं से जूझना पड़ा, यह सर्वविदित है। अचिन्त्य भगवान् के अनुग्रह के बिना यह सम्भव न होता। इसलिए ग्रन्थकार ने अत्यन्त विनीत शब्दों में भगवान् की रक्षा की प्रार्थना की है।

'तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्' इस कथन में पुनरुक्तिदोष प्रतीत होता है। वास्तव में 'प्रयोजनशून्यत्वे पदवाक्ययोः पुनः पुनः कथनं पुनरुक्तिदोषः'—शब्द या वाक्य का बार-बार निष्प्रयोजन बोलना पुनरुक्तिदोष कहलाता है, परन्तु जहाँ शब्द या शब्द-समूह का बार-बार प्रयोग सोद्देश्य होता है वहाँ वह पुनरुक्त न होकर 'अनुवाद' कहाता है। **'अनुवादोपपत्तेः'** न्यायदर्शन के इस (२।१।६०) सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायनभाष्य में लिखा है—

अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासोऽनुवादः शीघ्रतरगमनोपदेशात्। अर्थात् निरर्थक पुनररुक्ति दूषित होती है। यहाँ **'मामवतु तद्वक्तारमवतु'** का दूसरी बार कहना वक्ता की भावना की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए है।

सूर्य—**'सूर्यात्मा जगतस्तस्थुषश्च'** (यजुः० ७।४२) यह लिङ्ग है। सूर्य का अर्थ परमेश्वर करने में निरुक्तकार सूर्य का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

---

१. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते ॥ निरुक्त १०।४२॥

२. इन पदों की व्याख्या देखो—स०प्र० समु० ६ के अन्त में।

[अन्य ईश्वर-नामों की व्याख्या]

'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' । इस यजुर्वेद[1] के वचन से जो 'जगत्' नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने, और स्वप्रकाशरूप, सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम **'सूर्य्य'** है ।

अत सातत्यगमने[2] इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है । **'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा'** जो सब जीवादि चराऽचर जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है । [3]**'परश्चासावात्मा च, य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा'** जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट, और जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म, और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम **'परमात्मा'** है ।

सामर्थ्यवाले का नाम 'ईश्वर' है । **'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः'** जो ईश्वरों का ईश्वर अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम **'परमेश्वर'** है ।

'सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा' (निरुक्त १२।१४) निरुक्तकार के ये वचन भौतिक सूर्य की दृष्टि से हैं, किन्तु निम्नरूप में ये निर्वचन भगवत्परक हो जाते है—

(क) 'सरति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् स सूर्यः'—सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् सूर्य है ।

(ख) 'सुवति प्रेरयति चराचरं स्वस्वकर्मसु इति सूर्यः'—सम्पूर्ण जगत् के प्रेरक होने से भगवान् सूर्य हैं । गीता में कहा है—**'अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'** (गीता १०।८) ।

(ग) 'सुष्ठु ईर्यन्ते कम्प्यन्ते स्वीर्यन्ते उपताप्यन्ते वा दस्यवः अनेनेति सूर्यः'—दुष्टों का उपतापन करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं ।

निघण्टु व्याख्याकार यज्वा महोदय ने सूर्य शब्द की व्याख्या में दो अन्य निर्वचनों का निर्देश किया है—

(क) 'सूर्यो मेधाविनस्तानर्हतीति सूर्यः' ।

(ख) 'सूरिषु साधुरिति सूर्यः' ।

ये दोनों निर्वचन परमेश्वर के अर्थ में सुसंगत हैं । भगवान् को मेधावी पुरुष ही पा सकते हैं, तथा मेधावियों के प्रति वह साधु भी है । सूरि का लक्षण है—

आत्मन्येव गतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले ।
ते सूरा इति विख्याताः सूरयश्चापि ते मताः ॥

आशय यह है कि सूर तथा सूरि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं । जो अविचल भाव से भगवान् का ध्यान करते हैं, भगवान् से प्रेम करते हैं, वे 'सूर' या 'सूरि' कहाते हैं ।

निघण्टु में स्वृ धातु पूजार्थक भी पढ़ी है—**'स्वरतिरर्चतिकर्मा'** (निघण्टु ३।१) । 'स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः' अर्थात् भक्तजनों द्वारा पूजित होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं ।

विशिष्टाद्वैतमतानुसारी भाष्य में लिखा है—**'सरत्यस्मादिति सूर्यः'** क्योंकि उसके भय से सारा संसार

---

१. यजुः० ७।४२॥

२. धातु० १।३१॥ इस धातु से 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' (उ० ४।१५४) से 'आत्माशब्द सिद्ध होता है ।

३. यहाँ 'परम्' अर्थवाले 'पर' शब्द से अर्थ-निर्देश किया है । विग्रह 'परमश्चासावात्मा परमात्मा' ही जानना चाहिए ।

नियमित रूप से चलता है, इसलिए परमात्मा का नाम सूर्य है। इस निर्वचन का मूल उपनिषदों में विद्यमान है—

(क) **'भीषाऽस्मात् पवते वातः भीषोदेति सूर्यः'** । —तै०उ० ब्रह्म ८

(ख) **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** ।—कठ० ५।११

निम्न वाक्यों में सूर्य पद ईश्वरवाची है—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

—ऋक्०१।५०।१ ।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में विद्यमान भगवान् सूर्य चराचर के आत्मा को सबके दिखाने के लिए सब पदार्थ चिह्न होकर उत्तमता से धारण कर रहे हैं।

'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा' (शत० १३।३।२।६)—सूर्य (परमात्मा) सब पदार्थों का जीवनाधार है।

आत्मा—उणादिकोश में 'सातिभ्या मनिन्मनिणौ, (४।१५३) की व्याख्या में **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा स आत्मा'** यह निर्वचन जीव तथा ईश्वर दोनों की दृष्टियों से किया गया है। जीव कर्मफल पाने से आत्मा है और ईश्वर व्यापक होने से। ग्रन्थकार जीव को परिच्छिन्न मानते हैं, विभु नहीं।

आचार्य यास्क आत्मा शब्द को 'आप्लृ' धातु से निष्पन्न मानते हैं—

'आत्मा अततेर्वा आप्नोतेर्वा आप्त इव स्याद् यावत् व्याप्तिभूतः' (निरुक्त ३।१५) । इस अवस्था में निर्वचन होंगे—

(क) आप्नोति सर्वं व्याप्नोतीत्यात्मा।

(ख) सर्वत्र आप्त इव प्राप्त इवेत्यात्मा।

द्वितीय निर्वचन में 'इव' न उपमा में है, न उत्प्रेक्षा में। अपितु 'एव' (ही) अर्थ में है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त ही है, इसलिए आत्मा है।

निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी इस शब्द के मूल में आङ्पूर्वक **तनु विस्तारे, डुदाञ् दाने** तथा **अद् भक्षणे** धातु भी मानते हैं—'आतनोतेराददातेरत्तेराप्नोतेर्वा आत्मा' । तदनुसार निर्वचन होंगे—

(क) आतननात् आत्मा।

(ख) जीवेनान्तःकरणेनादत्त इत्यात्मा।

(ग) आसमन्ताद् अत्तीत्यात्मा।

वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा के निर्वचन चार भिन्न धातुओं से किये गये हैं—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति गीयते ॥

तदनुसार निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) आप्नोति विषयान् इत्यात्मा।

(ख) आदत्ते विषयान् इत्यात्मा।

(ग) अत्ति विषयान् इत्यात्मा।

(घ) अतति सातत्येन गतो भवतीत्यात्मा।

ये चारों निर्वचन जीवात्मा की दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा तथा परमात्मा में अभेद होने से इन्हें परमात्मपरक माना जा सकता है। अथवा धातुओं का कर्मपरिवर्तन कर देनेमात्र से

ये चारों निर्वचन भगवान् में भी सुसंगत हो जाते हैं—

(क) आप्नोति व्याप्नोति जगद् इत्यात्मा परमेश्वरः ।
(ख) आदत्ते प्रलयकाले जगद् इत्यात्मा ।
(ग) अत्ति विनाशकाले जगद् इत्यात्मा ।
(घ) अतति सन्ततो भवतीत्यात्मा ।

निम्न स्थलों में आत्मा शब्द भगवान् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

चित्रं देवानां..... आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । —ऋ०१।११५।१, यजुः० ७।४२
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः । —ऋ०१०।१६८।४
तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । —तै०उ० २।१
आत्मत एवेदं सर्वम् । —छा० ७।२६।१

ऐतरयोपनिषद् १।१ पर शांकरभाष्य—

आत्मेति—आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मविवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै ।

परमात्मा—ग्रन्थकार के निर्वचन पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'परश्चासावात्मा' ऐसा विग्रह करने पर 'परात्मा' पद बनेगा, न कि परमात्मा । इसलिए परम शब्द का आत्मा शब्द के साथ सम्बन्ध होने से 'परमश्चासावात्मा' ऐसा विग्रह होना चाहिए था, अतः ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विग्रह अशुद्ध है । इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार ने परमात्मा शब्द की व्याकरण की दृष्टि से निरुक्ति नहीं की है, बल्कि इस शब्द का अर्थमात्र किया है । वस्तुतः 'परश्चासावात्मा' विग्रहवाक्य न होकर फलितार्थकथनपरक वाक्य है । प्राचीन आचार्यों के लेखों में ऐसा लेख अनेकत्र देखने में आता है । जैसे—

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इस न्यायसूत्र (१।१।३) का भाष्य करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं—**'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वित्तः प्रत्यक्षम्'** इस वाक्य को प्रत्यक्ष शब्द का विग्रह मानकर कोई भाष्यकार पर आक्षेप न करे, इसलिए वार्तिककार लिखते हैं—**'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति प्रादिसमासः भाष्यं तु फलितार्थकथनपरम् अन्यथा अव्ययीभावसमासाश्रयणे अक्षस्येति षष्ठीश्रवणानुपपत्तेः'**। आशय यह है कि 'अक्षस्याक्षस्य' आदि भाष्यकार का वचन विग्रहपरक न होकर फलितार्थकथनपरक है । यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

'नीचीनवारं वरुणः कबन्धम्' (ऋ० ५।८५।३) इस मन्त्र में आये 'नीचीनवारं' पद का व्याख्यान करते हुए स्कन्दस्वामी निरुक्तभाष्य (१०।४) में लिखते हैं—**'नीचं वारं यस्य स नीचीनवारोऽधोमुखम्'** । यहाँ भी आचार्य ने 'नीचीनं' के स्थान पर 'नीचं' शब्द ही निरुक्ति में दिया है । 'नीचं वारं यस्य' वाक्य फलितार्थकथनपरक है ।

निरालम्बोपनिषत्कार कहते हैं—**'देहादेः परतरत्वात् ब्रह्मैव परमात्मा'** । यहाँ निर्वचन का स्वरूप होगा—'परमश्चासावात्मा परमात्मा' । निम्न स्थलों पर परमात्मा शब्द भगवान् का वाचक है—

यो वै वेद महादेवं प्रणवं पुरुषोत्तमम् ।
ओंकारं परमात्मानं तन्मे मनः शिवसंल्पमस्तु ॥ —ऋक्परि० ३२२१
परमात्मनं परमं ब्रह्म । —नृसिंहोत्तरता० ४
आत्मानं सन्धत्ते परमात्मनि । —ब्रह्मोप० ३
स वै ब्रह्म परमात्मोच्यते । —हंसोप० १

षुञ् अभिषवे; षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। **'अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः'** जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'सविता'** है।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु[1] इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीडा) जो शुद्ध[2] जगत् को क्रीडा कराने, (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त, (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप, सबका प्रकाशक, (स्तुति) प्रशंसा के योग्य, (मोद) आप आनन्दस्वरूप, और दूसरों को आनन्द देनेहारा, (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (कान्ति) कामना के योग्य, और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । —गीता ०१५।१७

स्वाध्याययोगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते ।

—योग० १।२८ पर व्यासभाष्य

परमेश्वर—'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः' यह परमेश्वर शब्द का विग्रह नहीं, फलितार्थकथनमात्र है। विग्रह होगा—'परमश्चासावीश्वरः परमेश्वरः'।

स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"ईश्वर नाम सामर्थ्यवाले का है। जो ईश्वरों में परम श्रेष्ठ होय उसका नाम परमेश्वर है। ब्रह्मादिक देवों में से एक-एक ऐश्वर्यवाला है। जैसाकि मनुष्यों में एक-एक ऐश्वर्यवाला है, वैसे ही जो ब्रह्मादिक देवों में सबसे श्रेष्ठ होय और चक्रवर्त्यादिक राजाओं में परम नाम श्रेष्ठ होय, उसका नाम परमेश्वर है।

मैत्र्युपनिषद् के निम्न सन्दर्भ में परमेश्वर शब्द भगवद्वाचक है—

सत्यसंकल्पः सत्यकाम एष परमेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूपालः । —७।७

सविता—निरुक्तकार ने **'षू प्रेरणे'** से सविता शब्द को बनाया है। **'सविता सर्वस्य प्रसविता'** (निरुक्त १०।३१)। परमेश्वर जगत् को उत्पन्न करके उसके प्रत्येक घटक को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता तथा मनुष्यमात्र को शुभ कर्मों में प्रेरित करता है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में सविता शब्द से प्रायः उत्पादक तथा प्रेरक अर्थों का ग्रहण किया है।

सविता पश्चात्तात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात् सविताधरात्तात् ।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥ —ऋ० १०।३६।१४

ऋग्वेद के इस मन्त्र में सविता शब्द का प्रयोग सर्वत्र भगवदर्थ में हुआ है। ऋग्वेद के ही पाँचवें मण्डल के ८२वें सूक्त के सभी नौ मन्त्रों का देवता सविता है। **"सखाय आ निषीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति"** (ऋ० १।२२।८)। इस मन्त्र में परमेश्वर का उत्पादक, स्तोतव्य तथा दाता के रूप में सविता नाम से स्मरण किया है।

देव—स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—

---

१. धातु० ४।१॥

२. यह पद असम्बद्ध-सा है, अथवा इसे परमात्मा का विशेषण जानना चाहिए, अर्थात् स्वयं शुद्ध, निर्लेप रहता हुआ भी जगत् को क्रीडा करानेवाला है। अथवा, जो प्रकृति से शुद्ध जगत् को क्रीडा कराने अर्थात् 'कार्यरूप में परिणत कराने' ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

अथवा—'यो दीव्यति क्रीडति स देवः' जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीड़ा करे, अथवा किसी से सहाय के विना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता, वा सब क्रीड़ाओं का आधार है। **'[यो] विजिगीषते स देवः'** जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय, अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। **'[यो] व्यवहारयति स देवः'** यो न्याय और न्यायरूप व्यवहारों का जाननेहारा और उपदेष्टा। **'यश्चराऽचरं जगत् द्योतयति स देवः'** जो सब चराऽचर जगत् का प्रकाशक। **'यः स्तूयते स देवः'** जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य, और निन्दा के योग्य न हो। **'यो मोदयति स देवः'** जो स्वयं आनन्दस्वरूप, और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो। **'यो माद्यति स देवः'** जो सदा हर्षित शोकरहित, और दूसरों को हर्षित, करने और दुःखों से पृथक् रखनेवाला। **'यः स्वापयति स देवः'** जो प्रलय-समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता। **'यः कामयते काम्यते वा स देवः'** जिसके सब सत्य काम, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं। तथा **'यो गच्छति गम्यते वा स देवः'** जो सबमें व्याप्त और जानने के योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

"दिवु क्रीडाविजिगीषा..........कान्तिगतिषु" इस धातु से देव शब्द की सिद्धि होती है। **'दीव्यति स देवः'** दीव्यति नाम जो स्वयं प्रकाशस्वरूप होय और जो सब जगत् का प्रकाशकर्त्ता है, इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'क्रीडते स देवः'** क्रीडते नाम अपने आनन्द से अपने स्वरूप में आप ही जो क्रीडा करे अथवा क्रीडामात्र से अन्य की सहायता के बिना जगत् को क्रीडा की नाईं जो रचे व सब जगत् की क्रीडाओं का आधार जो होय इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'विजिगीषते स देवः'** विजिगीषते नाम सबका जीतनेवाला और आप सदा अजेय है जिसको कोई न जीत सके इससे ईश्वर का नाम देव है। **'व्यवहारयति स देवः'** व्यवहारयति नाम न्याय और अन्याय व्यवहारों का जो ज्ञापक नाम उपदेष्टा और सब व्यवहारों का जो आधार भी है इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'द्योतयति स देवः'** द्योतयति नाम सब प्रकाशों का आधार जो अधिकरण है इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'स्तूयते स देवः'** स्तूयते नाम सब लोगों के स्तुति करने योग्य होय और निन्दा के योग्य कभी न होय इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'मोदयति स देवः'** मोदयति नाम आप तो आनन्दस्वरूप ही है औरों को भी आनन्द करावे जिसको दुःख का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'माद्यति स देवः'** माद्यति नाम आप तो हर्षस्वरूप होय जिसको शोक का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'स्वापयति स देवः'** स्वापयति नाम प्रलय में सभों को शयन अव्यक्त में जो करावे इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'गच्छति गम्यते वा स देवः'** गच्छति गम्यते नाम जो सभों में गत नाम प्राप्त होय, जानने योग्य होय उसको कहते हैं देव। देव नाम परमेश्वर का है।'

निरुक्तकार ने देव शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—**'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युःस्थानो भवतीति वा'** (निरुक्त ७।१५)। इसका आशय यह है कि देव शब्द **डुदाञ् दीपी दाने, दीप्तौ** तथा **द्युत दीप्तौ** इन धातुओं से बना है। क्योंकि देव ऐश्वर्य के प्रदाता हैं, तेजोमय होने से प्रदीप्त हैं, अतएव दूसरों के प्रकाशक हैं। निरुक्तकार दिवु धातु से देव शब्द नहीं बनाते, किन्तु अन्य वैयाकरण **'दीव्यतीति देवः'** निर्वचन करके दिवु धातु से देव शब्द को सिद्ध करते हैं। तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य में कृष्ण पण्डित ने देव शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

(क) दीव्यति प्रकाशते स देवः।

कुबि आच्छादने[1] इस धातु से 'कुबेर' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः' जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम 'कुबेर' है।

(ख) ध्यानत्वाद् हृदयारविन्दे क्रीडतीति देवः।

(ग) द्युलोकवर्तित्वाद् वा देवः।

इनमें से प्रथम दो निर्वचन धात्वार्थ के आधार पर किये हैं, अन्तिम निरुक्त के 'द्युस्थानो भवतीति' पर आश्रित है।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में देव शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—"**यतो दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिः विजिगीषतेऽसुरादीन् व्यवहरति सर्वभूतेषु आत्मतया द्योतते स्तूयते स्तुत्यैः** सर्वत्र **गच्छति, तस्माद् देवः।**" आशय यह है कि संसार की उत्पत्ति आदि जिनकी क्रीड़ा है, दुष्टों का दमन करनेवाले हैं, सर्वव्यवहार के उपदेष्टा हैं, स्वयं प्रकाश हैं, उपासक उनकी स्तुति करते हैं तथा वे सर्वत्रगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं, इसलिए भगवान् देव कहाते हैं।

निम्न स्थलों में देव शब्द भगवदर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। —ऋ० १।९४।१३
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। —अथर्व० १०।८।३२
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। —श्वेत० उप० ६।११
निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥ —गौडपादकारिका० १०

कुबेर—उणादिसूत्र **'कुम्बेर्नलोपश्च'** (१।५६) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा —**'कुम्बत्यन्यानाच्छादयति** इति कुबेरः', अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को अच्छादित करने=सर्वत्र व्याप्त होने से परमेश्वर कुबेर कहाता है—**'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (यजुः० ४०।१)। एक निर्वचन यह भी है—**'कुम्बत्याच्छादयति** परेषामैश्वर्यमिति कुबेरः'। जो सबके ऐश्वर्य को आच्छादित करता है, वह परमेश्वर कुबेर कहाता है। परमैश्वर्यवान् होने से ही पुराणों में कुबेर की देवताओं के कोषाध्यक्ष के रूप में कल्पना की गयी है। निम्न स्थलों में कुबेर शब्द भगवद्वाची है—

कुबेर ते मुखं रौद्रं नन्दिन् आनन्दमावहः।
ज्वरमृत्युभयं घोरं विश नाशय मे ज्वरम्॥ ऋक्परि० २६।४२
कुबेरः सर्वपक्षाणां क्रतुनां विष्णुरुच्यते। महा० अनु० १४।३१६
तस्य कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्। अथर्व० १०।१०।१०

पृथिवी—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'जो आकाशादिकों से विस्तृत है उसका नाम पृथिवी है, इससे परमेश्वर का नाम पृथिवी है।' जहाँ कहीं 'प्रथ' धातु से पृथिवी शब्द को निष्पन्न माना गया है वहाँ भी निर्वचनादि करते हुए इस शब्द का मूल धातु **'प्रथ विस्तारे'** स्वीकार किया गया है। आचार्य यास्क ने

---

१. धातुपाठ १।२६०॥ पर्वगान्त प्रकरण में पाठ होने से 'कुबि' पाठ निश्चित है। 'कुम्बेर्नलोपश्च' उणादिसूत्र (१।५६) में भी 'ब' सार्वत्रिक पाठ है। अथर्व० ८।१४।१०; पै०सं० १६।१३५।६; श०ब्रा० १२।६।१।३; जै०उ०ब्रा० ३।७।४१; तै० आ० १।३१।६ आदि में बकारवान् पाठ असन्दिग्ध है, अतः हमने यहाँ 'कुबि' 'कुंबति' 'कुबेर' शब्दों में बकारवाला पाठ बनाया है। 'कुवेर' दन्त्योष्ठ्य वकारवान् पाठ क्वचित् मिलता है, परन्तु वह उच्चारणदोषज भ्रष्ट पाठ है।

पृथु विस्तारे[1] इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। **'यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी'** जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

जल घातने[2] इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है। **'जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्'** जो दुष्टों का ताड़न, और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा **'जल'** संज्ञक कहाता है। [3]**'यद्वा यज्जनयति लाति सकलं जगत् तद् ब्रह्म जलम्'** अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देनेवाला है, इसलिए भी परमेश्वर का नाम **'जल'** है।

काशृ दीप्तौ[4] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः'** जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

---

१. संस्करण १,२ में तथा संवत् १६३२ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' पृष्ठ १२७, (दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह' अन्तर्गत मुद्रित पृष्ठ ३५०) में भी यही पाठ है। सं० ३ से 'प्रथ विस्तारे........यः प्रथते' पाठ मिलता है। हमारा पाठ सं० २ के अनुसार है। 'पृथु' स्वतन्त्र धातु धातुपाठ में पठित नहीं है, पुनरपि **'तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयियेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति'** इस निरुक्त (२।२) के वाचनानुसार उन सभी धातुओं, जिनमें सम्प्रसारण का विधान करके वैयाकरण रूपान्तर **बनाते हैं,** का सम्प्रसारणवाला रूप स्वतन्त्र धात्वन्तर भी माना जाता है। तदनुसार यहाँ ग्रन्थकार ने 'प्रथ' के **कृतसंप्रसारणरूप** 'पृथ' को स्वतन्त्र धातु मानकर निर्देश किया है। वैयाकरण जिन प्रकृतियों में लोप, आगम, आदेश करके रूपान्तर बनाते हैं, वे सब वस्तुतः स्वतन्त्र प्रकृतियाँ हैं (विशेष द्र०—'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली', पृष्ठ ४-१७)। '। 'पृथ' को स्वतन्त्र प्रकृति मानने पर 'पृथु', 'पृथिवी' आदि शब्दों में सम्प्रसारण की आवश्यकता नहीं रहती। निरुक्तकार ने १०।२३ में वैयाकरणों द्वारा 'ग्रह' धातु को सम्प्रसारण तथा हकार को भकारादेश करके बनाये गये 'गृभ' रूप को स्वतन्त्र धातु माना है —गर्भो गृभेः'। अथवा धातु० १०।२२ में पठित **'पृथ प्रक्षेपे'** धातु का अर्थतः अनुवाद है। प्रक्षेप का अर्थ बिखेरना —फैलाना भी होता है। 'अनित्यणिजन्ताश्चुरादयः' मत में णिच् के अभाव में **'पर्थति'** रूप बनता है।

'प्रथ विस्तारे' पाठ में भी 'विस्तारे' अर्थ का निर्देश चिन्तनीय है। धातुपाठ में 'प्रथ प्रख्याने' (१।५१६) पढ़ी है। ग्रन्थकार ने स्वीय उणादिकोष १।२८, १५०) की व्याख्या (प्र० सं०) में विस्तारार्थ ही स्वीकार किया है। निरुक्त १।१२,१३ में भी 'प्रथन' का विस्तार अर्थ ही माना है। सायणाचार्य ने अथर्व ६।१०१।१ के भाष्य में 'प्रथ विस्तारे चुरादिरदन्तः निर्देश किया है।

२. धातु० ।५७५।

३. यह पाठ वैयमुद्रित सं० २-३३ नहीं है। ३४वें संस्करण में हस्तलेखानुसार बढ़ाया है। भाषार्थ के अनुसार यहाँ 'यज्जनयति सकलं जगत् लाति ददाति सकलं सुखं तद् ब्रह्म जलम्' ऐसा पाठ होना चाहिए। यहाँ 'लाति' का अर्थ 'देना' स्वीकार किया है। धातुपाठ में ला आदाने' (२।५१) ऐसा पाठ मिलता है। यह धातुपाठ के संहितापाठ 'ला दाने' का वृत्तिकारों द्वारा विगृहीत पाठ है। संहितापाठ लादाने का 'ला दाने' 'ला आदाने' दोनों प्रकार से पदच्छेद होता है (द्र०-माधवीया धातुवृत्ति, यही धातु-राति लाति द्वावपि दानार्थौ इति चान्द्राः। यहाँ 'लाति' का दान अर्थ स्वीकार किया है।

४. धातु० १।४३०।।

भी प्रसंगवश निरुक्त में पृथिवी शब्द का निर्वचन किया है—**'प्रथनात् पृथिवीत्याहु;....... अथ वै दर्शनेन प्रथुः'** (निरुक्त १।१४) हैं आशय यही 'यतः पृथुस्ततः पृथिवी'। यद्यपि वहाँ निर्वचन भौतिक दृष्टि से किया है, तथा सर्वव्यापक होने से परमपृथु भगवान् ही पृथिवी नाम का समुचित अधिकारी है। गीता में कहा है—**'त्वया ततं विश्वमनन्तरूपं'** (११।३८)। सारांश यही है कि विस्तृत आकाशादि से भी विस्तृत होने तथा सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने से भगवान् का नाम पृथिवी है। पृथिवी शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशिनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथः ॥ —अथर्व० १८।२।१६
त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः।
विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वायुस्त्वं विश्वक्रीडारतप्रभुः ॥ —मैत्र्युप० ५।१

जल—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"जनी प्रादुर्भावे** और **'ला आदाने'** इन दो धातुओं से जल शब्द सिद्ध होता है। 'जनयति नाम उत्पादयति सर्वं जगत् तज्जम् लाति गृह्णाति नाम आदत्ते चराचरं जगत् तल्लम् जं च लं च तज्जलम् ब्रह्म।' ज शब्द से सभों का जनक, ल शब्द से सभों का धारण करने वाला, उसका नाम जल, जल नाम परमेश्वर का है।"

इस निर्वचन का मूल छान्दोग्य में उपलब्ध है—**'तज्जलानीति शान्त उपासीत'** (३।१४।१)।

वहीं (प्रथम संस्करण में) इतना और लिखा है—**"जल प्रतिघाते** धातु से जल शब्द सिद्ध होता है। 'प्रतिहन्ति परमाण्वादीनि परस्परं तज्जलम्' जो अव्यक्त से व्यक्त को और एक परमाणु से दूसरे परमाणु को अन्योन्य संयोग-वियोग के वास्ते जो हनन-प्रतिहनन करनेवाला होय उसका नाम जल है। इससे परमेश्वर का नाम जल है।"

निम्न अन्य निर्वचन भी भगवत्परक हैं—

(क) 'जलयति अपवारयति दोषान् भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यो वा तत् जलम्'—भक्त अथवा ज्ञानियों के दोष निवारण करने से भगवान् जल कहाते हैं। यहाँ धातु जल अपवारण में है।

(ख) 'जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्' इसको सब प्राणी पुकारते हैं —इसलिए ये जल हैं। श्रुति कहती है—**'मां हवन्ते पितरं न जन्तवः'** (ऋ० १०।४८।१)। भगवान् कहते हैं संसार के जीव मुझे पिता के सदृश पुकारते हैं।

भगवद्वाचक जल शब्द का निगम अन्वेषणीय है।

आकाश—जगत् को प्रकाशित करने का एक अर्थ है अव्यक्तावस्थापन्न जगत् को व्यक्त करना। वेदान्तदर्शन में कहा है—**'आकाशस्तल्लिङ्गात्'** (१।१।२२) आकाश पद ब्रह्मवाचक है, उसके निश्चायक लिङ्गों (चिह्नों) के कारण। छान्दोग्य उपनिषद् (१।६।१) में प्रसंग है—प्रवाहण जैवलि शिलक शालावत्य से कहता है—**'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति'**। इस लोक की गति—आश्रय क्या है ? उत्तर मिला—आकाश है। ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते और आकाश में ही लीन होते हैं। आकाश पद लोक-वेद में भूताकाश और ब्रह्म दोनों अर्थों का वाचक देखा जाता है। वेदान्तसूत्र कहता है, यहाँ आकाश पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि वही समस्त भूतों की उत्पत्ति का कारण है। ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जगत्-सृष्टि संभव नहीं होती। ये सब धर्म भूताकाश में सम्भव नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वयं आकाश की उत्पत्ति आकाश से

अद भक्षणे[1] इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है—

'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' ॥[2]
'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥

—तैत्ति० उपनि० ॥[3]

'अत्ता चराऽचरग्रहणात्' ॥ यह व्यासमुनिकृत शारीरक [१।२।६] सूत्र है ॥

जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराऽचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे उस ईश्वर के **'अन्न'**, **'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं। और जो इसमें तीन बार पाठ है, सो आदर के लिए है। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है।

बताई है—**'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः संभूतः'** (तै० उ० २।१)। तब वह सब जगत् का कारण कैसे कहा जा सकता है ? इस सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—**"आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिंगात् । परस्य ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते'** (छा० १।६।१) ।" अर्थात् आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए।

'आसमन्तात् काशन्ते प्रकाशन्ते सूर्यादयोऽत्रेति आकाशः' इस निर्वचन से सूर्यादिकों का प्रकाशक होने से भगवान् 'आकाश' कहाता है। इस निर्वचन का मूल है—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भास सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक० २।२।१०) यह उपनिषद् वचन है।

'आसमन्तात् काशयति प्रकाशयति वेदान् सृष्ट्यादौ' इस निर्वचन के अनुसार सृष्टि के आदि में वेद=ज्ञान का प्रकाशक होने से भगवान् आकाश कहाता है।

'काश गतौ' धातु से निष्पन्न होने पर आकाश शब्द का निर्वचन होगा—'आसमन्तात् कशति=गच्छति व्याप्नोतीति यावद् आकाशः'। गति का अर्थ ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति होते हैं। सर्वगत अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् का नाम आकाश है। यहाँ सर्वत्र प्राप्ति ही व्याप्ति है।

अन्न, अन्नाद, अत्ता—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"अद भक्षणे** इससे अन्न शब्द सिद्ध होता है **'अत्ति भक्षयति चराचरं जगत् तदन्नम्'** जो चराचर जगत् का भक्षक है और काल को भी खाके पचा लेता है, उसका नाम अन्न है। इसमें प्रमाण है **'अद्यते ,अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'** (तै० उ० २।२) यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है। **'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्'**, **'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः'** (तै० उ० ३।१०) यह भी उसी उपनिषद् में है। 'अन्नमत्तीत्यन्नादः' अन्न शब्द से चराचर जगत्, उसका जो ग्राहक उसका नाम अन्नाद है। यह वचन परमेश्वर ही का है। इस विषय में व्यासजी का सूत्र प्रमाण है—**'अत्ता चराचरग्रहणात्'** (ब्र.सू. १।२।६) अत्ता नाम खानेवाले का है, उसी का नाम अन्नाद है। चराचर नाम जड़ और चेतन जगत् उसके ग्रहण करने से परमेश्वर का नाम अत्ता, अन्न और अन्नाद है। जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते हैं और उसी में नष्ट हो जाते हैं। इससे परमेश्वर का नाम अत्ता, अन्न और अन्नाद है।"

उणादिसूत्र 'कृवृजृसिद्रुपन्यनि' (३।१०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'अनिति

---

१. धातु २।१॥
२. क्रमशः—ब्रह्मानन्दवल्ली २; भृगुवल्ली १०॥
३. अर्थात् तै० उ० के वचनों में 'अन्न, अन्नाद' पद तीन बार पठित हैं।

वस निवासे[1] इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वसन्ति भूतानि यस्मिन्'**, अथवा **'यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः'** जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं, और जो सबमें वास कर रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

जीवयतीत्यन्नम्, ओदनादिकम् वा'। यह निर्वचन आधिभौतिक दृष्टि से है, किन्तु भगवान् पर भी यह भली-भाँति संगत है। उपनिषत् कहती है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'** (तै० उ० २।७) अर्थात् यदि भगवान् न हो तो संसार में कौन जीवित रह सकता है। इसलिए 'अनिति जीवयतीत्यन्नं ब्रह्म'।

निरुक्तकार ने **'अद भक्षणे'** के अतिरिक्त आङ्पूर्वक नम से भी अन्न की सिद्धि मानी है। वे लिखते हैं—**'अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा'** (निरुक्त ३।६)। यह निर्वचन भौतिक अन्न की दृष्टि से है, किन्तु 'आनमन्ति भूतान्यस्मै इत्यन्नम्' इस प्रकार निर्वचन करने पर इसी प्रकृति से भगवत्परक अन्न शब्द भी बन सकता है।

'अत्ता चराचरग्रहणात्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य प्रश्न उठाते हैं—**'तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः'**। अर्थात् क्या अग्नि अत्ता है, जीव अत्ता है अथवा परमात्मा अत्ता है—यह संशय है। इस संशय को उठाकर अन्त में निश्चय करते हैं—**'अत्तात्र परमात्मा भवितुमर्हति'**, अर्थात् अत्ता यहाँ परमात्मा हो सकता है। इसमें हेतु है—**'कुतः ? चराचरग्रहणात्'** चराचर के ग्रहण करने से। फिर कहते हैं—**'न परमात्मनोऽन्यः कात्स्न्येनात्ता सम्भावित'** परमात्मा से अन्य कोई पूर्णतया अत्ता नहीं हो सकता। उपसंहार में कहते हैं—**'सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात् परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति'**।...... इसलिए परमात्मा ही यहाँ, अत्ता हो सकता है।

उक्त तीनों शब्दों का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

—साम० पू० ६।१।६

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः॥ —अथर्व० १३।३।७
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

कठ० १।२।२५

वसु—निरुक्तकार लिखते हैं—**'वसवो यद्विवसते सर्वम्'** (१२।४२)। यहाँ भी शब्दरचना वस धातु से ही मानी गयी है। **'वस निवासे'** तथा **'वस आच्छादने'**—दोनों से परमेश्वर का सबमें वास करना तथा सबका परमेश्वर में वास करना सिद्ध होता है। **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (यजुः० ४०।५) में यही भाव निहित है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध मन्त्र—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ २०।१०८।२

में वसु शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग हुआ है।

---

१. धातु १।७३१॥

रुदिर अश्रुविमोचने' इस धातु से 'णिच् और रक् प्रत्यय'[2] होने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। '**यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः**' जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**रुद्र**' है।

'**यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते**'। यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिसका मन से ध्यान करता, उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता उसको प्राप्त होता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करनेवाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते, तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम '**रुद्र**' है।

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

—मनु० अ० १। श्लोक १०

जल और जीवों का नाम 'नारा' है, वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम '**नारायण**' है।

रुद्र—इस नाम पर पहले विचार हो चुका है। यहाँ इतना विशेष है—'**यन्मनसा....तदभिसम्पद्यते**'। आजकल ऐसा पाठ मिलता है—'**स यथा कामो भवति तथा क्रतुर्भवति; यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते; यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥** (शत० १४।७।२।७)। काण्व शतपथ में ४।४ यही पाठ है। वाजसनेय शतपथ के प्राचीनकाल में १५ पाठ थे। सम्भव है उसके किसी पाठ में यह आनुपूर्वी रही हो। तुलना करो—**नृसिंहपूर्वतापिनी उप० १।१**

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूति।

—ऋ० २।३३।४

हे दुष्टों के रुलानेवाले रुद्र परमात्मन्! हम तुझे दुष्ट स्तुति से क्रोधित न करें, समान स्पर्धा आदि से भी कुपित न करें।

नारायण—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"आप नाम जल का है और नार संज्ञा भी जल की है और वे प्राण जलसंज्ञक हैं। वे प्राण जिसका अपना निवासस्थान हैं इससे परमेश्वर का नाम नारायण है।" यहाँ मनुस्मृति के श्लोक का शब्दार्थ नहीं किया है। इसमें ग्रन्थकार को यही बताना अभिप्रेत था कि भगवान् मनु के अनुसार नारायण नाम परमात्मा का है।

प्रलयकाल में सब जीवों का निवासस्थान होने से भगवान् नारायण कहाते हैं—'नराणां जीवानामयनत्वात् प्रलये नारायणः'। विष्णुसहस्रनाम के निर्वचन नाम के व्याख्यान में लिखा है—

'नराः स्वरूपप्रवाहनित्यवस्तूनि तेषां समूहो नाराः, ते अयन श्रौतनिरुक्तानुसाराद् आश्रयो यस्य तेषामयनमिति वा'। आशय यह कि कुछ वस्तुएँ स्वरूपनित्य हैं जीवादि, कुछ प्रवाहनित्य हैं सृष्टि

१. धातु० २।६०॥
२. 'रोदेर्णिलुक् च' ॥ उ० २।२२॥

चदि आह्लादे[1] इस धातु से 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः'** जो आनन्दस्वरूप, और सबको आनन्द देनेवाला है, इसलिए ईश्वर का नाम **'चन्द्र'** है।

मगि गत्यर्थक[2] धातु से **'मङ्गेरलच्'**[3] इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः'** जो आप मङ्गलस्वरूप, और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'मङ्गल'** है।

आदि—इनका समूह जिसके आश्रित है तथा उस समूह में जो व्यापक है वह भगवान् नारायण है। 'नारा अनश्वरविभूतिका मुक्तात्मानः, तेषामयनं नारायणः' मुक्तात्मा भगवान् में विचरण करते हैं, इससे भी भगवान् नारायण कहाते हैं।

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

> **न यज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः ।**
> **तेषामयनभूतो यः स नारायण इति स्मृतः ॥**

अर्थात् सब तत्त्वों का आधार होने से भगवान् को नारायण कहते हैं। मैत्र्युपनिषद् का वाक्य है—

> **'प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः**
> **सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति'** (६।८)।

चन्द्र—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"चदि आह्लादे** इस धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है—'चन्दति सोऽयं चन्द्रः' जो आह्लाद नाम आनन्दरूप होय और जो मुक्त पुरुष जिसको प्राप्त होके सदा आनन्दस्वरूप ही रहै, उसको दुःख का लेश कभी न होय, इससे परमेश्वर का नाम चन्द्र है।"

आशय यह कि स्वयं आनन्दस्वरूप होने तथा अन्यों को आनन्द देनेवाला होने से भगवान् चन्द्र कहाता है।

> **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।**
> **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥** —यजुः० ३२।१
> **चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा ।** —शतपथ १४।२।३।११

मंगल—उणादिकोष में **'मङ्गेरलच्'** (५।७) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तन्मङ्गलम् ब्रह्म'। परम सुख का प्रापक होने से भगवान् मङ्गल है। आशय यह कि कल्याणस्वरूप होने से भगवान् का नाम मङ्गल है।

निरुक्तकार ने इस शब्द का प्रासङ्गिक निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—**'मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा मज्जयति पापमिति नैरुक्ताः, मां गच्छतु इति वा'** (६।४)। निर्वचन इस प्रकार होंगे—

(क) स्तुत्य—गॄ स्तुतौ+अच् और मम् का आगम=मङ्गर—मङ्गल। 'मां गृणात्यनेन तन्मङ्गलम्'—जिनसे मेरी स्तुति की जाए वे मंगल हैं। इस अवस्था में वैदिक ऋचाएँ स्तोत्र आदि मङ्गलपदवाच्य होंगे। अतएव प्रत्येक कार्य के आरम्भ में वैदिक ऋचाओं द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है।

(ख) गॄ निगरणे+अच्। 'अनर्थान् गिरतीति तन्मङ्गलम्'—जो अनर्थों का नाश करे वह मङ्गल कहाता है। अतएव प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ईश्वर का स्मरण किया जाता है।

---

१. धातु० १।५६॥ २. धातु० १।८८॥ ३. उणा० ५।७०॥

बुध अवगमने[1] इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बुध्यते बोधयति वा स बुधः'** जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'बुध'** है।

ईशुचिर् पूतीभावे इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः'** जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर का नाम **'शुक्र'** है।

(ग) **'मज्जयति पापकमिति'**—दुरितों का नाश करके जो शुद्ध करे, उसे मङ्गल कहते हैं। वह परमेश्वर है।

(घ) 'मां गच्छत्विति मङ्गलम्'—मुझे प्राप्त हो, इस इच्छा का विषय होने से भगवान् को मङ्गल कहते हैं।

(ङ) 'अङ्गलं-मङ्गलम्' इसमें मकार उपजन है। यास्काचार्य के इस निर्वचन के अनुसार—'यः अङ्गैः, योगाङ्गैः, लायते प्रादीयते प्राप्यते तन्मङ्गलम्'। यम-नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से प्राप्य होने के कारण भगवान् मङ्गल कहाता है। मङ्गल शब्द का ईश्वरपरक प्रयोग—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेडईमहे ॥

—यजुः० १६।६

मङ्गल नामवाले भगवान् से हम 'ईमहे' याचना करते हैं कि 'ये एनम् अभितो दिक्षुः सहस्रशः रुद्राः श्रिताः' ये जो अनेक जीव आपके आश्रित हैं, 'एषां हेडः' इनके दुःख-कष्ट आदि को 'अव (यज)' दूर कीजिए। यही हमारी मङ्गलकामना है।

बुध—'कवौ बुधः' (त्रिकाण्डशेषकाश ३।२१६) अर्थात् बुध का अर्थ है कवि। कवि ईश्वर का नाम है (यजुः० ४०।८)।

शुक्र—यास्काचार्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति **'शुच दीप्तौ'** से मानी है—'शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' (निरुक्त ८।११)। यास्क लिखते हैं—शुक्र शुच धातु से बनता है और उसका अर्थ दीप्ति या प्रकाश है। स्वयं प्रकाशित होने और दूसरों को प्रकाशित करने के कारण ब्रह्म का नाम शुक्र है। ईश्वर की दृष्टि से यह निर्वचन सर्वथा उपयुक्त है—'शोचति स्वयं प्रकाशते शोचयति प्रकाशयति चान्यत् तत् शुक्रं ब्रह्म'। यास्कीय निरुक्त के महान् व्याख्याता स्कन्दस्वामी ने परमेश्वर के दीप्तिमान् होने से उसे शुक्र नाम से अलंकृत माना है—**'शुचेर्दीप्तार्थस्य शुक् रो मत्वर्थीयः'**। निघण्टु के प्राचीन टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी के अर्थ की पुष्टि करते हुए लिखा है—**'यद्वा शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः सम्पदादित्वात्'** (३।३।६५) **क्विप् शुच, तद् यस्य रो मत्वर्थीयः, दीप्तमित्यर्थः'** (पृ. १२८)। अर्थात् दीप्त्यर्थक शुच् धातु से क्विप् प्रत्यय करके शुक्र बनता है। फिर उससे मतुप् अर्थ में 'र' प्रत्यय करके शुक्र शब्द बनता है जिसका अर्थ होगा दीप्तिमान् भगवान्।

यजुर्वेद ४०।८ में, अथर्व० १७।१।१६ में, कठोपनिषद् ५।८ आदि में अनेकत्र शुक्र शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद का मन्त्र इस प्रकार है—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ १७।१।१६

हे भगवन्! आप 'शुक्रोऽसि' स्वयं पूत एवं अन्यों के पावक, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ होने से शुक्र नाम से पुकारे जाते हैं। आप 'भ्राजोऽसि' ज्ञानमय हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। 'स यथा त्वं भ्राजोऽसि' जिस प्रकार आप

---

१. धातु १।५६७॥

चर गतिभक्षणयोः[1] इस धातु से '**शनैस्**' अव्यय उपपद होने से 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। '**यः शनैश्चरति स शनैश्चरः**' जो सबमें सहज से प्राप्त, धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम '**शनैश्चर**' है।

रह त्यागे[2] इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। '**यो रहति परित्यजति दुष्टान्, राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः**' जो एकान्तस्वरूप, जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम '**राहु**' है।

कित निवासे रोगापनयने च[3] इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। '**यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः**' जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित, और मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय में जन्म-मरणादि सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम '**केतु**' है।

प्रकाश एवं ज्ञान के भण्डार हैं, 'एवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्' इसी प्रकार मैं भी आपके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होऊँ।

शनैश्चर—'**चर गतिभक्षणयो**' में 'चर भक्षणे च' 'चर गतौ च' दोनों अर्थों को मिलाकर पढ़ा है। '**चरतीति चरः शनैश्चासौ चरश्चेति शनैश्चरः**' परमात्मा की चक्की धीरे-धीरे पीसती है, किन्तु ठीक पीसती है, इस लोकोक्ति में यही भाव निहित है, अर्थात् परमात्मा का न्याय समय पर होता है, किन्तु वह पूर्ण होता है।

इन्द्रो विवस्वान् दीप्तशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्धो वै वरुणो यमः ॥—सूर्यशतनाम

इस सन्दर्भ में शनैश्चर शब्द को ब्रह्मा, विष्णु आदि का पर्याय बताया है। ब्रह्मा, विष्णु आदि का ईश्वर-वाचक होना निर्विवाद है। इससे शनैश्चर का ईश्वरवाची होना सिद्ध है।

राहु—स्वर्भानुः राहुः—स्वरभानु का अर्थ है आनन्द का प्रकाश करनेवाला।

केतु—निवास और रोगापनयन के अतिरिक्त भी कित धातु के अनेक अर्थ हैं, जिनका निर्देश 'च' से किया गया है। वैयाकरण '**चायृ पूजानिशामनयोः**' से '**चायः की**' (उणादि १।७४) सूत्र द्वारा केतु शब्द बनाते हैं। तब निर्वचन होगा—'चाय्यते पूज्यते यः स केतुरीश्वरः'। सर्वजगत् से पूजित होने से ईश्वर केतु है।

निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने प्रसंगतः केतु शब्द की रचना पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है—'कित ज्ञाने, तस्य केतः, केतुरपि सत्यैव' (निरुक्त ३।१३)। तब निर्वचन होगा—'**केतति जानातीति केतुः**' अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् केतु है। अथवा—'**केतयति ज्ञापयति विविधा विद्याः पुरुषेभ्य इति केतुः**' अर्थात् मनुष्यों को वेद द्वारा नाना ज्ञान देने से भगवान् को केतु कहते हैं। 'कित ज्ञाने' धातु इस समय धातुपाठ में अनुपलब्ध है। सम्भव है दुर्ग के समय में विद्यमान किसी अन्य धातुपाठ में रही हो।

केतु शब्द का परमात्मा के अर्थ में प्रयोग—

मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यति ।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ —ऋक्० १०।३७।१

---

१. 'चर भक्षणे च' (धातु० १।३७६) चाद् गतौ च। यहाँ दोनों अर्थों को मिलाकर पढ़ा है।
२. धातु० १।४८६॥
३. धातु १।७१६॥

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु[1] इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है । **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है[2] । **'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः'** जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता, और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे उस परमात्मा का नाम **'यज्ञ'** है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है[2] ।

हु दानाऽऽदनयोः, आदाने चेत्येके[3] इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है । **'यो जुहोति स होता'** जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता, और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है, इससे उस ईश्वर का नाम 'होता' है ।

स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः ।

—ऋक्० १।२७।१२

यज्ञ—परमेश्वर का एक नाम विष्णु है । **'विष्लृ व्याप्तौ', 'विश प्रवेशने'** अथवा वि पूर्वक **'अशूङ् व्याप्तौ'** से णु प्रत्ययान्त विष्णु शब्द निष्पन्न होता है । निघण्टु में यास्काचार्य ने यज्ञ के पर्याय १५ शब्दों में विष्णु शब्द पढ़ा है । तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।३।६।११) में कहा है—'यज्ञो वै विष्णुः'। इस प्रकार यज्ञ और विष्णु के पर्यायवाची होने से यज्ञ का भगवद्वाची होना सिद्ध है । अन्यत्र ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है—

ब्रह्म हि यज्ञः (शत० ५।३।२।४); **प्रजापतिर्यज्ञः** (ऐत० २।१७, ४, २६); **ब्रह्म वै यज्ञः** (ऐत० ७।१३) ।

नीलकण्ठ यज्ञ शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—**'यजति जीवेशयोः संगतिं करोतीति यज्ञः'** । यह निर्वचन यज् धातु के संगतिकरण अर्थ को दृष्टि में रखकर किया गया है । उपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ —कठ० २।२२

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳯसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ —यजुः० ३१।७

इस मन्त्र में यज्ञ शब्द से परमेश्वर ही अभिप्रेत है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म ही से सर्वज्ञानमय वेदों की उत्पत्ति संभव है ।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ —यजुः० ३१।६

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

—यजुः० ३१।१६

उक्त दोनों मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वह भगवान् को लक्ष्य करके ही कहा गया है । द्वितीय मन्त्र पर भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है—

"एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपमयजन्त ।"

होता—यास्क के अनुसार होता शब्द ह्वेञ् धातु से बनता है । तब निर्वचन होगा—'आहूयते जनैरिति होता' अर्तात् भगवान् को लोग पुकारते हैं, इसलिए वह होता कहाता है । श्रुति कहती है—**'मां हवन्ते पितरं**

---

१. धातु० १।७२८॥ २. श० १३।१।८।८॥
२. यह शतपथ ब्रा० के प्रमाण का अर्थ है ।
३. धातु० ३।१॥

बन्ध बन्धने[1] इस धातु से 'बन्धु' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वस्मिन् चराऽचरं जगद् बध्नाति, बन्धुवद् धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः'** जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खा है। इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। और सहोदर के समान सहायक है। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से **'बन्धु'** संज्ञक है।

पा रक्षणे[2] इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः पाति सर्वान् स पिता'** जो सबका रक्षक, जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे उसका नाम **'पिता'** है।

'यः पितॄणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'पितामह'** है।

'यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का पिता है, इससे परमेश्वर का नाम **'प्रपितामह'** है।

न जन्तवः' (ऋ० १०।४८।१) अर्थात् जीव मुझे पिता के समान पुकारते हैं। **'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'** ऋ० १।१।१। इस मन्त्र में होता नाम से भगवान् की स्तुति की गयी है।

निम्न मन्त्र में भी ईश्वरार्थ में होता शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वावृधानः॥ —ऋ० ६।६।४

'अयं होता' सबके द्वारा पुकारे जाने से होता कहानेवाला भगवान् 'प्रथमः' सर्वप्रथम विद्यमान था—'**समवर्त्तताग्रे**'।

बन्धु—उणादि द्वारा सिद्ध बन्धु शब्द का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं —'प्रेरणा बध्नातीति बन्धुः' (१।१०)। निरुक्तकार ने भी प्रसंगवश बन्धु शब्द का निर्वचन किया है—**'बन्धुः सम्बन्धनात्'** (४।१)।

उक्त लेखों का आशय यह है कि जगत् को नियम में बाँधने तथा जगत् के जीवों का बन्धुवत् सहायक होने तथा सबसे सम्बद्ध होने से भगवान् बन्धु है। बन्धु शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ —यजु:० ३२।४
स नः पिता जनिता स उत बन्धुः। —अथर्व० २।१।३

पिता—पितामह—प्रपितामह—निरुक्तकार ने प्रसंगवश पिता शब्द का व्याख्यान किया है। वहाँ लिखा है—**'पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता वा'** (निरुक्त ४।१)। इससे प्रतीत होता है कि निरुक्तकार इसके मूल में **'पा रक्षणे'** धातु मानते हैं तथा जनयितृत्वेन रक्षण इसका प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं।

'पा पाने' धातु से इसकी रचना मानने पर निर्वचन होगा—**'पिबति जगत् संहारकाले इति पिता'** अर्थात् प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् का पान कर लेने से भगवान् पिता है। यजुर्वेद का मन्त्र है—

---

१. धातु० ६।४१
२. धातु० २।४६॥

माङ्माने शब्दे च[1] इस धातु से 'माता' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता ईश्वरः'** जैसे पूर्ण कृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम **'माता'** है।

चर गतिभक्षणयोः[2] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य' शब्द सिद्ध होता है। **'य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः'** जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा, और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ —१७।१७

जैसे एक ही व्यक्ति किसी की दृष्टि से पिता, किसी की दृष्टि से पुत्र और किसी की दृष्टि से पौत्र कहाता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भगवान् पिता, पितामह और प्रपितामह नाम से पुकारे जाते हैं।

वृद्धहारीत लिखते हैं—

'सर्वान् स त्राति सविता पिता च पितृतत्पिता ।
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकारः ऋक्सामयजुरेव च ॥ —गीता ६।१७
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ —गीता ११।३६
कालो ब्रह्मा पिता पितामहः । —महाभारत अनु० १७।७६

माता—प्रथम संस्करण में लिखा है— **'मा माने माङ् माने शब्दे च'** इन दो धातुओं से माता शब्द **सिद्ध होता है।** जैसेकि माता अपनी प्रजा का मान करती है और लाड़न, वैसे ही सब जगत् का मान और लाड़न अत्यन्त कृपा और प्रीति करने से परमेश्वर का नाम माता है।"

'मनु अवबोधने' से भी माता शब्द बनता है। तब निर्वचन होगा—**'मनुते जानातीति माता'** अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् माता कहे जाते हैं।

वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र भगवान् को माता-पिता कहा गया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥
—साम० उ०४।२।१३

आचार्य—निरुक्तकार ने भी आचार्य शब्द का निर्वचन किया है—**'आचार्यः कस्माद् आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा'** (१।४)। सदाचार का मार्ग दिखाने से, पदार्थों का उपदेश देने से तथा शिष्य की मनोवृत्ति का अध्ययन करने से आचार्य कहाता है।

स्वयमाचरते यस्माद् आचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सन्नियमैः सह ॥ —वा०पु० ५६।३०

जो स्वयं आचारवान् होता है और दूसरों को भी आचार की मर्यादा में रखता है, शास्त्रीय विषयों का व्याख्यान करता है, उसे आचार्य कहते हैं। भगवान् वेदोपदेश द्वारा आचार की मर्यादा का ग्राहक तथा बुद्धियों का प्रेरक है, अतः 'आचारं ग्राहयति', 'आचिनोति बुद्धिम्' ये दो निर्वचन भगवान् में भी सुसंगत हैं। आचार्य शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

---

१. धातु० ३।६॥
२. धातु० १।३७६॥

गु शब्दे[1] इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। **'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स 'गुरुः'** ।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ –योग० १।२६

जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकलविद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु, और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'गुरु'** है।

अज गतिक्षेपणयोः[3], **जनी प्रादुर्भावे**[4] इन धातुओं से 'अज' शब्द बनता है। **'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् प्रक्षिपति, जनयति कदाचिन्न जायते सोऽजः'** जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता, और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे उस ईश्वर का नाम **'अज'** है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ —अथर्व० ११।५।१६

पारस्कर गृह्य सूत्र २।२ में इन शब्दों में परमेश्वर को आचार्य बताया है—**'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तव ।**

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च । —अथर्व० ११।५।८

गुरु—वैयाकरण **'गॄ निगरणे'** से भी गुरु शब्द का निर्वचन करते हैं—**'गिरत्यज्ञानमति गुरुः'** अर्थात् विद्यादान से अज्ञान का विनाशक होने से परमेश्वर गुरु है। विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य के अनुसार **'सर्वविद्योपदेष्टृत्वाद् गुरुः'**—सब विद्याओं का उपदेष्टा होने से भगवान् गुरु है। विशिष्टाद्वैतवादीभाष्यकार लिखते हैं—**'वेदैः स्वाधिकारबोधनात् गुरुराचार्य इति वा'** तथा **'कालेनानवच्छेदात् सर्वेषामपि गुरुः अधिक इति वा'** । इसी की निरुक्तिव्याख्या में लिखा है—**'ब्रह्मेन्द्रवरुणादीनां गुरुः वेदोपदेशनात्'** । इस निर्वचन का मूल **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८) इस उपनिषद्वाक्य में उपलब्ध है। **'गिरति निगिलति जगत् प्रलये इति गुरुः'**—प्रलयकाल में स्वकारण में जगत् का निगरण करने से भी भगवान् गुरु है।

अज—पौराणिक दृष्टि से अज नाम ब्रह्मा का है, किन्तु विष्णु के नाभिकमल से जन्म लेने के कारण ब्रह्मा को अज नहीं कहा जा सकता। अज नाम तो कभी किसी भी रूप में जन्म न लेनेवाले परमेश्वर का ही हो सकता है। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा इसे अज धातु से ही निष्पन्न मानकर कहते हैं—**'अज गति क्षेपणयोः पचाद्यच् वीभावाभावो व्यत्ययेन'**, अर्थात् अज् से अ प्रत्यय करके अज शब्द बनता है। व्यत्यय से अज को वी आदेश नहीं होता। महाभारतकार ने इसे 'जनी' तथा 'अज' दोनों धातुओं से बना मानकर लिखा है—

न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन ।

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥

'अजति क्षिपत्यज्ञानमित्यजः' अर्थात् अज्ञानविनाशक होने से भगवान् अज कहाते हैं। निम्न स्थलों में अज नाम भगवद्वाची है—

---

१. धातु० ६।२६॥ २. योगदर्शन १।२६॥

३. धातु० १।१३६॥ ४. धातु० ४।४०॥

बृह बृहि वृद्धौ[1] इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है । **'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति[2] बृंहति वर्द्धयति स ब्रह्मा'** जो सम्पूर्ण जगत् को रचके बढ़ाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'ब्रह्मा'** है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[3] ॥

'सन्तीति सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्'; 'यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्'; 'न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्'; 'सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म' जो पदार्थ हों उनको 'सत्' कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम **'सत्य'** है । जो चराऽचर जगत् का जाननेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम **'ज्ञान'** है । जिसका अन्त, अवधि, मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा, छोटा-बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनन्त'** है । सबसे बड़ा होने से परमेश्वर का नाम **'ब्रह्म'** है ।

शं नो अज एकपाद्देवोऽस्तु । —ऋक्० ७।३५।१३
अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पादानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥ —ऋ० १।६७।३
दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । —मुण्डक० २।१।२

ब्रह्मा—इस शब्द का विवेचन पहले हो चुका है । ब्रह्मा शब्द के ईश्वरवाचक होने के कुछ अन्य प्रमाण निम्नलिखित हैं—

इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरु पुरुहूतः ।
महान्महीभिः शचीभिः ॥ —ऋ० ८।१६।७
सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम०पू० १।१।१०।१

सत्य—'सत्यं ब्रह्म' (शत० १४।८।५।१)
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओं खं ब्रह्म ॥ —यजुः० ४०।१७

इस मन्त्र में आये 'सत्य' शब्द के विषय में उव्वट ने लिखा ह—

'सत्यस्याविनाशिनः पुरुषस्य.....ओमिति नामनिर्देश आकाशस्वरूपं (आकाशवत् व्यापकं) ब्रह्म ध्यायेत ।'

स्कन्दस्वामी निरुक्त की व्याख्या में लिखते हैं—**'अन्यस्तु परमार्थलक्षणं ब्रह्म शाश्वतं सत्यं तदपि सत्सु विकारेषु महदादिषु तायते प्रकाशते, अस्तीति ज्ञायते इत्यर्थः'** अर्थात् सब पदार्थों में सत्त्वेन प्रतीयमान होने से भगवान् सत्य है ।

निम्न सन्दर्भों से भी सत्य शब्द के भगवद्वाचक होने की पुष्टि होती है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

---

१. धातु ०१।४८८॥

२. संस्क० २ में 'बर्हति' पाठ ही है । संस्क० ३ में भीमसेन वा ज्वालाप्रसाद संशोधकों ने उणादिकोष के 'बृंहेर्नलोपश्च' (४।१४७) सूत्र की स्मृति से 'बर्हति' के स्थान पर 'बृंहति' पाठ बना दिया । वही संस्क० ३५ तक छप रहा है । हमने '(बृह-बृहि वृद्धौ इन धातुओं से' पाठ को ध्यान में रखते हुए संस्क० २ के 'बर्हति' पाठ के आगे 'बृंहति' पद भी बढ़ा दिया है ।

३. तै० उ० ब्रह्मा० १ ॥

देवो देवेभिरागमत् ॥ —ऋ० १।१।५
नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यः मुक्तो निरञ्जनो विभुः. . . .नृसिंहोत्तर० ६
सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमोऽधिश्रितः ॥ —ऋ० १०।८५।१
'सत्यं ह्येव ब्रह्म' (बृहा० ५।४।१) ।
'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छां० ७।१६।१)

ज्ञान—इस अवस्था में निर्वचन होगा—**'ज्ञानस्वरूपो भवति, जानाति वा चराचरं जगत् तत् ज्ञानं ब्रह्म'**। गौडपादाचार्य की कारिका है—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमाजेनाजं विबुध्यते ॥ —३।३३

इस कारिका में गौडपाद ने अद्वैतवाद का निरूपण करते हुए यह स्वीकार किया है कि ज्ञान परमात्म का नाम है। शंकरस्वामी ने इस कारिका पर भाष्य करते हुए ज्ञान के ईश्वरवाची होने की पुष्टि में **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि वाक्य उद्धृत किये हैं।

अनन्त—इस शब्द पर सत्यार्थप्रकाश के प्रथमसंस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जिसका अन्त नाम सीमा कभी नहीं, अर्थात् देश, काल और वस्तु परिच्छेद नहीं। जैसाकि मध्यदेश में दक्षिण देश नहीं, दक्षिण देश में मध्यदेश नहीं, भूतकाल में भविष्यत् काल नहीं और दोनों में वर्तमान काल नहीं, तैसे ही पृथिवी आकाश नहीं, आकाश पृथिवी नहीं—ऐसा भेद परमेश्वर में नहीं है। ऐसा ब्रह्म ही है, किन्तु सब देशों, सब कालों और सब वस्तुओं में अखण्ड, एकरस होने से, और कोई भी जिसका अन्त न हो सके, इससे परमेश्वर का नाम अनन्त है।"

इस प्रकार अनन्त शब्द का निर्वचन होगा—'नास्ति अन्तो यस्य स अनन्तः'। उणादिसूत्र **'हसिमृग्रिण्वामि'** (३।८३) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अमति गच्छतीत्यन्तः,** न अन्तो यस्य स अनन्तः' अर्थात् गतिरहित सर्वव्यापक होने से भगवान् अनन्त है।

अथर्वशिरोपनिषद् में कहा है—**'अथ कस्मादुच्यते अनन्तः? यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्व मधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते'**। आशय यह है कि अनन्त पद कहने से ऊपर नीचे, इधर-उधर सब ओ से अपरिच्छिन्नता का भान होता है। आपाततः इस कथन से केवल दैशिक अनन्तता का ही बोध होता किन्तु वास्तव में यहाँ दैशिक अनन्तता कालादि का भी उपलक्षण है।

भगवान् सर्वाधार एवं सर्वाश्रय है। तब वह सब वस्तुओं में है ही। श्रुति कहती है—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८)। गीता में भी कहा है—**'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** ग्रन्थकार की दृष्टि से वस्तुपरिच्छेदशून्यता है—एक वस्तु का सब वस्तुओं में रहना। यही बात उन्होंने वस्तुओं में अखण्ड, एकरस होने से' ऐसा लिखकर व्यक्त की है।

वेद मे अनन्त शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्त अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥

—ऋ० ४।१।७

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तवच्चासमन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ —ऋ०१०।८।१२

डुदाञ् दाने[1] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द, और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते**[2]। **न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः'** जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको 'आदि' कहते हैं। जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

टुनदि समृद्धौ[3] 'आङ्'पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। **'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्, यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः'** जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते, और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **'आनन्द'** है।

महाभारत शान्तिपर्व में भी कहा है—

तं चापि देवं शरणं प्रपन्नमेकान्तभावेन भजाम्यजस्रम्।
एतैरुपायैः परिशुद्धसत्त्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमेनम्॥

अनादि—ग्रन्थकार के निर्वचन का मूल श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।६) का यह सन्दर्भ है—**'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'**। यही बात विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में इन शब्दों में कही है—**'आदिकारणम् अस्य न विद्यत इत्यनादिः सर्वकारणत्वात्'**, अर्थात् भगवान् का कोई कारण नहीं, किन्तु वह सबका कारण है, इससे वह अनादि है। इसमें उपनिषद् का यह वचन प्रमाण है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

—कठ० ३।१५

आनन्द—इन निर्वचनों के मूल में **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** यह वेदान्तसूत्र (१।१।१२) तथा **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** यह उपनिषद्वचन (बृहद्० ३।६।२८) प्रतीत होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रसंग है—

'यतो इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति'। —तै० ३।१

जिससे ये सब भूत—प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर जीते और अन्त में प्रविष्ट होते हैं, उसको जानो, वह ब्रह्म है। उपनिषत्कार उत्तर देते हैं—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जतानि जावन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'

—तै० ३।६

अर्थात् आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीते और अन्ततः आनन्द में ही प्रवेश पाते हैं। इतना कहकर उपनिषत्कार निर्णय देते हैं—**'आनन्दं ब्रह्मेति व्याजानात्'** (तै० ३।६)। अर्थात् आनन्द को ब्रह्म जाने।

विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतमतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः'। आनन्द स्वरूप होने से भगवान् आनन्द कहाते हैं।

सत्—छान्दोग्य० ८।३।५ का प्रमाण है—**'तद्यत्सत्तदमृतम्'**। इसपर शंकराचार्य का भाष्य है—**'तत्तत्र**

---

१. धातु० ३।६॥
२. महाभाष्य १।१।२०॥
३. धातु०१।५५॥

अस भुवि[1] इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म'** जो सदा वर्त्तमान, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

चिती संज्ञाने[2] इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित् परं ब्रह्म'** जो चेतनस्वरूप, सब जीवों का चिताने और सत्याऽसत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** कहते हैं।

यत्सकारस्तदमृतं सद्ब्रह्मामृतवाचकत्वादमृत एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः', अर्थात् सद्ब्रह्म ही अमृतवाचक है। यजुर्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद ँ्॒ सं च विचैति सर्व ँ्॒ स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ —३२।८

अर्थात्—(वेनः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही (गुहानिहितम्) बुद्धिरूपी गुफा में स्थित (तत्) उस ब्रह्म को (सत्) जो तीनों कालों में विद्यमान है (पश्यत्) प्रत्यक्ष अनुभव करता है—जिस ब्रह्म में सारा संसार एक आश्रय को प्राप्त होता है।

आगे कहा है—**'प्र तद्वाचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्'**। अर्थात्—'वेदधारक विद्वान् ही गुहा में सत्=सदा विद्यमान भगवान् के विषय में उपदेश कर सकता है।

भगवद्गीता में इसका विस्तारपूर्वक कथन किया है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सत् शब्दः पार्थ युज्यते॥
ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। —गीता १७।२६,२३

चित्—भगवदर्थ में चित् शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (१८।४।१४) में उपलब्ध है-**'ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन्'** अर्थात् सुख के आधार से प्रकाश की ओर उठने की इच्छा करनेवाला परमात्मभक्त सर्वाग्रणी चित्=चेतन भगवान् को प्राप्त करना चाहता है।

सच्चिदानन्द—किसी वस्तु के अस्तित्व को लक्षण तथा प्रमाण से सिद्ध किया जाता है—**'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**। लक्षण दो प्रकार का होता है, एक तटस्थलक्षण, दूसरा स्वरूपलक्षण। तटस्थ लक्षण वह है जो किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा उस वस्तु का बोध कराता है। स्वरूप लक्षण वह है जो पदार्थ के यथायथ स्वरूप का वर्णन करता है। अपने अस्तित्व को खोये बिना कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकती।

जो वस्तु के साथ ही नष्ट हो, न उससे पूर्व विद्यमान हो और न पश्चात् रहे, वह वस्तु का स्वभाव कहाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यावत् वस्तुस्थायी अपरिवर्तनीय धर्म वस्तु का स्वभाव होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता और दाहकता है। जब तक अग्नि है तब तक उसका यह गुण उसमें अनिवार्य रूप से रहेगा। इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द परमेश्वर के स्वाभाविक गुण हैं। जब तक परमेश्वर है तब तक उसमें ये अनिवार्य रूप से बने रहेंगे।

---

१. धातु० २।५८॥
२. धातु० १।३२॥

'यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है, सो **'नित्य'** शब्दवाच्य ईश्वर है ।

शुन्ध शुद्धौ[1] इस धातु से **'शुद्ध'** शब्द सिद्ध होता है । **'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः'** जो स्वयं पवित्र, सब अशुद्धियों के पृथक्, और सबको शुद्ध करनेवाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'शुद्ध'** है ।

बुध अवगमने[2] इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है । **'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः'** जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **'बुद्ध'** है ।

मुच्लृ मोचने[3] इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है । **'यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः'** जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग, और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'मुक्त'** है । **'अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः'** इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध, [बुद्ध], मुक्त है ।

'जन्माद्यस्य यतः' परमात्मा का तटस्थ लक्षण है, जबकि **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** अथवा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** उसका स्वरूप लक्षण है । सत्, चित् और आनन्द परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं, जो उसमें एक-साथ रहते हैं और सदा रहते हैं । उसके सच्चिदानन्दस्वरूप को सभी आस्तिक लोग स्वीकार करते हैं—रामोत्तरतापिनी उपनिषद् में कहा है—**'एतद् ब्रह्मात्मिका सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्यम्'** । ग्रन्थकार द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के दूसरे नियम में इसी की पुष्टि की गयी है—'ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप.....उसी की उपासना करनी योग्य है ।'

नित्य—'कालत्रयसत्तावन्नित्यम्'—जो सदा से है और सदा रहेगा, अर्थात् जो सब कालों में विद्यमान हो वह नित्य कहाता है । जो काल की गति में आकर नाम-रूप आदि के परिवर्तन से भी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता, वह नित्य है—'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै' । वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**'सदकारणवन्नित्यम्'** (वै० ४।१।१) जो अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखता, वह पदार्थ नित्य है । ऐसी सत्ता होने से परमात्मा नित्यशब्दवाच्य है । आर्षग्रन्थों में उसे अनेकत्र नित्य कहा है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।

—कठ० ५।१३ ; श्वेता० ६।१३

नित्यं विभुं सर्वगतम् । मुण्डक १।१।६

गौडपादाचार्य अपनी एक कारिका में कहते हैं—

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।

शुद्ध—'शुद्ध शौचे' से भी शुद्ध बन सकता है—'शुद्धयति शोधयति वा स शुद्धः' अर्थात् जो स्वयं शुद्ध है और परशोधक है, ऐसे परमात्मा की संज्ञा शुद्ध है । यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के आठवें मन्त्र में ब्रह्म के लिए शुद्ध विशेषण का प्रयोग हुआ है ।

बुद्ध—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'....... जो सब बोधों का परमावधि नाम परम सीमा होने से परमेश्वर का नाम बुद्ध है ।"

---

१. धातु० १।६०॥

२. धातु० १।५६७॥

३. धातु० ६।१३६॥

निर् और आङ् पूर्वक डुकृञ् करणे[1] इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है । **'निर्गत आकारात् स निराकारः'** जिसका आकार कोई भी नहीं, और न जो कभी शरीर धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'निराकार'** है ।

आशय यह है कि—

निरतिशयज्ञानसम्पन्नं शिक्षावधि च शासनम् ।
कर्मावधि च कर्त्तव्यं स स्वयम्भूः पुनातु नः ॥

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृहद्० ३।७।२३)उपनिषद्वाक्य से भगवान् के परम ज्ञाता होने से वह बुद्ध कहाता है । नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् में कहा है—**'नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यः मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः'** (नृसिंह. ६) ।

मुक्त—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"जो अपने-आप तो सदा मुक्त होय और सब मुक्त होनेवालों के मुक्ति का साक्षात् हेतु होने से परमेश्वर का नाम मुक्त है ।"

इन लेखों से तात्पर्य यह है कि—

१. परमात्मा स्वयं मुक्त है, इसलिए उसे मुक्त कहते हैं । जीव के पक्ष में मुक्त शब्द सापेक्ष है, किन्तु परमात्मा के विषय में वह निरपेक्ष है ।

२. स्वयं मुक्त होने के साथ-साथ वह जीवों को भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त करता है ।

प्रथम संस्करण में इतना और है—"ये सब मिलके एक ऐसा नाम हो जाएगा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः' इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त है ।"

जैसे सत्, चित् और आनन्द पृथक्-पृथक् भी परमेश्वर के नाम हैं और समुदित रूप में वह 'सच्चिदानन्द' कहाता है, वैसे ही नित्य आदि पृथक्-पृथक् भी परमेश्वर के नाम होने से समुदित रूप में वह 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' कहाता है—**'नित्यः शुद्धः बुद्धः मुक्तः स्वभावो यस्य स नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमात्मा'** ।

शंकराचार्य ने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है । वे कहते हैं—'ब्रह्म नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है और स्वभाव है ।' उपनिषत् कहती है—**'नित्यो नित्यानाम्'** (कठ० २।१३), **'अस्नाविरं शुद्धम्'** (ईश० ८), **'चेतनश्चेतनानाम्'** (कठ० २।१३), **'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'** (छा० ७।२४।१) । इस अवस्था में सर्वपदप्रधान द्वन्द्वसमास होगा—'नित्यश्च शुद्धश्च बुद्धश्च मुक्तश्च **स्वभावश्च=नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः, ते सन्त्यस्येति नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमात्मा'** ।

कोई-कोई 'मुञ्चति मोचयतीति मुक्तः' ग्रन्थकार के इस निर्वचन को अशुद्ध बताते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है । 'मुञ्चति' अकर्मक है और 'मोचयति' सकर्मक । इन दोनों में 'मुच' धातु से 'क्त' प्रत्यय निम्न प्रकार आता है

अकर्मक—**'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थास जनरुहजीर्यतिभ्यश्च'** (३।४।७२), अर्थात् गत्यर्थकों, अकर्मकों और श्लिष आदि इन धातुओं में 'क्त' प्रत्यय हो जाता है ।

सकर्मक—महाभाष्यकार ने **'कृत्यल्युटो बहुलम्'** (३।३।११३) पर लिखा है—'कृतो बहुलमिति वक्त० यं पादहारकाद्यर्थम्', अर्थात् कृत् प्रत्यय सारे ही बहुल करके होते हैं, नहीं तो पादहारकादि सिद्ध नहीं हो

---

१. धातु० ८।१०॥ ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य ३।५८ में 'कृञ् करणे' का भ्वादि में भी पाठ माना है । विशेष द्र०—युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी' की टिप्पणी ॥

सकते, इनको सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थों में भी 'कृत्' प्रत्यय हो जएँगे।

इस प्रकार ग्रन्थकार का निर्वचन व्याकरणसम्मत होने से सर्वथा शुद्ध है।

निराकार—प्रथम संस्करण में निराकार का निर्वचन था—'निर्गत आकारो यस्मात् स निराकारः', जबकि वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों में निर्वचन है—'निर्गत आकारात् स निराकारः'।

जो लोग ग्रन्थकार के निर्वचनों को व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध मानते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि ऋषि दयानन्द का व्याकरणविषयक पाण्डित्य अद्भुत वा अपूर्व था। आजकल के वैयाकरणम्मन्य उनके सम्मुख कहीं भी नहीं ठहरते। इसकी पुष्टि हम वर्तमान में व्याकरणशास्त्र के अधिकृत विद्वान् पण्डित श्री युधिष्ठिर मीमांसक के शब्दों में करना चाहते हैं। वे लिखते हैं—

"ऋषि दयानन्द का एक विशिष्ट वचन है—**'डुकृञ् करण इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सह पाठाद् उविकरणोऽपि '**। यजुर्वेदभाष्य ३।५८

अर्थात् 'डुकृञ् करणे' इस धातु का भ्वादिगण के मध्य पाठ होने से शब्विकरणवाला माना जाता है और तनादियों के साथ पाठ होने से उविकरणवाला भी, अर्थात् 'करति' और 'करोति' दोनों प्रयोग साधु हैं।

आजकल पाणिनीय धातुपाठ का जो स्वरूप पठन-पाठन में प्रचलित है उसके अनुसार 'कृञ्'का भ्वादि में पाठ नहीं है, तनादि में है। स्वामी दयानन्द ने इससे सर्वथा उलटी स्थिति बताई है। उनके अनुसार 'कृञ्' का भ्वादि में पाठ है, तनादि में नहीं। 'करोति' में उविकरण तो **'तनादिकृञ्भ्य उः'** (३।१।७२) सूत्र में तनादि के साथ 'कृञ्' का पाठ होने से होता है, न कि तनादिगण में पाठ होने से।

अब हम दयानन्द के पाठ की विवेचना करते हैं। साधारणतया देखने से तो यही विदित होता है कि दयानन्द का लेख व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है, परन्तु अत्यन्त गहराई से इसकी मीमांसा करने से विदित होता है कि दयानन्द का लेख ही सत्य है। सो कैसे ? यह निम्न प्रकार से प्रमाणित होता है—

(क) **भ्वादिगण में 'कृञ्' का पाठ**—आजकल जो पाणिनीय धातुपाठ का पाठ उपलब्ध होता है, वह सायणाचार्य द्वारा निर्धारित पाठ है। सायणाचार्य ने अपनी धातुवृत्ति में इस पाठ का विस्तार से निर्धारण किया है। उसने अनेक धातुओं को, जो पूर्वाचार्यों द्वारा विभिन्न गणों में पठित थीं, निकाल दिया, अन्य अपठितों का समावेश कर दिया। (इसके विस्तार के लिए देखिए हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २ पृष्ठ ५६-६२)। सायण से पहले 'कृञ्' धातु भ्वादि में पठित थी। सायण ने उसे भ्वादि से हटाया, यह स्वयं उसने धातुवृत्ति पृष्ठ १६३ तथा ऋग्वेदभाष्य १।८२।१ के व्याख्यान में स्पष्ट लिखा है—**'अस्य महता प्रपञ्चेन भ्वादित्वं निराकृतम्'**। सायण से पूर्ववर्ती देव, क्षीरस्वामी, पाल्यकीर्ति , हेमचन्द्र, दशपादी-उणादिवृत्तिकार सभी इसका पाठ भ्वादि में स्वीकार करते हैं, अतः स्वामी दयानन्द का यह लिखना कि 'कृञ्' का पाठ भ्वादि में है, सर्वथा युक्त है। अब रह गया—'तनादि में नहीं है, उविकरण तनादि के साहचर्य से होता है।' यह लेख भी सर्वथा सत्य है। यदि 'कृञ्' का पाठ तनादि में पाणिनि ने माना होता तो **'तनादिकृञ्भ्य उः'** (३।१।७६) सूत्र में 'कृञ्' का पृथक् पाठ क्यों करते ? तनादिगण में पाठ करने से उविकरण हो ही जाता। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस सूत्र के भाष्य में 'कृञ्' को पृथक् क्यों पढ़ा, इसपर पर्याप्त विचार किया, परन्तु वे इसका कोई कारण न बता सके। प्रतीत होता है कि पतञ्जलि से पहले ही 'कृञ्' का तनादि में प्रक्षेप हो चुका था , इसलिए वे कारण बताने में असमर्थ रहे। यह तो दयानन्द की ही सूझ है या उनके गुरुवर विरजानन्द की, जिनके द्वारा धातुपाठ के सहस्रों वर्षों से भ्रष्ट हुए वास्तविक पाठ की ओर संकेत किया गया। श्री स्वामी विरजानन्द के शिष्य हरिवंश के हाथ का लिखा हुआ

अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु[1] इस धातु से 'अञ्जन' शब्द, और 'निर्' उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। **'अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद् यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः'** जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे ईश्वर का नाम **'निरञ्जन'** है।

धातुपाठ का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर में सुरक्षित है (इसकी प्रतिलिपि हमारे पास भी है)। उसमें 'कृञ्' धातु का तनादिगण में पाठ नहीं है।"—अष्टोत्तरशतनाममालिका, पृ० १५८-५६

ऐसे महावैयाकरण दण्डी श्री विरजानन्द के शिष्य और स्वयं महावैयाकरण दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में व्याकरणसम्बन्धी भूलें ढूँढना सूर्य को दीपक लेकर ढूँढने के समान है। ग्रन्थकार के दोनों निर्वचन व्याकरण की रीति से शुद्ध हैं। **'निर्गत आकारो यस्मात् सः'** इस निर्वचन से **'अनेकमन्यपदार्थे'** (अष्टा० २।२।२४) सूत्र पर पढ़े **'प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः'** इस वार्तिक द्वारा 'निराकार' शब्द बन जाता है। वर्तमान में प्रचलित संस्करणों में उपलब्ध **'निर्गत आकारात् स निराकारः'** अष्टाध्यायी के सूत्र **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) के वार्तिक **'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या'** से शुद्ध है। वार्तिक में दोनों स्थलों पर 'आदि' पद लगा हुआ है। इसलिए तत्वबोधिनीकार ने स्वयं इस आदि पद को दृष्टि में रखकर 'निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्' यह एक अन्य उदाहरण दिया है।

निर्वचनों से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ईश्वर का आकार था, कालान्तर में नहीं रहा—'निर्गत आकारः' अर्थात् आकार निकल गया। यह शंका सर्वथा निर्मूल है। 'गम्' धातु यहाँ प्राप्त्यर्थक है, जैसा कि **'स पर्यगात् सर्वगतः'** आदि में है। इन शब्दों का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि परमात्मा सब जगत् में जाता है। इसका वास्तविक तर्कसंगत अर्थ यह है कि वह सदा सर्वत्र प्राप्त है—सर्वव्यापक होने से सब स्थानों को प्राप्त है। 'नि' का अर्थ 'अभाव' है, जैसा कि 'निर्मक्षिकम्' आदि प्रयोगों में है। **'निर्गत आकारो यस्मात्'** ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा—'अप्राप्त है आकार जिससे' तथा 'निर्गत आकारात्' ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा—'आकार से अप्राप्त'। ग्रन्थकार की दृष्टि में 'निर्गतः' का अर्थ है 'पृथग्भूतः' जैसाकि उन्होंने आगे निरञ्जन शब्द पर लिखा है। अर्थ होगा 'पृथग्भूत है आकार जिससे, अथवा 'आकार से पृथग्भूत'। दोनों का भाव एक ही है।

यजुर्वेद ४०।८ में अकायमादि शब्दों की व्याख्या करते हुए महीधर ने भी स्पष्टतः ईश्वर के निराकार एवं अजन्मा होने की घोषणा इन शब्दों में की है—**'अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः'**। कठोपनिषद् १।२।२२ में ईश्वर को **'अशरीरं शरीरेषु'** बताया है। स्वयं निराकार शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग मन्त्रादि में अन्वेषणीय है।

निरञ्जन—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"अञ्जनं मायाऽविद्ययोर्नाम निर्गतमञ्जनं यस्मात् स निरञ्जनः'** माया नाम छल और कपट का है, क्योंकि वह पुरुष मायावी है, इससे क्या जाना जाता है कि यह छली और कपटी है। अविद्या नाम अज्ञान का है। जिसको माया और अविद्या का लेशमात्र सम्बन्ध कभी न हुआ, न है और न होगा, इससे परमेश्वर का नाम निरञ्जन है।"

आशय यह है कि माया का सम्बन्ध न होने से, आकृतिरहित होने से तथा किसी प्रकार के व्यसन आदि न होने से भगवान् निरञ्जन कहाता है।

---

१. धातु० ७।२०॥

गण संख्याने[1] इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है। इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। **'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते, तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा'** जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'गणेश'** वा **'गणपति'** है।

'यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'विश्वेश्वर'** है।

'यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः' जो सब व्यवहारों में व्याप्त, और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम **'कूटस्थ'** है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१९) का वाक्य है, जिसमें भगवदर्थ में निरञ्जन शब्द का प्रयोग हुआ है—**'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'**।

गणपति—गणेश—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। ईश्वरार्थ में गणपति शब्द का प्रयोग यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में हुआ है—

> **गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे।**
> **निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम॥** —यजुः० २३।१९

पौराणिक साहित्य में अनेकत्र गणेश नाम से भगवान् को स्मरण किया है।

विश्वम्भर-विश्वेश्वर—प्रथम संस्करण के अनुसार—

(क) 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' विश्वपूर्वक इस धातु से विश्वम्भर शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्त्ति धरति पुष्णाति वा विश्वम्भरो जगदीश्वरः'** जो जगत् का धारण वा पोषण करता है, इसीलिए उस परमेश्वर का नाम विश्वम्भर है। —पृ० १३

(ख) 'विश्वस्येश्वरः विश्वेश्वरः' विश्व नाम जगत् का ईश्वर होने से परमेश्वर का नाम विश्वेश्वर है। —पृ. १८

> **त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा जनानाम्।** —ऋक्० ८।६४।३
> **विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा।** —अथर्व० २।१६।५
> **विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।**
> **विश्वभुक् विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥** मैत्र्यु० ५।१४

(विश्वात्मा) सम्पूर्ण जगत् के आत्मा (विश्वकर्मकृत्) सम्पूर्ण कर्मबन्धनों का नाश करनेवाले—**'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'** (मुण्डक २।२।८) अर्थात् भगवान् के दर्शन से सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। (विश्वभुक्) सम्पूर्ण जगत् को भोग करनेवाले=भगवान् के पक्ष में जगत् को उत्पन्न करना, उसको मर्यादा में चलाना तथा उसका लय करना ही भोग करना है। (विश्वमायुः) सम्पूर्ण विश्व को मापनेवाले अर्थात् जगत् में सर्वत्र व्याप्त=**ईशावास्यमिदं सर्वम्** (यजुः० ४०।१); (विश्वक्रीडारतिः) सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति में क्रीडारत सामर्थ्यवान् प्रभु आप विश्वेश्वर हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं।

कूटस्थ—प्रथम संस्करण में इतना अधिक है—

'कूटे तिष्ठतीति कूटस्थः' जिसमें सब व्यवहार होय आप सब व्यवहारों में व्याप्त होय और सब व्यवहार का आधार भी होय, परन्तु जिसके स्वरूप में व्यवहार का लेशमात्र भी विकार न होने से परमेश्वर

---

१. धातु० १०।१३६॥

जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही **'देवी'** शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं। जैसे—**'ब्रह्मचितिरीश्वरश्चेति'**। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब **'देव'**, जब चिति का होगा तब **'देवी'**। इससे ईश्वर का नाम **'देवी'** है।

शक्लृ शक्तौ[1] इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। **'य सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः'** जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शक्ति'** है।

का नाम कूटस्थ है।

'कूट उपपदपूर्वक 'ष्ठा गतिनिवृत्योः' धातु से कूटस्थ शब्द सिद्ध होता है' ग्रन्थकार की शैली के अनुसार इतना पाठ और चाहिए। कोश के अनुसार भगवान् कूटस्थ इसलिए कहाते हैं कि वे **'एकरूपतया कालव्यापकत्वं कूटत्वं तस्मिन् तिष्ठतीति कूटस्थः'** कूट के समान निर्विकार हैं।

भगवद्गीता में कहा है—

> **द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**
> **क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥** —गीता १५।१६
> **ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।**
> **सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥** —गीता १२।३

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—'अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व को अक्षर कहते हैं। तब निर्वचन होगा—**'कूटे जगन्मूले तिष्ठतीति कूटस्थः'** अर्थात् जगत् के मूल में विद्यमान होने से भगवान् कूटस्थ कहाते हैं।

देवी—सभी वैदिक इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ विष्णुसहस्रनाम के टीकाकार श्री शंकराचार्य का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—**'यत्र पुल्लिङ्गशब्दप्रयोगस्तत्र विष्णुर्विशेष्यः' यत्र स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र देवता विशेष्यते, यत्र नपुंसकलिङ्ग-शब्दस्तत्र ब्रह्मेति विशेष्यते'** (श्लोक १४) अर्थात् जहाँ पुंल्लिङ्ग शब्द का प्रयोग है, वहाँ विष्णु विशेष्य है, जहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द है, वहाँ देवता विशेष्य है और जहाँ नपुंसकलिङ्ग शब्द है, वहाँ ब्रह्म विशेष्य है। तदनुसार जितने देव शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही देवी शब्द के भी हैं। भगवदर्थ में देवी शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है—**'देवैर्नो देव्यदितिर्निपातु'** (ऋक्० १।१०६।७) अर्थात् अदिति=अविनाशी देवी=परमेश्वर दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करे।

> **शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥** यजुः० ३६।१२

शक्ति—प्रथम संस्करण के अनुसार—"**'शक्लृ शक्तौ' शक्नोति यया सा शक्तिः**—जो सब पदार्थों को रचने का सामर्थ्य जिसमें है, इससे परमेश्वर का नाम शक्ति है।" वर्तमान में प्रचलित संस्करण के अनुसार 'शक्लृ शक्तौ' इस धातु से शक्ति शब्द बनता है, **'यः सर्वं जगत्कर्तुं शक्नोति स शक्तिः'** जो सब जगत् को बनाने में समर्थ है, इसलिए परमेश्वर का नाम शक्ति है। प्रथम निर्वचन में 'शक्ति' उस सामर्थ्य का नाम है जिससे भगवान् सृष्टि रचते हैं और वह सामर्थ्य उनमें है, इसलिए वे शक्ति कहाते हैं। द्वितीय निर्वचन में 'क्तिन्' प्रत्यय कर्त्ता में है। श्री मीमांसक के मत में "आशीः अर्थ के परित्यागपूर्वक 'क्तिच्' (३।३।१७३) प्रत्यय भी माना जा सकता है। पूर्वत्र **'कृत्ल्युटो बहुलम्'** (३।३१।१३) नियम से कर्त्ता अर्थ में क्तिन् होगा। उत्तरत्र बिना आशीः अर्थ के संज्ञा में क्तिच्।"

---

१. धातु० ५।१६॥

श्रिञ् सेवायाम्[1] इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है। **'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः'** जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम **'श्री'** है।

लक्ष दर्शनाङ्कनयोः[2] इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। **'यो लक्षयति पश्यति अङ्कते चिह्नयति चराऽचरं जगत्, अथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः'** जो सब चराऽचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र-पुष्प, फल-मूल; पृथिवी जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत मृत्तिका पाषाण, चन्द्रसूर्यादि चिह्न बनाता, तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा, और जो वेदादिशास्त्र वा धार्मिक-विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'लक्ष्मी'** है।

ऋग्वेद ४।२२।८ में 'शर्मा शशमानस्य शक्तिः' इस वाक्य में भगवदर्थ में शक्ति पद का प्रयोग हुआ है, अर्थात्—शक्त=शक्तिसम्पन्न भगवान् शान्तिशील व शान्तिदाता है।

बह्वृचोपनिषद् में लिखा है—**'देवी ह्यग्र आसीत् सैव जगदसृजत्। अण्डजं स्वेदमुद्भिज्जं जरायुजम्, यत्किञ्चैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमात्मं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः'**। इस सन्दर्भ में चराचर सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर को शक्ति नाम से अभिहित किया है।

श्री—**'क्विब् वचिप्रच्छि'** आदि उणादिसूत्र (२।५७) की व्याख्या में लिखा है—**'श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः'** यह निर्वचन भगवान् तथा शोभा, सम्पत्ति आदि सभी पर समानरूप से संगत होता है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में श्री का निर्वचन तीन भिन्न धातुओं से किया है—

शृणाति निखिलान् दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत्।
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परमं पदम्॥

श्री शब्द से आशय उससे है जो दोषों का निराकरण करे, जगत् में गुणों का परिपाक करे, सबके द्वारा आश्रयणीय हो तथा परमपद का आश्रयभूत हो। इन गुणों से युक्त होने से भगवान् का श्री नाम है।

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्॥ —ऋक्परि० ११।३

यहाँ कहा है कि (देवी श्री) दिव्य गुणयुक्त श्रीनामधारी भगवान् (मा जुषताम्) मेरे प्रति प्रीतिसम्पन्न हो।

उक्थं ब्रह्मेति .... तच्छ्रीरित्युपासति। —कौ० ब्रा० उ० २।६
श्रीर्वै वरुणः। —कौ० ब्रा० उ० १८।६

नृसिंहपूर्वतापिनीचतुर्थ्युपनिषद् में लिखा है—

या श्रीः-यश्चोंकारः-यश्च कालः-यश्च मनुः-यश्च यमः-यश्च प्राणः—एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्।

लक्ष्मी—'लक्षेर्मुट् च' इस औणादिकसूत्र (३।१४०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—**'लक्षयति पश्यत्यङ्कयति वा सा लक्ष्मी'**। यह व्याख्या लोक और परमेश्वर दोनों में संगत है।

'लक्ष' धातु के अर्थ दर्शन, अंकन तथा आलोचन हैं। ये सभी अर्थ परमेश्वर में सटीक बैठते हैं। उपनिषत् कहती है—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृहद०३।६।२३)। वास्तविक द्रष्टा और

---

१. धातु० १।६३८॥
२. धातु० १०।५॥

सृ गतौ[1] इस धातु से 'सरस्', उससे '**मतुप्**' और '**ङीप्**' प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। '**सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ**[2] **सा सरस्वती**' जिसको विविध विज्ञान, अर्थात् शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम '**सरस्वती**' है।

विज्ञाता परमेश्वर ही है, क्योंकि उससे बढ़कर कोई नहीं है। अन्यत्र (ऐत० उप० १।१।१) में लिखा है—'**स ऐक्षत इमांल्लोकान्नु सृजा इति**' अर्थात् उसने ईक्षण=आलोचन किया, इन लोकों की रचना की जाए। अंकन का अर्थ है चिह्नित करना। इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उसका व्यक्तित्व निहित है, जैसे किसी कृति में उसका कर्त्ता निहित होता है। भगवान् का दर्शन करना ही परम पुरुषार्थ है। श्रुति कहती है—'**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**' (यजुः० ३१।१८)। उसका आलोचन करना ही परम लक्ष्य है। इसलिए भगवान् की लक्ष्मी संज्ञा है।

'अनादिर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः'।

विष्णुसहस्रनाम १०१, द्रष्टव्य—महाभारत, अनु० १४६।११४

सरस्वती—प्रथम संस्करण में 'सरस्वती' नाम की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"सृ गतौ इससे सरस् शब्द से मतुप् और ङीप् प्रत्यय के करने से सरस्वती शब्द सिद्ध होता है। 'सरो सरस् नाम विज्ञानम्। **विज्ञानं नाम विविधं यत् ज्ञानं तत् विज्ञानम्**' सर शब्द विज्ञान का वाचक है। विविध नाम नाना प्रकार शब्द, शब्दों का प्रयोग और शब्दार्थ सम्बन्धों का यथावत् जो ज्ञान उसका नाम विज्ञान है। '**सरो नाम विज्ञानं विद्यते यस्याः सा सरस्वती**'—सर नाम विज्ञान जो अखण्डित विद्यमान है जिसको, उसका नाम सरस्वती है। ऐसा परमेश्वर ही है। इससे सरस्वती नाम परमेश्वर का है।"

निघण्टु भाष्यकार देवराज यज्वा इसका एक दूसरा ही निर्वचन करते हैं जो भगवान् की व्यापकता का द्योतक है—'**सरः प्रसरणमस्यास्तीति**' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् जिसका प्रसार है अथवा जो सम्पूर्ण जगत् में प्रसृत है। इससे भगवान् को सरस्वती कहते हैं।

भगवदर्थ में सरस्वती शब्द का प्रयोग—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ —ऋ० १०।१७।४

दिव्य ज्ञान की इच्छा रखनेवाले (देवयन्तः) सम्पूर्ण ज्ञान के आधार भगवान् को (सरस्वती) पुकारते हैं (ह्वयन्ते)।

कुछ लोग उसे वीणापुस्तकधारिणी तथा हंसवाहिनी देवीविशेष के रूप में मानते हैं, किन्तु नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् के निम्न वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द ईश्वरार्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

यश्च विष्णुः। यश्च महेश्वरः। यश्च पुरुषः। यश्चेश्वरः। या सरस्वती ...... यश्चोंकारः। एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्। ४।४

सरस्वती के पर्यायरूप में पढ़े हुए ईश्वर, महेश्वर, ओंकार आदि शब्दों से निश्चित है कि यहाँ सरस्वती शब्द परमात्मा का ही वाचक है।

सर्वशक्तिमान्—परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त सर्वमान्य है, परन्तु सर्वशक्तिमान् के अर्थों में

---

१. धातु० १।६६६॥
२. चितिशक्तावीश्वर इत्यर्थः।

सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्'** है।

णीञ् प्रापणे[1] इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है[2]। **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** यह वचन न्यायसूत्रों के ऊपर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य[3] का है। **'पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः'** जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो तथा पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण है, वह **'न्याय'** कहाता है। **'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः'** जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है, इससे उस ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।

मतभेद है। अधिसंख्य लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि परमेश्वर सब-कुछ कर सकता है—उसके सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है। ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि "ईश्वर अपने काम अर्थात् (सृष्टि की) उत्पत्ति-पालन-प्रलय आदि और सब जावों के पुण्य-पाप की व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।"

—स० प्र०, सप्तम समुल्लास।

इसका आशय यही है कि 'आपना कार्य करने में निरपेक्षता की सर्वशक्तिमत्ता है।' ऐसा न किया जाए तो 'परमात्मा अपना नाश कर सकता है या नहीं ; यदि कर सकता है तो अविनाशी या नित्य न रहकर नाशवान् या अनित्य हो जाएगा और यदि नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् नहीं हुआ' आदि अनेक शंकाएँ उठेंगी, जिनका समाधान सर्वथा अशक्य होगा। इसलिए यहाँ 'सर्व का अर्थ है 'योग्य सर्व' अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण योग्य शक्तियाँ हैं। इस प्रकार 'अनन्त' का अर्थ होगा 'जीव' की अपेक्षा से 'अनन्त'।

मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में होता है। तब 'सर्वशक्तिमान्' का अर्थ होगा 'सर्वा प्रशस्ताः शक्तयो विद्यन्तेऽस्मिन्' अर्थात् जिसमें सब प्रशस्त शक्तियाँ हैं, अप्रशस्त कोई नहीं। (Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in wodds or in deeds, to put forth a phantom of himself.—See Plato: Republic in Five Great Dialogues, Translated by B. Jowett, P. 285) सर्वशक्तिमान् शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग सर्वमान्य होने पर भी वह अन्वेषणीय है। **'इन्द्रे विश्वानि वीर्या'** (ऋ. ८।६३।६) अर्थात् भगवान् में सब शक्तियां हैं, इस रूप में अवश्य प्रमाणित है। ऋग्वेद १।५४।२ में **'अर्चा शक्राय शाकिने'** का अर्थ इस प्रकार किया है—'(अर्च)

---

१. धातु० १।६४२॥

२. अष्टाध्यायी ३।३।३७ तथा १२२ में दो स्थानों में 'न्याय' शब्द का साधुत्व दर्शाया है। अ० ३।३।३७ में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से, तथा अ० ३।३।१२२ में 'न्याय' शब्द निपातित है। काशिका आदि में 'नीयतेऽनेनेति न्यायः, व्युत्पत्ति दर्शाई है। इसमें 'नीयते' प्रयोग 'नि' पूर्वक 'इण्' दोनों धातुओं से सम्भव है। निपातन प्रायः अलाक्षणिक कार्यद्योतनार्थ माना जाता है, अतः हमारे विचार में यहाँ 'णीञ्' से निपातन मानना अधिक युक्त है, क्योंकि निपूर्वक इण् से पूर्व (अ० ३।३।३७) में साधुत्व दर्शा चुके हैं। निपातन में नकार से परे यकार का आगम जानना चाहिए। यदि निपातन भी निपूर्वक 'इण्' से ही मानने का आग्रह हो, तो पृषोदरादि आकृतिगण (अ० ६।३।१०८) से 'णीञ्' धातु से साधुत्व जानना चाहिए।

३. न्यायभाष्य १।१॥ यह भाष्य आचार्य चाणक्य अपर नाम कौटिल्य विरचित है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है। वात्स्यायन गोत्रनाम है।

सत्कुरु (शक्राय) समर्थाय (शाकिने) प्रशस्ताः शाकाः शक्तियुक्ता गुणाविद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै' । गीता (११।४०) में इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है । वहाँ लिखा है—**'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम्'** हे भगवन् ! आप अनन्त वीर्य और विक्रमवाले हो ।

न्यायकारी—ग्रन्थकार ने जिस धातु (णीञ् प्रापणे) से इस शब्द की रचना मानी है और जिस प्रकार इसका निर्वचन किया है, उसके विषय में यह कहा जाता है कि वह पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, क्योंकि पाणिनि ने इसे नि पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से बनाया है । वस्तुतः आक्षेपकर्त्ताओं ने इस शब्द को उसके समग्र रूप में नहीं देखा । अष्टाध्यायी ३।३।३७ तथा ३।३।१२२ दोनों स्थलों में न्याय शब्द का साधुत्व दर्शाया है । **'परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः'** (अ० ३।३।३७) से प्रकृति, प्रत्यय तथा अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हुए 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से बनाया है । आगे **'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च'** (३।३।१२२) में न्याय शब्द निपातित है । यदि दोनों ही स्थलों पर नि पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से ही न्याय शब्द की रचना अभिप्रेत होती तो निपातन करने की क्या आवश्यकता थी ?

काशिका आदि में 'नीयतेऽनेनेति न्यायः' व्युत्पत्ति दर्शाई है । इसमें 'नीयते' प्रयोग 'निपूर्वक इण्' तथा 'णीञ्' दोनों धातुओं से सम्भव है । निपातन प्रायः अलाक्षणिक कार्यद्योतनार्थ माना जाता है, अतः यहाँ 'णीञ्' से निपातन मानना अधिक युक्त है, क्योंकि नि पूर्वक इण् से पूर्व (३।३।३७) में साधुत्व दर्शा चुके हैं । निपातन में नकार से परे यकार का आगम जानना चाहिए । यदि निपातन भी नि पूर्वक 'इण्' से ही मानने का आग्रह हो, तो **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्ट'** (६।३।१०८) से 'णीञ्' धातु से साधुत्व जानना चाहिए । इस सूत्र के अनुसार जहाँ लोप-आगम-वर्णविकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाए, किन्तु शास्त्र द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चारित होने से साधु समझना चाहिए । इस विषय में इसी सूत्र के महाभाष्य में कहा है—**'एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्ते तत्र भवन्तः शिष्टाः'**, अर्थात् इस आर्य निवास (आर्यावर्त्त देश) में लोभरहित, बिना कारण के अर्थात् निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारंगत हैं, ऐसे व्यक्ति 'शिष्ट' कहाते हैं।

धर्मशास्त्रों में धर्म का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है । ऐसे महाविद्वान् शिष्ट पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिए ही भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई । इसीलिए महाभाष्य में कहा है—'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' (६।३।१०७) । (आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना अष्टाध्यायी के आधार पर करते हैं और जो शब्द की विवेचना के नियमों से साक्षात सिद्ध नहीं होते, उन्हें अनार्ष प्रयोग अर्थात् असाधु मानते हैं । वस्तुतः यह प्रक्रिया शास्त्र-विरुद्ध है । आर्ष शब्द साधु हैं, उनका साधुत्व इसी सूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य आचार्य चाणक्य, आपर नाम कौटिल्य, विरचित है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है । वात्स्यायन गोत्र नाम है । (यु.मी.)

'णीञ्' धातु से इस शब्द की रचना हो सकती है, इस विषय में अन्य आचार्य भी सहमत हैं । तद्यथा-

आचार्य उदयन के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि की प्रकाश नाम की प्रसिद्ध व्याख्या में न्याय शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' (न्यायकुसुमञ्जलि-सोसायटी संस्करण, पृ० २) । यदि उन्हें यहाँ नि पूर्वक 'इण' धातु अभिप्रेत होती तो 'नीयते= ज्ञायतेविवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' ऐसा लिखते, जैसाकि केशवमिश्ररचित तर्कभाषा की व्याख्य सारमञ्जरी में इस शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है —'न्यायः पञ्चावयवोपपन्नं वाक्यं तन्नीयते ज्ञायते

अनेनेति, प्राधान्येनेतत्प्रतिपाद्यते न्यायशास्त्रे'। इसलिए आचार्य का एक साथ 'नीयते' पद और फिर उसका विवरण 'प्राप्यते' स्वयं पोषण कर रहा है कि मैं 'णीञ् प्रापणे' से बना हूँ।

विष्णुसहस्रनाम में भगवान् के नामों में 'न्याय' का भी उल्लेख है—

अग्रणीर्ग्रामीणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः ।

यहाँ अग्रणी, ग्रामणी, नेता सभी एक शब्द 'णीञ्' धातु से संबद्ध हैं। अतः 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय से इनके मध्य में पठित न्याय शब्द भी 'णीञ्' धातु से ही बना होना चाहिए।

शब्दकल्पद्रुमकोश शकाब्द १८०६ का संस्करण पृष्ठ ६३० पर लिखा है—'नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्था येनेति। णी+अध्यायन्यायोद्यावसंहराश्च (३।३।१२२) इति घञ् प्रत्ययेन निपातनात् साधु'।

यदि ये सब समाधान न भी हों तो भी ग्रन्थकार के निर्वचन को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द रचना के विषय में नियम यह है कि 'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्त्तव्या उपायानमिनियमात्'। इनके आगे फिर कयट लिखते हैं—'गिरिरस्यास्तीति लोमादिषु दर्शनात् शप्रत्ययः, अन्ये त्वाहुः गिरौ गिरौ शेते इति संख्यैकवचनादिति सप्तम्यन्तात् शस् प्रत्ययः, व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्त्तव्या उपायनियमात्। तदुक्तं हरिणा—

वैरवसिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित् कथंचित् व्याख्याता निमित्तावधिसंकरैः ॥

—महाभाष्य ३।२।१५ पर कैयट

आशय यह है कि एक शब्द भिन्न-भिन्न प्रकृति-प्रत्ययों से बन सकता है, क्योंकि प्रयोजन शब्दसाधुत्व सम्पादन करना है और उसके लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है। जैसे 'गिरीशः' शब्द 'गिरौ शेते' ऐसा निर्वचन करने पर 'लोमादिपामादि' (५।२।१०) सूत्र से शन् प्रत्यय करके भी बन जाता है, जैसे रमेशः। इसी प्रकार 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५।४।४३) सूत्र द्वारा गिरि शब्द से वीप्सा अर्थ में 'शस्' प्रत्यय करके गिरिशः शब्द बनता है। परिणाम वही कि शब्द रचना के उपाय अनेक हैं। जैसा अर्थ आपको अभीष्ट हो, तदनुसार प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर लीजिए और शब्द बना लीजिए। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने अग्नि शब्द को विभिन्न अर्थों की दृष्टि से विभिन्न प्रकृति प्रत्ययों द्वारा विभिन्न प्रत्ययों द्वारा बनाया है। प्रसिद्ध वैयाकरण हरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में 'वैरवसिष्ठगिरिशाः' कारका द्वारा यही प्रतिपादित किया है। आगे भी आपने इसी पुस्तक के द्वितीय काण्ड में गो शब्द की रचना के विषय में लिखा है—

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेगर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ —वा० प० २।१७५

आशय यह कि आचार्यों ने गो शब्द के निर्वचन गॄ, गर्ज, गम्, गु तथा गद इन भिन्न-भिन्न प्रकृतियों से किये हैं। परिणाम वही कि 'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्तव्या उपायानियमात्'। —विद्यासागर

विशा राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्। अग्निमीळे स उ श्रवत्। (ऋ० ८।४३।२४) अर्थात् समस्त संसार के राजा, धर्माध्यक्ष=न्यायकारी अद्भुत आग्रणी भगवान् की मैं पूजा करता हूँ, वही सबकी सुनता है। 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' (वेदान्तद० २।१।३४) अर्थात् परमेश्वर में वैषम्य तथा निर्घृणता नहीं है, वह यह सृष्टि जीवों के कर्मों की अपेक्षा से करता है जैसाकि बृहदारण्यकोपनिषद् (३।२।१३) में कहा है—'**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापो वै पापेन**' अर्थात् पुण्य कर्म से पुण्य फल पाता

दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु[1] इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। **'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वर',** जो अभय का दाता सत्य-सत्य सर्वविद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने, और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है, इससे परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

'द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता[2] **द्वीतं वा, सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तद् अद्वैतम्,** अर्थात् सजातीयविजातीयस्वगतभेदसून्यं ब्रह्म' दो का होना वा दो से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत। जो द्वैत से रहित है वह 'अद्वैत'। सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाला वृक्ष, पाषाणादि, स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आँख, नाक, कान, अवयवों का भेद है, जैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

है, पाप से पाप। इस प्रकार परमेश्वर न्यायकारी कहाता है।

दयालु-दय' धातु के जितने अर्थ हैं, वे सब भगवान् की दयालुता में आ जाते हैं। वैयाकरण 'दयाशीलमस्येति दयालुः' ऐसा निर्वचन करते हैं। उनके अनुसार 'स्पृहिगृहिपतिदयि' (अष्टा० ३।२।१८५) सूत्र से 'दय' धातु से अलुच् प्रयय होकर दयालु पद बनता है। इसी का निर्देश यहाँ किया गया है। यही भाव हेमचन्द्र ने 'दयत' इत्येवं शीलो दयालु (अभिधानाचिन्तामणि ३।३२ टीका में) द्वारा व्यक्त किया है।

ग्रन्थकार ने यहाँ और प्रथम संस्करण में—दोनों स्थानों पर 'दया विद्यतेऽस्य स दयालुः' व्युत्पत्ति दर्शाई है। श्री मीमांसक के अनुसार 'पाणिनीय व्याकरण में 'दया' शब्द से मत्वर्थ मे 'लुच्' वा 'आलुच्' प्रत्यय का विधान नहीं मिलता। पुनरपि 'हृदयादालुरन्यतरस्याम्' इस वार्तिक (महाभाष्य ५।२।१२२) में दया और कृपा शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिए। हेमचन्द्र ने 'कृपाहृदयादालु' (चान्द्र० व्या० ७।२।४२) सूत्र में स्पष्ट ही दोनों पदों से आलुप्रत्यय का विधान किया है। चन्द्रगोमी ने तो 'निद्रातन्द्राश्रद्धादयाहृदयादालुच्' (४।२।१५७) सूत्र से उन सभी से मत्तवर्थ में आलुच् प्रत्यय का विधान किया है, जिनको पाणिनि कृदन्त मानता है। इस प्रकार ग्रन्थकार की व्युत्पत्ति व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार सर्वथा ठीक है। 'यो मृळयति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः' (ऋ० ७।८७।७) अर्थात् भगवान् पाप करनेवाले पर भी दया करता है, अतः हम भगवान् की दृष्टि में निष्पाप रहने का प्रयास करें तथापि 'दयालु' इस रूप में भगवान् का नाम अन्वेषणीय है।

अद्वैत—यह शब्द दार्शनिक क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है। अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में इसका अपना विशेष ही अर्थ है। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही बताना अभिप्रेत है कि अन्य अनेक शब्दों की भाँति 'अद्वैत' शब्द भी परमात्मा का बाचक है। इसलिए कि उस जैसा अन्य कोई नहीं है। इसके मूल में ये दो मन्त्र प्रतीत होते हैं—

> **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
> **यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यान्या॥**
>
> —यजुः० १७।२७

---

१. धातु० १।३२२॥

२. 'द्विता' शब्द का मुख्यार्थ है 'भेद'। ग्रन्थकार ने भी उत्तरवाक्य में यही अर्थ स्वीकार किया है। इस दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति तीन को अनादि माननेवाला दर्शन भी द्वैतवादी कहा जाता है।

'गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण; अविद्या, अल्पज्ञता, राग-द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है। इसमें **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है[1]। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम' **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्तबलादि गुणों से युक्त है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'सगुण'** है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण', और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर **'निर्गुण'**, और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से **'सगुण'** है, अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण, और अपने गुणों से सहित होने से 'सगुण', वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण', और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से 'सगुण' । ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक

न द्वितायो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । न पञ्चमो न षष्ठो सप्तमो
नाप्यु च्यते । नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्यु च्यते ।
स एष एक एकवृदेक एव ॥

—अथर्व० १३।४।१६-२०

अर्थात् वह तो एक ही है—'एकवृदेक एव'। ऋग्वेद ७।३२।२३ में कहा है—

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

अर्थात् हे भगवन् ! तुझ जैसा न कोई दिव्य है, और न कोई पार्थिव है। न कोई उत्पन्न हुआ है, न उत्पन्न होगा। वस्तुतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य होने से परमात्मा अद्वैत कहाता है। अद्वैत शब्द का विसतृत विवेचन सप्तम उल्लास में अद्वैत वेदान्त के प्रसंग में किया जाएगा।

निर्गुण-सगुण—इस सम्पूर्ण लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि सगुण तथा निर्गुण शब्द साक्षेप हैं, निरपेक्ष नहीं अर्थात् 'निर्गुण' का अर्थ हुआ कुछ गुणों से रहित—उन गुणों से रहित जो उसमें रह नहीं सकते और 'सगुण' का अर्थ है कुछ गुणों से सहित जो उसमें रह सकते हैं। इसलिए परमेश्वर को निर्गुण भी कह सकते हैं और सगुण भी। प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने ठीक लिखा है—

"कोई भी वस्तु संसार में ऐसी नहीं है, जो केवल निर्गुण अथवा सगुण होय। जैसेकि पृथिवी गन्ध आदि गुणों के योग होने से सगुण है और वही पृथिवी चेतन और आकाशादि के गुणों से रहित होने से निर्गुण भी है। वैसे ही अपने सर्वज्ञत्वादि गुणों से सदा सहित होने से परमेश्वर का नाम 'सगुण है और उत्पत्ति, स्थिति, नाश, जड़त्वादिक जगत् के गुणों से रहित होने से परमेश्वर निर्गुण भी है। वैसे सब जगहों में विचार कर लेना।"

अन्तर्यामी— उल्लिखित निर्वचन का मूल यह ब्राह्मणवाक्य है—**'वेत्थ नु त्वं काप्य! तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति'** (शत०१४।६।७।३) । इस विषय का बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है, तद्यथा—

१. कठो० ३।१५॥

होके सबका नियम करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है ।

'यो धर्मे राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित, धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'धर्मराज'** है ।

यमु उपरमे[1] इस धातु से 'यम' शब्द सिद्ध होता है । **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता, और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसीलिए परमात्मा का नाम **'यम'** है ।

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।' —बृहद० ३।७।१५

अर्थात् जो सब भूतों में स्थित होता हुआ सब भूतों के अन्दर है, जिसको सब भूत नहीं जानते, सब भूत जिसका शरीर हैं, जो सब भूतों के अन्दर सबपर शासन कर रहा है, वहीं मरणरहित सबका अन्तर्यामी आत्मा है ।

प्रथम संस्करम में 'जगत् के भीतर व्यापक' के स्थान पर 'जगत् के भीतर, बाहर और मध्य में सर्वत्र व्याप्त' लिखा है । इसका मूल यजुर्वेद ४०।५ अर्थात ईशोपनिषद् का यह वाक्य हो सकता है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।**

धर्मराज— पौराणिक दृष्टि से धर्मराज का अपर नाम यमराज है । स्व-स्व कर्मानुसार जीवों को विभिन्न योनियों में भेजना उसका काम है । जीवों के कर्मों का लेखा-जोखा रखनेवाले चित्रगुप्त इस कार्य में उसके सहायक हैं । वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के किसी पृथक् देवता की कोई सत्ता नहीं है । भगवान् के अन्यान्य नामों की तरह धर्मराज भी उसी का एक नाम है और वह किसी की सहायता के बिना अपना यह कार्य भी करने में पूर्ण समर्थ है ।

प्रथम संस्करण में लिखा है—"न्यायकारी नाम के अर्थ में धर्म शब्द की व्याख्या करदी है । उससे जान लेना **'धर्मेण राजते स धर्मराजः'** अथवा **'धर्मं राजयति प्रकाशयति स धर्मराजः'** धर्म न्याय का और न्याय पक्षपात के त्याग का नाम है । तिस धर्म से सदा प्रकाशमान होय अथवा सदा धर्म का प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम धर्मराज है ।

'अर्तिस्तुसुहुसृधृ' आदि उणादिसूत्र (१।१४०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— **'राजते प्राप्तो भवतीति राजा, धर्मेण राजते प्राप्तो भवतीति धर्मराजः'**

अर्थात् धर्म द्वारा प्राप्त किये जाने से भगवान् धर्मराज कहाते हैं । इस शब्द का यह निर्वचन भगवत्परक है । 'अध्यक्षं धर्म्मणाम्' (ऋ० ८।४३।२४)।

यम—यम्यते=नियम्यते जात्यायुर्भोगादिभिः जगदनेन स यमः परमेश्वरः' अर्थात् जाति, आयु और भोग द्वारा सारे संसार का नियमन करन से भगवान् यम कहाते हैं । अथवा 'नियतं फलं जीवेभ्यो यच्छतीति यमः'—जीवों को यथायोग्य कर्मफल देने से भगवान् का यम नाम है । इस निर्वचन का मूल गीता का यह वचन हो सकता है —'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् (गीता ७।२२)।निम्न मंत्रों में यम शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग उपलब्ध है —

यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जागत् ।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत्प्राणाद्वायुरक्षितम् ॥

---

१. धातु० १।७१०॥

भज सेवायाम्[1] इस धातु से 'भग', इससे **'मतुप्'** होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है । **'भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्** ' जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त, वा भजने के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है ।

अर्थात् यम= जगत् का नियमन करनेवाले भगवान् पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रहों को स्व-स्व कक्षा में संचालित करते हैं । वही यम जाति, आयु, भोग द्वारा इस सम्पूर्ण विश्व को धारण करते हैं । यह सम्पूर्ण चराचर जगत् 'इत्तस्थे' भगवान् के ही नियन्त्रण में स्थित है ।

सोऽर्यमा स वरूणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स सूर्यः स एव महायमः ॥ —अथर्व० १३।३।४,५
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम अहिताः ।—ऋ० १०।१४।१६

अर्थात् त्रिष्टुप, गायत्री आदि सब छन्द यम में रहते हैं ।

अदाद् यमो अवसानं पृथिव्यै । —यजुः० १२।४५

अर्थात् यम= नियन्त्रणकर्त्ता भगवान् ही विस्तार=संसार का अन्त करता है ।

त्वमन्नस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः । —मैत्र्यु० ५।१
वायुर्यमोऽग्निर्वरूणो शशांकः ।
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ —गीता ११।३६
यश्चोंकारः........ यश्च यमः । —नृसिंहपूर्वचतुर्थ्युपनिषद्

भगवान्—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"भगो विद्यते यस्य स भगवान्' अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्यादि नित्य गुणों से युक्त होने से परमेश्वर का नाम भगवान् है । "

भग किसे कहते हैं, यह बताने के लिए काशिका ४।४।१३१ में लिखा है— 'श्रीकामप्रयत्नमाहात्म्य-वीर्ययशस्सु भगशब्दः', अर्थात् श्री, काम, प्रयत्न, माहात्म्य, वीर्य और यश— इन अर्थों में भग शब्द का प्रयोग होता है । ये सब पदार्थ अतिशय करके भगवान् में विद्यमान हैं, अतएव उसे भगवान् कहते हैं । विष्णुपुराण में कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरण ॥ —वि० पु० ६।५०।७४

आशय यह कि ऐश्वर्य, बल, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छह पदार्थों का नाम भग है । ये सम्पूर्ण जिसे प्राप्त हैं, वह भगवान् कहाता है ।

भगवनान् शब्द का ईश्वरार्थ में ही प्रयोग होता है, इसके लिए विष्णुपुराण में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं । तद्यथा—

ज्ञानशक्तिबलेश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयगुणादिभिः ॥ ६।५।७६
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति । ६।७।७८

लोक में भगवान् शब्द का प्रयोग पूजनीय के अर्थ में भी किया जाता है, जैसे छान्दोग्य में प्रसंगतः आता है—

'वेत्थ यथासौ लोको न सम्पूर्यत इति, न भगव इति, वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो

---

१. धातु० १।७२४

मन ज्ञाने[1] इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है। **'यो मन्यते स मनुः'** जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिए उस ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

पृ पालनपूरणयोः[2] इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति**[3] **वा स पुरुषः'** जो [अपनी व्याप्ति से] सब [चराऽचर] जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

भवन्तीति, नैव भगव इति' (५।३।३) ।

परन्तु लोक में यह प्रयोग मात्र औपचारिक है। मुख्यार्थ में इस शब्द का प्रयोग ईश्वर के लिए ही किया जाता है। इसका मूल वेद में है—

भग एव भगवानस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥

—ऋ० ७।४१।५, यजु०ः ३४।३८

सर्वव्यापी स भगवान्। —श्वेत० ३।११

पुरुष— 'पुरः कुषन्' इस उणादि सूत्र (४।७४) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'पुरति अग्रं गच्छतीति पुरुषः' अर्थात् जो पूर्व से ही विद्यमान् है, वह पुरुष है। निरुक्तकार ने इसे तीन विभिन्न धातुओं से बना माना है— 'पूरुषः पूरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य' (निरुक्त २।३)। तब निर्वाचनों का स्वरूप होगा—

(क) **'पुरि सीदतीति पुरुषः'** यहाँ धातु 'षद्लृ' मानी गयी है, अर्थात् इन लोकों में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाता है। शतपथ में आता है—**'इमे वै लोकाः पूः'** (शत० १३।६।२।१) तै० आ० २।१ में कहा है—**'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'**।

(ख) **'पुरि शेते इति पुरुषः'**— जो पुरी में शयन (निवास) करता है, वह पुरुष कहाता है। शरीर में निवास करने से जीवात्मा और ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने से परमात्मा पुरुष कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल **'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः नैतेन किञ्चनानावृतं नैतेन किञ्चनासंवृतम्'** (बृहद० २।५।१८) वही पुरुष सबको बाहर से आवृत किये हुए है और वही सबको भीतर से संवृत किये हुए है (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—ईश० ५) —इस उपनिषद् वचन में निहित है।

(ग) 'पूरयतीति पुरुषः' यहाँ धातु 'पूरी आप्यायने' है। आप्यायन का अर्थ है तृप्ति, जैसाकि **'आप्यायितोऽहं भवद्दर्शनेन'** इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है। आशय यह है कि पूर्ण परितृप्त एवं आप्तकाम होने से भगवान् पुरुष कहाता है।

निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी इस शब्द को 'शद्लृ शातने' से भी बनाते हैं। उनका निर्वचन है— 'पुरुषादोऽस्येति पुरुषः'। अर्थात् जो मानसिक दुर्भावनाओं का शातन अर्थात् विनाश करता है, वह पुरुष कहाता है। ऐसा करनेवाला होने से भगवान् की पुरुष संज्ञा है।

विष्णुसहस्रनाम के शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में पुरुष शब्द के आठ निर्वचन दिये हैं, जो भगवान् के विभिन्न गुण-कर्मादि के द्योतक हैं—

---

१. धातु० ४।६५॥
२. धातु ६।१८॥
३. 'पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रत्य'। निरु० २।३; 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'। तै० आ० १०।१०॥

(क) पुरं शरीरं, तस्मिन् शेते पुरुषः । शरीर में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाता है । भगवान् का शरीर कौन-सा है, इसे अन्तर्यामीब्राह्मण का यह वचन स्पष्ट करता है—'आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्........., (शत० १४।५।५।३०) । आशय यह कि जो आत्मा में विद्यमान रहकर उसका नियमन कर रहा है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, वही अन्तर्यामी अमृत भगवान् है । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् ही उसका शरीर है ।

(ख) अस्तेर्व्यत्यस्ताक्षरयोगात्, आसीत् पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः पुरुषः । आशय यह कि 'पुरा पूर्व वा आसीत् इति पुरुषः' (समवर्त्तताग्रे) । भगवान् पहले से (सदा से) था, अतः उसे पुरुष कहते हैं । यह निर्वचन भगवान् की अनादिता को बता रहा है । इस निर्वचन का मूल भाष्यकार ने पूर्वमेहामासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्' उद्धृत किया है ।

(ग) पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति पुरुषः, अर्थात् जो उत्कर्षशालियों में विद्यमान है, वह पुरुष कहाता है । इस निर्वचन का मूल है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ —गीता १०।४१

(घ) पुरूणि फलानि सनोति ददातीति पुरुषः— सबको यथायोग्य कर्मों का फल देने से भगवान् पुरुष कहाता है। इसके मूल में 'जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में भगवान् के अधीन है' यह सिद्धान्त है।

(ङ) पुरूणि भुवनानि संहारकाले स्यति अन्तं करोतीति पुरुषः, अर्थात् संहारकाल में जगत् का अन्त करने से भगवान् पुरुष कहाता है । 'संहारकाले च तदत्ति भूयः' यह वचन इस निर्वचन का मूल है ।

(च) पूरणात् सादनात् वा पुरुषः— पूर्णरूप से व्याप्त होने से भगवान् की पुरुष संज्ञा है । इस निर्वचन का मूल 'पूरणात् सादनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः' यह भारत-वाक्य है ।

(छ) 'सर्वस्मात् पुरा सादनात्' 'सर्वपापस्य वा सादनात् पुरुषः'- सबसे पूर्व विद्यमान होने से अथवा सब पापों का उच्छेद करने से भगवान् को पुरुष कहते हैं । इस दोनों निर्वचनों का मूल है— 'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः' (बृहद् १।४।१) ।

(ज) पुरि शयनात् वा पुरुषः— इसका स्पष्टीकरण पूर्व किया जा चुका है ।

भगवद्गुणदर्पणभाष्य में आचार्य रङ्गनाथ लिखते हैं—

(क) पुरं प्रभूतं मोक्षरूपमानन्दं सनोतीति पुरुषः । मोक्ष का महान् अनन्द प्रदान करने से भगवान् को पुरुष कहते हैं । श्रुति कहती है—

'उतामृतत्वस्येशानः' । —ऋक्० १०।६०।२

(ख) दृष्टः सन् पुर एव सर्वान् किल्बिषान् ओषति दहतीति पुरुषः । जिसके दर्शनमात्र से सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं, उसे पुरुष कहते हैं । उपनिषत् कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मन् दृष्टे परावरे ॥ —मुण्डक० २।२।८

महाभारत में पुरुष शब्द का निर्वचन सर्वथा भिन्नरूप से किया गया है—

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते । —उद्योग १३३।३५

निर्वचन का स्वरूप होगा—'परं विषहते इति पुरुषः' अर्थात् शत्रुओं का घर्षण करने से वह पुरुष कहाता है । यह निर्वचन भगवान् की दृष्टि से किया गया प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रकारान्तर से उसपर

डुभृञ् धारणपोषणयोः[1] 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः'** जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्वम्भर'** है।

कल संख्याने[2] इस धातु से 'काल' शब्द बना है। **'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः'** जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'काल'** है।

लग सकता है। भगवदर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध है। तद्यथा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वास्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ —ऋक्० १०।६०।२
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः । ३१।३
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । —यजुः० ३१।१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । —यजुः० ३१।१८
अथ यः पुरुषस्य प्राणस्तत्साम तद्ब्रह्म तदमृतम् । —जै० उ० १।२५।१०
पुरुषो हि प्रजापतिः । —शत० ७।४।१।१५
पुरुषः प्रजापतिः । —शत० ६।२।१।२३; ७।१।१।१७

विश्वम्भर— 'विश्वेश्वर' के साथ पूर्व व्याख्यात हो चुका है।

काल— प्रथम संस्करण में लिखा है—

"कल संख्याने' इस धातु से काल शब्द सिद्ध होता है। 'कलयति सर्वं जगत् स कालः' सब जगत् की संख्या एवं परिणाम को, आदि, अन्त और मध्य को यथावत् जानने से परमेश्वर का नाम काल है। उसका काल कोई भी नहीं, वह काल का भी काल है।"

वर्तमान संस्करण में उपलब्ध निर्वचन परमेश्वर की सर्वज्ञता का द्योतक है तो प्रथम संस्करण में दिये वचन से परमेश्वर जगत् की संख्या करने के साथ-साथ उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का भी कारण है।

यहाँ 'जीवों की संख्या करता है' पर यह शंका होती है कि जब जीव अनन्त है तो उनकी संख्या का कहना सर्वथा असंगत है। वस्तुतः यह कथन जीव की अपेक्षा से है। अस्मदादि के लिए तो जीव अनन्त हैं, परन्तु परमेश्वर के सर्वज्ञ होने से वह उनकी संख्या जानता है। उनकी गणना जानने के कारण ही उसे काल कहा गया है।

अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ५३ तथा ५४ सूक्तों में काल के महत्त्व का वर्णन किया गया है। ५४वें सूक्त का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालात् ऋचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥

काल ने भूत तथा भविष्यत् को उत्पन्न किया। यहाँ 'च' से वर्तमान का भी ग्रहण होता है। आशय यह कि त्रिकालदर्शी भगवान् के लिए तो केवल वर्तमान काल ही है। लोकदृष्टि से कालत्रय का विभाग है। कालात्=सर्वज्ञान का आकलन करनेवाला होने से काल कहे जानेवाले भगवान् से ही ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए। यहाँ काल को पुत्र कहे जाने से स्पष्ट है कि उसका भी कोई पिता है जिसका कि काल पुत्र है। वह पिता परमेश्वर ही

१. धातु० ३।५॥
२. धातु० १०।२६०॥

शिष्लृ विशेषणे[1] इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है। **'यः शिष्यते स शेषः'** जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम' **'शेष'** है।

है। परमेश्वर से काल पैदा हुआ और काल द्वारा नियन्त्रित होकर सारी सृष्टि हुई।

प्रसंगवश निरुक्तकार ने भी काल शब्द का निर्वचन किया है—'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः' (नि०२।२५)। आशय यह कि जो सबको भेजता रहता है, व्यतीत करता रहता है, वह काल है। 'कालयति गमयति सर्वं जगत् इति कालः परमेश्वरः' सब जगत् में गति उत्पन्न कर उसका संचालन करने से भगवान् काल कहाता है।

लोकसामान्य की दृष्टि से काल नाम है मृत्यु का। यह शब्द निरुढलाक्षणिक है, क्योंकि मनुष्य की मृत्यु किसी-न-किसी काल में ही होती है। वास्तव में काल परमेश्वर के सिवा और कोई नहीं है। उपनिषद् कहती है—

ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित् यः । —(श्वेत० ६।१६)
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ —कठ० २।३।३

विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—'कलयति सर्वमिति कालः'। यहाँ कलयति का अर्थ 'आकलयति' है। प्रलय में सबका आकलन करने से भगवान् को काल कहते हैं। उपनिषत् कहती है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क ईत्था वेद यत्र सः ॥ —कठ० १।२।२४

विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्यकार कहते हैं— 'आत्मनि चराचरसंकलनात् कालः'।

अर्थात् संहारकाल में सबको अपने में लीन कर लेने से भगवान् काल कहाता है।

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ लिखते हैं—'कलयित जन्ममरणप्रवाहं संवलयतीति कालः'। अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह को संवलित करने के कारण भगवान् काल कहाता है।

महाभारत में एक स्थान पर आया है—

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योत्मानं त्युक्तुमिच्छसि ।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ —उद्योग० ११२।२०

इस श्लोक में स्पष्टतः 'कालो हि परमेश्वरः' कहा है। अनुशासनपर्व १७।७६ में ब्रह्मा, पिता और पितामह को काल नाम से स्मरण किया है—

कालो ब्रह्मा पिता पितामहः ।

शेष-- पौराणिक दृष्टि से एक सहस्र फणवाले सर्पराज को शेष कहते हैं, जो अपने फणों पर पृथिवी को धारण किये हुए है। वस्तुतः ऐसा कोई सर्प नहीं हैं। श्रुति कहती है—**'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्'**। अर्थात् पृथिवी आदि को धारण करनेवाला परमेश्वर ही है। प्रलयकाल में जब सृष्टि में कुछ नहीं रहता, तब भी जो बचा रहता है उसे शेष कहते हैं। वह परमेश्वर ही है। 'शेषति हिनस्ति प्रलयकाले सर्वं जगदिति शेषः— प्रलय में सबका संहार करने से भी भगवान् शेष कहाता है।

आप्त— 'आप्नोति' का अर्थ यहाँ ' व्याप्नोति' न होकर 'प्राप्नोति' है, अर्थात् जो धर्मात्माओं को प्राप्त होता है अथवा जिसे धर्मात्मा प्राप्त करना चाहते हैं, वह आप्त है और इसलिए परमात्मा आप्त कहाता

---

१. धातु० ७।१४॥

आप्लृ व्याप्तौ[1] इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति या सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः'** जो सत्योपदेशक, सकल-विद्यायुक्त, सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता, और सब धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आप्त'** है।

डुकृञ् करणे[2] **'शम्'** पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः'** जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'शङ्कर'** है।

है। मनुष्य उसी के पास जाना चाहते हैं जिसपर उनका विश्वास होता है और विश्वास उसी का होता है जो सत्यनिष्ठ, निष्कपट और ईमानदार होता है। इस प्रकार छलकपटादिरहित होना' आप्त शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, व्युत्पत्ति निमित्त नहीं।

न्यायभाष्यकार कहते है—'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः'—वस्तु के साक्षात्कार= यथार्थदर्शन का नाम आप्ति है और आप्ति द्वारा प्रवृत्त होनेवाला आप्त है। अपने-अपने विषय में सब आप्त हैं। मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। वह पूर्णज्ञानी कभी नहीं हो सकता। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि के कारण उसमें अनाप्तता आने की आशंका बनी रहती है। भगवान् इन दोषों से परे है, अतः वह परम-आप्त है।

भगवदर्थ में आप्त शब्द का प्रयोग—

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः॥

—अथर्व० ५।२।७

अर्थात्— हे शक्तिमन् जीव! अनेक व्यवहारों-(मार्गों)-वाले, प्रकाशस्वरूप आप्तों में आप्त = परमाप्त परमेश्वर की स्तुति कर। आशय यह कि भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग है। धर्मात्मा सज्जन उनसे भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं।

शंकर— सुखप्रदाता होने से भगवान् शंकर है। नीलकण्ठ इस शब्द का निर्वचन करते है— 'शङ्कानां समूहः शङ्कं तस्य रः प्रदाहकः सर्वसंशयप्रदाहक:'— सब प्रकार के संशयों का दाहक होन से भगवान् शंकर कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल है—'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्डक० २।२।८)।

नमः शंकराय च। —(यजुः० १६।४१)।

स्कन्दपुराण में आता है—

शं करोमि सदा ध्यानात् परमं यन्निरामयम्।
भूतानामसकृत् यस्माद् तेनहं शंकरः स्मृतः॥

मैं ध्याताओं का परम कल्याण करता हूँ, अतः संकर कहाता हूँ।

महादेव— 'महतां देवः स महादेवः' पर आक्षेप यह है कि 'महतां देवः' ऐसा विग्रह करके षष्ठी समास मानने पर समानाधिकरण न रहने से 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (अष्टा०६।३।४६) सूत्र से आत्व न होगा। इस प्रकार प्रयोग 'महद्देव' बनेगा, न कि महादेव', अतः महादेव का ग्रन्थकारकृत विग्रह ठीक नहीं।

---

१. धातु० ५।१५॥
२. धातु० ८।१०॥

'महत्' शब्दपूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है । **'यो महतां देवः[1] स महादेवः'** जो महान् देवों[2] का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'महादेव'** है ।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च[3] इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है । **'यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः'** जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता, और सबको कामना के योग्य है, इसलिए उस ईश्वर का नाम **'प्रिय'** है ।

वस्तुतस्तु यह समास का विग्रह नहीं है, अपितु अर्थ की ओर निर्देशमात्र है । इसमें प्राचीनाचार्यसम्मत अर्थ भी अवभासित है । विग्रह का रूप है 'महतां देवानां मध्येऽपि महान्, स चासौ देवः महादेवः'। महाभारत में बताया है— 'देवानां सुमहान् यश्च (महाभारत, अनु०१६१।८) । पूर्वाचार्य भी इस प्रकार का (महतां देवः) समास मानकर ऐसा पद बना चुके हैं । अव्यक्तोपनिषत् में ' महाविष्णु' शब्द का विग्रह करते हुए लिखा है— 'महाविष्णुमित्याह, महतां वा अयम्, महान् रोदसी व्याप्य स्थितः' (अव्यक्त २) । यहाँ स्पष्ट है कि उपनिषत्कार को महाविष्णु शब्द में 'महतां व्यापकानामपि विष्णुः व्यापकः महाविष्णुः —यह विग्रह अभीष्ट है । इसी प्रचीन शैली का अनुसरण करके ग्रन्थकार ने वैसा विग्रह किया है ।

इस सन्दर्भ में श्री युधिष्ठिर मीमांसक की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"यह समास का विग्रह नहीं है, अर्थ-निदर्शन है । समास समानाधिकरण तत्पुरुष ही जानना चाहिए । सामासिक विग्रह से भिन्न पदों से अर्थनिर्देश करने की प्राचीन परिपाटी है यथा—महाभाष्य १।१ आ० १ में षष्ठी तत्पुरुष 'धर्मनियमः' का अर्थ 'धर्माय नियमः' और 'वृत्तिसमवायः' का अर्थ 'वृत्तये समवायः' पदों से दर्शाया है । शस्त्रीय नियमानुसार 'विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है ।' (द्रष्टव्य—चतुर्थीबलिहितसुखरक्षितैः तदर्था—(अष्टा० २।१।३५) सूत्र के व्याख्याग्रन्थ) । यदि इससे सन्तोष न हो तो जैसा षष्ठी तत्पुरुष 'महाघास, महाकार' आदि में 'महदात्वेघासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्' वार्तिक से आत्व होता है, तद्वत् यहाँ भी जान लेना चाहिए ।"

विष्णुसाहस्र नाम के अद्वैतमतानुसारी भाष्य में लिखा है— 'सर्वान् भावान् परत्यज्य आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्युते महादेवः', अर्थात् आत्मज्ञान योगदि ऐशवर्यरूपी महत्त्व के कारण भगवान्

---

१. यह समास का विग्रह नहीं है, अर्थ-निदर्शन है । समास समानाधिकरण तत्पुरुष ही जानना चाहिए । सामासिक विग्रह से भिन्न पदों से अर्थनिर्देश करने की प्राचीन परिपाटी है । यथा—महाभाष्य १।१ आ० १ में षष्ठीतत्पुरुष 'धर्मनियमः' का अर्थ 'धर्माय नियमः' और 'वृत्तिसमवायः' का अर्थ 'वृत्तये समवायः' पदों से दर्शाया है । शास्त्रीय नियमानुसार 'विकृति-वाचक चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है ।' द्र०—'चतुर्थी तदर्थार्थ०' (अ० २।१।३५) सूत्र के व्याख्याग्रन्थ । यदि इससे सन्तोष न हो, तो जैसे षष्ठीतत्पुरुष 'महाघास, महाकर' आदि में महादात्वे घासकर विशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्' वार्तिक से आत्व होता है, तद्वत् यहाँ भी जान लेना चाहिए ।

२. यह भाषा तात्पर्यबोधक है । इसके अनुसार श्री स्वामी वेदानन्दजी ने संस्कृतपाठ में 'यो महतां देवानां देवः' पाठ परिवर्तन किया है, वह चिन्त्य है । ऐसा पाठ मानने पर एक 'देव' शब्द का लोपविधान करना होगा, और व्याकरणसम्बन्धी दोष भी तदवस्थ ही रहेगा ।

३. धातु० ६।२ ॥

भू सत्तायाम्[1] **'स्वयं'** पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वयम्भवति स स्वयम्भूरीश्वरः'** जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम **'स्वयम्भू'** है।

कु शब्दे[2] इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। **'यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः'** जो सब विद्याओं का वेत्ता और वेद द्वारा उपदेष्टा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'कवि'** है।

महादेव कहाता है।

वरदाचार्य लिखते हैं—'महान्=अभ्याधिकः पूज्यो वा, स चासौ देवः' आशय यह कि जो परम पूज्य है, इसलिए भगवान् महादेव कहाता है।

महाभारतकार कहते हैं—

देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान्।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः॥ —महा० अनु० १६१।८

तब निर्वचन होगा—'देवानां महान्','महान् देवः विषयो यस्य' 'महत्=विश्वं दीव्यति पातीति महादेवः। अथर्ववेद १३।४।४ में लिखा है— 'स रुद्रः स महादेवः।' वही रुद्र है, वही महादेव है।

प्रिय— प्रथम संस्करण में 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' इस धातु से प्रिय शब्द को सिद्ध मानकर लिखा है— 'प्रीणाति सर्वान् धर्मात्मनः अथवा प्रीयते धर्मात्मभिः स प्रियः'। वेद में निम्न स्थान पर प्रिय शब्द भगवदर्थ में प्रयुक्त है—

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देवं ऋतं बृहत्॥ —ऋक्० ६।७०८।२
त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। साखा सखिभ्य ईड्यः॥ —ऋ० १।६५।४

स्वयम्भू— निघण्टु के व्याख्याता देवराज यज्वा लिखते हैं— 'स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते' (निघण्टु टीका १।३।११)। अर्थात् जो स्वयं विद्यमान् है, जिसे कोई उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयम्भू कहाता है। निम्न प्रसिद्ध मन्त्रों में इस शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ —अथर्व० १०।८।४४
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। —यजुः० ४०।८
स्वयम्भूरसि.........अन्वावर्ते। —यजुः० २।२६

कवि— उणादिसूत्र 'अच इः' (५।११४) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा'। आशय यह कि सर्वविद्याओं का उपदेष्टा होने से भगवान् कवि कहाता है। आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश कवि शब्द का निर्वचन किया है— 'कविः मेधावी क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा।'

कवि शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। — यजुः० ४०।८
श्रुतकर्णाय कवये वेद्याय...........—अथर्व० १६।३।४

---

१. धातु० १।१॥
२. धातु० २।३५॥

शिवु कल्याणे[1] इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'**[2] इससे 'शिवु' धातु माना जाता है। जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शिव'** है।

ये सौ[3] नाम परमेश्वर के लिखे हैं, परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं, क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण-कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने विन्दुवत् हैं,[4] क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके[5] पढ़ने-पढ़ाने से उनका बोध हो सकता है और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है, जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

शिव— पूर्व व्याख्यात है।

ग्रन्थकार का कथन है— "ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं", अर्थात् यहाँ परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या की गयी है, परन्तु क्रमशः गणना करने पर यह संख्या एक सौ से अधिक बनती है। वस्तुतः इस विसंगति का कारण ग्रन्थकार के एतद्विषयक कतिपय सिद्धान्तों अथवा कुछ शब्दों की तात्त्विक समानता को न समझना है। आत्मा तथा परमात्मा में विशेषणमात्र का भेद है, मूलतः वे दोनों एक हैं। अत्ता, अन्नाद एकार्थक होने से एक हैं। पिता, पितामह तथा प्रपितामह का मूल एक होने से आपाततः तीन प्रतीत होने पर भी तत्वतः एक हैं। भिन्न लिङ्गोंवाले सरूप नामों— देव तथा देवी को ग्रन्थकार ने एक माना है। सच्चिदानन्द शब्द यद्यपि सत्, चित् तथा आनन्द इन तीन शब्दों का समुच्चय है, तथापि यह समूचा नाम ब्रह्म को सद्रूप प्रकृति तथा सच्चिद्रूप जीवों से व्यावृत करता है, अतः इसे एक ही समझना चाहिए। इसी प्रकार नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव भी चार न होकर एक ही माना जाता है। बधु तथा बुद्ध में एक ही धातु है, अर्थ भी अभिन्न है, अतः ये भी दो नाम नहीं हैं। गणपति और गणेश अर्थभेद के कारण दो हैं। गणपति का अर्थ है गण का पालक तथा गणेश का अर्थ है गण का शासक। इस रीति से सौ नाम ही बनते हैं। कुल नामों की गणना इस प्रकार है—१. ओम् २. खम् ३. ब्रह्म ४. अग्नि ५. मनु ६. प्रजापति ७. इन्द्र ८. प्राण ९. ब्रह्मा १०. विष्णु ११. रुद्र १२. शिव १३. अक्षर १४. स्वराट् १५. कालाग्नि १६. दिव्य १७. सुपर्ण १८. गरुत्मान् १९. मातरिश्वा २०. भूमि २१. अदिति २२. विराट् २३. विश्व २४. हिरण्यगर्भ २५. वायु २६. तैजस २७. ईश्वर २८. आदित्य २९. प्राज्ञ ३०. मित्र ३१ वरुण ३२. अर्यमा ३३. देवी ३४. बृहस्पति ३५. उरुक्रम ३६. सविता ३७. सूर्य ३८. आत्मा ३९. परमात्मा ४०. परमेश्वर ४१. देव ४२.

---

१. उणादि १।१५३ में 'शीङ् शये' धातु से 'वन् प्रत्ययान्त' निपातित है।

२. यह धातुपाठ १०।३३६ का सूत्र है। इस का अर्थ है—'धातुपाठ में धातुओं का निर्देशन प्रायिक है।' वृत्तिकारों ने इस सूत्र की व्याख्या में कतिपय अपठित लोकप्रयुक्त धातुओं का उदाहरण दिया है। इसी सूत्र के अनुसार ग्रन्थकार ने 'शिव' शब्द के लोकप्रसिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रखकर उक्त धातु की कल्पना की है।

३. पुनरुक्त नामों के व्याख्यानों का परित्याग करने पर इस समुल्लास में १०८ नामों का व्याख्यान मिलता है। यदि परस्पर सम्बद्ध तथा पृथक् रूप से व्याख्यात नामों का एकीकरण किया जावे, यथा—'सत् चित् आनन्द=सच्चिदानन्द' तो यह संख्या १०० से कम हो जाती है, अतः यहाँ १०० संख्या को उपलक्षणार्थ जानना चाहिए।

४. ऋषि दयानन्दकृत इन ईश्वर-नामों की व्याख्या से प्रेरित होकर पं० सत्यदेव वासिष्ठ साङ्गवेदचतुष्टय न महाभारत के अनुशासनपर्व के अन्तर्गत विष्णुसहस्रनाम की आध्यात्मिक वैदिक व्याख्या की है। इसमें प्रति शब्द वैदिक प्रमाण दिये है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ चार भागों में छपा है, और रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य है।

५. अर्थात् वेदादिशास्त्रों के।

कुबेर ४३. जल ४४. आकाश ४५. अन्न ४६. अन्नाद ४७. अत्ता ४८. नारायण ४६ वसु ५०. चन्द्र ५१. बुध ५२. मङ्गल ५३. शुक्र ५४. शनैश्चर ५५. राहु ५६. केतु ५७. यज्ञ ५८. होता ५६. बन्धु ६०. पिता ६१. पितामह ६२. प्रपितामह ६३. माता ६४. आचार्य ६५. गुरु ६६. अज ६७. सत्य ६८. ज्ञान ६६. अनन्त ७०. अनादि ७१. सत् ७२. चित् ७३. आनन्द ७४. सच्चिदानन्द ७५. नित्य ७६. शुद्ध ७७. बुद्ध ७८. मुक्त ७६. नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ८०. निराकार ८१. निरञ्जन ८२. गणपति ८३. गणेश ८४. विश्वेश्वर ८५. कूटस्थ ८६. शक्ति ८७. श्री ८८. लक्ष्मी ८६. सरस्वती ६०. सर्वशक्तिमान् ६१. न्यायकारी ६२. दयालु ६३. अद्वैत ६४. निर्गुण ६५. सगुण ६६. अन्तर्यामी ६७. धर्मराज ६८. यम ६६. भगवान् १००. विश्वम्भर १०१. पुरुष १०२. काल १०३. शेष १०४. शंकर १०५. आप्त १०६. महादेव १०७. स्वयम्भू १०८. कवि १०६. प्रिय।

इनमें से ये नाम प्रथम संस्करण में नहीं थे—खम्, प्रजापति, अक्षर, स्वराट्, कालाग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, मातरिश्वा, भूमि, विश्वेश्वर, होता, आचार्य, गुरु, गणपति, श्री, यम, पुरुष, शेष, आप्त, शंकर, स्वयंभू तथा कवि। प्रथम संस्करण में उपलब्ध ये नाम वर्तमान संस्करणों में नहीं हैं—होम, श्रोत्र, मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, जीव, आपः, निर्भय, अद्वितीय, सर्वजगत्कर्त्ता, सूक्ष्म, स्थूल, अचिन्त्य, अप्रमेय तथा शिवशंकर। इस अन्तर के कारण मूल सिद्धान्त में किसी प्रकार की क्षति नहीं आती। ग्रन्थ के पहले और दूसरे संस्करणों में इस आशय के शब्द विद्यमान हैं कि परमेश्वर के अनन्त और असंख्य नाम हैं। पहले संस्करणों में इस प्रसंग में ये शब्द मनन करने योग्य हैं—"और जो यह लिखा है सो केवल उन वेदादिक शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने की प्रवृत्ति के लिए लिखा है। जब सब लोग उन शास्त्रों के पठन-पाठन में प्रवृत्त होंगे और जब उन शास्त्रों को ऋषि-मुनियों के व्याख्यान की रीति से पढ़ेंगे, विचारेंगे तब सब लोगों को परमेश्वर और अन्य पदार्थों का भी यथावत् ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं।" वेद में कहा है कि परमेश्वर अनेक नामोंवाला है, यथा—'अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत। यत् सोमेसोम आभवः' (ऋक्० ८।६३।१७)। अर्थात् हे अनेक प्रकार से स्तुति किये जानेवाले ३? इसलिए 'पुरुनामन्—अनेक नामोंवाले प्रभो! तुम प्रत्येक सृष्टि में व्याप्त रहते हो और इस ज्ञानदायिनी बुद्धि और कर्म के कारण तुम सबपर अधिष्ठित हो। जो वेदों में बहुदेवों को ईश्वर मानकर उनकी पूजा का विधान मानते हैं, वे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १।१६४।४६) आदि वेदवचनों पर ध्यान दें। हमने अनेकत्र नामों के आगे विष्णुसहस्रनाम का पता दिया है। ग्रन्थकार आर्षग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं। प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर महर्षि वेदव्यासकृत महाभारत इसी कोटि में आता है। 'विष्णुसहस्रनाम' महाभारत के अनुशासनपर्व का एक अध्याय है। गीता की तरह महाभारत से निकलकर यह भी पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। उसके ग्याहरवें श्लोक में लिखा है—

यानि नामनि गौणानि विख्यातानि महात्मनः।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये॥

अर्थात् जो विष्णु के गौण=गुणसम्बन्धी नाम प्रसिद्ध हैं और जिन्हें ऋषियों तथा वेदों ने गाया है, कल्याण के लिए उनको कहता हूँ। इसपर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—'यानि नामानि गौणानि गुणसम्बन्धीनि गुणयोगात् प्रवृत्तानि' अर्थात् जो नाम गुणसम्बन्धी अर्थात् गुण के योग से बने हैं। आगे बारहवें श्लोक की व्याख्या में शंकराचार्य विष्णुधर्मोत्तरपुराण का यह वचन उद्धृत करते हैं—'एकस्यैव समस्तस्य ब्रह्मणो द्विजसत्तम। नाम्नां बहुत्वं लोकानामुपकारकरं शृणु। निमित्तशक्तयो नाम्नां भेदिन्यस्तदुदीरणात्। .....यच्छक्तिर्नाम यत्तस्य तत्तस्मिन्नेव वस्तुनि', अर्थात् एक ब्रह्म के लोकोपकारी अनेक नाम सुनो। नाम की निमित्तशक्तियाँ (प्रवृत्तिनिमित्त) भेदक हैं ..... जो नाम जिस

शक्ति=प्रवृत्तिनिमित्तवाला है, वह उसी वस्तु के निमित्त से होता है। इसके आगे संज्ञाओं के प्रवृत्तिनिमित्तों का उल्लेख करके लिखा है—'सर्वे शब्दाः परे पुंसि वर्त्तन्ते' अर्थात् सभी नाम परमपुरुष के हैं। रामानुजाचार्य ने सभी नामों को मुख्यवृत्ति से परमात्मा का वाचक मानते हुए लिखा है—'अतः सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगततत्तत्पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधायित्वे सिद्धम्' (पृष्ठ २०३)। अर्थात् एक शब्द लौकिक व्युत्पत्ति से ज्ञात उन-उन पदार्थों से विशिष्ट ब्रह्म के वाचक हैं, यह सिद्ध हुआ। इससे आगे पृष्ठ २०८ पर लिखा है—'जीववाचिनः शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः, अर्थात् जीववाची शब्द परमात्मपरक हैं। पुनः पृष्ठ २१३ पर लिखा है—'सर्वे वाचकाः शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति' अर्थात् सभी संज्ञा शब्द अचेतन तथा जीवों से विशिष्ट परमात्मा के ही वाचक हैं। पुनः इसी पृष्ठ पर लिखा है—'परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्यः', अर्थात् सदा सब शब्दों का वाच्य परमपुरुष परमात्मा है। मध्वाचार्य अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं— 'स पूर्णत्वात् पुन्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः। स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च, स एव सर्वशब्दार्थ इत्याहोपनिषत्परा'। अर्थात् वह नारायण पूर्ण होने से पुरुषसूक्त में पुरुष कहा गया है— वही सब वेदों का वाच्य है, वही सब शास्त्रों का अर्थ और सब शब्द भी उसी के वाचक हैं। यास्काचार्य ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्मात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

—निरुक्त ७।४

वह एक देवता कौन है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट में इस प्रकार दिया है—'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म', अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है।

अर्थात् एक ही परमात्मा सर्वव्यापक परमात्मा मुख्य देव है, परन्तु उस एक परमात्मदेव के सर्वशक्तिमत्वादि अनेकविध ऐश्वर्य के कारण वेदों में उसी एक की अनेक नामों से स्तुति की जाती है। (अन्यो देवाः) अन्य सब देव (एकस्या आत्मानः) एक परमात्मा के (प्रत्यङ्गानि भवन्ति) सामर्थ्यैकदेश में प्रकाशित होते हैं। इसी आधार पर ग्रन्थकार ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा, उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे, परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होगा। किस कारण? निमित्तकारण ईश्वर के इस कार्यजगत् में सर्वत्र व्याप्त होने और कार्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से।"—ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय

ग्रन्थकार मंगलाचरण के नहीं, उसकी अनार्ष, अवैदिक पद्धति के विरोधी थे। मध्यकाल में पौराणिक लेखकों ने परमात्मा के स्थान पर कल्पित देवी-देवताओं को नमस्काररूप मंगलाचरण प्रारम्भ कर दिया। यह प्रथा अनार्ष एवं अवैदिक थी, अतएव इस प्रकार के पौराणिक तथा तान्त्रिक मंगलाचरण का उन्होंने खण्डन किया। आर्षसाहित्य में ऐसा मंगलाचरण कहीं नहीं पाया जाता। आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्तदर्शन के भाष्य में तथाकथित मंगलाचरण नहीं किया। महर्षि गौतम तथा उनके भाष्यकार महामुनि वात्स्यायन ने भी इस प्रकार के मंगलाचरण का व्यवहार नहीं किया। 'सीतारामाभ्यां नमः' जैसे मंगलाचरणों को शास्त्रविरुद्ध होने से मिथ्या बताते हुए उन्होंने आर्षग्रन्थों में प्रयुक्त 'ओ३म्' तथा 'अथ' जैसे शब्दों के प्रयोग को शास्त्रसम्मत घोषित करते हुए तदर्थ अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

मंगलाचरणमिति—किसी शुभ कार्य अथवा ग्रन्थ आदि की रचना के प्रारम्भ में किये जानेवाले मंगलाचरण का विवेचन करना इस सूत्र का लक्ष्य है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि इस रूप में मंगलाचरण का विवेचन नव्यन्याय के ग्रन्थों में देखा जाता है। इसलिए यहाँ सांख्य में इस प्रकार का वर्णन

[मङ्गलाचरण-विचार]

प्रश्न—जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा न किया।

उत्तर—ऐसा हमको करना योग्य नहीं, क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा, तो उसके ग्रन्थ में आदि, मध्य और मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिए—

'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति' ॥

—यह सांख्यशास्त्र का वचन है[1] ॥

इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना **'मङ्गलाचरण'** कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से लेके समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही 'मङ्गलाचरण' है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिए महाशय महर्षियों के लेख को—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि' ॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[2] ॥

हे सन्तानो ! जो 'अनवद्य'=अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं।

सांख्यशास्त्र की प्राचीनता तथा इसे कपिल की रचना मानने में बाधक है, परन्तु यह विचार तथ्यों पर आधारित नहीं है। कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नामस्मरण अथवा किसी शुभकार्य (यज्ञादि) का अनुष्ठान मंगलाचरणरूप है। आर्यजाति में इस प्रकार के आचरण की प्रथा अतिप्राचीन है और यत्र-तत्र-सर्वत्र उसका उल्लेख भी मिलता है। दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों, अन्य सूत्रग्रन्थों तथा महाभारतादि में मांगलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति और मंगलाचरण की भावना स्पष्ट उपलब्ध होती है। अतिप्राचीन काल से 'ओम्' और 'अथ' शब्द के प्रयोग को मांगलिक माना जाता रहा है। मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण सदा से आवश्यक समझा जाता रहा है। पाणिनि के एक नियम (अष्टा० ८।२।८७) के अनुसार मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण प्लुत स्वर में होना चाहिए। इसलिए कार्य के प्रारम्भ में भगवन्नामस्मरणरूप मंगलाचरण की प्रवृत्ति को नया नहीं कहा जा सकता। इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करने के लिए कपिल ने तीन हेतुओं का उल्लेख किया है—

शिष्टाचारात्—शिष्ट पुरुषों का आचार इस बात के लिए सुन्दर उदाहरण है कि कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिए। उपनिषद्, दर्शनादि आर्षग्रन्थों में यह प्रवृत्ति आज भी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इससे शिष्टपुरुषों अर्थात् प्राचीन ऋषि-मुनियों के व्यवहार से इस की पुष्टि होती है।

फलदर्शनात्—शुभकर्मों के अनुष्ठान से शुभ फलों की प्राप्ति होती है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। मंगलाचरण भी एक शुभ कार्य है। हम उसके फल की इच्छा रक्खें या न रक्खें, उसका फल तो

---

१. सांख्य० ५।१॥

२. शिक्षावल्ली अनु० ११॥

[आधुनिक मङ्गलाचरण का खण्डन]

इसलिए जो आधुनिक ग्रन्थों में **'श्रीगणेशाय नमः'**, **'सीतारामाभ्यां नमः'**, **'राधाकृष्णाभ्यां नमः'** **'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः'**, **'हनुमते नमः'**, **'दुर्गायै नमः'**, **'बटुकाय नमः'**, **'भैरवाय नमः'**, **'शिवाय नमः'**, **'सरस्वत्यै नमः'**, **'नारायणाय नमः'** इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं, क्योंकि वेद और ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्षग्रन्थों में **'ओ३म्'** तथा **'अथ'** शब्द तो देखने में आता है[1]। देखो—

'अथ शब्दानुशासनम्'। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते ॥

—यह व्याकरण महाभाष्य[2] ॥

'अथातो धर्मजिज्ञासा'। अथेत्यानन्तर्ये, वेदाध्ययनानन्तरम्[3] ॥

—यह पूर्वमीमांसा[4] ॥

अवश्यम्भावी है। इस प्रकार शुभ अनुष्ठान से अपने प्रारम्भ किये कार्यों के निर्बाध पूर्ण होने की हमें आशा बँधी रहती है। फलतः हमें उस कार्य को धैर्य और साहस के साथ तत्परता से पूरा करने की प्रेरणा मिलती है। यह भावना आर्यजनता में इतनी प्रबल तथा व्यापक है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी (जिसके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' यह उक्ति चरितार्थ हो सकती है) कोई कार्य प्रारम्भ करते समय अपने विश्वास के अनुसार भगवान् का नाम स्मरण किये बिना नहीं रहता। यह उसकी आस्तिक भावना का प्रतीक है।

श्रुतितः—श्रुति अर्थात् वेद के अध्ययनक्रम से भी इस बात की पुष्टि होती है। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा (अग्निमीळे पुरोहितम्) ही क्या इसका ज्वलन्त उदाहरण नहीं है? वेद इस बात का स्पष्ट आदेश भी देता है कि कार्यरम्भ में भगवन्नाम स्मरण होना चाहिए—'इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारम्भ चरामसि प्रभूवसो। न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः, सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ (ऋक्० ५।५।७।४)। अर्थात्-(प्रभूवसो) हे महान् ऐश्वर्यवाले (पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुति किये जानेवाले (ये) जो हम (त्वा) तेरा ही (प्रारम्भ) अवलम्बन करके (चरामसि) चलते हैं। (ते इमे वयं) वे ही ये हम (इन्द्र) हे इन्द्र (ते) तेरे हैं। (गिरः) हमारी वाणी,

---

१. ओङ्काराथकारौ, ओङ्कारं वेदेषु, अथकारं भाष्येषु (शु० यजुः प्रातिशाख्य १।१७-१६)॥ स० प्र० प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने प्रातिशाख्य के संख्या १८, १६ के सूत्र मूल ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं।

२. 'का वचन है' यह अध्याहार जानना चाहिए।

३. ऋषि दयानन्द ने पाठविधि (स. प्र. सं. वि., ऋ. भा. भू.) में वेद का अध्ययन प्रायः अन्त में लिखा है। स. प्र. समु. ३ में जैसे वेदान्तदर्शन के अध्ययन से पूर्व उपनिषदों का अध्ययन लिखा है, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा के अध्ययन से पूर्व एक वेद का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि जैसे वेदान्त में उपनिषद्-वचनों का विवेचन किया है, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा में वेद और ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों की मीमांसा की गयी है। ऋषि दयानन्द ने यहाँ 'वेदाध्ययनानन्तरम्' लिखकर पूर्वमीमांसा से पूर्व न्यूनातिन्यून एक वेद का अध्ययन आवश्यक माना है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने पाठविधि प्रकरण में मीमांसा से पूर्व वेदाध्ययन का निर्देश करना आवश्यक नहीं समझा। यह वेदाध्ययन वेद का सस्वर स्मरणात्मक है। और आगे कहा गया वेदाध्ययन सार्थ अध्ययनरूप है, अतः विरोध भी नहीं है। वेद का स्मरणात्मक अध्ययन ही यहाँ अभिप्रेत है। यह मीमांसकों का भी मत है।

४. दर्शनशास्त्रों के उद्धरणों के अन्त में पठित शास्त्रनाम के आगे सर्वत्र 'का वचन है' ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिए।

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' ।
अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः ॥

—यह वैशेषिक दर्शन ।

'अथ योगानुशासनम्' । अथेत्ययमधिकारार्थः । —यह योगशास्त्र ।
'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' । सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः ॥ — यह सांख्यशास्त्र ।
'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[1] ॥ —यह वेदान्तसूत्र है ।
'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ॥

—यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है ।

'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ॥

—यह माण्डूक्य उपनिषद् के आरम्भ का वचन है ।

हमारी प्रार्थनाओं को (त्वदन्यः) तेरे सिवा और कोई (न हि सघत्) नहीं सुनता । (नः तद्वचः) अतः हमारी बातों को (क्षोणीः इव) पृथिवी की तरह तुम्हीं (प्रतिहर्य) प्रतिकामना करो, आकर्षण करो—सुनो ।

कपिल का यह वचन मंगलाचरण के वास्तविक स्वरूप का निर्देश भी करता है । उसके अनुसार ऐसे प्रत्येक आचरण को जो (शिष्टाचारात्) न्याय, पक्षपातरहित, (फलदर्शनात्) सत्य, तथा (श्रुतितः) वेदोक्त ईश्वरोक्त की आज्ञा के अनुसार यथावत् सदा, सर्वदा अनुष्ठान में आवे, मंगलाचरण कहना चाहिए । किसी भी कार्य के प्रारम्भ से अवसानपर्यन्त उक्त रूप में उसका पूर्ण किया जाना मंगलाचरण का वास्तविक स्वरूप है । ग्रन्थकार को यही अभिप्रेत है ।

मंगलाचरण के प्रसंग में व्याकरण महाभाष्य का यह सन्दर्भ विवेच्य है—

"माङ्गलिकं आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषकाणि च, अध्येतारश्च सिद्धार्था वृद्धियुक्ताः ।"

—महाभाष्य १।१।१

अर्थात् मंगलाचरण की इच्छा से बड़े भारी शास्त्रसमूह की सिद्धि के लिए पाणिनि मुनि के ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि जिन शास्त्रों के आरम्भ में मंगलाचरण किया जाता है, वे विस्तृत होते हैं और उनके पढ़नेवाले वीर और चिरंजीवी होते हैं । उनका अर्थ सिद्ध होकर वृद्धि को प्राप्त होता है ।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि महाभाष्यकार अष्टाध्यायी के आदि में प्रयुक्त 'वृद्धि' शब्द को ही मंगलाचरण (यदि इसे पारिभाषिक रूप में मंगलाचरण कहा जा सके) मानता है । वह किसी पौराणिक मंगलाचरण की अपेक्षा नहीं रखता । इससे तो ग्रन्थकार का पक्ष और भी पुष्ट होता है ।

यह ठीक है कि ग्रन्थकार शिव, गणेश, रुद्र, विष्णु आदि नामों को परमात्मपरक मानते हैं और व्याकरणादि के द्वारा उन्होंने वैसा ही सिद्ध भी किया है, परन्तु इन नामों से मंगलाचरण किसी भी आर्ष-ग्रन्थ में किया गया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता । वस्तुतः पौराणिक काल में ये नाम परमात्मा के वाचक न रहकर कल्पित देवी-देवताओं के नाम होकर रह गये थे । वेद में 'नमः शिवाय' इतना पाठ तो

---

१. इसके बाद शताब्दी-संस्करण तथा उससे आगे सभी संस्करणों में 'चतुष्टयसाधनसम्पत्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्' यह पाठ बढ़ाया हुआ मिलता है । यह पाठ प्रथम संस्करण में भी नहीं है ।

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में **'ओ३म्'** और **'अथ'** शब्द लिखे हैं। वैसे ही **अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति** ये शब्द चारों वेदों के आदि[१] में लिखे है। **'श्रीगणेशाय नमः'** इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में **'हरिः ओ३म्'** लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादिशास्त्रों में 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिए **'ओ३म्'** वा **'अथ'** शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिए।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर-नामों के विषय में लिखा। इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जाएगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषित ईश्वरनामविषये प्रथमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१॥

आता है, परन्तु इतने मात्र से यह कैसे सिद्ध होता है कि इससे मंगलाचरण का विधान किया गया है। वेद में कल्याणकारी होने से परमात्मा का एक नाम शिव (शिवु कल्याणे) कहा गया है, किन्तु पौराणिक काल में वह कैलासपर्वत पर रहनेवाला बाल-बच्चोंवाला साधारण मनुष्य है। इसी प्रकार गणेश सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर का वाचक न होकर हाथी के मस्तक—सूँडवाला कार्टून बनकर रह गया है। लोगों ने ईश्वर के स्थान पर इनकी पूजा आरम्भ कर दी थी और इन्हें नमस्कार करके अपने ग्रन्थों में मंगलाचरण करने लग गये थे। इसलिए ग्रन्थकार को उनका खण्डन करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

ग्रन्थकार ने आवश्यकतानुसार सर्वत्र 'ओम्' अथवा 'अथ' का ही प्रयोग किया है। उन्होंने अनेकत्र (जैसे वेदभाष्य में अध्यायों के प्रारम्भ में) 'विश्वानि देव.' आदि मन्त्र लिखा है सही, पर वह प्रार्थनारूप है, मंगलाचरण नहीं।

अब तक सातवीं शताब्दी के जितने शिलालेख मिले हैं,उनमें कहीं भी 'श्रीगणेशाय नमः' आदि पौराणिक मंगलाचरण देखने में नहीं आया। वहाँ भी 'ओम्' और 'अथ' शब्द ही देखे गये हैं। उदाहरणार्थ—कुछ ताम्रपत्र—जो इतने पुराने भी नहीं हैं—देखें। ये कोशल के राजा रत्नदेव के हैं। उनपर तिथि चेदी संवत् ८८० (११२८ ईसवी) लिखी है। इसके आरम्भ में 'ओं नमो ब्रह्मणे' लिखा है—

निर्गुणं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणम् ।
भावग्राह्यं परमज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्मणे नमः ॥

---

१. ये चारों वेदों के क्रमशः उदाहरण हैं। इनमें तीन प्रारम्भिक पदों के प्रातिपदिक मात्र हैं (द्र०-क्रमशः-अग्निमीळे पुरोहितम्, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्न आयाहि वीतये)। चौथा मन्त्र की प्रतीकरूप हैं। प्रथम संस्करण में महाभाष्य के अनुसार अर्थर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के आदि 'शन्नो देवी' मन्त्र के 'शम्' शब्द का ही निर्देश है।

अथ द्वितीय-समुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

[भाग्यवान् सन्तान]

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' ॥

—यह शतपथब्राह्मण का वचन है ॥

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक, अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं । जैसे माता सन्तानों पर जितना प्रेम और उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता । इसलिए

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' ग्रन्थकार के अनुसार यह वचन शतपथब्राह्मण का है, परन्तु संस्कारविधि के वेदारम्भ-संस्कार में उन्होंने इसे छान्दोग्य उपनिषद् का वचन बताया है । वस्तुतः उक्त रूप में यह वचन न शतपथब्राह्मण में उपलब्ध है और न छान्दोग्य उपनिषद् में । शतपथब्राह्मण में **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान्'** (१४।५।८।२) इतना अंश मिलता है और छान्दोग्य उपनिषद् में **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (६।१४।२) इतना अंश मिलता है । प्रचलित समवेतरूप में यह कहीं उपलब्ध नहीं है ।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद इति श्रुतिः'** । इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मत में वेद शब्द से तो केवल मन्त्रसंहितारूप चार वेदों का ही ग्रहण होता है, परन्तु श्रुति शब्द से ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का भी बोध होता है ।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता ढुण्ढिराज शास्त्री ने स्वसम्पादित **'पुरुषसूक्तम्'** में एक साथ सायण, महीधर, मंगलाचार्य तथा कमलकृष्ण द्वारा किये गये भाष्यों को संकलित किया है । महर्षि दयानन्द तथा काशी की पण्डितमण्डली के बीच सन् १८६७ में 'काशीशास्त्रार्थ' के नाम से प्रसिद्ध ऐतिहासिक शास्त्रार्थ के समय वहाँ उपस्थित पचास पौराणिक विद्वानों में श्री ढुण्ढिराज शास्त्री भी एक थे । यह संकलन चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी से संवत् १६८०, तदनुसार सन् १६२३ में प्रकाशित हुआ है । इसकी भूमिका में लिखा है—

"प्रातःस्मरणीयश्रीयुत्पितृचरणसंगृहीतप्राचीनपुस्तकालयात्कृष्णयजुःशाखानुसारिमङ्गलभाष्यमुपलभ्य निधिमिवाहमत्यन्तं हर्षितः । तत्र यद्यपि मङ्गलाचार्यः कः कस्मिन् वा देशेऽभूत् कदा वा तेनेदमलेखीति स्पष्टं नोपलभ्यते, तथापि पुस्तकलेखनशैल्या दाक्षिणात्यः कश्चिद्विद्वद्वरेण्य इति—पुस्तकस्यातिजीर्णत्वाच्च त्रिशतवर्षपूर्वमेवेदं लिखितमिति च प्रतिभाति । अन्तराऽन्तरालिखितानामक्षराणामन्यथाऽर्थसंगतये

'मातृमान्' अर्थात् **'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान् ।'** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे ।

[गर्भाधान के पूर्व और पश्चात् के कर्तव्य]

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादकद्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध,

---

व्यवस्थापनात्स्वयं भाष्यकृतैवेदं लिखितमिति कल्पनायामपि न कश्चिद् बाधः । तैत्तिरीयमन्त्रपाठानुक्रमेण व्याख्याततत्वाच्चायं कृष्णयजुःशाखीय इत्यनुमीयते ।''

अपने इस भाष्य में मंगलाचार्य ने लिखा है—

"ब्राह्मणस्य माहात्म्यमुपपादयन्ति श्रुतयः—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, ब्रह्मविदाप्नोति परं, मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्याद्याः ।।"

यहाँ मंगलाचार्य ने **'मातृमान्. . . पुरुषो वेद'** इस वाक्य को श्रुतिवचन के रूप में उद्धृत किया है । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने भी इस वाक्य को उसी रूप में उद्धृत कर **'इति श्रुतिः'** लिखा है । इस प्रकार वर्त्तमान में प्रचलित **'मातृमान्. . . . . . .'** वाक्य का ग्रन्थकार से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व प्रयोग हुआ मिलता है ।

इसी प्रकार का एक प्रयोग दशम तथा एकादश समुल्लासों में हुआ है—**'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते'** । यहाँ इस पाठ में दो मन्त्रों के दो भाग मिले हुए हैं—**'आचार्य उपनयमानो'** भाग अथर्ववेद ११।५।३ का है और **'ब्रह्मचारिणमिच्छते'** अथर्ववेद ११।५।१७ का है । अथर्ववेद ११।५।३ में **'इच्छते'** के स्थान पर **'कृणुते'** पाठ है । अथवा यहाँ **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते'** तथा **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** (अथर्व० ११।५।३, १७) इन दो उद्धरणों के मध्य का **'ब्रह्मचारिणं कृणुते, आचार्यो ब्रह्मचर्येण'** भाग लेखक-प्रमाद से छूट गया है । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी एक ऐसा ही प्रयोग मिलता है—**'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** । यहाँ इसे महाभाष्य का वचन कहा है, परन्तु महाभाष्य में यह वचन साक्षात् एकत्र नहीं मिलता । **'पुमान् स्त्रिया'** (पा० १।२।६७) के भाष्य में **'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति'** तथा **'नपुंसकमनपुंसकेन'** (पा० ३।१।१) के भाष्य में **'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति'** पाठ उपलब्ध है । वैयाकरणों ने दोनों को मिलाकर **'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** के रूप में परिभाषावचन बना दिया, क्योंकि इस परिभाषा का मूल व्याकरण महाभाष्य है और दोनों स्थलों में **'प्रधाने सम्प्रत्ययः'** शब्द विद्यमान है, अतः ग्रन्थकार ने इसे महाभाष्य के वचन के रूप में उद्धृत किया है । अन्यत्र 'प्रधानाप्रधान' में प्रधान में कार्यसम्प्रत्य में महाभाष्य का साक्षात् वचन भी उपलब्ध है, जैसे—**'प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवतीति'** (१।१।१) अर्थात् प्रधान में किया हुआ प्रयत्न ही फलवान् होता है । इससे स्पष्ट है कि अप्रधान में किया हुआ प्रयत्न फलवान् नहीं होता ।

वाल्मीकि रामायण में कहा है–

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा ।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ।।—अयो०१११।२
पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते ।।—अयो० १११।३

मातृमान्—'मातृमान्' का सीधा अर्थ 'मातावाला' है । **'प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्'** इत्यादि अर्थ यदृच्छया आरोपित प्रतीत होता है । वस्तुतः ऐसा नहीं है । 'मातृमान्' आदि शब्द

मतुबन्त हैं । 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग किन अर्थों में होता है, इस विषय में अष्टाध्यायी के **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** (५।२।६४) इस सूत्र का भाष्य करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

मतुप् आदि प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में आते हैं । यह अर्थवाद है जो सर्वथा शास्त्रसम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित है । लोक में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं । सुश्रुत-संहिता में धाय के लिए **'कुले जाता'** विशेषण का प्रयोग हुआ है । प्रत्येक धाय किसी न किसी कुल में उत्पन्न होती है । तब **'कुले जाता'** कहने की क्या सार्थकता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए सभी टीकाकारों ने **'कुले जाता'** का अर्थ **'श्रेष्ठकुलोत्पन्ना'** किया है । किसी-न-किसी कुल में जन्म लेने से प्रत्येक व्यक्ति कुलीन होता है । पर 'कुलीन' से 'श्रेष्ठकुलोत्पन्न' अभिप्रेत होता है । 'उदरिणी' का सीधा अर्थ है 'पेटवाली' । प्रत्येक स्त्री पेटवाली होती है । तब किसी स्त्रीविशेष को 'उदरिणी' कहने की क्या सार्थकता है ? वस्तुतः 'उदरिणी' का लक्ष्यार्थ है—ऐसी स्त्री जिसका पेट बढ़ा हुआ है । इस प्रकार 'उदरिणी' शब्द गर्भवती स्त्री का वाचक है ।

गर्भाधान से पूर्व—'माता-पिता को उचित है....... जिससे रज-वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों' । वस्तुतः बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से पूर्व आरम्भ हो जाती है । जैसे मकान बनाने से पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिए अपेक्षित उत्तम कोटि की सामग्री का होना आवश्यक है, वैसे ही उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए उसके उपादान रज-वीर्य का उत्तम कोटि का होना नितान्त आवश्यक है । चरक-संहिता (शरीरस्थान ८।१।३४) में लिखा है—**"यथा हि बीजमनुपतप्तं तप्तं स्वां-स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते"** अर्थात्—जैसा भला-बुरा बीज बोया जाएगा, फल भी वैसा ही होगा । जैसे व्रीहि को बोने से व्रीहि और जौ बोने से जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य जैसा होगा वैसी ही सन्तान होगी । उसके लिए बहुत पहले से माता-पिता के खान-पान का शुद्ध, सात्विक, आरोग्यवर्धक तथा बल-बुद्धि को बढ़ानेवाला होना आवश्यक है । यूरोप आदि देशों में यह पाया गया कि जो बच्चे अगस्त से अक्तूबर के बीच पैदा हुए उनमें अनेक विकृत बुद्धिवाले, हीन बुद्धिवाले तथा स्वल्पजीवी हुए । परीक्षण करने पर पता चला कि उन देशों में नवम्बर से जनवरी के बीच शीताधिक्य के कारण मदिरापान अधिक होता है और भोजन में भी तामस् पदार्थों की अधिकता होती है, परिणामतः इस अवधि में गर्भ में आये बालक विविध विकारों से ग्रस्त होते हैं ।

मनचाही सन्तान—जिस-जिस गुणवाली सन्तान अभीष्ट हो उसके प्राप्त करने की युक्ति बौधायन-गृह्यसूत्र (प्र०१, अ० ७) में इस प्रकार लिखी है—**"अथ यदि कामयेत—'श्रोत्रियं जनयेयम्' इति, आ-अरुन्धत्युपस्थानं कृत्वा त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनावधश्शायिनौ ब्रह्मचारिणावासाते ॥६॥ अहतानां च वाससां परिधानं सायं प्रातश्चालंकरणमिषुप्रतोदयोश्च धारणमग्निपरिचर्या च ॥१०॥ चतुर्थ्यां पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥११॥ अथ यदि कामयेत—'अनूचानं जनयेयम्' इति, द्वादशरात्रमेतद् व्रतं चरेत् ॥१२॥ व्रतान्ते पक्वहोमः उपसंवेशनं च ॥१५॥ अथ यदि कामयेत भ्रूणं जनयेयम् इति, चतुरो मासानेतद् व्रतं चरेत् ॥१६॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥१६॥ अथ यदि कामयेत—'देवं जनयेयम् इति' संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत् ॥२०॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥२१॥** अर्थात् यदि यह इच्छा हो कि श्रोत्रिय को उत्पन्न करूँ तो तीन दिन तक पति-पत्नी क्षारलवणरहित भोजन करें, नीचे सोयें और ब्रह्मचर्य रखें । शुद्ध निर्दोष वस्त्रों

रूक्ष, बुद्धिनाशक, पदार्थों को छोड़के, जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करावें, वैसे घृत-दुग्ध-मिष्ट-अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, कि जिससे रजस्-वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम-गुणयुक्त हो ।

[उत्तम सन्तान प्राप्त करने की विधि]

जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पाँचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है । उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं । रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है, और रजोदर्शन के दिन से लेके १६वीं रात्रि के पश्चात् न समागम करना । पुनः जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों ।

जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो; जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान, और मनुस्मृति में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें । गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिए । पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त स्त्री पुरुष का संग न करे । बुद्धि-बल-रूप-आरोग्य-पराक्रम-शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे, कि जब तक सन्तान का जन्म न हो ।

का परिधान, सायं-प्रातः अलंकारधारण और इषु तथा भाले का धारण कर अग्निहोत्र करें । चौथी रात्रि पके पदार्थों का होम करें और सम्भोग करें । यदि यह इच्छा हो कि अनूचान को उत्पन्न करूँ तो बारह दिन तक इस व्रत को करें । व्रत के अन्त में पक्वहोम तथा सम्भोग और यदि यह कामना हो कि भ्रूण उत्पन्न करूँ तो चार मास इस व्रत को करें और व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग और यदि यह चाहे कि देव को उत्पन्न करूँ तो एक वर्ष इस व्रत को करें । व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग ।

श्रोत्रिय आदि संज्ञा किनकी है, इसका विवरण भी बौधायनगृह्यसूत्र में उपलब्ध है । तदनुसार— **उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदान् किंचिदधीय ब्राह्मणः ॥२॥ एकां शाखामधीय श्रोत्रियः ॥३॥ अङ्गाध्याय्यनूचानः॥४॥ कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥ सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥६॥ चतुर्वेदाद् ऋषिः ॥७॥ अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥** [प्र० १, अ० १] । अर्थात् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ है, जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करता है और जिसने वेदों का कुछ भाग पढ़ा है, वह ब्राह्मण है ॥ एक शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय ॥ अङ्गोंसहित पढ़ने से अनूचान ॥ कल्पसहित पढ़ने से ऋषिकल्प ॥ सूत्रभाष्यादि पढ़ने से भ्रूण ॥ चारों वेदों के अध्ययन से ऋषि ॥ इससे ऊपर देव होता है ॥ इससे सिद्ध होता है कि अपेक्षित गुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न करना गृहस्थों के अपने हाथ में है । इतिहास में भी आता है कि अपने समान गुणवान् सन्तान उत्पन्न करने के लिए श्रीकृष्ण ने उपमन्यु ऋषि के आश्रम में बारह वर्ष तक तप किया था—"**व्रतं चचारं धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्**" (महाभारत अनु० १३६।१०) । बौधायन की बात को मानवगृह्यसूत्र में इन शब्दों में कहा गया है—'**संवत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतो द्वादशरात्रं त्रिरात्रमेकरात्रं वा**' (१।१४।४) ।

ऋतुकाल—स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलहवें दिन तक ऋतुकाल है—'**ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशः स्मृताः**' (मनु० ३।४६) ।

निन्दित रात्रियाँ—उपर्युक्त सोलह रात्रियों में प्रथम की चार रात्रियाँ तथा एकादशी व त्रयोदशी—ये छह रात्रियाँ निन्दित हैं । शेष दश रात्रियाँ सामान्यतः ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ हैं । इसमें मनुस्मृति ३।४७ का यह श्लोक प्रमाण है —

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥

गर्भाधान के प्रसंग में ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का स्पर्श और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे, अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे, क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है।

सामान्यतः विहित १० रात्रियों में भी पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी तथा अष्टमी में ऋतुदान निषिद्ध है। इन दिनों रतिक्रिया सर्वथा वर्जित है। इसमें मनुस्मृति के निम्न श्लोक प्रमाण हैं—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥—४।१२८
ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद् व्रतो रतिकाम्यया ॥—३।४५

अर्थात्—गृहस्थ द्विज को चाहिए कि वह ऋतुकाल होते हुए भी अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा तथा चतुर्दशी के दिन ब्रह्मचारी रहे।

द्वितीय श्लोक (३।४५) को उद्धृत करके ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"पुरुष सदा ऋतुकाल में स्त्री-समागम करे और अपनी स्त्री के सिवा दूसरी का सर्वदा त्याग करे। वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदा पृथक् रहे। जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री से ही प्रसन्न रहता है, जैसेकि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पर्वों को छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें।"

पर्वों के दिनों में समागम का निषेध इसलिए है, क्योंकि इन दिनों में विशेष यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों के आयोजन तथा वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय का विधान है—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥—मनु० ४।२५

गृहस्थ प्रतिदिन दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् प्रातः-सायं सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करे और आधे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या का यज्ञ करे तथा इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्वं पौर्णमासं च योगतः ॥—मनु० ६।९

अर्थात्—वानप्रस्थ विधिपूर्वक दैनिक महायज्ञों को और विशेष अवसरों पर किये जानेवाले अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जानेवाले पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए निष्ठापूर्वक किया करे।

'वैतानिक' शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर किये जानेवाले यज्ञ अभिप्रेत हैं। इन धार्मिक कृत्यों के पालन के अवसर पर जितेन्द्रिय रहना, संयमपूर्वक रहना आवश्यक है। अजितेन्द्रिय अवस्था में इन धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती।

पूर्णिमा आदि में स्त्रीगमन का निषेध केवल शास्त्रोक्त नहीं है, विज्ञान-सम्मत भी है। समुद्र में सबसे

अधिक ज्वारभाटा पूर्णिमा में और सबसे कम अमावस्या में हुआ करता है। मध्यम ज्वारभाटा वह होता है जब जल का उतार-चढ़ाव मध्यम होता है। यह दोनों अष्टमियों का समय होता है। यह सब सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण-विकर्षण के नियमानुसार होता है। **'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'** जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव समुद्र पर और गौणरूप में नदी-नालों, तालाबों तथा ओषधि-वनस्पति आदि पर पड़ता है,वैसे ही प्राणियों के रक्त पर भी पड़ता है, क्योंकि रक्त में जलीय अंश प्रधान है। चन्द्रमा का प्रभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक पड़ता है। उक्त तिथियों में स्त्री-पुरुष की वीर्य आदि धातुएँ विषम होती हैं, अतः यदि इन पर्वों की रात्रियों में स्त्री-सम्पर्क किया जाता है तो वैषम्यापन्न शुक्र-शोणित विकृत होकर स्वास्थ्य में विकार उत्पन्न कर देते हैं और यदि इन अवसरों पर गर्भस्थिति हो जाती है तो तज्जन्य सन्तान रक्तविकार, हृदय-दोष, प्राणशक्ति में दुर्बलता आदि रोगों से ग्रस्त हो सकती है।

ऋतुकाल में स्त्री-गमन का समय—गर्भाधान का समय अर्धरात्रि के आस-पास है। दिन में स्त्री-प्रसंग स्त्री-पुरुष और प्रकारान्तर से भावी सन्तान के शरीर और मन दोनों के लिए हानिकारक है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—**'अहोरात्रौ वै प्रजापतिः। तस्य अहरेव आपो रात्रिरेव रतिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।'** १।१३। अर्थात्—दिन और रात का जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि ही रति है, अतः जो दिन में सहवास करते हैं, वे सचमुच अपने प्राणों को ही क्षीण करते हैं तथा जो रात्रि में सहवास करते हैं उनका यह सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है। दिन में, सूर्यमूलक ऊष्मा होने से, किया गया गर्भाधान प्राणों की, बल की हानि करनेवाला होता है। इसका कुफल कालान्तर में सन्तान को भी भुगतना पड़ता है, अतः माता-पिता बननेवालों को इस विषय में पूरी तरह सावधान रहना चाहिए।

पुत्र-पुत्री—चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।६) के अनुसार—**"स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहः सुसंवसेतां पुत्रकामौ तौ चायुग्मेषु दुहितृकामौ"**—अर्थात् यदि पुत्र की इच्छा हो तो ऋतुस्नान के दिन से युग्म दिनों में स्त्रीगमन करे और पुत्री की इच्छा हो तो अयुग्म दिनों में स्त्रीप्रसंग करे। ६, ८, १०, १२, १४, १६ युग्म रात्रियाँ हैं और ५, ७, ९, १५ अयुग्म रात्रियाँ हैं। मनुस्मृति के अनुसार भी—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥—३।४८

इसपर टिप्पणी करते हुए ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—

"जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छह रात्रि ऋतुदान के लिए उत्तम मानें और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पाँचवीं, सातवीं, नौवीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान करें। इनमें भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।" रात्रियाँ इसलिए लिखा है, क्योंकि दिन में स्त्रीसंग निषिद्ध है।

अग्निवेशगृह्यसूत्र (२।७।६) में लिखा है—**'षोडश्यां लभते पुत्रं ब्रह्मकीर्त्तनतादृशं तदूर्ध्वमुपयमं नास्ति कामभोगैव केवलम्'**—अर्थात् सोहलवीं रात्रि में स्त्री से समागम करने से ब्रह्मकीर्तन जैसा पुत्र मिलता है। उसके पश्चात् सन्तानार्थ स्त्रीसमागम वर्जित है। तब स्त्रीसमागम करना केवल कामचेष्टा है। गर्भाधान-सम्बन्धी इन नियमों का सम्बन्ध फलितज्योतिष से न होकर सामान्यतः आयुर्वेद से है और विशेषतः गर्भशास्त्र (Eugenics) तथा पदार्थविद्या से है। इस विषय में अष्टाङ्गहृदय (शरीरस्थान १।२७) भी द्रष्टव्य है।

आयुर्वेदशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के इस सिद्धान्त को कितने स्पष्ट शब्दों में आधुनिक वैज्ञानिकों ने

स्वीकार कर मान्यता प्रदान की है, यह दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ३० जून १६८६ के अंक में प्रकाशित इस समाचार से प्रमाणित है—

Boston, June 29—The odds of having a baby boy instead of a girl increase greatly if couples conceive their child late in the woman's menstrual cycle, a study shows. The research disclosed that when couples have sex two days after ovulation, which occurs midway in the monthly cycle, two thirds are boys.

The research answers a question that has puzzled philosophers and physicians for centuries whether the time of intercourse affects the sex of the child.

"The study provides strong confirmation for the theory that variations in sex proportion are associated with conceptions occuring on different days of menstrual cycles", the report said.

The study was conducted by Susan Harlapp at the Hebrew University Jerusalam and was published in Thursday's New England Journal of Medicine.

The study examined 3656 infants born to women who said they conceived on the five days around ovulation. Overall, 53% of the babies were boys. But of the 145 women who said they became pregnant two days after ovulation, 66% of the children were boys.

—Hindustan Times, Delhi, 30.6. 89

अर्थात् वैज्ञानिक सहस्रों बच्चों के बारे में खोज और परीक्षण करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतीय मनीषियों द्वारा पुत्र-पुत्री की उत्पत्तिविषयक गर्भाधान के सन्दर्भ में नियत रात्रियों का सिद्धान्त सर्वथा विज्ञानसम्मत है।

पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के प्रसंग में मनुस्मृति का यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

पुमान्पुंसकोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥—३।४६

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष या वन्ध्या स्त्री तथा क्षीण या अल्पवीर्य होने से गर्भ का न रहना अथवा गिर जाना होता है।

यहाँ अधिक शब्द से मात्राधिक्य नहीं, सामर्थ्याधिक्य अभिप्रेत है। पुरुष के वीर्य में अधिक सामर्थ्य अथवा पुरुष के बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है। पुरुष की तुलना में स्त्री-बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर कन्या, समान शक्तिशाली होनेपर लड़के-लड़की का जोड़ा अथवा नपुंसक सन्तान होती है। मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रबल होगा, वह उतना ही पहले डिम्ब में प्रवेश करेगा। पुरुष-शुक्रकीट अधिक प्रबल होंगे तो वे दौड़कर पहले प्रवेश कर जाएँगे और यदि स्त्री को जन्म देनेवाले कीट प्रबल होंगे तो पहले वे प्रवेश कर जाएँगे। यहाँ भी सामर्थ्य की अधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति का निर्धारण करेगी।

पं० आत्माराम 'अमृतसरी' ने १८६७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में लिखा है—"क्यों कभी लड़का और कभी लड़की उत्पन्न होती है? मेरी सम्मति में जो दोनों में अधिक बलवान् है, सन्तान उसके अनुसार होगी। यदि पुरुष का वीर्य अधिक बलवान् है तो पुत्र उत्पन्न होगा और यदि स्त्री का आर्तव अधिक बलवान् है और उसमें बल अधिक है तो कन्या होगी। यह केवल बल का प्रश्न है। यह वही नियम है जो सृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है। यदि दो विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर मिलें तो इनमें से जो अधिक बलवान् होगी वह अधिक प्रभावी होगी। यदि पुरुष आयु और बल में स्त्री से अधिक है तो सन्तान अधिकतर नर होगी और यदि स्त्री बल में पुरुष से अधिक है तो कन्याएँ उत्पन्न होंगी।" पं० आत्मारामरचित संस्कारचन्द्रिका से

आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार पुरुष के वीर्य में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं—१. एक्स, २. वाई । स्त्री के रज में केवल एक्स कीटाणु होते हैं । पुरुष का वाई शुक्राणु जब स्त्री के एक्स कीटाणु से मिलता है, तब लड़का होता है और एक्स से एक्स मिलता है तब लड़की होती है । सम्भोग के पश्चात् ये शुक्राणु गर्भनलिका में दौड़कर स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करते हैं । जो शुक्राणु पहले प्रवेश कर जाता है, वही सन्तानरूप बनता है ।

गर्भाधान के बाद—गर्भाधान पितृ-ऋण के संशोधनार्थ तथा वंशपरम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए सन्तति के उत्पादनार्थ किया जाता है । गर्भाधान संस्कार बालक का नहीं, बालक बनाने का संस्कार है । इसमें धर्मभाव यथावत् बना रहना चाहिए । उस समय माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति जैसी शुद्ध, पवित्र होगी, बालक का शरीर और मन भी वैसा ही बनेगा, अतः गर्भाधान के समय शरीर की नीरोगता के साथ-साथ माता-पिता के मन का स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना आवश्यक है । सुश्रुतसंहिता में लिखा है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुरुषौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥

अर्थात्—स्त्री-पुरुष जैसे आहार-विहार तथा चेष्टा आदि से युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनकी सन्तान भी वैसी ही होती है । माता में भी जैसे संस्कार पहले से पड़े होते हैं, उसका गर्भ दोहद भी वैसा ही होता है । गर्भ का दोहद पूर्ण होने पर बालक में भी पूर्णता होती है । गर्भस्थ बालक माता के शरीर के माध्यम से ही पोषण और वृद्धि पाता है, अतः माता के खान-पान का बालक पर सीधा प्रभाव पड़ता है । जैसे माता के शरीर से बालक के पंचभौतिक शरीर का निर्माण होता है, वैसे ही उसके विचारों से उसके मन का विकास होता है । इसलिए कहा है—**माता निर्माता भवति** । माता-पिता के खान-पान का स्थिति-परिस्थिति का और एक-एक शब्द का जो उनके कान में पड़ता है, एक-एक दृश्य का जो उनकी आँखों के सामने उपस्थित होता है, एक-एक विचार का जो उनके मन में उठता है, बालक पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । आदिम तीन संस्कारों—गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन तक की अवधि में माता-पिता के बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है । जब तक सन्तान माता के पेट में बढ़ रही होती है तब तक उसके शारीरिक और मानसिक विकास का दायित्व विशेषतौर पर माता के ऊपर ही होता है । जब कोई वस्तु ढल रही होती है तब उसे पहले से बनी रूपरेखा के अनुसार ढाला जा सकता है । ढलकर तैयार हो जानेपर उसे नई दिशा देना कठिन हो जाता है । सन्तानोत्पत्ति के आधारभूत विचार के सम्बन्ध में कहा है—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥

—शत० १४।६।४।८ ; छान्दोग्य ब्रा० १।५।१७ ; निरुक्त ३।४

अर्थात्—सन्तान माता-पिता के अंग-अंग का निचोड़ होती है । एक प्रकार से वह उनकी अपनी ही आत्मा होती है । आठवें महीने में स्त्री को 'दौहृद' कहा जाता है । 'दौहृद' का अर्थ है दो हृदयवाली—एक उसका अपना हृदय और एक उसके गर्भ में पलनेवाली सन्तान का हृदय । सन्तान का हृदय माता के बीज से उत्पन्न होता है और रस लाने, ले-जानेवाली धमनियों (arteries) से माता के हृदय से जुड़ा होता है । यह समय वह होता है जब सन्तान पर अपने संस्कारों की छापा डालना माता के हाथ में होता है । इस विषय में सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान) में लिखा है—

येषु येषु इन्द्रियार्थेषु दौहृदे या विमानना ।
प्रजायते सुतस्यार्ति स्तस्मिन्-तस्मिन् तथैन्द्रिये ॥

गर्भवती स्त्री की जिस बात में अनिच्छा होती है, उसकी सन्तान की भी उस बात में अनिच्छा होती है और जिस बात में गर्भवती स्त्री की इच्छा रहा करती है, उस बात में उसकी सन्तान की भी इच्छा बन जाती है ।

इस प्रसंग में मनुस्मृति का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यादृशं भजते नारी सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥—९।९

अर्थात् गर्भवती स्त्री जिस प्रकार की तस्वीर मन में खींच लेती है, उसी प्रकार की सन्तान को जन्म देती है । इसलिए उत्तम सन्तान के लिए स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जिससे सन्तान उत्तम और शुद्ध विचारोंवाली बने ।

किस प्रकार अभिमन्यु माता के गर्भ में चक्रव्यूह तोड़ने के संस्कारों को लेकर पैदा हुआ था, किस प्रकार मदालसा ने अपने पुत्रों को गर्भावस्था के संस्कारों से ब्रह्मर्षि बना दिया था, किस प्रकार नेपोलियन माँ के सैनिकों की परेड देखने के संस्कारों के कारण महान् योद्धा बन गया था और किस प्रकार माँ के संस्कारों के कारण बिस्मार्क फ्राँस का शत्रु बन गया था । ये सब उदाहरण सिद्ध करते हैं कि माँ के संस्कार सन्तान को पूर्वनिर्धारित ढाँचे में ढाल सकने में समर्थ हैं ।

चरकसंहिता (शरीरस्थान) में पुंसवन-संस्कार का वर्णन करते हुए विस्तारपूर्वक गर्भिणी के आचरण का विवेचन करते हुए लिखा है—"अगर गर्भिणी नग्न सोये या इधर-उधर घूमती फिरे तो सन्तान पागल हो सकती है । गर्भवती बहुत लड़ने-झगड़नेवाली हो तो सन्तान को मृगी हो सकती है । यदि मैथुन में रत रहती हो तो सन्तान कामुक हो सकती है । अगर निरन्तर उदास या शोकमग्न होगी तो सन्तान डरपोक, कमज़ोर और अल्पायु होगी । यदि लोभी या परधनेच्छु होगी तो सन्तान ईर्ष्यालु, चोर और कुकर्मी होगी । यदि वह क्रोध करेगी तो सन्तान क्रोधी, छली और चुग़लख़ोर होगी । यदि वह बहुत सोएगी तो सन्तान आलसी, मूर्ख और मन्दाग्निवाली होगी । यदि मीठा अधिक खाएगी तो सन्तान प्रमेही, यदि अधिक खट्टा खाएगी तो सन्तान त्वचा के रोगवाली और यदि अधिक चटपटे भोजन खाएगी तो सन्तान दुर्बल, अल्पवीर्य, बाँझ या नपुंसक होगी । सूत्र ४४ के अनुसार जिस प्रकार माता के क्रियाकलाप से सन्तान में रोग संक्रमित होते हैं, उसी प्रकार पिता के दूषित क्रियाकलाप के कारण भी दूषित सन्तान होती है । इसलिए गर्भिणी स्त्री को चाहिए कि "पहले दिन से ही हर समय प्रसन्न रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, शान्त मनवाली, सबका भला चाहनेवाली और देव, ब्राह्मण तथा गुरुजनों की सेवा करनेवाली हो । मलिन, हीन या विकृत अंगों को न छुए । दुर्गन्धयुक्त और बुरे दृश्यों को न देखे-सुने । सूखे-बासी, गले-सड़े अन्न का भोजन न करे । बिना विशेष काम घर से निकलना, खाली मकान में रहना, श्मशान में जाना, क्रोध करना, चिल्लाकर बोलना आदि का सर्वथा त्याग कर दे । जिन बातों से गर्भ की हानि की आशंका हो, उन सबसे दूर रहे ।" साररूप में चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।२१) में कहा है—**"तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्साध्वाचाराचात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ।"**

अर्थात्—सन्तान के हित की इच्छा करती हुई गर्भवती स्त्री अहिताहार-विहारों को त्याग देवे तथा श्रेष्ठ आचार और हित आचार-विहार से शरीर की रक्षा करती रहे ।

पितृमान्—जिस प्रकार की सन्तान की इच्छा हो उसी प्रकार की तैयारी माता-पिता को करनी

चाहिए । मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जिस सूक्ष्म-शरीर को लेकर चलता है, वह पहले पिता के वीर्य में पहुँचकर विकास पाता है । तत्पश्चात् माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है । दूसरे शब्दों में बच्चा पहले पिता के गर्भ में जाता है, फिर माता के गर्भ में । भेद केवल इतना है कि माता का गर्भाशय और प्रकार का है, पिता का और प्रकार का । पिता के शरीर में वीर्यकोश पुत्र का गर्भाशय है । यही भावी सन्तान का पहला शरीर है, इसलिए वह जिस प्रकार का भोजन करेगा, वहाँ उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा । यह तो रहा भौतिक पक्ष, परन्तु इस भौतिक शरीर पर पिता के मन का भी प्रभाव पड़ेगा । उसमें पिता के प्रत्येक विचार और कार्य की प्रतिच्छाया रहेगी, अतः पिता को सोच लेना चाहिए कि जिस प्रकार की सन्तान की उसे इच्छा है, उसी प्रकार का उसका आचरण होना चाहिए । पिता के हृदय की सारी भावनाएँ साररूप में वीर्य के उस कण में होती हैं जिसे जीव ने अपना पहला शरीर बनाया है । इसी को आधुनिक चिकित्साशास्त्र में स्पर्मेटोज़ा (Spermatoza) कहते हैं । इस प्रकार गर्भाधान का सूत्रपात स्त्रीसंयोग से पहले पिता के शरीर में हो चुका होता है । ऐतरेय उपनिषद् का निम्न वचन भी इस विषय में द्रष्टव्य है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति । तद्यथा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ २।१

तात्पर्य यह है कि गर्भ पहले तो पुरुष के शरीर में होता है । यह रेतस् या वीर्य कहाता है । वीर्य ही उसका शरीर है । वहाँ वह पिता के समस्त अंगों से तेज को खींचता और अपने में धारण करता है । फिर पिता के गर्भ से गर्भाधान द्वारा माता के गर्भ में पहुँचता है । यह उसका पहला जन्म है ।

पिता के शरीर में बच्चे का शरीर एक निश्चित अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता, इसके लिए अधिक अवकाश व भोजन और विकास के लिए अपेक्षित समय चाहिए । यह सब उसे माता के शरीर में ही मिल सकता है, अतः पिता का कर्त्तव्य है कि वह इस धरोहर को अपने शरीर से निकालकर माता को सौंप दे । अथर्ववेद ६।११।२ में लिखा है—**'पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते'** । इस प्रत्यारोपण (Transplantation) के लिए उसे स्त्रीप्रसंग की आवश्यकता पड़ती है । इसी प्रक्रिया का नाम गर्भाधान है । अन्ततः सन्तान का जन्म माता से होता है, इसलिए उसकी 'जाया' संज्ञा है । इस प्रसंग में मनुस्मृति में लिखा है—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ —९।८

पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके गर्भ बनकर (गर्भो भूत्वा) सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है । स्त्री का यही जायापन है जो इस स्त्री में सन्तानरूप से पति पुनः उत्पन्न होता है ।

'जाया' शब्द **जनी प्रादुर्भावे** (दिवा०) धातु से **'जनेर्यक्'** (उणादि० ४।१११) सूत्र से 'यक्' प्रत्यय, स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है । **'जायते यस्यां सा जाया'** अथवा **'जायन्ते यस्यामपत्यानि सा जाया'**=पत्नी—जिसमें सन्तान उत्पन्न होती है, वह जाया कहलाती है । जाया की यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है । यथावत् भाव ऐतरयब्राह्मण ७।१३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—**"पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासे जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।"** गोपथब्राह्मण में कहा है—**"आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते** । "—गो० ब्रा० पू० १।२

निरुक्त में स्पष्ट शब्दों में कहा है—**"आत्मा वै पुत्रनामासि ।"**—नि० ३।१।४

गर्भाधानोत्तर संस्कार—मनुस्मृति (२।२) में गर्भाधान संस्कार का प्रवर्तन करते समय **'गार्भैः'** शब्द का

प्रयोग हुआ है । इस बहुवचनान्त प्रयोग से प्रतीत होता है कि मनु को इस शब्द से सभी गर्भसम्बन्धी या गर्भकालीन संस्कार अभिप्रेत हैं । जन्म से पहले ६-१० मास का समय गर्भस्थ बालक के निर्माण में लगता है । जातकर्म संस्कार से पूर्व गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन इन तीनों संस्कारों का विधान है । इन्हीं की संज्ञा 'गर्भ' है । प्रस्तुत प्रकरण में आनुषंगिकरूप में गर्भाधान में पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव है ।

पुंसवन संस्कार गर्भस्थिति का निश्चय हो जाने पर दूसरे अथवा तीसरे मास में सम्पन्न होता है । पुंसवन का अर्थ है—**'पुमान् सूयते यस्माद् इति पुंसवनम्'** जिस संस्कार के द्वारा पुमान्=बलवान्, शक्तिशाली और स्वस्थ सन्तान उत्पन्न होने में सहायता मिले, वह पुंसवन संस्कार होता है । ग्रन्थकार ने पुंसवन संस्कार का प्रयोजन "पुरुषत्व की प्राप्ति अर्थात् वीर्यलाभ होना" लिखा है, जिससे 'वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे' । गर्भगत शिशु की रक्षा करना एवं उसे उत्तम संस्कारों से युक्त करना ही इस संस्कार का लक्ष्य है । सुश्रुतकार ने लिखा है—

दोषाभिघातैः गर्भिण्या यो यो भागो प्रपीड्यते ।
स स भाग शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ।।

अर्थात्—किसी भी शारीरिक दोष के कारण गर्भवती स्त्री का जो भी अंग पीड़ित होने लगता है या होता है, गर्भस्थित बालक का भी वही अंग पीड़ित होने लगता है अतः माता को इस विषय में विशेषतः सावधान रहना चाहिए । पिता का भी यह कर्त्तव्य है कि इस अवस्था में पूर्ण संयम रक्खे और पत्नी के शरीर को किसी प्रकार का कष्ट न होने दे । शिशु की रक्षा का दायित्व समानरूप से दोनों पर है और पुंसवन संस्कार का प्रयोजन उन्हें गर्भस्थ शिशु की रक्षा और ठीक-ठीक निर्माण के लिए प्रेरणा और अपेक्षित निर्देश देना है ।

पुंसवन संस्कार का प्रयोजन 'पुमान् (पुरुष) बालक की उत्पत्ति में सहायक होना' मानना युक्तियुक्त नहीं है । गर्भगत शिशु पुमान् और स्त्री दोनों हो सकते हैं और गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त सभी संस्कार दोनों के लिए निर्दिष्ट हैं । पुंसवन नाम में 'पुम्' शब्द लक्षणा से बल-वीर्य-पराक्रम को लक्षित करता है, यह मानना युक्त होगा । यह अर्थ उभयविध शिशु के लिए सार्थक हो सकता है । बालक-बालिका में समदृष्टि रखनेवाले ग्रन्थकार को यही अर्थ अभिप्रेत था । ऋग्वेद ३।२६।१३ का भाष्य करते हुए उन्होंने **'पुमांसम्'** का अर्थ **'पुरुषार्थयुक्तं नरम्'** और यजुर्वेद २५।४५ में **'पुंसः'** का अर्थ **'पुंस्त्वयुक्तान् पुरुषार्थिनः जनाः'** किया है । शतपथब्राह्मण (२।५।२।६) के आधार पर **'वीर्यं पुमान्'** वीर्य को पुमान् बताया है । निरुक्त में दो स्थलों पर इस शब्द की निरुक्ति दर्शाई है—**'पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वा'** (६।१४), 'पुंसः=पितॄन्' (३।५) । इससे स्पष्ट है कि उन्हें 'पुमान्' शब्द से 'पुरुष सन्तान' ही अभिप्रेत नहीं है । संस्कार के आरम्भ में जो प्रयोजन लिखा है, वह आनुषंगिक है, व्यावहारिक है ।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि पुंसवन संस्कार का विधान पुत्र की प्राप्ति (उत्पत्ति) को लक्ष्य में रखकर किया गया है । वे यह भूल जाते हैं कि पुत्र होगा या पुत्री, इसका निश्चय तो गर्भ ठहरने के साथ ही हो जाता है । गर्भ स्थिर हो जाने पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है । पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में निर्णायक मुख्यतः चार कारण बताये जाते हैं —

१—स्त्री के आर्तव की अधिकता से कन्या और पुरुष के वीर्य की अधिकता से पुत्र तथा दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान पैदा होती है—**'तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ।'**

२—युग्म रात्रियों में समागम होने पर पुत्र तथा अयुग्म रात्रियों में स्त्री-समागम होने पर कन्या की उत्पत्ति होती है।

३—स्त्री के दायें डिम्ब से आये बीज (ovum) से पुत्र और बायें डिम्ब से आये बीज से कन्या की उत्पत्ति होती है।

४—पुरुष के दायें अण्डकोश से आये बीज (Sperm) से पुत्र और बायें अण्डकोश से आये बीज से कन्या होती है।

इन सबका सम्बन्ध गर्भाधान की क्रिया से है। जो कुछ हो सकता है वह गर्भाधान की क्रिया होने से पहले ही हो सकता है, बाद में कुछ नहीं हो सकता। गर्भाधान की क्रिया में स्त्री के रज के एक्स कीटाणु के साथ मिलनेवाले पुरुष के वीर्य के एक्स और वाई कीटाणु में से जो भी मिल गया उसे बदला नहीं जा सकता। इसलिए गर्भस्थ बालक का लिंग बदलने के उद्देश्य से पुंसवन संस्कार करना व्यर्थ है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान का भी यही मत है। वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र पुमान् सन्तान अर्थात् पुत्रलाभ की कामना की गयी है। तद्यथा—**'पुमांसं पुत्रमाधेहि'** (अथर्व० ६।१७।१०), **'पुमासं पुत्रं जनय'** (अथर्व०३।२३।३); **'दशास्यां पुत्रानाधेहि'** (ऋ० १०।८५।४५); **'पुमान् गर्भस्तवोदरे'** तथा **'पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्'** (सामवेदे=सामब्राह्मण १।४।८६ तथा गोभिलगृह्यसूत्र)। यहाँ सामवेद शब्द से साहचर्य लक्षण (द्रष्टव्य न्यायसूत्र वा वात्स्यायनभाष्य २।२।६१) से सामवेद का मन्त्रब्राह्मण अभिप्रेत है। लोक में भी प्रायः पुत्र की कामना देखी जाती है और पुत्रलाभ के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न किया जाता है। 'पुमान्' का अर्थ वीर्यवान् होता है, इसे नकारा नहीं जा सकता। **'पुमान् स्त्रिया'** पाणिनिसूत्र के अनुसार 'बालक' की भाँति 'पुत्र' को भी उभयलिंगी माना जा सकता है। तदनुसार 'पुत्र' शब्द में 'पुत्री' का अन्तर्भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तथापि सर्वत्र पुत्रोत्पत्ति की ही कामना से इन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

गोपथब्राह्मण (१।३।७) में स्त्री और पुरुष में भेद दर्शाते हुए कहा है—**'पुमांसः श्मश्रुवन्तोऽश्मश्रुवः स्त्रियः'**। यहाँ 'पुमान्' शब्द स्पष्टतः पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है। अथर्ववेद कहता है—**"जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्**—"(८।६।२५)। इसका भाष्य करते हुए प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने लिखा है—"हे पिंग सर्षप (पीली सरसों)! गर्भस्थ पुमान् को स्त्रीरूप में परिणत न कर देना।" इसपर टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—"कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जो पुमान् था, वह कालान्तर में स्त्री घोषित होजाता है—लिंगपरिवर्तन हो जाता है।" इस सम्भावना को दूर करने के लिए यथासमय उपचार अपेक्षित है। अथर्ववेद का ही एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है —

शमीश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्र स्त्रीष्वा भरामसि ॥ ६।११।१

चतुर्वेदभाष्यकार जयदेव मीमांसाकार ने इसके भाष्य में लिखा है कि कई विद्वानों के मत में शमी वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है। ग्रन्थकार ने आश्वलायनगृह्यसूत्र का एक वचन पुंसवन-संस्कार में उद्धृत किया है—**"अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति।"** इसका अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—"गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे।" सामान्यतः इसकी पुष्टि करते हुए अथर्ववेद (३।२३।६) ने कहा है—**"तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः।"** अर्थात् हे नारि! वे दिव्य ओषधियाँ तेरी और तेरे गर्भ की पुत्रलाभ के

लिए रक्षा करें।

चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।३५-३६) के अनुसार ओषधि को दाहिने नथुने द्वारा पीने से पुत्र-प्राप्ति और बायें नथुने द्वारा पीने से कन्या-प्राप्ति होती है। लगभग यही बात सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान २।३४) में कही गयी है—"**लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवीविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिघुद्य त्रीन् चतुरो वा बिन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।**" अर्थात्—जिसने गर्भधारण कर लिया है, उसके लिए इन्हीं दिनों में लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवी और विश्वदेवा इनमें से किसी एक ओषधि को दूध के साथ महीन पीसकर उसकी तीन वा चार बूँदें उस स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में डाल दे। यदि उसे पुत्र की इच्छा हो तभी ऐसा करे। स्त्री को चाहिए कि वह उस ओषधि को थूके नहीं।

पीयूषपाणि स्वामी सर्वानन्दजी सरस्वती आयुर्वेद में निष्णात हैं। उन्होंने बताया कि जिनके पुत्र नहीं होता उनकी ओषधियों से मैं चिकित्सा करता हूँ और लगभग ७५ प्रतिशत सफलता मिलती है।

इन प्रमाणों के आधार पर यह मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती कि पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में उपयुक्त ओषधियों का सेवन भी सहायक है। जहाँ तक युग्म-अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान का सम्बन्ध है और इसमें वीर्य या आर्तव के सामर्थ्य की भूमिका है, वह भी इससे मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाता। युग्म रात्रि हो किन्तु उस समय स्त्री का आर्तव प्रबल हो, इसी प्रकार अयुग्म हो किन्तु उस सयम पुरुष-वीर्य प्रबल हो तो दोनों में कौन अधिक प्रभावी होगा, निश्चितरूप से कोई नहीं जान सकता। इसी प्रकार की स्थिति स्त्री के डिम्ब और पुरुष के अण्डकोश के सम्बन्ध में भी हो सकती है। इसलिए केवल गर्भाधान के आधार पर पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता। यथासमय योग्य चिकित्सक का परामर्श लेना श्रेयस्कर है।

सीमन्तोन्नयन—इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ में पल रहे बालक की बौद्धिक व मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक होना है। इसमें उत्तरदायित्व माता पर अधिक होते हुए भी पिता का पूर्ण सहयोग अपेक्षित है। यदि बालक की माता पति की उपेक्षा अथवा दुर्व्यवहार के कारण दुःखी रहती है तो गर्भस्थ शिशु पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा और बालक क्रोधी या चिड़चिड़े स्वभाव का होगा। इस अवस्था में परिवार के अन्य सदस्यों का सौहार्द एवं सक्रिय सहयोग भी बालक के निर्माण में सहायक होता है। सुश्रुतसंहिता में लिखा है—"**देवता ब्राह्मणपरा शौचाचारहिते रताः। महगुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥**" विद्वान् ब्राह्मणों का सत्संग करनेवाली तथा शारीरिक व मानसिक पवित्रता के साथ जीवन बितानेवाली गर्भिणी स्त्री को उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है। इससे विपरीत आचरण करनेवाली स्त्री को विपरीत गुणोंवाली सन्तान प्राप्त होती है।

संस्कारों का संक्रमण—सन्तानों में संस्कारों का संक्रमण किस प्रकार होता है, अर्थात् भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणियों में पैतृक तथा जातीय गुण किस विधि से वंशानुवंश संक्रमित होते हैं तथा समय-समय पर जो नये गुण किसी प्राणी में उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी क्या प्रक्रिया है, इत्यादि विषयों पर वैज्ञानिक जगत् में बड़े-बड़े अन्वेषण हो रहे हैं। वर्तमान में आनुवंशिक परम्परा-प्राप्ति (Heredity) के क्षेत्र में जिनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें चार्ल्स डारविन (Charles Darwin), गाल्टन (Galton) तथा वाईज़मैन (Weismann) के नाम उल्लेखनीय हैं।

डारविन की Theory of Pangenesis (1859) के अनुसार शरीर के अवयव और अंग के प्रत्येक कोष्ठ से उस-उस कोष्ठ के गुणधारी अत्यन्त सूक्ष्म भाग (जिसे उसने gemmules की संज्ञा दी है) उत्पन्न होते हैं। ये सब सूक्ष्म भाग शरीर में सन्तति-उत्पादक रजःकणों में इकट्ठे हो जाते हैं, अर्थात् एक प्रकार से रजःकण कुल शरीर की प्रतिकृतियाँ होती हैं और उनमें उसी प्रकार के शरीर को उत्पन्न करने की शक्ति

होती है। डारविन के पश्चात् गाल्टन (१८२२-१९११) तथा जर्मनी के वाइज़मैन (१८३४-१९१४) ने (Germ Plasm Theory) के नाम से उत्पादक सिद्धान्त की स्थापना की। इसके अनुसार शरीर के प्रत्येक कोष्ठ के केन्द्रबिन्दु (Nucleus) में एक प्रकार का रंगदार पदार्थ होता है जिसे Chromatin कहते हैं। इस क्रोमेटिन में ही आनुवंशिक गुण रहते हैं। प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) से आवेष्टित क्रोमेटिन का एक सूक्ष्म भाग रजःकण बनता है। गर्भधारण में मातृ-पितृ-रजकणों के कोष्ठ मिल जाते हैं। उनके केन्द्रबिन्दुओं का भी मेल हो जाता है और इन दोनों कोष्ठों का एक जोड़ कोष्ठ बनता है, जिसमें मातृ-पितृ-तत्त्व मिले रहते हैं। आनुवंशिक संस्कारों का मूलाधार यह क्रोमेटिन है। आगे चलकर जब एक कोष्ठ के दो, दो के चार और इस प्रकार जब गर्भ की वृद्धि होती है और नये-नये कोष्ठ जैसे-जैसे उत्पन्न होते जाते हैं, वैसे-वैसे उन कोष्ठों में क्रोमेटिन के नये-नये अंश भी सम्मिलित होते जाते हैं। इस प्रकार बच्चे के शरीर के सब अवयवों में यह पैतृक संस्कार का बीज पहुँच जाता है। अब क्योंकि पूर्णतः को बढ़े हुए प्राणी के उत्पादक कोष्ठों द्वारा ही अगली पीढ़ी का निर्माण होता है और क्योंकि इन उत्पादक कोष्ठों के क्रोमेटिन प्रारम्भिक उत्पादक कोष्ठ के क्रोमेटिन से ही पैदा होते हैं, इसलिए हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि किस प्रकार उत्पादक बीज (germ plasm) की सन्ततिधारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित होती जाती है। शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों के साथ ही जो प्रसव-संस्थान (Reproductive System) के तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वे किन्हीं अन्य कोष्ठ-समूहों से उत्पन्न न होकर सीधे अण्डे से ही उत्पन्न होते हैं। अब क्योंकि अगली सन्तति में केवल उत्पादक कोष्ठों के बीज ही संक्रमित होते हैं, इसलिए उत्पादक बीज की यह धारा उत्तरोत्तर सीधी सन्तति में संक्रमित होती रहती है। इस धारा में कहीं भी विच्छेद नहीं होता।

मेंडेल (Mendel) आस्ट्रिया का एक पादरी था। कई वर्षों तक वनस्पतियों पर किये गये अनेक परीक्षणों के आधार पर उसने पैतृक गुणों के संक्रमण से सम्बन्धित एक और नियम की खोज की। कभी-कभी एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा अपने पितामह से अधिक मिलता-जुलता देखा जाता है। कोई ऐसा उत्पादक तत्त्व होना चाहिए जो दादा से पोते या पड़पोते में चला जाता है। इस प्रकार का परिवर्त्तन तभी सम्भव है जब परिवर्तन के प्रतिनिवर्तन (Reversion) एवं एकान्तर संक्रमण (Alternative inheritence) की व्याख्या Mendel's Law तथा H.D. Vris की परिवर्त्तन की कल्पना Mutation Theory के आधार पर ही की जा सकती है।

गर्भाधान के प्रकरण में सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान, अध्याय ३) में लिखा है—"**तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदरयति। ततस्तेजोऽनिलसन्निपातात् शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन। ततोऽग्निसोमसंयोगात् सृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते।**" अर्थात्—स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर जो गरमाई उत्पन्न होती है वह शरीर में वायु को उत्पन्न करती है। फिर उस गरमाई और वायु के मिलने से पुरुष का वीर्य निकलकर स्त्री की योनि में प्राप्त होता है और आर्तव के साथ मिलता है। फिर अग्नि (आर्तव) और सोम (वीर्य) का संयोग होने से हुआ गर्भ गर्भाशय में प्राप्त होता है। वीर्य के साथ ही जीव स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश करता है, इसका निर्देश चरकसंहिता में मिलता है। वहाँ लिखा है—"**शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।**"(चरक. शरीरस्थान, ४।२) अर्थात् रज-वीर्य तथा जीव का संयोग होने तथा होकर कुक्षि में प्राप्त होने का नाम गर्भ है। इसलिए जिन संस्कारों के माता-पिता होंगे उन्हीं संस्कारों से युक्त सन्तान होगी। माता-पिता के रज-वीर्य में एक ऐसा तत्त्व रहता है जो उनके शरीर तथा मन के गुणों को लेकर सन्तान में पहुँचता है। इसीलिए माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। पुरुष के उत्पादक कोष्ठों को वीर्यकण (Sperms) और स्त्री के उत्पादक कोष्ठों को रजःकण (ova)

कहते हैं। नर के उत्पादक कोष्ठ (वीर्यकण) उसके शरीर से निकलकर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके उत्पादक कोष्ठ (रजःकण) में मिल जाते हैं और इस प्रक्रिया से प्राणी का जन्म होता है। उत्पादक बीज या तत्त्व का ही अपर नाम जीन्स (genes) है। माता-पिता के रज-वीर्य से जो अनेकानेक वाहकाणु (जीन्स) सन्तान को प्राप्त होते हैं, वे ही प्राणी की शारीरिक व मानसिक रचना का आधारभूत कारण हैं।

आचार्यवान्—मनुस्मृति २।१४० के अनुसार—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्तसहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसे आचार्य कहते हैं। यहाँ 'कल्प' से कोई ग्रन्थविशेष अभिप्रेत नहीं है, अपितु वेदोक्त यज्ञ आदि का निरूपण करनेवाली विद्या अभिप्रेत है।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥—मनु० २।१४४

जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा दोनों कानों को भली-भाँति परिपूर्ण करता है, उसे माता-पिता के तुल्य समझना चाहिए। उससे कभी द्रोह न करे।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है, जो मनु के उक्त श्लोक से शब्द और भावों की दृष्टि से पर्याप्त मिलता है—

आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥—२।१।४

लगभग १६ वर्ष तक अपने पास रखकर ब्रह्मचारी की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व निभानेवाले आचार्य का महत्त्व दर्शाते हुए मनु ने कहा है—

उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥—२।१४६

अर्थात्—जन्म देनेवाले पिता और ज्ञान देनेवाले आचार्य में आचार्यरूप पिता अधिक बड़ा और माननीय है, क्योंकि द्विज का ब्रह्मजन्म (उपनयन द्वारा दीक्षित होकर ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्मवित् होना) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहनेवाला है। पिता द्वारा दिया गया शरीर तो जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है, परन्तु ब्रह्मजन्म शाश्वत सुखदायक है। वही मुक्तिपर्यन्त इस जन्म और परजन्मों में सदा साथ रहता है। उसी के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज (**द्विर्जायते इति द्विजः**) कहा जाता है।

वर्त्तमान में पुरोहित बच्चों का उपनयन संस्कार तो करा देते हैं, परन्तु उनका सान्निध्य उन्हें प्राप्त नहीं होता। आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी को अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण इस प्रकार करे जैसे माता गर्भस्थ बालक का पालन-पोषण करती है। इस विषय में वेद का आदेश है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ —अथर्व० ११।५।३

आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रिपर्यन्त अपने गर्भ में धारण करता है। पैदा होने (स्नातक बन जाने) पर उसे देखने के लिए देवकोटि के लोग मिलकर जाते हैं।

[जन्मकाल और उसके पश्चात् के कर्तव्य]

जब जन्म हो, तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान नाड़ी-छेदन करके, सुगन्धियुक्त घृतादि का होम*, और स्त्री को[1] भी स्नान-भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाए। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों।

तिस्रः रात्रीः— ब्रह्मचर्यकाल रात्रि है। इस काल को ब्रह्मचारी अपने लिए अन्धकाररूप माने और आचार्य द्वारा निर्दिष्ट जीवन-मार्ग के प्रकाश में जीवन यापन करे। एक आदर्श आचार्य के गर्भाकर्षण में जो कोई विद्याभिलाषी शिष्य पहुँच जाता है, वह अवश्य ही उनसे अभिलषित विद्या को प्राप्त कर लेता है। **'तिस्रः रात्रीः'** का तत्त्वार्थ ईश्वर, जीव तथा प्रकृति-विषयक तीन प्रकार की विद्याएँ भी हैं, क्योंकि इन तीन प्रकार की विद्याओं के द्वारा ही मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूटकर मोक्ष-लाभ करता है।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

यथेमं विष्णुं यज्ञे त्रैधा व्यभजन्त—वसवः प्रातःसवनम्, रुद्राः माध्यन्दिनं सवनम्, आदित्यास्तृतीयसवनम्।

—शत०१४।१।१।१५

अर्थात्—इस विष्णु या यज्ञ को देवों ने तीन भागों में बाँटा। वसुओं ने प्रातःसवन किया, रुद्रों ने दोपहर का सवन तथा आदित्यों ने सायंकाल का सवन किया। आशय यह है कि २४ वर्ष की आयु तक विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों का समय प्रातःसवन कहाता है और उनको वसु कहा जाता है। ३६ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल माध्यन्दिनसवन कहाता है और उन्हें रुद्र कहा जाता है। इसी प्रकार ४८ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल सायंसवन कहाता है और उन्हें आदित्य पद से विभूषित किया जाता है।

संस्कारविधि (उपनयन-संस्कार) में ग्रन्थकार ने आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया है—"आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ का सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपटरहित, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन-धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपातरहित और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।" आचार्य के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए वेद में कहा है—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥—यजुः० २।३३

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं —

ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को शिक्षा देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को

---

* बालक के 'जन्म-समय' में 'जातकर्म-संस्कार' होता है। उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म होते हैं, वे श्री स्वामीजी ने 'संस्कारविधि' में सविस्तर लिख दिये हैं[2]।—**समर्थदान**

---

१. को=के लिए। ग्रन्थकार 'को' विभक्ति का प्रयोग 'के लिए' तथा 'के' विभक्ति के स्थान में भी करते हैं। वैदिकभाषा में द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी विभक्तियों का बहुत्र समान अर्थ में प्रयोग देखा जाता है

२. इस टिप्पणी में उल्लिखित 'संस्कारविधि' का संकेत सं० वि० के प्रथम सं० की ओर है। द्वितीय परिशोधित सं० का लेखन स० प्र० द्वि० सं० के लगभग ८ मास पश्चात् आरम्भ हुआ था। वैसे टिप्पणी की युक्तता द्वितीय सं० में भी यथावत् विद्यमान है।

प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे । पश्चात् धायी पिलाया करे, परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें । जो कोई दरिद्र हों, धायी को न रख सकें, तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि, जोकि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजा[1] औटा-छानके दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें ।

जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान में जहाँ का वायु शुद्ध हो वहाँ रक्खें । सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो और जहाँ धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें, क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है । इसलिए प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे । दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो । ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है । तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य्य से वीर्य का निग्रह रक्खे ।

चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा पालना करें । वे विद्या के योग से धर्मात्मा तथा पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों । यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए ।

जिस प्रकार गर्भस्थ बालक पर माता-पिता के खान-पान, आचार-विचार आदि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही विद्यार्थी अध्यापकोंसहित आचार्य के आहार, विहार आदि से प्रभावित होते हैं । उनकी बोलचाल, परस्पर व्यवहार और उनकी सम्पूर्ण गतिविधियों को विद्यार्थी देखते-सुनते और उनका अनुकरण करते हैं । उनके निजी जीवन (Private Life) और सार्वजनिक जीवन (Public Life) को पृथक्-पृथक् करके देखने की आधुनिक प्रवृत्ति न शांस्त्रसम्मत है, न व्यवहारसिद्ध है । अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को मारकर भी बालक के हित की दृष्टि से जैसा अपेक्षित होता है, वैसा ही व्यवहार करने का प्रयास माता-पिता करते हैं । वैसा ही आचार्य के लिए करना आवश्यक है । ऐसे आदर्श गुरुजन ही बालक को 'मनुष्य' बनाने में समर्थ होते हैं और जिन्हें ऐसे आचार्य प्राप्त होते हैं, वे ही **'आचार्यवान्'** कहलाते हैं ।

जन्म होने पर —बालक का जन्म होने पर क्या करना चाहिए, इस विषय में सुश्रुतसंहिता में लिखा है—

अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नी पिचु दद्यात् ततो नाभिनाडीमष्टांगुलमायम्य सूत्रेण बद्धा छेदयेत्तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग्बध्नीयात् ॥ —१०।२०

अर्थात् जन्म के पीछे जरायु को बालक के शरीर से साफ़ करे तथा बालक को सेंधा नमक और घृत से शुद्ध करे । फिर रुई का फाहा घृत में भिगोकर तालु पर लगाये । तब नाभि-नाड़ी को आठ अंगुल नापकर सूत्र से बाँध देवे और आगे से कतर डालें और नाल में जो डोर बँधी है, उसे बालक के गले में बाँध देवे ।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ता ब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमंगुल्याऽनामिकया लेह्येत् ।—१०।२०

इसके अनन्तर बालक का शीतल जल से आश्वासन करके जातकर्म करे । पीछे घृत, शहद, अनन्तमूल, ब्राह्मी का रस—इनमें एक रत्तीभर सुवर्ण का चूर्ण (भस्म या वर्क) मिलाकर अंगुली से बालक को चटावे ।

---

१. अर्थात् भिगोकर ।

इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान उत्तम बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक हों। स्त्री योनिसंकोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे, वे भी सब उत्तम होंगे।

[पाँच वर्ष तक माता द्वारा शिक्षा]

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे। जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान-प्रयत्न, अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न, दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान[1] भिन्न-भिन्न श्रवण होवें।

जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी, और बड़े-छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें। जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें।

व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन-हास्य, लड़ाई, हर्ष-शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या-द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती, और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है, इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।

जन्म होने पर बालक का जातकर्म-संस्कार किया जाना चाहिए। इसकी विस्तृत विधि संस्कारविधि (ग्रन्थकाररचित) में उपलब्ध है। उसी के अन्तर्गत दो मन्त्रों (यजु:० १७।८७; ऋ० १।१६४।४६) से बच्चे को क्रमशः माता के वाम तथा दक्षिण स्तन से दूध पिलाने का विधान है।

प्रसूता माता के विषय में चरक (शरीरस्थान अध्याय ८) में लिखा है—"प्रसूता स्त्री को जब भूख लगे तो उसको उसके सामर्थ्य के अनुसार उचित मात्रा में स्नेहपान करावे और पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ, इनका चूर्ण मिलाकर भी स्नेहपान करावे। उस स्त्री के पेट पर घृत और तेल दोनों मिलाकर चुपड़ देवे। इसके उपरान्त पेट पर लम्बा कपड़ा बाँध देवे। ऐसा करने से उसके पेट में वायु के प्रवेश का अवकाश न मिलने से विकार नहीं कर सकता। जब स्नेहपान किया हुआ हज़्म हो जाए तो फिर पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ मिलाकर सिद्ध की हुई चिकनी यवागू पतली-सी बनाकर मात्रानुसार दोनों समय पीने को देवे। स्नेह और यवागू पान करने से पहले ही प्रसूता स्त्री को गर्म जल से परिषेक करा देना चाहिए। फिर पाँच या सात रात्रिपर्यन्त इसी नियम का पालन करे और फिर क्रम से इसको पुष्ट करता जाए।

माता द्वारा स्तन्यपान—माता द्वारा बालक को अपने स्तन से दूध पिलाये जाने के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"जैसे माता अपने स्तन के दूध से सन्तान की रक्षा करती है..... वैसे माता की सुशिक्षा को पाकर आत्मा पुष्ट होती है।"—ऋग्वेदभाष्य १।१६४।४६

"जैसे बालक और बछड़े माता के स्तन के दूध को पीके बढ़ते हैं ......" यजुर्वेदभाष्य २७।८७

"हे गृहस्थ पुरुष! तू सन्तानों की माता जोकि तेरी विवाहिता स्त्री है, उस पुत्र का मान करनेवाली

---

१. संहिता = सन्धि, अवसान = विराम, पद वा वाक्य की समाप्ति।

के लिए सब प्रकार धारण-पोषण करने योग्य गर्भ को उत्पन्न कर और वह पुत्र अपनी उस माता का दूध पीवे।"

—यजुर्वेदभाष्य ८।५१

इस प्रकार वेद के आधार पर ग्रन्थकार ने माता के द्वारा अपना दूध पिलाकर सन्तान का पालन-पोषण किये जाने के मन्तव्य का प्रतिपादन किया है। सुश्रुतसंहिता में लिखा है—"यदि प्रमादवश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिए तैयार करे, क्योंकि **'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये'**—अर्थात् जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टि के लिए सर्वोत्तम होता है।

वस्तुतः जिस शरीर के तत्त्वों से बालक के शरीर का निर्माण हुआ है, उससे निःसृत दूध बालक के लिए जितना अनुकूल एवं उपयोगी होगा वैसा अन्य कोई दूध (धाय, गाय, बकरी आदि का) नहीं हो सकता। फिर, जिस स्नेह से ममतामयी माँ बालक को दूध पिलाती है, वैसा स्नेह बालक को कहाँ से मिल सकता है ? और बालक को अपनी छाती से लगाकर दूध पिलाने में वह जिस तृप्ति व आनन्द का अनुभव करती है उससे वंचित होकर कौन माता सुखी होगी ?

प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र के अतिरिक्त आधुनिक चिकित्साविज्ञानवेत्ता भी एक स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि जननी की छाती से दूध पीना बालक और उसकी माता दोनों के लिए अत्यन्त हितकर है। इस सन्दर्भ में अहमदाबाद से, टाइम्स ऑफ इण्डिया के १३ जनवरी १९८९ में, प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"Breast feeding may help save not only the baby but also the mother from certain forms of cancer, according to two separate studies conducted by scientists separately. The studies published by the National Cancer Institute of America indicate that after being breast fed for more than six months, chances of the baby and its mother getting cancer are lowered considerably."

अर्थात्—अमरीका की नेशनल कैंसर इंस्टीट्यूट में हुए अनुसन्धान से पता चला है कि छह मास तक माता की छाती से दूध पीते रहने के बाद बालक और उसकी माता के कैंसर रोग से पीड़ित होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। नयी खोजों के अनुसार माता की छाती से दूध पीनेवाले बालक के पोलियो आदि रोगों से ग्रस्त होने का डर नहीं रहता। जब तक बालक दूध पीता रहता है तब तक स्त्री के गर्भवती होने की सम्भावना कम होती है।

माता की छाती से निःसृत दूध के विकल्प के रूप में डिब्बाबन्द (Baby Food) के विज्ञापनों सम्बन्धी भारत सरकार के निम्न निर्णय से भी माता के दूध की वरीयता प्रमाणित होती है—

"The Information and Broadcasting Ministry has decided that advertisements for baby foods can be accepted by A.I.R. and Doordarshan so long as the manufacturers and distributors of these products do not promote them as partial or total substitutes for breast milk. Prof. Menon told Mr. Kalpnath Rai in a written reply."

—Indian Express, New Delhi, 24-4-90

इसके विपरीत ग्रन्थकार का निर्देश है—"प्रसूता का दूध बालक को ६ दिन तक पिलावे, पश्चात् धायी पिलाया करे..........जो कोई दरिद्र हो, धायी न रख सकें तो वे गाय वा बकरी का दूध पिलावें....... जहाँ धाय, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें .... किन्तु प्रसूता स्त्री न पिलावे।" प्रथम संस्करण में लिखा है—"जब जन्म होय तब उसी

दिन अथवा दूसरे-तीसरे दिन धनाढ्य लोग और राजा लोग दासी वा अन्य स्त्री की परीक्षा करके कि उसके शरीर में रोग न होवे और दूध में भी रोग न होय, उसके पास बालक को रख देवें और वही स्त्री उसका पालन करै, परन्तु बालक की माता उस स्त्री के और बालक की शिक्षा के ऊपर दृष्टि रखै और जो असमर्थ लोग हैं, जिनको दासी वा अन्य स्त्री रखने का सामर्थ्य न होय तो छेरी अथवा गाय वा भैंसी के दूध से बालक का पोषण करैं। जहाँ छेरी आदिकों का अभाव होय वहाँ जैसा उचित हो सकै वैसा करैं, परन्तु बालकों की जो माता है सो उन्हों को दूध कभी न देवै। स्त्री का दूध देने से स्त्री का शरीर दुर्बल और क्षीण हो जाएगा। जो स्त्री प्रसूत हुई वह भी अपने शरीर की रक्षा के लिए श्रेष्ठ भोजनादिक करै जोकि औषधवत् होय जिससे फिर भी युवावस्था की नाई उसका शरीर हो जाय।"

जहाँ चरक, सुश्रुत आदि ने विशेष अवस्थाओं में अपवादरूप में किसी-किसी के लिए धाय के दूध का विधान किया है, वहाँ ग्रन्थकार ने कारणवश अपवादरूप में किसी-किसी के लिए नहीं, अपितु सामान्यरूप से सबके लिए धाय का ही दूध पिलाने का विधान किया है और जननी या माता के अपनी सन्तान को दूध पिलाने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया है।

अपने अनुरूप सन्तान बनाने के लिए माता का दूध ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। माता के स्तनों में दूध न होने या कम होने, माता के रुग्ण होने, असाधारण रूप से निर्बल होने अथवा उसकी मृत्यु हो जाने आदि अवस्थाओं में बालक का पालन-पोषण गाय के दूध पर होना चाहिए। यदि धाय रखना आवश्यक हो तो वह कैसी हो, इसका निर्देश करते हुए चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।८१) में लिखा है—

"अथ ब्रूयात्—धात्रीमानयतेति, समानवर्णां यौवनावस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपा-मजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मणीं कुले-जातां वत्सलां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामर्नुच्चार-शायिनीमनन्त्यावसायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति।"

अर्थात्—यदि धाय रखना आवश्यक जान पड़े तो "चिकित्सक धात्री लाने के लिए जननी के सम्बन्धियों को कहे। वह धात्री इन गुणों से युक्त होनी चाहिए—शिशु के वर्णवाली होनी चाहिए। यदि बालक गौरवर्ण है तो गौरवर्णवाली और यदि बालक श्यामवर्ण है तो श्यामवर्णवाली होनी चाहिए। अथवा यदि बालक ब्राह्मण है तो धाय भी ब्राह्मणी, यदि क्षत्रिय है तो धाय भी क्षत्रिया इत्यादि होनी चाहिए। युवती हो, विनय-सम्पन्न हो। नीरोग, सब तथा अविकृत अंगोंवाली हो। दुर्व्यसनों से मुक्त हो। घृणित न हो अर्थात् मैली-कुचैली न हो। जिस देश का बालक हो उसी देश की रहनेवाली हो। कोई नीच कर्म करनेवाली न हो। श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई हो, स्नेह करनेवाली हो। जिसका बच्चा जीता हो, जिसका बच्चा पुमान् (पुरुष) हो, अर्थात् जो पुत्रवती हो। जो प्रभूत दूधवाली हो, प्रमादरहित हो। जो सोती न रहती हो, जो बच्चे के मल-मूत्र पर सोती रहनेवाली न हो। धर्म वा आचार से पतित न हो, उपचार में कुशल हो, पवित्र हो तथा स्नेह और स्तन्य (दूध) दोनों के शुभ गुणों से युक्त हो।"

धाय में अपेक्षित प्रायः इन्हीं गुणों का उल्लेख सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान अध्याय १०) में हुआ है। उसकी उत्थानिका में इतना विशेष है—"यदि प्रमादवश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिए तैयार करे, क्योंकि जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टि के लिए आवश्यक होता है।" स्पष्ट है कि आयुर्वेद के अनुसार नियमतः माता के स्तनों में उपलब्ध दूध से ही बालक का पालन-पोषण होना चाहिए। आपत्काल या आपात्काल में ही अपवादरूप में गाय या धाय आदि के दूध का प्रयोग करना उचित है।......................?

चरक-सुश्रुत में उल्लिखित गुणों से युक्त एक धाय का मिलना भी कठिन है। फिर, जब सभी माताएँ अपना दूध न पिलाकर धाय रक्खेंगी तो लाखों-करोड़ों की संख्या में ऐसी धायों का मिलता तो कठिन ही

नहीं, सर्वथा असम्भव होगा। 'प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे' परन्तु धाय भी तो प्रसूता ही होगी। माता के दूध न पिलाने का कारण उसकी निर्बलता बताई गयी है, पर प्रसूता होने के कारण धाय भी तो निर्बल होगी। यदि उत्तम पदार्थों का सेवन करने से धाय पुष्ट हो सकती है तो वैसा करने पर बालक की माता स्वस्थ एवं पुष्ट क्यों नहीं हो सकती? धाय का श्रेष्ठकुलोत्पन्न होना आवश्यक बताया गया है। श्रेष्ठकुलोत्पन्न कौन स्त्री अपने बालक को उपेक्षित कर पराये बालक की धाय बनने को तैयार होगी? धाय के लिए जीवित पुत्रवाली होना भी आवश्यक है। जो प्यार एक स्त्री नौ-दस मास तक गर्भ में पलनेवाले बच्चे को देती है, धाय से वैसा ही प्यार पराये बच्चे के लिए पाने की आशा कैसे की जा सकती है? धाय बालक के प्रति अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर रही है या नहीं, एतदर्थ 'बालक की माता का धाय के और बालक के भी ऊपर दृष्टि रखना' आवश्यक बताया है। जिस स्त्री पर बालक का पालन-पोषण करने और तदर्थ समय पर दूध पिलाने, मल-मूत्र साफ करने, रात्रि को अपने पास सुलाने और आवश्यकता पड़ने पर औषधोपचार आदि की पूरी ज़िम्मेदारी है उसका चौबीस घण्टे बच्चे के पास रहना अपरिहार्य है। दूर रहकर वह अपने दायित्व का यथावत् पालन नहीं कर सकेगी। तब वह अपने बच्चे को भी अनिवार्यतः अपने साथ रक्खेगी। वहाँ रहते अपने पति, अपनी सन्तान आदि के प्रति अपने दायित्वों को वह कैसे निभायेगी? यदि बच्चे को धाय के पास छोड़ा जाएगा तो बच्चे की माता 'धाय और बालक पर दृष्टि कैसे रक्खेगी? जब इस निर्देश का पालन करने के कारण सभी स्त्रियाँ धाय रक्खेंगी तो कमला की धाय विमला, विमला की धाय सरला और सरला की धाय निर्मला......... इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक स्त्री किसी-न-किसी के बच्चे को (अपने को छोड़कर) दूध पिला रही होगी। यदि अधिसंख्य लोग धाय रखने में असमर्थ होंगे तो धाय रखना सामान्य नियम न होकर किसी-किसी के लिए रह जाएगा और अधिसंख्य स्त्रियाँ प्रसूता होने के कारण निर्बल होने पर भी अपनी सन्तान को दूध पिलाने को बाध्य होंगी।

व्यवहार में देखने में आया है कि प्रसूता होने से निर्बल होकर भी सदा, सर्वत्र सभी स्त्रियाँ अपनी सन्तान को अपना दूध पिलाती आई हैं। सन्तान भी हर प्रकार से स्वस्थ होती है और कुछ ही दिनों में माता भी पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है और पुनरपि अनेक स्वस्थ सन्तानों को जन्म देती है। प्राणिमात्र की माँ की छातियों में दूध अपनी सन्तान के लिए ही उतरता है। उसपर और उसी पर बच्चे का अधिकार होता है।

'छठी का दूध याद आगया' 'बेटे! मेरे दूध की लाज रखना', 'जिसने माँ का दूध पिया हो, मेरे सामने तो आये' जैसी लोकोक्तियों से माता का दूध पीने, उससे प्राप्त शक्ति से चुनौतियों का सामना करने की शक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ माँ-बेटे के भावात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती है। धाय के दूध से बालक का शरीर तो बन सकता है, वह उसके बौद्धिक, मानसिक व चारित्रिक विकास में सहायक नहीं हो सकता। ग्रन्थलेखक का मत वेद तथा स्वरचित वेदभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों, आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक व सुश्रुत में निर्दिष्ट आदेशों, परम्पराओं द्वारा पोषित अनुभवसिद्ध, लोकप्रतिष्ठित दीर्घकालीन मान्यताओं तथा आधुनिक आयुर्विज्ञान द्वारा पुष्ट वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत नहीं होना चाहिए। यह भी हो सकता है कि मुद्रणकाल में अथवा लेखक [लिपिकर्त्ता] की नासमझी के कारण अन्यथा लिखा गया हो। इस दिशा में गहन अध्ययन एवं परीक्षण अपेक्षित है।

योनिसंकोच—सन्तान के उत्पन्न होने पर योनि अधिक विवृत हो जाती है। उस समय यदि अपेक्षित उपचार द्वारा योनिसंकोच कर लिया जाए तो भविष्य के लिए इसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। यह चिकित्साशास्त्र का विषय है। आयुर्वेद की वृद्धत्रयी में एक अष्टाङ्गहृदय (शारीरस्थान, अध्याय १) के

[पिता द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा]

जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, **अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।** उसके पश्चात्, जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य,

---

अनुसार—''**मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गं च मर्दयेत्**'' (६१) अर्थात् प्रसूता स्त्री की योनि से गर्भ और आमरा निकल जाए तब उसकी योनि आदि अंगों को वातनाशक तेल से चुपड़कर यथासम्भव पूर्वस्थिति में लाने का यत्न करना चाहिए। इसी प्रयोजन से ग्रन्थकार ने यहाँ इसका संकेत कर दिया है। जो लोग इस बात को लेकर ग्रन्थकार का उपहास करते हुए उनपर अश्लीलता का आक्षेप करते हैं, उनके समाधानार्थ यहाँ हम गरुडपुराण (आचारकाण्ड अ० १८०) से योनिसंकोचन का एक नुसख़ा उद्धृत करते हैं—

शंखपुष्पी वचामांसी सोमराजी च फल्गुकम् ॥६॥
माहिषं नवनीतं च त्वेकीकृत्य भिषग्वरः ।
समूलानि सपत्राणि क्षीरेणाज्येन पेषयेत् ॥७॥
गुटिकां शोधितां कृत्वा नारीयोन्यां प्रवेशयेत् ।
दशवारं प्रसूतापि पुनः कन्या भविष्यति ॥८॥

तात्पर्य यह है कि जड़ों और पत्रों सहित शंखपुष्पी, वचामांसी, सोमराजी, फल्गु को भैंस के मक्खन के साथ इकट्ठा करके दूध-घी के साथ पीसे और गोली बनाकर स्त्री की योनि में प्रविष्ट करे तो दश बार प्रसूता हुई स्त्री कन्या के समान हो जाएगी।

ग्रन्थकार ने लिखा है—''उपस्थेन्दिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता व नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध होती है।'' इसलिए बालक को ऐसा न करने की शिक्षा देनी चाहिए। इससे पूर्व बालक को माता द्वारा शिक्षा दिये जाने का प्रसंग है। इसलिए यह कहा जाता है कि माता का इस प्रकार की शिक्षा देना निर्लज्जता है, किन्तु पूर्वापर प्रसंग को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ यह माता का विषय नहीं है, अर्थात् यह शिक्षा माता ही देवे, ऐसा विधान नहीं है। विवेच्य सन्दर्भ के आरम्भ में लिखा है—''बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे।'' इस वाक्य में 'माता' (कर्ता) और 'करे' (क्रिया) दोनों एक वचन में हैं। फिर लिखा है —जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे।'' इस वाक्य-रचना से स्पष्ट है कि यहाँ तक शिक्षा देना विशेषतः माता का कर्त्तव्य है। इससे आगे क्रिया बहुवचनान्त है, जिससे स्पष्ट है कि वहाँ उल्लिखित बातों की शिक्षा देना बहुतों का कर्त्तव्य है। माता-पिता की ऐसी मिथ्या लज्जा के कारण कई बार सन्तानों का सर्वनाश होते देखा गया है। बच्चे दूसरे लोगों से सुनकर वा कुसंग में पड़कर कई बुरी आदतों का शिकार हो जाते हैं। बड़े होकर उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। प्रारम्भ से ही इन बातों की ओर ध्यान दिया जाए और बुरी आदतों से बचाने के लिए बच्चों को समय-समय पर टोका जाता रहे तो भविष्य में उनके लिए हितकर सिद्ध होता है। इसलिए यदि बच्चा उपस्थेन्द्रिय को हाथ लगावे तो उसके हितैषी बड़ों का कर्त्तव्य है कि उसे वैसा करने से रोकें और भविष्य में ऐसा न करने की शिक्षा देवें।

देवनागरी अक्षर—"इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर, स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिल्कुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ-कुछ बन्द होने लगी थी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी, ऐसा है। कारण ? देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ-संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का

प्रचार आरम्भ किया ।" (पूना-प्रवचन—नवम)

देवनागरी वर्णमाला बड़ी पूर्ण है । प्रत्येक उच्चारण या ध्वनि के उसमें छोटे-से-छोटे खण्ड कर दिये गये हैं—जिनके फिर टुकड़े नहीं हो सकते । स्वर और व्यंजन अलग-अलग छाँटकर उन्हें बड़ी स्वाभाविक और वैज्ञानिक रीति से वर्गों में बाँटा गया है । एक ध्वनि का एक ही चिह्न है और एक चिह्न की एक ही ध्वनि है । संसार के किसी भी देश की वर्णमाला में यह पूर्णता नहीं मिलेगी । पाँच वर्ष का बालक इस लिपि को अनायास ग्रहण कर सकता है ।

अन्य भाषाओं के अक्षर भी—ग्रन्थकार के मत में बालक की आरम्भिक शिक्षा उसकी अपनी मातृभाषा में होनी चाहिए । कालान्तर में वह संसार की जितनी भाषाएँ सीख सके, सीखे । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है—

"मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा देश की कोई भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु गुण ही होता है । **'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः'** यह व्याकरण-महाभाष्य का वचन है । इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए, क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का ज्ञान होता है । जितने देशों की भाषा जाने, उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है ।" (पृष्ठ ४६७)

पूना में उन्होंने अपने द्वादश प्रवचन में कहा है—

"देखो, विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जाननेवाले थे । वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे । 'लाख' के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था । वह भाषा युधिष्ठिर को आती थी । इसके कारण पाण्डव लाख के घर में जलने से बच गये थे ।"

शुद्धोच्चारण—वेदाङ्गों में प्रथम अङ्ग शिक्षा है । इसी को ग्रन्थकार ने 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से अभिहित किया है । वर्णों के उच्चारण में वर्णों को बोलने के स्थान तथा प्रयत्न का विशेष महत्त्व है । कण्ठ, तालु आदि के रूप में वर्णों के बोलने के आठ स्थान हैं । **'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च'।** शिक्षा० १३ । प्रयत्न दो प्रकार का होता है । आभ्यन्तर तथा बाह्य । आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का तथा बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार का होता है । शुद्ध उच्चारण के लिए सभी वर्णों के स्थान-प्रयत्न नियत हैं । अन्यथा बोलने पर निश्चय ही अशुद्ध उच्चारण होगा । उदाहरणार्थ— स, श, ष इन तीनों वर्णों का स्थान क्रमशः दन्त, तालु व मूर्धा हैं । इसी आधार पर इनका नाम क्रमशः दन्त्य, तालव्य व मूर्धन्य है । इसका ध्यान न रखकर कुछ लोग 'शेर' को 'सेर', 'शान्ति' को 'सान्ति', 'शास्त्री' को 'सास्त्री' (सास्त्री=वह स्त्री), 'ऋषि' को 'रिसि' अथवा 'नाश' को 'नास' बोलते हैं । 'नमस्कार' को 'नमश्कार' भी बोलते देखे जाते हैं ।

सामान्य व्यवहार में प्रचलित 'ज्ञान' को 'ग्यान', 'यज्ञ' को 'यग्य' बोलना अशुद्ध है । ये दोनों शब्द 'ज्+ञान' तथ 'यज्+ञ' के मेल से बने हैं, अतः इनका उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए जिसमें उक्त दोनों ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई पड़ें । पुरानी पीढ़ी अथवा पौराणिक परम्परा के पण्डित **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** को 'सहस्रशीर्खा पुरुखः' कहते हैं, जो सर्वथा अशुद्ध है । उत्तरप्रदेशनिवासी 'स्कूल' को 'इस्कूल' और पंजाब व हरियाणानिवासी 'सकूल' बोलते हैं । उच्चारणदोष के कारण हरियाणा के शिक्षामन्त्री के मुख से 'प्रदेश' को 'परदेस' और बिहार के उपशिक्षामन्त्री के मुख से 'स्पष्ट' को 'अस्पष्ट' सुनकर लोग दाँतों तले अंगुली दबाकर रह गये । 'प्रधान', 'धर्म', 'श्रद्धा', 'परन्तु', 'प्रचोदयात्', 'परासुव', 'मन्त्र' को 'परधान', 'धरम',

विद्वान्, अतिथि, राजा-प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य-पद्य[1] भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिससे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें। और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

'सरधा', 'प्रन्तु', 'परचोदयात्', 'प्रासुव', 'मन्तर' कहना तो सामान्य बात है। इस प्रकार के अशुद्ध उच्चारण से बचने के लिए वर्णोच्चारणशिक्षा को वेदाङ्गों में प्रथम स्थान दिया है। वस्तुतः वर्णों का शुद्ध उच्चारण व्याकरण के जाने बिना सम्भव नहीं। इसीलिए कहा है—

यद्यपि नाधीषे बहु तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् शकलं सकलं सकृत् शकृत्॥

अशुद्ध उच्चारण से निःसृत शब्द को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने दुष्ट शब्द कहा है। इसके विपरीत स्थान और प्रयत्न के ठीक योग से उच्चारित शब्द को 'साधु' कहा है। 'दुष्टशब्द'—चाहे उदात्तादि स्वरदोष के कारण हो और चाहे किसी वर्ण के अन्यथा प्रयोग के कारण हो, वक्ता के उपहास और अपमान का कारण होता है। महाभाष्य में उसे **'वाग्वज्र'** की संज्ञा दी है। मानो दुष्ट शब्द का उच्चारण वक्ता की हत्या कर देता है। स्वजन (अपने प्रिय बन्धु) को श्वजन (कुत्ता) कहनेवाले की पिटाई हुए बिना न रहेगी। सकल शब्द सम्पूर्ण का बोधक है, किन्तु यदि उसमें दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार का उच्चारण किया जाए तो वह खण्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और इस रूप में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एक बार किया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है। शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि प्रारम्भ से ही बालक को शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने लगें। अशुद्ध उच्चारण का अभ्यास हो जाने पर ठीक करना अत्यन्त कठिन है।

शिष्टाचार—इस विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित व्यवहारभानु में लिखा है—"वे (माता-पिता वा आचार्य) अपने सन्तान को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, उठने-बैठने, वस्त्र धारण करने, माता-पिता आदि का मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिए प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसे-जैसे उसका सामर्थ्य बढ़ता जाए वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखाते जाएँ।..... जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभगुणों के लिए उपदेश नहीं करते, न तन-मन-धन लगाके उत्तम विद्या-व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता-पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते। जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं वे क्योंकर माता-पिता व आचार्य हो सकते हैं?"

अनुकरण और जिज्ञासा—बालक में अनुकारण करने की तथा जिज्ञासा की जन्मजात दो सामान्य वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि वे अपना आचरण और व्यवहार इतना पवित्र रक्खें कि उनका अनुकरण करके बालक वैसा ही पवित्रात्मा बन सके। इसी प्रकार बालक द्वारा की गयी प्रत्येक

---

१. पद्य शब्द श्लोक का वाचक होने से पुनरुक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में श्लोक शब्द ३२ अक्षरोंवाले पद्यों के लिए ही प्रयुक्त होने से यहाँ पद्य शब्द से सभी पादबद्ध वचनों का ग्रहण जानना चाहिए।

जिज्ञासा का समुचित उत्तर देना माता-पिता का कर्त्तव्य है। बालक की जिज्ञासा की उपेक्षा करके उसे टालना ठीक नहीं। उसकी छोटी-बड़ी प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान होने से बालक के बौद्धिक एवं व्यावहारिक विकास में सहायता मिलती है।

शिक्षा का माध्यम—सभी शिक्षाशास्त्री इस विषय में एक मत हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए, तभी विद्यार्थी की मौलिक प्रतिभा और योग्यता का विकास हो सकता है। विदेशी भाषा में मौलिक चिन्तन करना सम्भव नहीं है। अपनी स्वाभाविक भाषा में सोच-सोचकर विदेशी भाषा में अनुवाद कर-करके बोलने और लिखने में पर्याप्त समय नष्ट हो जाता है। विद्यार्थी की सम्पूर्ण शक्ति विदेशी भाषा के सीखने में लग जाती है। विषय की गहराई में जाने का उसके पास अवकाश ही नहीं रहता। भरतीय विद्यार्थी के अपने अध्ययन का आधे से अधिक समय अंग्रेजी सीखने में लगाने के बाद भी उसमें इतनी क्षमता उत्पन्न नहीं होती कि वह पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों को भली प्रकार हृदयङ्गम कर सके। भारत के भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षामन्त्री प्रोफेसर नूरुलहसन ने १८ मई १९७५ को नई दिल्ली में बाबू श्यामसुन्दरदास शताब्दी समारोह में कहा था—"हम अब भी पूरी तरह न अंग्रेजी बोल सकते हैं और न समझ सकते हैं। जब मैं अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में इतिहास का प्राध्यापक था तो ५ मिनट अंग्रेजी में बोलकर १० मिनट तक हिन्दी में समझाता था। मानवीय (Humanities) की अपेक्षा विज्ञान (Science) को हिन्दी में पढ़ाना आसान है। ७० प्रतिशत अंक लेकर मेडिकल कालिज में प्रवेश पानेवाले विद्यार्थी Gray's Anatomy न समझ सकने के कारण फ़ेल हो जाते हैं। अंग्रेजी पढानेवालों को भी अंग्रेजी नहीं आती। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार हमारा आधे से अधिक समय माध्यम सीखने में लग जाता है। विषय की पढाई के लिए समय बचता ही कहाँ है ?"

अंग्रेजी के द्वारा हम विदेशों—इंग्लैंड, अमरीका, रूस आदि की राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र एवं समाजशास्त्र से सम्बन्धित समस्याओं से तो परिचित हो जाते हैं, पर इन्हीं विषयों से सम्बन्धित अपने देश की समस्याओं से परिचित नहीं हो पाते, परिणामतः कृषिविज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष अमरीका आदि ने अपने देश की धरती पर परीक्षण करके निकाले हैं, वही हम अपने देश की धरती पर आरोपित करना चाहते हैं। वस्तुतः यह विकास अपनी भाषाओं को माध्यम बनाकर ही हो सकता है।

भाषा स्वयं साध्य नहीं है। वह विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है। भाषा से जुड़े साहित्य में समाज की आत्मा—उसकी संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, परम्परा, शिष्टाचार आदि सुरक्षित रहते हैं। हमारे देश की आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का किसी विदेशी भाषा के साहित्य व संस्कृति से सामंजस्य नहीं होता, अतः वर्तमान शिक्षाप्रणाली में शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति में इन गुणों का विकास होकर अपने माता-पिता, गुरुजन, परिवार, समाज या राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की भावना का विकास नहीं हो रहा है।

ग्रन्थकार ने यहाँ हिन्दी-(आर्य)-भाषा का उल्लेख न करके देवनागरी लिपि पर बल दिया है। यह उनकी दूरदर्शिता तथा उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। देवनागरी लिपि में वे सभी गुण हैं जो एक वैज्ञानिक लिपि में होने चाहिएँ। लिपि का कार्य भावों का अंकन करना है। इस दृष्टि से संसार की कोई भी लिपि देवनागरी से अच्छी सिद्ध नहीं हो सकती। केवल देवनागरी लिपि की ही यह विशेषता है कि उच्चारण के अनुरूप उसके लिपिचिह्न हैं। रोमन में Kamini को कोई कामिनी और कमीनी दोनों प्रकार से पढ़ सकता है। देवनागरी में ऐसा दोष उपपन्न नहीं होता। अध्यापक विद्यार्थी से यदि 'वीक' लिखने को कहता है तो विद्यार्थी अध्यापक से यह जानना चाहेगा कि कौन-सा वीक लिखूँ ? सप्ताह का वाचक Week या कमज़ोर का अर्थ देनेवाला Weak। इसी प्रकार 'पीस' लिखने का आदेश मिलने पर जानना चाहेगा कि वह 'टुकड़ा' अर्थ देनेवाला piece लिखे या शान्ति का वाचक peace लिखे। 'देखना' अर्थ का

[भूत-प्रेत शब्द का अर्थ]

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ —मनु० ५।६५

अर्थः—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतक-शरीर जिसका नाम **'प्रेत'** है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठानेवालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है ॥

वाचक see लिखे या 'समुद्र' का वाचक sea । लिपि का सम्बन्ध उच्चारण से होता है, अर्थ से नहीं । देवनागरी लिपि भारत की प्रत्येक भाषा को उसके उच्चारण के अनुरूप लिखने में समर्थ है ।

देवनागरी से सभी भारतीय लिपियों की समानता के कारण प्रत्येक प्रान्त का व्यक्ति, जिसने अपनी भाषा की लिपि सीख रखी है, थोड़े-से प्रयत्न से देवनागरी सीख सकता है । यद्यपि देवनागरी लिपि उत्तर भारत में अधिक प्रचलित है, पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर उसके आठवीं शताब्दी में प्रचलन का प्रमाण मिलता है । दक्षिण में वह नन्दी नागरी के नाम से प्रचलित थी । संस्कृत सदा से भारत की एकता का प्रतीक रही है और भारत की प्रत्येक भाषा का व्यक्ति संस्कृत को प्रायः देवनागरी के माध्यम से ही पढ़ता है । इस प्रकार देवनागरी का प्रचलन प्रायः सम्पूर्ण देश में है । वह केवल हिन्दी की लिपि नहीं है । मराठी तो लिखी ही देवनागरी अक्षरों में जाती है । गुजराती मुख्यतः देवनागरी ही है । बंगला और पंजाबी भी देवनागरी से काफी मिलती हैं । भारत के पड़ौसी देश नेपाल की भाषा नेपाली की लिपि पूरी तरह देवनागरी ही है ।

वस्तुतः दयानन्द की दिव्यदृष्टि देवनागरी में भारत की एकता के दर्शन करती थी । भारतीय भाषाओं में इतनी समानता है कि यदि इन सबको देवनागरी लिपि में लिख दिया जाए और देवनागरी सबको पढ़ा दी जाए तो किसी भी भाषा के प्रान्त में जाकर किसी भी भारतीय को अपना काम चलाने में कठिनाई न हो । यदि रोमन जैसी ध्वनिविज्ञान (Phonatics) की दृष्टि से दोषपूर्ण लिपि पारस्परिक सम्पर्क में सुविधा उत्पन्न कर सकती है तो देवनागरी जिसमें उच्चारण के अनुसार भाषा लिखने का पूर्ण सामर्थ्य है, देश को एकता के सूत्र में क्यों नहीं बाँध सकती ?

देवनागरी का ज्ञाता प्रत्येक व्यक्ति दूसरी भाषा के साहित्य को आसानी से पढ़ सकेगा । इस प्रकार प्रत्येक भाषा का पाठक दूसरी भाषाओं में उपलब्ध साहित्य से लाभान्वित होगा । इससे विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा और सभी भाषाओं का शब्द-भण्डार समृद्ध होगा ।

देवनागरी लिपि और आर्यभाषा (हिन्दी) के समर्थक होते हुए भी ग्रन्थकार किसी भाषा से द्वेष नहीं करते थे । जितनी अधिक भाषाएँ कोई सीख सके उतना अच्छा है । उनका भाषाविषयक दृष्टिकोण जोधपुराधीश को ८ सितम्बर १८८३ को लिखे गये पत्र से स्पष्ट हो जाता है । उन्होंने लिखा था—"महाराजकुमार को प्रथम देवनागरी भाषा (हिन्दी) और पुनः संस्कृतविद्या, जोकि सनातन आर्षग्रन्थ हैं, जिनके पढ़ने में परिश्रम कम और समय कम होवे और महालाभ हो, इन दोनों को पढ़े । पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी पढ़ानी चाहिए ।" इसका अभिप्राय है कि वे अंग्रेजी की अनिवार्यता और उसे शिक्षाक्रम में प्राथमिकता प्रदान किये जाने के विरोधी थे, भाषा के रूप में उसके पढ़ाये जाने के विरोधी नहीं थे ।

प्रेत—मनुस्मृति से उद्‌धृत श्लोक ग्रन्थकार ने केवल 'प्रेत' शब्द का अर्थ दर्शाने के लिए दिया है, दशरात्र में शुद्ध होना उन्हें इष्ट नहीं है । मृतक का शरीर ही 'प्रेत' कहाता है । मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने **'प्रेतस्य'** का अर्थ **'मृतस्य'** ही किया है । 'वेदान्तपरिभाषा' (विषयपरिच्छेद) में

और जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम **'भूत'** होता है, अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों, वर्तमान में आके न रहें, वे भूतस्थ[1] होने से उनका नाम **'भूत'** है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु जिसको शङ्का, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शङ्कारूप भूत-प्रेत, शाकिनी-डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

लिखा है—**''न चैव सुप्तस्य प्रेतादविशेषः''** अर्थात् इस दशा में सुप्त मनुष्य की प्रेत=मरे हुए से समानता नहीं है। मृतदेह का दहन कर देना ही पितृमेध है। पिण्डदान आदि का कोई संकेत उक्त श्लोक में नहीं है।

भूत-प्रेत—इस विषय में प्रथम संस्करण में इतना और लिखा है—"जब भूत-प्रेतादिकों की बात सुनके उनके हृदय में मिथ्या भय हो जाता है, तब किसी समय में अन्धकार होने से शृगाल आदि पशु-पक्षी और मूषक-मार्जार आदिक अथवा चोर वा अपने शरीर की छाया देखने से शृगाल आदिकों के भागने का शब्द सुनके अपने हृदय में पूर्व सुनने के संस्कार होने से भूत-प्रेतादिकों का अत्यन्त विश्वास होने से भयभीत होके कम्प और ज्वरादिक होते हैं।... वैद्यक शास्त्र में बहुत-से मानस रोग लिखे हैं। वे जब होते हैं तब उन्मत्त होके अन्यथा चेष्टा मनुष्य करता है। तब निर्बुद्धि लोग जानते और कहते हैं कि इसके शरीर में भूत वा प्रेत आ गया है।"

जीवात्मयुक्त शरीर की संज्ञा प्राणी है। जीवात्मा का अपर नाम शरीरी है, क्योंकि प्रलयकाल तथा मोक्षावस्था को छोड़कर वह बिना शरीर के नहीं रहता। एक शरीर का परित्याग करने पर जीव अपने कर्मानुसार दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाने में कितना समय लगता है, इसका निर्देश करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥" ४।४।३

लोक में प्रसिद्ध है कि तृणजलायुक (सुण्डी) नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटी-सी पिपीलिका एक तिनके के अन्तिम छोर पर पहुँचकर दूसरे तिनके पर जाने की इच्छा करती हुई प्रथम उस दूसरे तिनके को अपने अग्र भाग से दृढ़ता से पकड़कर अपने शरीर के पिछले भाग को खींचकर अग्रिम स्थान पर खींचती हुई चलती है। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा गृहीत जीर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर दूसरे देहरूपी आश्रय को पकड़ने के बाद ही अपने उस शरीर को छोड़ता है। स्थूलशरीर के बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं, अतः असुनेता परमेश्वर की व्यवस्था में यह आत्मा तृणजलायुकावत् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

ऐतरेय उपनिषद् (४।४) के अनुसार यहाँ से मरते ही पुनः शरीर धारण कर लेता है—**"स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।"** महाभारत में कहा है—

> **आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।**
> **सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभावः॥** —वनपर्व १८३।७७

अर्थात् आयु पूर्ण होने पर आत्मा अपने जरा-जर्जर शरीर का परित्याग करके उसी क्षण किसी दूसरे शरीर में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे शरीर को ग्रहण करने के मध्य में उसे क्षणभर

---

१. अर्थात् भूतकालस्थ।

[उन्माद आदि रोगों का भूत-प्रेतादि नाम धरना]

देखो, जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने-सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक, और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध-सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी-चमार-शूद्र-म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट, और उच्छिष्ट भोजन, डोरा-धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बँधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा, और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं।

का समय भी नहीं लगता।

एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में पहुँचानेवाला परमेश्वर है। इसलिए उसे 'असुनेता' अर्थात् प्राणों को ले-जानेवाला कहते हैं। इस प्रकार दिवंगत आत्मा को स्वेच्छापूर्वक कहीं भी विचरण करने अथवा स्वेच्छापूर्वक तथोक्त भूत-प्रेत नामवाली योनियों में जाने का अवसर ही उपपत्र नहीं होता।

यहाँ **'गुरोः प्रेतस्य'** इत्यादि श्लोक को उद्धृत करने का प्रयोजन केवल यह बताना है कि मनु के अनुसार 'प्रेत' शब्द से कोई योनिविशेष अभिप्रेत नहीं है। इसका अर्थ शव या मुर्दा शरीर है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। **'प्रेतहारैः'** का अर्थ 'प्रेत को उठानेवालों के साथ' है। यदि इससे किसी योनिविशेष का ग्रहण किया जाए तो क्या शिष्य और दूसरे लोग गुरु की उस योनि को उठाकर ले-चलेंगे? यह अर्थ सर्वथा असंगत होगा। ऐसा अर्थ करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक गुरु को प्रेत बनना अर्थात् प्रेतयोनि में जाना पड़ता है। 'भूत' शब्द भू धातु का 'क्तान्त' रूप है, जिसका सीधा अर्थ है 'हो चुका' अर्थात् जो होकर न रहे, उसकी संज्ञा-भूत है। भूत-प्रेत आदि नामों से योनिविशेष की कल्पना धूर्त लोगों ने भोले-भाले लोगों को ठगकर अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए की है, इसकी सिद्धि मैत्र्युपनिषद् के निम्नलिखित सन्दर्भ से होती है—

अथ ये चान्ये यक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनामर्थं पुरस्कृत्य 'शमयाम' इत्येवं ब्रुवाणा अथ ये चान्येह वृथा कषायकुण्डलिनः कापालिनोऽथ ये चान्ये ह वृथा तर्कदृष्टान्तकुहकेन्द्रजालैर्वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति तैः न संवसेत् प्रकाशभूता वै ते तस्करा अस्वर्ग्या इति ॥ ७।८

टीका—ग्रहादीनामिति कर्मणि षष्ठी। अर्थं पुरस्कृत्य धनादिकं स्वजीवनमुद्दिश्य ये यक्षादीन् प्राणिपीडकान् शमयाम उच्चाटनादिभिर्निवारयाम इत्येवं ब्रुवाणा मन्त्रयन्त्रपरा इत्यर्थः।

अर्थात् जो लोग जनता को ठगने के लिए यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच, ग्रहादिकों की 'मन्त्र-यन्त्र द्वारा हम शान्ति करते हैं' ऐसा कहते हैं उनका संग नहीं करना चाहिए। वे चोर हैं, अस्वर्ग्य हैं।

यह ठीक है कि वेदादि शास्त्रों में इस प्रकार के मन्त्र, श्लोक आदि विद्यमान हैं, जिनमें राक्षस, पिशाच आदि का उल्लेख हुआ है। मनुस्मृति आदि अनेक आर्षग्रन्थों में राक्षस, गन्धर्व आदि का वर्णन उपलब्ध है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत (सूत्रस्थान अध्याय ११) में भूतविद्या, असुर, राक्षस, पिशाच आदि का विस्तार से विवेचन हुआ है, परन्तु उनमें उपलब्ध वर्णन वर्तमान में लोगों में प्रचलित धारणाओं से मेल नहीं खाता। इसलिए उक्त नामों से प्रसिद्ध भूत, राक्षस आदि के वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है। शास्त्रों में जिन नामों से प्रायः उनका उल्लेख हुआ है, वे हैं—राक्षस, पिशाच, किमीदिन, दुर्णामा, नाष्ट्र, निशाचर, नक्तंचर, यातुधान, प्रेत आदि।

इनके विषय में प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि ये योनिविशेष के प्राणी हैं और इनका रूप व आकार बड़ा भयंकर होता है। उनका काम यज्ञों का विध्वंस करना और अदृश्यरूप में अन्य प्राणियों के शरीर में अनजाने प्रवेश पाकर उनका रक्तपान करके मांसभक्षण करना और अन्ततः उनके प्राण हर लेना है।

परन्तु शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि राक्षस, पिशाच आदि मानव-काया में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करनेवाले विषैले कृमियों तथा दुष्ट मनुष्यों के सिवा कुछ नहीं हैं। ये शब्द प्रायः नीचे लिखे अर्थों के वाचक हैं—

रक्षस्—रक्ष्यते अस्मात् (अपादाने असुन्) अर्थात् इससे बचा जाता है। निरुक्तकार कहते हैं—**'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षते इति वा'** (४।१८) इससे अपने आपको बचाना चाहिए, एकान्त में मार डालता है, रात्रि में चलता है।

पिशाचः—पिशितमश्नाति इति—मांस खाता है, अतः पिशाच कहाता है।

यातुधानः—यातु (गन्ता) धीयते (अभिधीयते) इति यातुधानः । यह चलनेवाला कहा जाता है, इससे यातुधान है। अथवा—**यातनां दुःखं दधातीत यातुधानः**—जो पीड़ा पहुँचाते हैं, वे यातुधान कहलाते हैं।

किमीदिनः—किमिदिनीमिति चरते—निरुक्त ६।११; **किमिदानीं किमिदानीं वर्त्तते इति रन्ध्रान्वेषणबुद्ध्याचरणशीलाः** (सायण) — जो छिद्रान्वेषण बुद्धि से रहते हैं, वे किमीदिन हैं।

नक्तंचर-निशाचर—जो रात्रि में विचरण करते हैं, वे नक्तंचर या निशाचर हैं।

इन अर्थों से स्पष्ट है कि ये नाम किसी योनिविशेष के वाचक न होकर जीवों की प्रकृति के बोधक हैं।

राक्षस, पिशाच आदि क्रिमियों के नाम हैं, इसमें वेद की साक्षी है। अथर्ववेद के आठवें काण्ड का छठा सूक्त विशेषरूप से राक्षसों, पिशाचों आदि का वर्णन करता है। इस सूक्त के पहले ही मन्त्र में 'दुर्णामा' शब्द आता है। 'दुर्णामा' को सूक्त के शेष मन्त्रों में गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, यातुधान आदि कहा गया है। 'दुर्णामा' क्या है, यह निरुक्त ६।१२ में बताया है—**'दुर्णामा क्रिमिर्भवति'** अर्थात् दुर्णामा क्रिमियों को कहते हैं। इस विषय में Myths of Babylonia and Assyria by Donald A. Mackenzie में लिखा है—"Germs of diseases were depicted by lively imaginations as invisible demons who derived nourishment from the human body."

— Page 234.

अर्थात्—रोगों के क्रिमियों की अदृश्य राक्षसों के रूप में कल्पना की गयी। ये राक्षस मानव शरीर से पोषण पाते थे।

रोग के क्रिमियों का नाश करनेवाले वैद्य को वेद में 'रक्षोहा'=राक्षसों (क्रिमियों) का संहार करनेवाला कहा गया है। तद्यथा—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः ॥—ऋ०१०।९७।६

अर्थात्—जिस प्रकार राजा लोग युद्ध में एकत्र होते हैं, उसी प्रकार जिसके पास सब ओषधियाँ एकत्र होती हैं, उस विद्वान् का नाम भिषग् या वैद्य होता है। वही विद्वान् राक्षसों=रोगक्रिमियों का हनन करनेवाला और इस प्रकार रोगों को दूर करनेवाला होता है।

यहाँ स्पष्ट ही वैद्य को 'रक्षोहा' कहा है। वैद्य जिन राक्षसों का नाश करता है, वे रोगोत्पादक क्रिमि ही हो सकते हैं, विशालकाय और भयंकर आकृतिवाले तथाकथित राक्षस नहीं। इसी प्रकार जिन पदार्थों

[भूत-प्रेत-निवारणार्थ ढोंग]

जब आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी, स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि—"महाराज! इस लड़का-लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है ?" तब वे बोलते हैं कि "इसके शरीर में बड़ा भूत-प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई है। जब तक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे, और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र-जप-पुश्चरण से झाड़के इनको निकाल दें।" तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि —"महाराज ! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिए"। तब तो उनकी बन पड़ती है।

को 'रक्षोघ्न' कहा गया है, वे भी राक्षसों=क्रिमियों को मारनेवाले ही हैं। उनमें एक सूर्य (=इन्द्र) है जिसे अनेकत्र राक्षसों का संहार करनेवाला कहा गया है। सूर्य का प्रकाश व उसकी रश्मियाँ (Sun rays) निर्विवादरूप से क्रिमिनाशक (germicide) हैं। इसे आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है। कुछ समय के लिए नियमितरूप से सूर्याभिमुख बैठना अथवा धूप में बैठना स्वास्थ्य के लिए हितकर बताते हुए ऐसे मकान बनाने का निर्देश किया गया है, जिनमें किसी-न-किसी समय अनिवार्यरूप से धूप का प्रवेश होता हो। ऋग्वेद (१।१९१।८) में कहा है—

उत्पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

अर्थात् समस्त अदृष्ट क्रिमियों तथा पीड़ा पहुँचानेवाले यातुधानियों (क्रिमियों) को नष्ट करता हुआ विश्व को देखनेवाला सूर्य पूर्व दिशा से उदय होता है। अथर्ववेद (२।३२।१) में कहा है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
येऽन्तः क्रिमयो गवि ॥

उदय और अस्त होता हुआ सूर्य अपनी रश्मियों से अन्तरिक्ष में विद्यमान क्रिमियों (रोगाणुओं) को नष्ट कर देता है। इसी कारण घरों को पूर्वाभिमुख बनाने का निर्देश किया गया है। उदय और अस्त होते हुए सूर्य को विशेषरूप से क्रिमियों का नाश करनेवाला इसलिए कहा है कि सायं-प्रातः सूर्य की किरणें तिरछी होने के कारण घरों के कोने-कोने में प्रवेश कर जाती हैं, जबकि मध्याह्न में किरणों के सीधा पड़ने से वे घरों के भीतर तक नहीं पहुँच पातीं। प्रातःकाल सूर्यनमस्कार (आसनविशेष) का भी यही प्रयोजन है।

शतपथब्राह्मण में कहा है—**'सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता'** । —१।३।४।८

अर्थात् सूर्य दुष्ट राक्षसों का नाश करनेवाला है। इसी सिद्धान्त के आधार पर सूर्यचिकित्सा का विधान किया गया है। सूर्यस्नान तथा भिन्न-भिन्न रंग की बोतलों में पानी भरकर उसे सूर्यकिरणों से प्रभावित कर उससे चिकित्सा करना सूर्यचिकित्सा के अन्तर्गत है।

अग्नि—अथर्ववेद (१।२८।१) में कहा है—**'अग्नी रक्षोहामीवचातनः'** अर्थात् अग्नि रोगनाशक और राक्षसों को मारनेवाला है। यहाँ एक साथ राक्षसों और रोगाणुओं का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि रोग उत्पन्न करनेवाले क्रिमियों का अपर नाम राक्षस है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अग्नि को राक्षसों का नाशक कहा है—

अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा । —शत० ७।४।१।३४
अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । —शत० १।२।१।६,६
अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता । —कौ० ८।४।१०।३

वे धूर्त्त कहते हैं— "अच्छा, लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट, और ग्रहदान कराओ।" झाँझ-मृदंग-ढोल-थाली लेके उसके सामने बजाते-गाते। और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूदके कहता है—"मैं इसका प्राण ले लूँगा।" तब वे अन्धे उस भंगी-चमार आदि नीच के पगों में पड़के कहते हैं—"आप जो चाहें सो लीजिए, इसको बचाइए।" तब वह धूर्त्त बोलता है—"मैं हनुमान् हूँ। लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिंदूर, सवामन का रोट और लाल लंगोट। मैं देवी वा भैरव हूँ। लाओ पाँच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पाँच बकरे, मिठाई और वस्त्र।" जब वे कहते हैं—"जो चाहो सो लो।" तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है, परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पाँच जूता, दण्डा वा चपेटा, लातें मारे, तो उसके हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

अग्नि के सम्पर्क में आकर उबलता हुआ जल भी क्रिमियों को नष्ट कर देता है। इसलिए दूषित वस्त्रों, बर्तनों, इंजेक्शन लगानेवाली सिरिंज आदि को पानी में उबालकर क्रिमिविहीन किया जाता है।

कोई भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाच आदि अग्नि के समीप नहीं आता—लोक में प्रचलित इस विश्वास का मूल अग्नि की यही शक्ति है जो रोगाणुओं को पूरी तरह नष्ट कर देती है। अथर्ववेद ५।२३।१३ में कितने विश्वास के साथ कहा गया है—

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥

मैं सब नर तथा मादा रोगाणुओं का मुख अग्नि से जलाता हूँ।

इसी प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण (३।२।३।१२; ३।२।४।२) में जल की शक्ति का बखान करते हुए उसे भी राक्षसों को मारनेवाला कहा है—**'आपो वै रक्षोघ्नीः'**। जलचिकित्सा में भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार से (कटिस्नान, वाष्पस्नान, ठण्डी-गरम पट्टियाँ, एनिमा, जलनेति, गरम पानी में पैर डुबोना आदि) जल के द्वारा ही समस्त रोगों की चिकित्सा की जाती है।

कई ओषधियों को भी राक्षसों का संहार करनेवाली बताया है। ओषधियों में अपामार्ग को अनेक रोगों को दूर करनेवाला कहा गया है। अथर्ववेद में अपामार्ग के विषय में कहा है—

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः॥ ४।१६।३

जैसे सूर्य प्रकाश से प्रदीप्त रहता है वैसे तू पाक (पकने योग्य निर्बल रोगी आदि) का रक्षक है और राक्षसों का हनन करनेवाला है।

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।७।१।८) में अपामार्ग के होम से रोगों के क्रिमिरूप राक्षसों के नाश का उल्लेख किया है—**'यदपामार्गहोमो भवति रक्षसामपहत्यै'**, अर्थात् जो अपामार्ग का होम होता है। वह क्रिमिराक्षसों के लिए होता है। कई अन्य ओषधियों की धूनि से भी क्रिमिरूप राक्षसों का नाश करके रोगों की चिकित्सा का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में गुग्गुल की धूनी का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है—

पित्तलो वातमूर्द्धासि स्वररोगकफापहः। रक्षोघ्नः स्वेददौर्गन्ध्ययूका कण्डूव्रतप्रणुत्॥

—भावप्रकाश खं० १।४५

अर्थात् गन्धविरोजा पित्तकारक, वात, शिर के रोग, नेत्र के रोग, स्वर व कफ के रोगों का नाश

करनेवाला है। रक्षोघ्न (राक्षसों को मारनेवाला) स्वेद, दुर्गन्ध, जूँ, खुजली तथा व्रण को ठीक करता है। इसका मूल वेद में है। अथर्ववेद १६।३८।१ में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥

उसे यक्ष्मा रोग अवरुद्ध नहीं करते और न इसे शपथ लेने की प्रवृत्ति व्याप्त करती है, जिसे गुग्गुल औषध का सुगन्ध व्यापता है। अग्नि में जलाये गये गुग्गुल के धूम्र द्वारा यक्ष्मरोग का शमन होता है। शपथ या सौगन्ध की आदत मानसिक कमज़ोरी है। गुग्गुल की गन्ध शपथ खाने की प्रवृत्ति को कम करती है।

पीली सरसों की धूनी और उसकी गन्ध भी अनेक रोगों की ओषधि है—

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ —अथर्व० ८।६।६

गन्ध लेकर हिंसा करनेवाले, स्पर्शमात्र से हिंसा करनेवाले, कच्चा मांस खानेवाले, कुत्ते के सदृश झपटनेवाले को पीली सरसों नष्ट कर देती है।

गर्भसम्बन्धी रोगों के सम्बन्ध में वेद में लिखा है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ —अथर्व० ८।६।२३

इस मन्त्र में क्रिमिरूप ऐसे पिशाचों (कच्चा मांस खानेवालों) का उल्लेख किया है जो गर्भस्थ बच्चों को खा जाते हैं, अर्थात् बच्चा रुग्ण होकर माता के गर्भ में ही मर जाता है। अथर्ववेद ८।६।२५ में इन्हीं को **'आण्डादः'** अर्थात् अण्डों=गर्भ के मूल को खा जानेवाला कहा है। अथर्ववेद ५।२६।१० में उन्हें कच्चा मांस खानेवाले, रक्त पीनेवाले और मन की शक्ति को नष्ट करनेवाले कहा है—**'क्रव्यादग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः'**। इन राक्षसों (क्रिमियों) में कुछ ऐसे होते हैं—**'ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते'** (अथर्ववेद ८।६।१६) जो प्रसूता स्त्री के पास सोते हैं और नवजात बच्चों को (रोगी बनाकर) खा जाते हैं। ऋग्वेद १०।१६२।२ में बतलाया है कि ये गर्भ और योनि में प्रवेश कर जाते हैं—**'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये'**। पुनः १०।१६२।४ में कहा है कि ये योनि के भीतर जाकर उसे चाटते हैं और इस प्रकार स्त्री को मृतवत्सा तथा वन्ध्या बना देते हैं। उसकी चिकित्सा का निर्देश निम्न मन्त्र में किया है—

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ —अथर्व० ८।६।६

जो क्रिमि इस स्त्री को मृतवत्सा (जिसकी सन्तान मृत पैदा होती हो) और अवतोका वन्ध्या (जिसका गर्भ गिर जाता है) बनाते हैं, पीली सरसों उन्हें नष्ट कर देती है और उस स्त्री के कमलरूप गर्भ को नीरोग कर देती है।

भावप्रकाश (२।३६-३७) में कूठ, ब्राह्मी, पिप्पली आदि आठ पदार्थों को घी में पकाकर अष्टमंगल घृत तैयार करने का निर्देश किया है—

दृढस्मृतिः क्षिप्रमेधा कुमारो बुद्धिमान् भवेत् ।
न पिशाचो न रक्षांसि न भूता न च मातरः ।
न भवन्ति कुमाराणां पिबतामष्टमंगलम् ॥

अर्थात् उक्त अष्टमंगल घृत को नित्य प्रातःकाल पीने से बालक दृढस्मृति (स्मरणशक्तिवाला) और अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिवाला होता है। इस घृत को पीनेवाले बालकों को न पिशाच, राक्षस या भूत सताते हैं और न वह मातृदोष (माता के कारण होनेवाले रोग) से आक्रान्त होता है।

यहाँ अष्टांग घृत को तैयार करने में जिन पदार्थों की गिनती की है, वे सब ऐसी ओषधियाँ हैं जो पुष्टिकारक और मस्तिष्क को बल देनेवाली हैं। इस घृत के सेवन से जो रोग दूर होते हैं उन्हें भूत, राक्षस, पिशाच आदि नामों से पुकारा गया है। इससे स्पष्ट है कि भूत आदि नामों से अभिप्रेत रोगों (उन्हें उत्पन्न करनेवाले रोगाणुओं) को दूर करने के लिए ओषधियों के सेवन की बात कही गयी है, वर्त्तमान में प्रचलित अन्धविश्वासों के अनुसार किसी जादू-टोने या झाड़-फूँक आदि का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं हुआ है।

श्रीकृष्ण के जीवनचरित में 'पूतना' नामक राक्षसी का उल्लेख मिलता है, जो मथुरा में बच्चों को दूध पिलाकर मार डालती थी। वस्तुतः बच्चों की मृत्यु का कारण राक्षसी न होकर उसका दूषित विषैला दूध होता था। किसी समय अत्यल्प मात्रा में दीर्घकाल तक विष खिला-खिलाकर विषकन्या तैयार की जाती थीं, जिससे सम्भोग करनेवाला पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो जाता था। राजा लोग अपने शत्रुओं की हत्या करने में विषकन्याओं का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार का प्रयोग पूतनारोग से ग्रस्त स्त्री के माध्यम से होता था—उसके दूध को विषाक्त करके। भावप्रकाश के खण्ड २, श्लोक ८२-९० में पूतनारोग की चिकित्सा लिखी है। वहाँ ओषधियों द्वारा ही चिकित्सा का उल्लेख हुआ है, जादू-टोने द्वारा नहीं।

कभी-कभी लोगों को असाधारण क्रियाएँ (सिर हिलाना, असम्बद्ध बातें करते जाना, निरन्तर हँसते या रोते जाना आदि) करते देखा-सुना जाता है। इसका कारण भूत-प्रेतों का चिपट जाना बताया जाता है और इसकी चिकित्सा के नाम पर स्वार्थी लोग भोली-भाली जनता को भरपेट लूटते रहते हैं। वास्तव में ये मानसिक रोग के लक्षण होते हैं। माधवनिदान में उन्माद के लक्षणों में लिखा है—

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादि दुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥
प्रस्थानहास्य स्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥

अर्थात् रूखा और ठण्डा अन्न खाने से, अल्प भोजन करने से, विरेचन अथवा वमन के मिथ्या योग से, धातुओं के क्षीण होने से, उपवास से, अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त वायु, चिन्ता और शोक आदि से पीड़ित हृदय (मन) को दूषित करके बुद्धि और स्मरणशक्ति को नष्ट कर देता है।

वातज उन्माद का रोगी अकारण हँसता, मुस्कराता, रोता, नाचता, गाता तथा बिना प्रसंग के (असम्बद्ध) बोलता है। अकारण हाथ-पैर चलाता है और रोता है। उसका शरीर रूक्ष, दुर्बल और कुछ लाल वर्ण का हो जाता है। आहार के जीर्ण होने पर रोग बढ़ता है। ये लक्षण वातज उन्माद के हैं।

इससे मिलते-जुलते रोग का आक्रमण स्त्रियों पर भी होता है, उस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

वैचित्यं बुद्धिविभ्रान्तिर्हास्यं क्रन्दनमेव च ।
उच्चैः क्रोशः प्रलपनं ज्योतिर्द्वेषस्तथा भ्रमः ॥

[ग्रह-शान्ति का ढोंग]

और जब किसी ग्रहग्रस्त ग्रहरूप ज्योतिर्विदाभास के पास जाके कहते हैं— "हे महाराज ! इसको क्या है ?" तब वे कहते हैं कि—"इसपर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं । जो तुम इनकी शान्ति [के अर्थ] पाठ-पूजा दान कराओ, तो इसको सुख हो जाए । नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाए, तो भी आश्चर्य्य नहीं ।"

औद्धत्यं श्वासकृच्छ्रं च कण्ठामाशयवेदना ।
प्राबल्यं स्पर्शशक्तेश्च क्वचिदङ्गे सदा कथा ॥
अलीकवर्त्तुलोत्थानमाकण्ठमुदरादपि ।
अत्यल्पबुद्धिर्मूर्च्छा च व्याधावस्मिन् प्रजायते ॥ ७,८,९,

(माधवनिदान में परिशिष्ट सूची के अन्तर्गत योषापस्मार)

अर्थात् चित्त की विकलता, मतिविभ्रम, हँसना, रोना, ऊँची आवाज़ से पुकारना, अण्टसण्ट बकना, उजाले से अरुचि, भ्रम, ऊधम मचाना, श्वास में कष्ट, कण्ठ और आमाशय में वेदना, स्पर्शशक्ति की प्रबलता (शरीर से कपड़ा छूते ही चीख़ पड़ना), किन्हीं अवयवों में सदा पीड़ा रहना, पेट से कण्ठ तक एक गोला-सा उठना (दौरे के समय), बुद्धि की अल्पता और मूर्च्छा आदि योषापस्मार रोग के लक्षण हैं ।

ये सब कायज रोग हैं । भूत-प्रेत या देवी-देवताओं के आक्रमण की कल्पना करना निपट मूर्खता है । रोग होने के कारण इनकी चिकित्सा भी ओषधियों के द्वारा अथवा अन्य चिकित्सा द्वारा ही सम्भव है । कई धातुओं या मणियों का शरीर पर ऐसा वैद्युत प्रभाव होता है कि विशेष रोगों की चिकित्सा में उनका प्रयोग लाभप्रद होता है । जैसे कुछ धातुओं को चाँदी के साथ मिलाकर उससे बनाई गयी अँगूठी धारण करने से अर्श या बवासीर में लाभ होते देखा-सुना गया है । ऐसी अँगूठी का जादू-टोने या किसी दैवी चमत्कार से कोई सम्बन्ध नहीं होता । चिकित्सा में मनोविज्ञान का भी योगदान रहता है, इसे भी जादू नहीं समझना चाहिए ।

कई लोग कहते हैं कि कभी-कभी भूत-प्रेत सम्बन्धी ऐसी घटनाएँ देखने-सुनने में आती हैं, जिनके कारण भूतों और उनके कारनामों को नकारा नहीं जा सकता और न माननेवालों को भी बरबस मानना पड़ता है, परन्तु यदि ऐसी घटनाओं की भली प्रकार जाँच-पड़ताल की जाए तो असलियत सामने आ जाती है । वस्तुतः उनके मूल में कुछ धूर्त लोगों की चालाकी और दूसरों की मानसिक दुर्बलता होती है । बचपन से भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनते-सुनते उनके संस्कार इतने गहरे हो जाते हैं कि बड़े होने और अन्यथा काफ़ी समझदार हो जाने पर भी उनका निकलना दूभर हो जाता है । यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भूत-प्रेत की वास्तविक सत्ता बाह्य जगत् में न होकर उसे माननेवाले के मन में पहले से विद्यमान रहती है । तब उसे सर्वत्र भूत-ही-भूत नज़र आने लगते हैं । जिसके मन में भूत नहीं होता, उसे वह कहीं भी, कभी भी नहीं मिलता ।

ज्योतिष—आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को ज्योतिष (Astronomy) कहते हैं । यही ज्योतिषशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रविज्ञान वेद का छठा अंग है और गणित पर आधिरत होने से वह सत्यविद्याओं के अन्तर्गत है । अथर्ववेद (१२।३।२०) में तीन लोकों का निर्देश करते हुए कहा है—**'त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्'** अर्थात् ब्रह्म (वेद) को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । ज्योतिश्शास्त्र के पारङ्गत

उत्तर—कहिए ज्योतिर्वित् ! जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं ? जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें ?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिश्शास्त्र झूठा है ?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणितविद्या है, वह सब सच्ची। जो फल की लीला है, वह सब झूठी है ?

विद्वान् भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता, यज्ञाः प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात् ॥

अर्थ—वेद यज्ञीय कर्मों का प्रवर्तक है, यज्ञ उनमें काल के आश्रय ही कहे गये हैं। इस ज्योतिषशास्त्र से क्योंकि काल का ज्ञान ठीक-ठीक होता है, इसीलिए इस शास्त्र की वेदाङ्गता स्वीकार की गयी है।

सामान्यतः प्रकाश की झलकमात्र को ज्योतिः कहते हैं, किन्तु ऋग्वेद (१०।१३६।१) में सूर्य तथा सौरमण्डल के साथ सम्पर्क रखनेवाले सभी नक्षत्रों को ज्योतिः नाम से प्रकट किया गया है। इसी से सिद्ध होता है कि आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को 'ज्योतिष' कहना चाहिए।

जितने भी श्रेष्ठ कर्म हैं वे सभी वेद में यज्ञ नाम से अभिहित हैं। प्रत्येक यज्ञीय कर्म काल की किसी-न-किसी सन्धि में सम्पन्न होता है। आर्यजीवन की सन्ध्योपासना भी दिन-रात की सन्धिवेला में ही सम्पन्न होती है। काल का ज्ञान पृथिवी से सम्पर्क रखनेवाले सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति पर निर्भर है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने पार्थिव पदार्थों के ज्ञान के साथ-साथ नक्षत्रविद्या का सम्पादन भी आवश्यक समझा।

ऋग्वेद (१।१६१।४७) में सूर्य की ६-६ मासवाली दोनों परिधियों के द्वारा उत्तरायण-दक्षिणायन का ज्ञान मिलता है। वहीं (१।१०५।१८) चन्द्रमा की गति से बननेवाले शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का उल्लेख है। यजुर्वेद (१३।२५, १४।१३, १४।१५, १४।२१, १५।५७) में छहों ऋतुओं का वर्णन है। ऋग्वेद (१।१६४।११) में सूर्य की परिक्रमा करने के लिए पृथिवी का घूमना और उससे दिन-रात एवं १२ महीनों का बनना लिखा है। वहीं (१।१६४।२-१३ व ४८) संवत्सर का पूरा ब्यौरा दिया है। जिस रेखा पर पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है उस रेखापथ का नाम वैदिक परिभाषा में 'वैश्वानरपथ' है। अथर्ववेद (८।८।६) में वैश्वानरपथ का निर्देश करते हुए उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में ६-६ महीने के दिन और ६-६ महीने की रात होने का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद (५।४०।५,६,६) में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हुए ग्रहण की ठीक-ठीक परीक्षा करने के लिए एक तुरीय-ब्रह्म अर्थात् तुरीययन्त्र (Telescope) का भी उल्लेख मिलता है। वहीं १।११०।१८ में क्रान्तिवृत्त एवं विषुवृत्त के कोणवृत्त और १०।२६।४ में पृथिवी के अक्ष (Axis) के विषय में बताया है। अथर्ववेद (१८।८।१) में उन नक्षत्रों का वर्णन है जिनपर चन्द्रमा की गति का प्रभाव पड़ता है।

नक्षत्रविद्या के द्वारा हम नक्षत्रों की स्थिति, एक-दूसरे से दूरी और गति के आधार पर कालगणना करके ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रम निर्धारित कर सकते हैं। जब महाभारत-युद्ध हुआ तब

[जन्म-पत्री-सम्बन्धी ढोंग]

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है ?

उत्तर—हाँ, वह 'जन्मपत्र' नहीं, किन्तु उसका नाम 'शोकपत्र' रखना चाहिए, क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुनें।

अमुक-अमुक नक्षत्र अमुक-अमुक स्थिति में थे, उनकी यह स्थिति कब थी—इसका ज्ञान होने पर हम महाभारत-काल का निश्चय कर सकते हैं। ज्योतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने गीता में आये **'मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतुषु कुसुमाकरः'** के आधार पर ही महाभारत-काल निर्धारित किया था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने मृगशिरा नक्षत्र की स्थिति को लक्ष्य करके वेदों का काल निर्धारित करने की कल्पना की थी। ज्योतिष की सहायता से ही हम प्रकृति (Nature) में होती रहनेवाली घटनाओं—ऋतुओं, सूर्य व चन्द्रग्रहण आदि का पूर्वानुमान कर सकते हैं।

चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में कालज्ञान के लिए पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाले सूर्यमण्डल आदि सभी नक्षत्रों, उनकी नियमित गतियों और उनके परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ज्योतिश्शास्त्र में परीक्षणों पर आधारित वैदिक सचाइयों का प्रतिपादन करनेवाले नक्षत्रविज्ञान का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है। वस्तुतः नक्षत्रविद्या को जाने बिना वेद के रहस्यों को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। इसीलिए ज्योतिष को वेदाङ्ग के रूप में मान्यता देकर उसके ज्ञान की अपेक्षा की गयी है। ज्योतिष में वसिष्ठमुनिकृत 'सूर्यसिद्धान्त' आर्षरचना होने से परम प्रमाण है।

परन्तु जैसे यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, शनि आदि भी जड़ हैं। मनुष्यों का सुखी दुःखी होना उनके अपने पाप-पुण्य के फलस्वरूप है। किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख-समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य इन जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहाँ गणित के सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिश्शास्त्र सर्वथा सत्य एवं उपादेय है, वहाँ फलित ज्योतिष अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे-बिठाये मनुष्यों को विपत्ति में फँसानेवाला है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा ज्योतिश्शास्त्रियों (खगोलविदों) का वह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका 'Humanist' के सितम्बर-अक्टूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले १८६ वैज्ञानिकों में विभिन्न विद्याओं में नोबल पुरस्कार पानेवाले १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar Linus Panling, Paul Samvelson, J.Timbergen, Wassily Leontief, George Wald, sir John Eccles etc.) सम्मिलित हैं। यह वक्तव्य नई दिल्ली से प्रकाशित Hindustan Times के १४ सितम्बर १९७५ के अंक में इस प्रकार उद्धृत हुआ है—

In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of their magical world. They looked upon celestial objects as abodes of the gods and this intimately connected with events here on earth, they had no concept of the vast distances from the earth to the planets and the stars. Now that these distances have been calculated, we can see how infinitismally small are the gravitational and other effects produced by the distant planets and their more distant stars. It is simply a mistake to imagine that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither is it true that the position of distant heavenly bodies makes certain days and periods more favourable to particular kinds of actions or that the signs under which one was born determines one's compatability with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the

जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है, तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं—"महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइए ।" जो धनाढ्य हो तो बहुत-सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र, और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है । तब उसके माँ-बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठके कहते हैं—"इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है—"जो है सो सुना देता हूँ । इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान् होना है । जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा । शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा ।" इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं—"वाह-वाह ज्योतिषीजी ! आप बहुत अच्छे हैं ।"

---

irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the pretensions and claims of astrological charlatans.

अर्थात् प्राचीनकाल में लोग ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था । वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे, जिनका धरती पर होनेवाली घटनाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था । पृथिवी से ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों की इतनी दूरी का उन्हें ज्ञान न था । अब, जबकि इन दूरियों को मापा जा चुका है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इतनी दूरी पर स्थित उपग्रहों तथा उनसे भी कहीं अधिक दूरी पर स्थित नक्षत्रों का आकर्षणसम्बन्धी तथा अन्य प्रभाव कितना नगण्य है । किसी व्यक्ति के जन्म के समय पड़नेवाले इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी । हमारे भविष्य के निर्धारण में इन नक्षत्रों का कोई हाथ नहीं हो सकता । यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थितिविशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिवस या वार या अवधिविशेष अनुकूल होते हैं । यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे दूसरे लोगों के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं । ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वासों को बढ़ावा देती हैं । हम समझते हैं कि अब समय आगया है कि ज्योतिष के नाम पर किये जानेवाले दावों को बलपूर्वक सीधी चुनौती दी जाए ।

इससे स्पष्ट है कि जड़ होने से नक्षत्र किसी का हिताहित नहीं कर सकते । यदि दुर्जनतोषन्याय से उन्हें चेतन मान लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि वे स्वेच्छा से हिताहित करते हैं या परमात्मा के आदेश से ? यदि वे स्वेच्छापूर्वक ऐसा करते हैं तो परमेश्वर की न्यायव्यस्था में हस्तक्षेप करते हैं । तब यह भी बताना होगा कि किसको सुख देना है और किसको दुःख, इसका निश्चय वे किस आधार पर करते हैं । यदि परमेश्वर की इच्छा या आज्ञा से करते हैं तो निश्चय ही कर्मफल-व्यवस्था के अनुसार करते होंगे । उस अवस्था में कर्मफल भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा । तब शान्ति, पूजा-पाठ, दान आदि करना व्यर्थ है ।

वर्त्तमान में ज्योतिष शब्द अतीत में घटी अथवा भविष्य में होनेवाली घटनाओं के लिए रूढ़ हो गया है । इस शब्द के सुनते ही मनुष्य में अपने भविष्य को जानने की इच्छा बलवती हो उठती है और वह इसके लिए जहाँ-तहाँ भागता हुआ धूर्तों के चंगुल में फँस जाता है । दीवानबहादुर एल. डी. कन्नू पिल्लै ज्योतिर्विज्ञान के अधिकृत विद्वानों में एक हैं । उनके बनाये हुए पंचांगों को प्रमाणकोटि में रक्खा जाता है । उनका निश्चित विचार है कि 'पर्याप्त समय ऐसा रहा है जब इस देश के साहित्य में फलितज्योतिष का उल्लेख नहीं मिलता है । वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण और पाणिनीय व्याकरण में इस विषय का कोई लेख नहीं है ।'

सत्य सनातन वैदिक धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कर्मफल-भोग अवश्यम्भावी है । वेद का वचन

ज्योतिषीजी समझते हैं कि इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि—"ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं, अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है।" इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि—"महाराजजी! अब हम क्या करें?" तब ज्योतिषीजी कहते हैं—"उपाय करो।" गृहस्थ पूछे—"क्या उपाय करें?" ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं कि—"ऐसा-ऐसा दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे, तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएँगे'। अनुमान शब्द इसलिए है कि जो मर जाएगा, तो कहेंगे हम क्या करें। परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है। हमने तो बहुत-सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाए तो कहते हैं कि—"देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है? तुम्हारे लड़के को बचा दिया।"

है—**'पक्वः पक्तारं पुनराविशाति'** (अथर्व० १२।३।४८)। महाभारत का कथन है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** तथा **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'**। क्या मन्त्र और डोरे से ज्योतिषी कर्मफल भोगने से बचा सकते हैं? यदि हाँ, तो परमात्मा का नियम टूट जाएगा और वह अन्यायकारी हो जाएगा। यदि जन्मपत्री में लिखे को मिटाना ज्योतिषी के हाथ में है तो परमेश्वर की अपेक्षा ज्योतिषी का सामर्थ्य अधिक हो गया। फिर, यदि ज्योतिषी सब-कुछ जानते हैं और विधि के लेख को मिटाना भी उनके हाथ में है तो स्वयं उन्हें और उनके आत्मीय जनों को दुःख क्यों उठाने पड़ते हैं? क्यों नहीं समय रहते उसका उपचार कर लेते? पं० सूर्यनारायण व्यास फलितज्योतिष के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे। उनके पुत्र व भतीजे आदि सभी ज्योतिषी हैं। संवत् २०२६ विक्रमी में श्रावण पूर्णिमा के दिन उनके घर डाका पड़ा। समाचारपत्रों में प्रकाशित समाचार के अनुसार एक लाख सड़सठ हजार रुपये का माल चला गया, परन्तु ज्योतिषियों के परिवार में न किसी को पहले इसकी जानकारी हुई और न बाद में चोरों आदि का पता चला।

लाहौर में एक पण्डितजी थे जो धनीमानी लोगों के ज्योतिषी थे। एक बार वे एक धनीमानी रोगी के यहाँ पहुँचे और उसे ग्रहों की विभीषिका देकर बहुत डराया। ऊपर से स्वामी वेदानन्द तीर्थ जा पहुँचे। ज्योतिषी की बातें सुनकर उनसे पूछा—श्रीमान्जी! आपके कथित ग्रह इनपर क्रूर क्यों हो रहे हैं? उन्होंने कहा—इनकी कर्मगति। स्वामीजी ने पूछा—क्या कर्मगति टाली जा सकती है? वे बोले—कर्मगति टारे न टरे। स्वामीजी ने पूछा—क्या उपाय करने से भी नहीं? वे बोले—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** अर्थात् कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है। तब स्वामीजी ने कहा—तो फिर इनके दान आदि व्यर्थ हैं। उन्होंने गम्भीरता से कहा—सब व्यर्थ और ढोंग है, केवल खाने-पीने का ढंग है।

फलितज्योतिष के पाखण्ड होने में एक और प्रमाण है। १९४७ में देश का विभाजन होने से पूर्व लगभग ६०० छोटे-बड़े राजा थे। सभी ने ज्योतिषी पाल रक्खे थे। किसी ज्योतिषी ने अपने आश्रयदाता को नहीं बताया—अन्नदाता! तुम्हारा राज्य तुमसे छिननेवाला है, समय रहते अपना प्रबन्ध करलो और न ही इन ज्योतिर्विदाभासों ने अपना ही कोई प्रबन्ध किया। सन् १९५५ में भाद्र-आश्विन मासों में समूचे भारत में अतिवृष्टि के कारण विनाशकारी बाढ़ आई, जिसमें लाखों लोग बेघर हो गये। हज़ारों मनुष्य इन दैवी प्रकोपों के कारण प्राण खो बैठे और न जाने कितने गाँवों का चिह्न तक मिट गया, परन्तु किसी भी ज्योतिषी से इतना न हुआ कि प्रजा को सावधान कर देते कि ऐसा भयंकर उपद्रव होनेवाला है, इसका उपाय करलो। फ़िरोज़पुर निवासी एक ज्योतिषी फलितज्योतिष का एक लेख पंजाब के दैनिक पत्रों में प्रकाशित करता था। ऐसे एक पत्र के सम्पादक को लिखना पड़ा कि हमारे ज्योतिषी स्वयं इस दैवी विपत्ति

यहाँ यह बात होनी चाहिए कि जो इनके जप-पाठ से कुछ न हो, तो दूने-तिगुणे रुपये इन धूर्तों से ले लेने चाहिए और बच जाए, तो भी ले लेने चाहिएँ, क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा है कि—"इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं", वैसे गृहस्थ भी कहें कि—"यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं।"

और तीसरे[1] गुरु आदि भी पुण्यदान कराके आप ले लेते हैं। तो उसको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

[शीतला-मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि का ढोंग]

अब रह गई शीतला, और मन्त्र-तन्त्र यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं। कोई कहता है कि

में फँस गये हैं, अतः लेख नहीं छपेगा। ज्योतिषी दूसरों का भाग्य पढ़ लेते थे, पर अपना न पढ़ सके।

यदि ज्योतिषी का काम केवल भविष्य को बता देना है तो **यद् भावी न तदभावी यदभावी न तद्भावी**—जो होना है वह होकर रहेगा और जो नहीं होना है वह कभी हो नहीं सकता—तो यह सब जानकर क्या होगा, सिवा इसके कि जो होना है, उसके होने से पहले ही से कल्पना कर-करके मनुष्य दुःखी रहने लगे। यदि जन्मपत्री के आधार पर किसी के भविष्य के विषय में यह बता दिया जाए कि तुम्हारे भाग्य में विद्या नहीं है अथवा ३८वें वर्ष में तुम्हारी मृत्यु का योग है तो यह सब जानकर उसकी मनःस्थिति क्या होगी ? जो ईश्वर को कर्मफलविधाता मानता है और फलितज्योतिष में विश्वास रखता है, वह भी जानता और मानता है कि ईश्वरीय विधान को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। तब वह ज्योतिषी द्वारा जन्मपत्री में लिखी बातों पर विश्वास करते हुए न पढ़ना चाहेगा, न कोई बड़ा काम करेगा और जैसे-जैसे दिन बीतते जाएँगे वैसे-वैसे मृत्यु को सन्निहित जानकर ३८ वाँ वर्ष आने से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। जन्मपत्री को देखकर ज्योतिषी ने जो कुछ बता दिया वह अटल है, क्योंकि ईश्वर द्वारा भाग्य में लिखे को कोई मिटा नहीं सकता। तब ज्योतिषियों द्वारा दान-दक्षिणा द्वारा उसे पलटने की बात कहना ठगी नहीं तो और क्या है ? यदि ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि देकर भाग्य के लेख को मिटाना सम्भव है तो परमेश्वर भी लोक में उपलब्ध अफ़सरों की भाँति भ्रष्टाचारी सिद्ध होगा, जिससे रिश्वत और सिफारिश के बल पर फ़ैसले बदलवाये जा सकते हैं।

ओस्टन के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डॉ० वाल्टन फ्रैंकलिन को यह जानने की इच्छा हुई कि फलितज्योतिषवालों की बातें कहाँ तक ठीक निकलती हैं। उन्होंने अपने जन्म का वर्ष, दिन, समय, नक्षत्र आदि का ठीक-ठीक ब्यौरा लिखकर छह ज्योतिषियों को भेजा। सबसे एक ही प्रश्न किया कि मेरी शादी कब होगी ? उन ज्योतिषियों ने भिन्न-भिन्न समय बताये, किन्तु यह किसी ने नहीं बताया कि उनकी शादी तो पहले ही हो चुकी है।

कुछ ज्योतिषी कुण्डली देखकर भृगुसंहिता के आधार पर किसी का जीवनवृत्तान्त बताने का दावा करते हैं। वास्तव में वे अन्य साधनों से उनके जीवन की कुछ घटनाओं का पता लगा लेते हैं और अभ्यास के बल पर उसमें कुछ जोड़-तोड़ करके जीवनवृत्तान्त बनाकर भेज देते हैं। इसीलिए बीती हुई कुछ घटनाएँ तो सच निकलती हैं और भविष्य के विषय में बताई हुई अनेक बातें मिथ्या सिद्ध होती हैं। डलहौज़ी निवासी ठाकुर रणवीरसिंह ने भृगुसंहिता के द्वारा अपनी कुण्डली होशियारपुर से बनवाई थी, उसमें उनके

१. पूर्व जो भूत-प्रेत निकालनेवाले ओझा वा स्याने तथा ग्रहफल बतानेवाले ज्योतिषियों का वर्णन किया है, उनकी अपेक्षा से यहाँ तीसरे पद का प्रयोग हुआ है।

चित्रपट (सिनेमा) व्यवसाय से धनलाभ की बात लिखी है। श्री रणवीरसिंह ने चित्रपट-व्यवसाय से धन कमाया, यह ठीक है, किन्तु भृगुजी के समय में तो सिनेमा का आविष्कार ही नहीं हुआ था। निश्चय ही कहीं से पता लगा लेने के कारण ऐसा लिख दिया होगा।

भृगुसंहिता भी एक बहुत बड़ा पाखण्ड है। जो-जो अपने को भृगुसंहितावाला बतलाते हैं वे अपने अतिरिक्त सबको मिथ्या बतलाते हैं। कहते हैं कि वास्तविक और प्रामाणिक भृगुसंहिता केवल हमारे पास है। यतः ये सभी अपने अतिरिक्त सबको झूठा बतलाते हैं, अतः ये सभी झूठे हैं।

तथाकथित ज्योतिषशास्त्र के अनुसार—

शनिक्षेत्रे यदा भानुः भानुक्षेत्रे यदा शनिः।
सद्य एव भवेन्मृत्युः शङ्करो यदि रक्षति॥

शनिक्षेत्र में सूर्य हो और सूर्य के क्षेत्र में शनि हो तो बालक पैदा होते ही मर जाता है, भले ही ईश्वर उसकी रक्षा करे। शनिक्षेत्र=मकर और कुम्भराशि में सूर्य दो मास रहता है और सूर्यक्षेत्र=सिंहराशि में सूर्य ढाई वर्ष रहता है। इस प्रकार तीस वर्ष में दो वर्ष ऐसे होने चाहिएँ जिनमें माघ और फाल्गुन के महीनों में संसारभर में जितने बालक पैदा हों वे सब ही मर जाएँ, परन्तु ऐसा कभी देखने-सुनने में नहीं आया।

फलितज्योतिषवालों ने प्रत्येक राशिवालों के मरने के दिन नियत कर रक्खे हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वे भिन्न-भिन्न हैं। उनमें मुख्य हैं—

नाम राशि	**जातकाभरण में बताया दिन**	**मानसागरी में बताया दिन**
मेष	कार्तिक बदी ६, बुधवार	कार्तिक ४, मंगल, भरणी नक्षत्र
वृष	माघ सुदी ६, शुक्रवार, रोहिणी नक्षत्र	माघ सुदी ६ रोहिणी अर्धरात्रि, भरणी नक्षत्र
मिथुन	वैशा सुदी १२, बधु, मध्याह्न, हस्त नक्षत्र	पौष बदी ८, बुध, पहला प्रहर, आर्द्रा नक्षत्र
कर्क	माघ सुदी ६, शुक्र, रोहिणी	फाल्गुन सुदी ४, सायं
सिंह	फाल्गुन सुदी ५, सोम, मध्याह्न, जल में	श्रावण सुदी १०, रवि, पहला प्रहर
कन्या	चैत्र बदी १३, रविवार	भाद्रपद सुदी ६, बुध सायं, हस्त नक्षत्र
तुला	८५ वर्ष वैशाख बदी ८, शुक्र, आश्लेषा	वैशाख सुदी १३, शुक्र मध्याह्न, शतभिषा
वृश्चिक	ज्येष्ठ सुदी १०, बुध, मध्यरात्रि, हस्त	ज्येष्ठ बदी ११, मंगल
धन	आषाढ़ सुदी ५, शुक्र, हस्त	आषाढ़ सुदी १, गुरुवार, सायं, हस्त
मकर	श्रावण सुदी १०, मंगल, ज्येष्ठा	कार्तिक सुदी ५, शुक्र
कुम्भ	भाद्रपद सुदी ४, शनि, भरणी	माघ सुदी २ गुरुवार, उत्तराभाद्रपद
मीन	आश्विन सुदी २, बृहस्पति, सायं, कृत्तिका	माघ सुदी १२, गुरुवार, प्रातः, उत्तराभाद्रपद

यह आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त तिथियों पर सदा वे ही दिन आएँ।

इन दोनों ग्रन्थों में मरने की जो तिथियाँ लिखी हैं, वे वृषराशिवाले लोगों को छोड़कर शेष किसी की नहीं मिलतीं। यदि फलितज्योतिष नियमपूर्वक एक विद्या (Exact science) है तो दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित तिथियों में अन्तर क्यों ? जातकाभरण के अनुसार वर्षभर में केवल ११ दिनों में ही मनुष्यों की मृत्यु का योग है, इसलिए इन्हीं दिनों में सबकी मृत्यु होनी चाहिए। शेष दिनों में कोई नहीं मरना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं **'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्'**—कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब किसी की भी मृत्यु न हो।

इस प्रकार इन ग्रन्थों के अनुसार सब मनुष्यों की मृत्यु वर्ष के ११ दिन में होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की उक्त १२ राशियों में से कोई-न-कोई राशि अवश्य होती है, परन्तु सारे संसार की बात जाने दें, किसी एक नगर में भी किसी एक राशि के सब मनुष्यों को मरते नहीं देखा जाता और न कोई ऐसा दिन देखा जाता है जब किसी की भी मृत्यु न हुई हो।

फिर, एक राशिवाले किन्हीं दो व्यक्तियों के जीवन में भी समानता नहीं देखी जाती। राम व रावण की, कृष्ण और कंस की, (महात्मा) मोहनदास गांधी और मुहम्मद अली जिन्ना की, अर्जुन व अश्वत्थामा की एक राशि होते हुए भी उनके गुण-कर्म-स्वभाव एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। उनकी मृत्यु भी भिन्न-भिन्न कालों में हुई थी।

एक मनुष्य की कुण्डली पर एक साथ सौ ज्योतिषियों से फलादेश लिखवाकर मिलान करने पर पता चलेगा कि वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इतना ही नहीं, एक ही ज्योतिषी को कुछ मास के अन्तर से दुबारा वही पत्रिका दिखाकर फलादेश लिखवाया जाए, तो वह पहले से भिन्न होगा।

जातकाभरण में मेषराशि का फल लिखा है कि 'मेष राशिवाला धनवान्, पुत्रवान्, उदार, धार्मिक वृत्तिवाला, सुशील, राजप्रिय, सुन्दर गुणोंवाला, सदा देव, ब्राह्मणों की पूजा करनेवाला, तांबे के समान भूरी आँखोंवाला, शूरवीर, शीघ्र प्रसन्न होनेवाला, कामी और दुर्बल जानुवाला होगा।' कुल बारह राशियाँ होती हैं। इस हिसाब से मोटे तौर पर संसार की जनसंख्या के १२वें भाग की राशि मेष होगी। तो क्या इनमें से कोई भी निर्धन नहीं होता ? क्या वे सभी उदार और धर्मात्मा होते हैं ? दुर्बल जानुवाला शूरवीर कैसे हो सकता है और कामी धार्मिक वृत्तिवाला कैसे हो सकता है ? जिन ईसाई-मुसलमानों की राशि मेष होगी वे ब्राह्मणों की पूजा करनेवाले कैसे हो सकते हैं ?

ज्योतिषियों के घरों में विधुर और विधवाएँ क्यों होती हैं ? उनके घरों में सास-बहू के झगड़े क्यों होते हैं ? उनकी लड़कियाँ ससुराल में दुःख क्यों पाती हैं ?

फलितज्योतिष के अनुसार मुहूर्त्तादि निकलवाकर हिन्दुओं के यहाँ ही विवाह होते हैं। फिर उन्हीं के यहाँ सबसे अधिक विधवाएँ क्यों होती हैं ? यदि आयु निश्चित है तो नाड़ी-वेधं में विवाह करने से टल क्यों जाती है ? यदि कर्मरेखा अटल है तो ज्योतिषी के पास जाने का क्या लाभ ? यदि टल नहीं सकती तो किसी प्रकार के उपाय पूछने का क्या लाभ ? यदि टल सकती है तो जन्मपत्री का लेख मिथ्या सिद्ध हो गया। फलितज्योतिष के अनुसार सब-कुछ जन्म के साथ ही निश्चित हो जाता है और निश्चय करनेवाला स्वयं भगवान् है। वही सब जन्मपत्री में लिखा होता है। उसे अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं। तब उसे जानकर हर समय दुःखी रहने के सिवा और क्या हो सकता है ? इसीलिए ग्रन्थकार ने जन्मपत्र को शोकपत्र कहा है।

रामायण के अनुसार राम और सीता के विवाह का मुहूर्त्त साक्षात्कृतधर्मा महर्षि वसिष्ठ ने निकाला था। राम के राजतिलक का मुहूर्त्त भी उन्होंने ही निश्चित किया था, किन्तु राम और सीता का—विशेषतः सीता का सारा जीवन दुःखों में ही बीता। वास्तव में रामायण-काल में जन्मपत्री मिलाने या मुहूर्त्तादि देखने

की कोई साक्षी नहीं मिलती। जनक ने तो सीता का विवाह स्वयंवर से किया था। जो भी धनुष तोड़ देता उसी के साथ सीता का विवाह हो जाता। तब जन्मपत्री मिलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जनक की दूसरी पुत्री उर्मिला का तथा उनके भाई कुशध्वज की दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्ति का विवाह भी वसिष्ठ और विश्वामित्र की सम्मति से महाराज दशरथ के तीन पुत्रों—लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न के साथ तत्काल एक ही दिन, एक ही समय में एक ही मण्डप में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में किया गया था। कुण्डलियाँ नहीं मिलाई गयी थीं। यदि जन्मपत्रियों का मिलाना माना जाए और वसिष्ठजी जैसे महर्षि द्वारा मुहूर्त का निश्चित किया जाना माना जाए तो एक ही मुहूर्त में सम्पन्न कार्य के भिन्न-भिन्न परिणाम क्यों निकले। सीता को वनों में भटकना पड़ा, उर्मिला को पति के रहते वियोग व दुःख सहना पड़ा और माण्डवी को भरत के अयोध्या में रहते हुए भी पतिसुख से वंचित रहना पड़ा।

आजकल प्रचलित ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ शीघ्रबोध आदि में वर्णित वर्ग, वर्ण, योनिगण आदि के अनुसार राम पुनर्वसुनक्षत्र —देवतागण में उत्पन्न हुए और सीता का नक्षत्र शतभिषज् है—राक्षसगण। देवता और राक्षसगण एक-दूसरे के विरोधी होने से राम और सीता में निरन्तर कलह रहनी चाहिए थी, परन्तु उन दोनों को तो दाम्पत्य जीवन का आदर्श माना जाता है।

प्रतिदिन लाखों लोग बिना मुहूर्त्त पूछे चारों दिशाओं में रेल, बस, विमान आदि से यात्रा करते हैं और प्रायः सभी अपने-अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। यदि मुहूर्त्तवाली बात सच होती तो प्रतिदिन रेलों, बसों और विमानों आदि की दुर्घटनाएँ होकर लाखों लोग मरने चाहिए थे, पर ऐसा कभी कहीं नहीं होता। नीतिकारों का कथन है—**'शुभस्य शीघ्रम्'** अर्थात् शुभकार्य को तुरन्त कर डालना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विलम्ब नहीं करना चाहिए। शुभ कार्य के लिए मुहूर्त्त की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि शुभकार्य स्वतः शुभ है। इसी प्रकार अशुभ कार्य के लिए भी मुहूर्त्त देखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो स्वतः अशुभ है, किसी भी अवस्था में उससे शुभ परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

यदि शुभाशुभ कार्य में काल को कारण मान लिया जाए तो किसी भी अपराधी को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। काल के वशीभूत होने से वह अन्यथा कर ही नहीं सकता था। वास्तव में काल नहीं, मनुष्य की अपनी बुद्धि और सामर्थ्य उसके सुख-दुःख अथवा सफलता-असफलता में कारण होते हैं। महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है—

यदिककालेन निर्वाणं सुखं दुःखं भवाभवौ ।
भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः ॥
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्त्तृषु ॥ —अध्याय १३६
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालस्य कारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥ —अध्याय ६६

अर्थ—यदि सुख-दुःख, जीवन-मरण काल से ही होता है तो वैद्य रोगी की चिकित्सा करने की इच्छा क्यों करते हैं? यदि काल से ही सब पकाये जाते हैं तो दवाई से क्या लाभ? यदि तू काल को ही प्रमाण मानता है तो कर्त्ता में धर्म की स्थिति क्यों है, अर्थात् किसी कर्म के लिए कर्त्ता (मनुष्य) क्यों उत्तरदायी है?

काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण है, इसमें तुम्हें सन्देह नहीं होना चाहिए। राजा ही काल का कारण है, अर्थात् मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। अपने कर्म ही उसके सुख-दुःख का कारण हैं।

मुहूर्तसम्बन्धी अन्धविश्वास के कारण भारत को किस प्रकार हानि उठानी पड़ी, इसके केवल दो प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं—

महमूद गज़नवी ने भारत पर लगातार १७ बार आक्रमण किया। वह जहाँ भी गया मुस्लिमेतरों को तलवार के घाट उतार दिया। मन्दिरों को तोड़ता, नगरों को लूटता और आग लगाता गया। सैकड़ों हिन्दुओं को दास बनाकर गज़नी में तीन-तीन पैसे में बेच डाला। अन्तिम बार उसने काठियावाड़ के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण किया। महमूद के सैनिकों की तुलना में भारतीय सेना कहीं अधिक शक्तिशाली थी, किन्तु पण्डे-पुजारियों ने अपनी सेना को यह कहकर रोके रक्खा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त नहीं है। एक ने आठवाँ चन्द्रमा बताया, दूसरे ने योगिनी सामने दिखाई। किसी ने कहा कि आप लोग निश्चिन्त रहें, महादेवजी भैरव या वीरभद्र को भेज देंगे और वे सब म्लेच्छों को मार भगाएँगे। जब यवन-सेना ने चारों ओर से घेर लिया तब पुजारियों ने हाथ जोड़कर कहा कि तीन करोड़ रुपया लेलो पर हमारे मन्दिर और मूर्ति को मत तोड़ो। मुसलमानों ने उत्तर दिया, 'हम बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) नहीं हैं, किन्तु बुतशिकन (मूर्तिभंजक) हैं।' यह कहकर उन्होंने मन्दिर की ईंट-से-ईंट बजा दी। जब ऊपर की छत टूटी तब चुम्बक-पाषाण पृथक् होने से मूर्ति गिर पड़ी। कहा जाता है कि मूर्ति तोड़ने पर उसमें अठारह करोड़ रुपये के रत्न निकले। कितने ही पण्डे-पुजारियों को गुलाम बनाकर ले गये और गज़नी के बाज़ारों में ३-३ पैसे में बेच दिया। यह थी मुहूर्त की करामात !

बख्त्यार ख़िलजी ने बंगाल पर चढ़ाई की। वहाँ का राजा ज्योतिषियों का अन्धभक्त था। उनसे पूछे बिना वह तिनका भी नहीं तोड़ता था। ख़िलजी को इस बात का पता चल गया। उसने भारी रिश्वत देकर राजज्योतिषियों को फोड़ लिया। राजज्योतिषी ने कह दिया कि अभी लड़ने का मुहूर्त नहीं है। लड़ेंगे तो हार जाएँगे और उपाय न देखकर राजा राज्य छोड़कर भाग गया और बख्त्यार ख़िलजी बिना लड़े बंगाल का राजा बन गया।

भारत का वर्त्तमान शासकवर्ग भी इसी प्रकार अविद्याग्रस्त है और उसकी यह अविद्या देश को पतन के गर्त में धकेल रही है।

भविष्य का ज्ञान—जो वस्तु नियम के अनुसार निश्चित हो, उसके भविष्यत्काल को जाना जा सकता है। सूर्योदय व सूर्यास्त का समय, तिथियों और ऋतुओं का परिवर्त्तन, सूर्य व चन्द्रमा का ग्रहण इत्यादि का ज्ञान मनुष्यों को होता है, क्योंकि यह सब पृथिवी, चाँद आदि की नियमित गति पर निर्भर है जो नियम के अनुसार निश्चित है और जिसमें कभी पलभर का भी अन्तर नहीं पड़ता। कारण को देखकर भविष्य के कार्य को भी जाना जा सकता है, जैसे बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान, सरदी-गरमी की जाँच से आनेवाली आँधी या वर्षा का पूर्वानुमान इत्यादि, किन्तु मनुष्य द्वारा भविष्य में किये जानेवाले कर्मों के बारे में और फिर उनके फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुःख के बारे में मनुष्य तो क्या, ईश्वर भी नहीं जान सकता। जीव कर्म करने—**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**—में स्वतन्त्र है। जिस कर्म के करने का मैंने संकल्प भी नहीं किया उसे ईश्वर भी नहीं जान सकता। दुर्जनतोषन्याय से यदि हम यह मान लें कि ईश्वर यह जानता है कि आज से आठवें दिन मैं चोरी करूँगा तो प्रश्न उठता है कि मैं अपने चोरी करने के संकल्प को बदल सकता हूँ या नहीं ? यदि बदल सकता हूँ तो ईश्वर का ज्ञान अन्यथा होने से वह ईश्वर नहीं रहा और यदि नहीं बदल सकता तो मेरे काम ईश्वर के ज्ञान में पहले से नियत हैं और अल्पशक्ति होने से मैं वैसा ही करने पर मजबूर हूँ। जिस काम को मैंने स्वेच्छापूर्वक नहीं किया उसका फल भी उसी को भोगना पड़ेगा जिसने वह कार्य बलपूर्वक मुझसे करवाया है। इससे सिद्ध है कि जिन बातों अर्थात् भविष्य में किये जानेवाले कर्मों को सर्वज्ञ ईश्वर भी नहीं जानता, उन्हें कोई अल्पज्ञ मनुष्य कैसे जान सकता है ? अतः

जन्मपत्री आदि के आधार पर बतायी हुई बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि घुणाक्षरन्याय से कोई बात सच भी निकल जाए तो उससे सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्त अन्यथा नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। जब जन्मपत्री में लिखे को अन्यथा होते प्रत्यक्ष देख लिया तो उसपर से बड़े-बड़े ज्योतिषियों का विश्वास हिल गया। महामहोपाध्याय उपाधि से विभूषित पं० सुधाकर द्विवेदी काशी के सबसे बड़े ज्योतिषी माने जाते थे। वे काशी के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में ज्योतिषविभाग के अध्यक्ष और एतद्विषयक अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ। उसका जन्म-समय आदि लिखकर उन्होंने अपने अनेक मित्रों तथा शिष्यों से उसकी जन्म-कुण्डली बनवाई। सभी ने उसकी जन्मकुण्डली बनाकर भेजी और लिखा कि कन्या का सौभाग्य अटल रहेगा। उन्होंने स्वयं भी एक जन्म-कुण्डली बनाई, उसमें भी यही लिखा था, परन्तु विवाह के ६ महीने बाद ही उनकी लाडली विधवा हो गयी। अब फलितज्योतिष से पण्डितजी का विश्वास सदा के लिए उठ गया। इतना ही नहीं, काशी के टाउनहाल में उन्होंने फलित ज्योतिष के विरुद्ध जोरदार व्याख्यान दिया और सब ज्योतिषियों को उसे सत्य सिद्ध करने का चैलेंज दिया, परन्तु जब कोई भी सामने न आया तो उन्होंने घोषणा करदी कि फलितज्योतिष पर मेरा विश्वास नहीं रहा। मैं इसे खेल समझता हूँ। ज्योतिषी लोग वाग्जाल से जनता का धन लूटते हैं।

पं० बलदेव प्रसाद सिन्धिया सरकार के ज्योतिषी थे। समूचे महाराष्ट्र में उनका सिक्का चलता था। अपनी कन्या के विवाहयोग्य होनेपर वर और कन्या की जन्मपत्रियों का अच्छी तरह मिलान करके बड़े ही शुभ मुहूर्त्त में विवाह सम्पन्न कराया, परन्तु वर्ष या महीनों की कौन कहे, कुछ ही दिनों में वह विधवा हो गयी। पण्डितजी ने सिर पीट लिया। उसी दिन फलितज्योतिष-सम्बन्धी समस्त ग्रन्थों और पंचांगों को नदी में फेंककर अपना ज्योतिष का धन्धा बन्द कर दिया। उन्होंने सोचा कि जिन शास्त्रों के आधार पर मैं अपनी प्राणप्यारी इकलौती सन्तान का भविष्य न जान सका, उनसे दूसरों के भविष्य को जानने का दावा कैसे कर सकता हूँ?

पं० सूर्यनारायणजी व्यास उज्जैन के बहुत बड़े माने हुए ज्योतिषी थे। उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री का विवाह जन्मपत्री मिलाकर बड़े शुभ मुहूर्त्त में किया। कुछ ही दिन पश्चात् वह विधवा हो गयी और ८५ वर्ष का लम्बा वैधव्य जीवन बिताकर परलोक सिधारी।

श्री वेदव्रत मीमांसक ने इस विषय से सम्बन्धित एक रोचक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

निम्बाहेड़ा (राजस्थान) में वर्धमान प्रिंटिंग प्रेस के निकट एक विशाल हवेली में रहते हैं श्रीमान् ....। पं० बलदेव प्रसाद नामक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी से उनकी जन्मपत्री बनवाई गयी थी, जिसमें उनके जीवन का भविष्य बताते हुए लिखा था कि आयु के ६२ वर्ष ४ महीने २१ दिन बीतने पर २२वें दिन उनकी मृत्यु हो जाएगी। इस लिखित भविष्यवाणी के अनुसार मृत्यु का समय निकट आनेपर उन्होंने माला हाथ में लेली और निरन्तर रामनाम का जप करने लगे। कुछ वर्ष पहले कुण्डली में लिखे जून १९६२ ईसवी में जब मैं किसी काम से वहाँ पहुँचा तब उनके हाथ में माला देखकर सहज जिज्ञासा से पूछ बैठा कि आप कितने वर्षों से इस प्रकार माला फिरा रहे हैं। इसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उसका आशय यह था कि अपनी मृत्युतिथि से डरकर उसी दिन उन्होंने माला हाथ में उठाई थी, ग्यारह वर्ष हो गये, अब तक नहीं छूटी।.....

कुछ भी हो, यहाँ तो मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी के द्वारा घोषित मृत्युतिथि को निकले लगभग १४ वर्ष बीत चुके हैं। फिर भी अब तक (जून १९७५) श्रीमान्जी स्वस्थरूप में जीवित हैं।

"जो हम मन्त्र पढ़के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते"। उनको वही उत्तर देना चाहिए कि—"क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं, और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं। और क्या तुम मरण से बच सकोगे ?" तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सब को विद्या पढ़ानेवाले उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं। इस काम को कभी न छोड़ना चाहिए। और जितनी लीला रसायन-मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिए। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें।

[वीर्य-रक्षा के लाभ, और वीर्य-नाश से हानि]

और वीर्य की रक्षा में आनन्द, और नाश करने में दुःख-प्राप्ति भी जना देनी चाहिए। जैसे—"देखो,

---

'कहीं भी सारे महाभारत में एक स्थान पर भी जन्म-पत्रिका का वर्णन नहीं आया है। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्षविद्या में नहीं है।' (पूना-प्रवचन—छठा उपदेश)

मन्त्र-तन्त्र-डोरे—**'मत्रि गुप्तभाषणे'** से मन्त्र शब्द बना है। निरुक्त के अनुसार **'मननान्मन्त्रः'** (७।१२)मनन का फल मन्त्र है। सुविचारित जिस बात को जनसाधारण समझ नहीं पाते उसे मन्त्र, रहस्य या जादू कह देते हैं। शतपथ (६।४।१।७) में वाणी को भी मन्त्र कहते हैं—**'वाग्वै मन्त्रः'**। इससे विचार-विद्या और वाग्विद्या का नाम मन्त्र है। सहसा प्रभावकारी अनुष्ठान या प्रयोग को हम मन्त्र कहते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अथर्ववेद के अन्तर्गत सर्पविषचिकित्सा से सम्बन्धित एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥ —अ० ५।१३।१

इस मन्त्र में सर्पविष और उसकी चिकित्सा से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण बातें कहीं गयी हैं। एक यह कि सर्प के काटे के घाव तीन प्रकार के होते हैं—खात, अखात और सक्त। सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इन्हें क्रमशः सर्पित, रुदित तथा सर्पांगाभिहत कहा है। जब सर्प के काटे का घाव गहरा हो—सर्पदन्त मांस में गहरे गढ़े हों, रक्त बाहर आगया हो, घाव का रंग नीला हो और आसपास सूजन हो अर्थात् साँप के काटे के पूरे लक्षण हों, तो वह 'खात' या 'सर्पित' कहाता है। जब घाव गहरा न हो और साँप के दातों का लाल-नीली रेखाओं के रूप में चिह्नमात्र हो, तो वह 'अखात' या 'रुदित' कहाता है और जब सर्प के अंगों के स्पर्श से त्वचा के ऊपर संसर्गमात्र जान पड़े तो वह 'सक्त' या 'सर्पांगाभिहत' कहाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आश्वासन चिकित्सा से सम्बन्धित है। सर्पविष और उसकी चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद में बड़े विस्तार से मिलता है। सर्पविष को हटानेवाले सूक्तों व मन्त्रों का देवता तक्षक अर्थात् सर्प है और ऋषि गरुत्मान् अर्थात् गरुड़ के समान विष को निःसत्व करनेवाला सर्पविषचिकित्सक यौगिक नाम से है। ग्रामों में कहीं-कहीं आज भी सर्पविषचिकित्सक को गरुड़िया या गारुड़ी कहते हैं।

सभी सर्पाचार्य इस विषय में एकमत हैं कि सर्पों में ५ प्रतिशत सर्प ही ऐसे हैं, जिनके काटने से आदमी मर जाता है। इनमें भी—

जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य-बुद्धि-बल-पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि—"विषयों की कथा, विषयिलोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी; और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल-निस्तेज-निर्बुद्धि-उत्साह-साहस-धैर्य-बल-पराक्रमादिगुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिए।'

इसी प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें। इसीलिए 'मातृमान् पितृमान्' शब्द का ग्रहण उक्त वचन[1] में किया है अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे वर्ष से ८वें वर्ष

'तथातिवृद्धबालाभिर्दष्टमल्पविषम् ।'
'नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः ।'
'वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृताः ।' —सुश्रुत कल्पस्थान ४।१६,३२

उपर्युक्त कारणों से असमर्थ होने के कारण सर्प अल्पविष हो जाते हैं। इन थोड़े-से सचमुच विषैले साँपों के काटने पर भी उक्त तीन प्रकार के घाव होते हैं। उनमें से सक्त या सर्पांगाभिहत सर्वथा निर्विष तथा अखात या रदित अल्पविष होते हैं। केवल खात या सर्पित ही घातक सिद्ध होते हैं, किन्तु इन तथ्यों से अपरिचित होने के कारण अधिकांश लोग सर्पदंश के भय से मर जाते हैं। जब ५ प्रतिशत से भी कम साँप विषैले हों और उनमें भी १-२ प्रतिशत ही खात या सर्पित घाव कर पाते हों तो लगभग ९८ प्रतिशत लोगों की मृत्यु का कारण सर्पविष न होकर सर्पदंश का भय ही सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें यदि उनके विश्वास के अनुसार कोई चिकित्सक मिल जाए तो उनमें से अधिसंख्य मन्त्र पढ़ने अर्थात् आश्वासन मिलने मात्र से (**कुर्यादाश्वासनं बुधः**—चरक अ० २३।२१८-१९) ठीक हो जाते हैं। आश्वासन से रोगी का आधा रोग दूर हो जाता है। डूबते हुए को किसी अच्छे तैराक का यह कहना कि 'घबराना नहीं, मैं आ गया हूँ, तुझे डूबने नहीं दूँगा' डूबते मनुष्य के भीतर उत्साह की बिजली दौड़ा देता है और उसमें हाथ-पैर मारने की शक्ति आ जाती है। इसी को मन्त्रविद्या या वशीकरण कहते हैं।

वीर्यरक्षा—मनुष्य आँखों से जो कुछ देखता है, कानों से सुनता है उसी का मन से चिन्तन करता है। इन सबसे उसके जो संस्कार बनते हैं उनसे उसका चरित्र-निर्माण होता है। बचपन के संस्कार सबसे प्रबल और स्थायी होते हैं, इसलिए ग्रन्थकार ने माता-पिता को सावधान किया है। हमारे समाज का उच्च वर्ग ही नहीं, मध्यम वर्ग भी जिस प्रकार के वातावरण में जी रहा है, उसके फलस्वरूप वह अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति तथा मान्यताओं को पिछड़े वर्ग का प्रतीक मानकर क्लबों में मांस, मदिरा और रमणी में लिप्त रहने को जीवन का चरम लक्ष्य मान रहा है। धीरे-धीरे वही वातावरण घरों का बनता जा रहा है। ऐसे घरों में विलास के सभी उपकरण—टी.वी., रेडियो, वी.सी.आर. आदि सहज उपलब्ध हैं। अश्लील उपन्यास, अर्धनग्न ही नहीं नग्न स्त्रियों के चित्रों से विभूषित फिल्मी पत्रिकाएँ आदि ऐसे घरों की शोभा हैं। बच्चे और बच्चों के माता-पिता, भाई-बहन वह सब-कुछ पढ़ते, देखते-सुनते और प्रसन्न होते हैं। बाजारों में, चौराहों पर भी इसी प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। कच्ची उम्र के लड़के-लड़कियों को स्वच्छन्द विचरते, सड़कों, गलियों और पार्कों में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। अश्लील

तक पिता शिक्षा करे। और ६वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों[2] का उपनयन करके आचार्य्यकुल में, अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादिवर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।

[सन्तानों के लालन में हानि, ताड़न में लाभ]

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण 'महाभाष्य' (८।१।८) का प्रमाण है—

'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥'

अर्थः—जो माता-पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानों अपने सन्तान

हाव-भावों का प्रदर्शन करते हुए बारातों में सम्मिलित स्त्री-पुरुषों का शराब पीकर बैण्ड की धुन पर सड़कों पर थिरकना आम बात हो चली है। ऐसी अवस्था में वीर्यरक्षा कैसे हो सकती है ? व्यभिचार, बलात्कार, हत्याएँ, नई-नई बीमारियाँ इसका परिणाम है, जो समाज और राष्ट्र को सर्वनाश की ओर धकेल रहा है।

शूद्र का उपनयन नहीं—'शुद्रादि' में आदि पद से अतिशूद्र अथवा निषादादि अभिप्रेत हैं। जब तक बच्चे छोटे होते हैं अथवा विद्याध्ययन की समाप्ति पर उनका अपना वर्ण निश्चित नहीं हो जाता तब तक उनके सब संस्कार आदि पारिवारिक परिवेश के अनुसार ही होते हैं। द्विजों के घर में सभी संस्कार यथावत् होते रहते हैं, इसलिए वे अपनी कुल-परम्परा के अनुसार समय पर उपनयन-संस्कार कराके गुरुकुल में पढ़ने भेजेंगे। शूद्र, अतिशूद्र आदि साधारणतया अनपढ़ होते हैं। परिणामतः ब्राह्मणादि के बालकों के समान उनके बालकों का विकास नहीं हो पाता। उनके घरों में कोई कर्मकाण्ड भी नहीं होता। इसलिए वहाँ विधिवत् उपनयन संस्कार नहीं हो पाता, परन्तु इस कारण उसे पढ़ने-लिखने का अवसर भी न देना न्यायोचित नहीं है। इसलिए उपनयन के बिना भी उसे गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए भेजने का प्रावधान किया है। अवसर दिये जानेपर भी यदि उसे कुछ नहीं आएगा तो उसे शूद्र समझा जाएगा, अन्यथा द्विज सन्तानों की भाँति जिस वर्ण के अनुरूप उसके गुण-कर्म-स्वभाव होंगे, परीक्षोपरान्त तदनुसार उसका वर्ण घोषित कर दिया जाएगा। इसका निश्चय गुरुकुल से स्नातक बनते समय होगा—ऐसा निर्देश स्वयं ग्रन्थकार ने चतुर्थ समुल्लास में इन शब्दों में किया है—"यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए।"

परन्तु यज्ञोपवीत के बिना गुरुकुल में रहते हुए शूद्र का बालक अपने प्रति हीनभावना से ग्रस्त रहेगा और यज्ञोपवीतधारी उसके द्विजकुलोत्पन्न सहाध्यायी भी उसे हेय दृष्टि से देखा करेंगे। वहाँ यह भेदभाव हमें ठीक प्रतीत नहीं होता।

दण्डव्यवस्था—दण्डव्यवस्था का विवेचन करते समय दो विचारधाराएँ हमारे सामने उभरकर आती हैं। कुछ लोग दण्ड और भय का इतना प्रयोग करते हैं कि बालक विद्यालय जाने के नाम से काँपने लगता

---

१. अर्थात् पूर्व उक्त 'मातृमान् पितृमानाचार्य०' आदि वचन।

२. सन्तान' पद बालक-बालिका दोनों का वाचक है। इसलिए बालिका का भी उपनयन यहाँ विहित जानना चाहिए।

और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं, और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त, तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्यलोग भी ताड़ना से प्रसन्न, और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें, परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।

है। इसका उसके शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक विकास दोनों पर कुप्रभाव पड़ता है। वह अपना आत्मसम्मान खो बैठता है और सबको अपना शत्रु समझने लगता है। दूसरी ओर वे माता-पिता हैं जो बच्चे के अपराध करने पर उसे हँसकर टाल देते हैं। बच्चा किसी बड़े से अशिष्ट व्यवहार कर दे या उसका अपमान करे तो उसे डाँटने की बजाय उलटा प्रसन्न होते हैं। अश्लील बातें या हावभाव करने पर, सिनेमा के गन्दे गीत गाने या नृत्य पर उसे प्रोत्साहित करते हैं। तथोक्त बड़े घरों में अध्यापक को तिरस्कारपूर्ण शब्दों में स्मरण किया जाता है, जबकि बच्चे को आदर मिलता है।

ग्रन्थकार का स्पष्ट मत है कि उन्हीं की सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होती है जो सन्तानों का लाड़न नहीं करते, किन्तु ताड़ना करते रहते हैं। वे लिखते हैं—'जब कभी बालक कोई बुरी चेष्टा करे, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, उठने-बैठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, चोरी-जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिभोजन, अतिजागरण, अतिनिद्रा, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अण्ट-सण्ट मारना, विषय-सेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना व सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसे यथापराध कठिन दण्ड देवें। आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा देने के लिए प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लालन करना है, उतना ही उनके लिए बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिए सुधार है, परन्तु ऐसी ताड़ना न करें जिससे अङ्गभङ्ग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के-लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जाएँ।'—व्यवहारभानु

वस्तुतः दण्ड-व्यवस्था के अभाव में सारी व्यवस्था शिथिल हो जाती है और व्यक्ति को मनमानी करने का अवसर मिलता है। अपराध का दण्ड न मिलने पर अपराधी को बार-बार वैसा ही करने को प्रोत्साहन मिलता है। मनु ने **'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः'** तुलसी ने **'भय बिन प्रीत न होय'** तथा कबीर ने **'भय पारस है जीव को'** कहकर बालकों के पालन-पोषण तथा शिक्षण में समुचित दण्डव्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है। ग्रन्थकार की मान्यता है—"जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता-पिता और आचार्य हो सकते हैं?' —व्यवहारभानु

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आँख मूँदकर दण्डव्यवस्था लागू की जाए। अध्यापक का अपने शिष्य के साथ तादात्म्य व हित की भावना न होनेपर दण्डव्यवस्था पूर्ण फलदायी नहीं होती। वस्तुतः दण्ड तभी फलदायी होता है जब दण्ड देनेवाले के हृदय में पूर्ण हित की भावना हो और बालक या विद्यार्थी को इसका विश्वास हो। ग्रन्थकार के गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी का स्वभाव उग्र था। कभी-कभी क्रुद्ध होकर वे शिष्यों के हाथ पर लाठी भी जमा देते थे। एक बार ग्रन्थकार की भी बारी आगयी। कहते हैं लाठी की उस चोट का निशान मरणपर्यन्त उनके हाथ पर बना रहा, जिसे देखकर वे उसे गुरु का प्रसाद मानते हुए प्रसन्न हो उठते थे। उन्हें गुरु के उपकारों का स्मरण हो आता और कृतज्ञतापूर्ण आनन्द से उनके नेत्र सजल हो उठते थे। अपनी अनुभूति के आधार पर ही वे यह लिख सके कि "शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें।'

[चोरी आदि के त्याग, और सत्याचार-ग्रहण की शिक्षा]

जैसी अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी-जारी, आलस्य-प्रमाद, मादक-द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा-क्रूरता, ईर्ष्या-द्वेष-मोह आदि दोषों के छोड़ने, और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें, क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी-जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करनेवाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिए, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि–'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूँगा वा मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूँगा', इसको वैसा ही पूरी करे। नहीं तो उसकी प्रतीति[1] कोई भी न करेगा। इसलिए सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिए।

[अभिमान से हानि]

किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि **'अभिमानः श्रियं हन्ति'** यह विदुरनीति का वचन है। जो अभिमान अर्थात् अहंकार है वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है। इस वास्ते अभिमान करना न चाहिए।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता व शिक्षाशास्त्री दण्ड के औचित्य को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार इससे बालक के मन में अनेक प्रकार की कुण्ठाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना है। यह सच है कि यदि दण्ड विवेकपूर्वक न दिया जाए तो वह दण्ड बालक के सर्वनाश का कारण बन सकता है, पर यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि दण्डव्यवस्था सर्वथा समाप्त हो जाए तो छात्र के उद्दण्ड एवं उच्छृंखल हो जाने की भी आशंका रहती है, अतः शास्त्रकारों ने छात्र के सुधार के लिए उसे आवश्यक माना है।

प्रतिज्ञा-पालन—प्रथम संस्कारण में इतना विशेष है—"प्रथम तो विचार करके प्रतिज्ञा करनी चाहिए। जब प्रतिज्ञा की तब उसका पालन यथावत् करना चाहिए। जैसा कहे, वैसा ही प्रतिज्ञा-पालन अवश्य करै, अन्यथा कभी न करै। प्रतिज्ञा की जो हानि है सो मनुष्य का महादोष है।"

प्रतिज्ञानुसार कार्य करने और यथासमय करने का अभ्यास शैशवावस्था से न कराया जाए तो भावी जीवन में वैसा करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसके अभाव में समाज का व्यवहार नहीं चल सकता, इस विषय में ग्रन्थकार की भावना कितनी प्रबल थी, यह उन्होंने स्वरचित वेदभाष्य में अनेकत्र व्यक्त किया है। यजुर्वेद अध्याय नौ के १२वें मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं—"राजा, उसके नौकर, प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है, वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राजा और प्रजा के पुरुषों का विश्वास और वे सुखों को नहीं बढ़ा सकते।" पुनः यजुर्वेद अध्याय ४० के तीसरे मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिखा है—"वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं जो आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं और जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में निष्कपट एक-सा आचरण करते हैं वे देव सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं।" मनुष्य का कर्त्तव्य है कि पहले भली प्रकार सोच-विचार कर कुछ कहे और तत्पश्चात् जो कहा है उसे कार्यान्वित अवश्य करे।

---

१. अर्थात् विश्वास

[छल-कपट-कृतघ्नता से हानि]

छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिए ? **'छल'** और **'कपट'** उसको कहते हैं कि जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल, और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना । **'कृतघ्नता'** उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना ।

[सामान्य व्यवहार की शिक्षा]

क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले, और बहुत बकवाद न करे । जितना बोलना चाहिए, उससे न्यून या अधिक न बोले । बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाके उन्हें उच्चासन पर बैठावे । प्रथम **'नमस्ते'** करे । उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे । सभा में वैसे स्थान पर बैठे जैसी अपनी योग्यता हो, और दूसरा कोई न उठावे । विरोध किसी से न करे । सम्पन्न होकर गुणों का

कृतघ्नता—कृतघ्नता बहुत बड़ा पाप है—इतना बड़ा कि इसका कोई प्रायश्चित्त भी सम्भव नहीं—**कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः** ।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार—

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानामपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥—कि० का० ३०।७३

अर्थ—जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य पूरे नहीं हुए हैं, उनकी कार्यसिद्धि में सहायक नहीं होते, उन कृतघ्न लोगों के मरने पर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते ।

यह अर्थवाद है, जिससे कृतघ्नता की पापातिशयता प्रकट होती है ।

शैक्सपीयर ने अपने नाटक King Lear में कृतघ्नता का विवेचन करते हुए लिखा है—

Ingratitude ! thou marble hearted fiend, more hideous than the sea monster, when thou showest thee in a child.

कृतघ्नते! तू पाषाणहृदय राक्षस के समान है—समुद्री दानव से भी अधिक विकराल है, जब तू बालक के रूप में प्रकट होती है ।

How sharper than a serpent's teeth it is to have a thankless child.

कृतघ्न सन्तान साँप के वेषैले दाँतों से भी तीव्र वेदना देनेवाली होती हैं ।

Filial ingratitude, is it not like the mouth cutting the hand for lifting food to it. ?

यदि सन्तान कृतघ्न हो जाए तो यह ऐसा ही है जैसे मुँह उसमें रोटी डालनेवाले हाथ को काट ले ।

सामान्य व्यवहार—

अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥—महा० उद्योगपर्व

जो बिना बुलाये सभा में जाए या किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्चासन पर बैठने की चेष्टा करे, बिना पूछे सभा में बोलता जाए, जो विश्वास के योग्य नहीं है, उस मनुष्य मे विश्वास करे वह मूढ़ और नीच मनुष्य होता है ।

यदि सभा में चला जाए तो किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषय में मनु का निर्देश है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।

अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥ —मनु० ८।१३

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे । यदि प्रवेश करे तो सत्य ही बोले । यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले तो वह अतिपापी है ।

समाज में एक दूसरे के प्रति किस प्रकार व्यवहार करें, इस विषय में ग्रन्थकार ने सातवें नियम में लिखा है—"सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए ।" समान्य नियम सबसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने का है, किन्तु देश, काल और पात्र को ध्यान में रखते हुए यथायोग्य व्यवहार का भी निर्देश कर दिया गया है । पर 'यथायोग्य' को धर्म की सीमा में बाँध दिया गया है ।

नमस्ते—परस्पर अभिवादन के लिए 'नमस्ते' करना ही शास्त्रसम्मत है । वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थों में सर्वत्र इसी का विधान किया है । अन्य जितने भी पद वर्तमान में प्रचलित हैं, वे सब अशास्त्रीय एवं कपोलकल्पित हैं । हमारे पूर्वपुरुष सदा से 'नमस्ते' का ही प्रयोग करते आये हैं । अपने कथन की पुष्टि में हम यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के दो मन्त्र इस प्रकार हैं —

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च

नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥३०॥

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च

नमो मध्यमाय चापगलभाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥३२॥

मन्त्रार्थ के लिए इनसे पहले एक मन्त्र के आरम्भ में आये **'नमस्ते आयुधाय'** इत्यादि के नमस्ते पद में से 'ते' का अनुकर्षण करना चाहिए । इन मन्त्रों के अन्वयार्थ से स्पष्ट है कि यहाँ छोटे, बड़े और बराबरवाले सबके लिए नमस्ते शब्द से अभिवादन का निर्देश किया गया है । महीधर और उव्वट ने भी इन मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार किया है । इस अध्याय के १४वें मन्त्र के अन्तर्गत 'नमस्ते' का अर्थ इस प्रकार किया है—**'नमस्ते नमोऽस्तु ते ।'**

कठोपनिषद् में गुरुवर यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं—**"नमस्ते ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु ।"** १।६

ब्रह्मवादिनी गार्गी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन करती है—

"सा होवाच, नमस्ते याज्ञवल्क्याय ।" शत० १४।६।८।५

राजर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से उनके आश्रम से विदा होते समय कहा—

"नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ।"—वा०रा० बा० ५२।१७

शकुनि मामा अपने भानजे युधिष्ठिर से—

"ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ।" —महा० सभा० ८१।३०

श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से—**"एतत् सर्वमनुध्याय .....नमस्ते भरतर्षभ ।"** —महा० शा० प० ३३।५३

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से—**"नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम ।"**— शा० प० ४३।३

कौसल्या अपने पुत्र राम से —**"देव देव नमस्तेऽस्तु ।"** अध्यात्मराम० बाल० ३।२०

हिमवान्जी अपनी पुत्री पार्वती से—**"नमस्तेऽस्तु महादेवी नमस्ते परमेश्वरी ।"** कूर्मपु० १२।२३६

नमस्ते के उत्तर में नमस्ते —

राम उवाच—**"नमस्ते देव देवेश भक्तानामभयंकर।"**
उत्तर में महादेव—**"श्वेतं द्वीपं स्वकं स्थानं व्रज देव नमोऽस्तु ते (नमः+ते=नमस्तेऽस्तु)।"**
—पद्मपु० सृ० ख० ४०/१५५, १३६

सावित्री—**"देव! नमोऽस्तु ते।"**
ब्रह्माजी—**"पादयोः पतितस्तेऽहं क्षमस्वेह नमोऽस्तु ते।"** तदेव १७।१४७-१५७
श्वसुर दक्ष अपने जामाता **महादेवजी से—"नमो दिक्चर्मवस्त्राय नमस्ते तीव्रतेजसे।"**
—प० पु० सृ० ख० ५।८०

ब्रह्माजी की भूल से यज्ञ के समय उनकी धर्मपत्नी रुष्ट हो गयी। रुष्ट सावित्री को मनाने के लिए उन्होंने विष्णु और लक्ष्मी को भेजा। ब्रह्माजी की आज्ञा से वे दोनों सावित्री को मनाने गये। सावित्री ने जब उन दोनों को आते देखा तो जल्दी से खड़ी हो गयी—

'उत्तस्थौ सत्वरा भूत्वा'। तब विष्णुजी बोले—

"नमस्ते देव देवेशि ब्रह्मपत्नि नमोऽस्तु ते"।

हे ब्रह्मपत्नी सावित्रीजी! नमस्ते।

विष्णुजी आयु में सावित्री से बड़े और रिश्ते में श्वसुर थे और प्रभावशाली थे। इसीलिए सावित्री को मना लाने का काम ब्रह्माजी ने उन्हें और लक्ष्मी को सौंपा था, परन्तु वहाँ जाकर वे बातों में लग गये। देरी होती देख ब्रह्माजी ने शंकर और पार्वती को भेजा। शंकर ने वहाँ जाते ही सावित्री को नमस्ते की—**"दूरादेव तु रुद्रेण ब्रह्माणि चाभिवादिता, देवि नमोऽस्तु ते।"** फिर शंकरजी ने पार्वती की ओर संकेत करते हुए कहा—**"एषा गौरी समायाता भ्रातृभार्या तवानघा।"** तुम्हारी भाभी भी मेरे साथ तुम्हें मनाकर ले जाने के लिए आई है। —प० पु० सृ० खं०

सावित्री और गायत्री दोनों ब्रह्माजी की पत्नियाँ थी। सावित्री को महादेवजी बहन कहते हैं तो गायत्री (बहन की सपत्नी होने के नाते) भी उनकी बहन हुई। पहले भाई ने बहन को नमस्ते की थी तो अब दोनों बहनें (गायत्री व सावित्री) भाई शंकरजी का अभिवादन करते हुए कहती हैं—**"नमस्ते गिरिजानाथ"** हे पार्वतीपते! नमस्ते।—स्कन्दपु० ब्र० खं० से० मा० ४०।३१

यह सारी कथा सर्वथा काल्पनिक है। यहाँ इसे उद्धृत करने का हमारा अभिप्राय इतना ही बताना है कि पुराणों तक में छोटे-बड़े, पति-पत्नी, श्वसुर-जामाता, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, माता-पुत्र सभी परस्पर अभिवादन के लिए नमस्ते का ही प्रयोग करते हैं।

गरुडपुराण में ५६ बार, देवीभागवत में ६६ बार, ब्रह्माण्ड में ६५ बार, कूर्म में ६६ बार, शिवपुराण में १४८ बार, भविष्य में २३० बार, पद्म में ३३५ बार और स्कन्द (पाँचवें खण्ड तक) ५५३ बार—इस प्रकार पुराणों में ही कुल मिलाकर कम-से-कम १७४६ बार **'नमस्ते'** का प्रयोग हुआ है।

गृहस्थों के कर्त्तव्यकर्म का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उनका मान्य किया करें। जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावें और हाथ जोड़कर आप समीप बैठें, पूछें, वे उत्तर देवें। और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करें।" (गृहाश्रमविधि)

इसी प्रकार पति-पत्नी के कर्त्तव्य का निरूपण करते हुए लिखा है—"जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में, वा किसी के पास जाकर नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके अपनी योग्यता के अनुसार बैठके दूसरे की बात ध्यान से सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर युक्त उत्तर-प्रत्युत्तर करता है, तब

ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग, अपने माता-पिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।

[सुचरित के ग्रहण और दुश्चरित के त्याग का उपदेश]

'यान्यस्माक॰ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् (शिक्षा० ११) का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि माता-पिता आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि—'जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन-उनका ग्रहण करो और जो-जो दुष्टकर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो'।

जो-जो सत्य जानें उन-उनका प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिए माता-पिता और आचार्य्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करें। जैसे माता-पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी' अथवा

सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्ड-बण्ड बकता, उसका तिरस्कार करते हैं"
— व्यवहारभानु, भूमिका

नमस्ते करने का प्रकार—दोनों हाथ जोड़ कर, बायें हाथ की कुहनी से हृदय को और जुड़े हुए दोनों हाथों से माथे को स्पर्श करते हुए, किंचित् नतमस्तक होकर ही 'नमस्ते' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। मस्तिष्क बुद्धि का, हाथ शक्ति का और हृदय श्रद्धा व प्रेम का केन्द्र है। सो हृदय को स्पर्श करते हुए, हाथ जोड़ किंचित् नतमस्तक हो नमस्ते करने का अभिप्राय है—बुद्धिपूर्वक, श्रद्धा और प्रेमसहित पूरे सामर्थ्य से किसी का यथोचित अभिवादन करना। अभिवादन के रूप में छोटे बड़ों के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था व्यक्त करते हैं, बड़े छोटों के प्रति अपना प्यार व आशीर्वाद प्रकट करते हैं और बराबरवाले एक-दूसरे के प्रति मैत्रीभाव से सहयोग की कामना करते हैं। इसी प्रकार पुत्र माता-पिता के सामने और शिष्य गुरु के सामने आदर-सत्कार की भावना से नमन करता है तो माता-पिता और गुरुजन प्यार करने व आशीर्वाद देने के लिए झुकते हैं।

यान्यस्माकम्—माता, पिता, गुरु आदि वन्दनीय तो हैं ही, उनके आचरण का अनुगमन करना भी सामान्य धर्म है। इस धर्म का पालन किये बिना परिवार व समाज की व्यवस्था ठीक नहीं रह सकती। जब शिष्य का अध्ययन पूरा हो जाता और वह घर जाने लगता था तब उसे अन्तिम उपदेश के रूप में यह कहा जाता था -**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** (तै० उ० १।११)। भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं— **'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः'** (शां० प० १०८।१७)—अर्थात् गुरू माता-पिता से भी श्रेष्ठ है।

उधर भगवान् मनु कहते हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ २।१४५

अर्थात् दस उपाध्यायों से आचार्य और सौ आचार्यों से पिता एवं हज़ार पिताओं से माता का गौरव अधिक है।

परन्तु ये सभी मनुष्य हैं। इनमें कोई भी निर्भ्रान्त नहीं है। अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण कोई हो भी नहीं सकता।**'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'**। ऐसी स्थिति में आचार्य ने अपने शिष्यों को सावधान करते हुए कह दिया कि हमारी अच्छी बातों का ही तुमने अनुकरण करना है, अन्यों का

---

१. अर्थात् परमेश्वर के नामों के द्वारा परमेश्वर का जैसा स्वरूप दर्शाया है, उसी प्रकार........।

अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उनका पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है¹, उसी प्राकर मानके उसकी उपासना करें।

जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन-छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें। क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख, और जो तैरना न जाने तो डूब ही जा सकता है। **'नाविज्ञाते जलाशये'** यह मनु (४।१२६) का वचन है। 'अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें'।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत्॥ —मनु० ६।४६

नहीं। महाभारत में कहा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥

यदि कोई गुरु इस बात का विचार न करे कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए और कुपथ पर चल पड़े तो उसका शासन करना उचित है। उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों में पाया जाता है (आदि० १४२।५२, उद्यो०१७६।२४, शां० ५७।७, १४०।४८)। इनमें से पहले स्थान में वही पाठ है जो हमने यहाँ दिया है। अन्य स्थानों में चौथे चरण में **'दण्डो भवति शाश्वतः'** अथवा **'परित्यागो विधीयते'** यह पाठान्तर भी है। वाल्मीकि रामायण (२।२१।१३) में जहाँ यह श्लोक है, वहाँ भी वैसा ही पाठ है जैसा ऊपर दिया गया है, इसलिए हमने यहाँ उसी को स्वीकार किया है। इस श्लोक में जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्मपितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध किया। प्रह्लाद ने जब देखा कि उसके गुरु तथा पिता उसे नास्तिकता की शिक्षा दे रहे हैं, तब उसने भी इसी निर्देश के अनुसार उनका विरोध किया। शान्तिपर्व (५५।१६) में स्वयं भीष्मपितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यद्यपि गुरु लोग पूजनीय हैं, तथापि उनको भी नीति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए-

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित्॥

हे केशव! जो गुप्तमर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार को भंग करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें लड़ाई में मारनेवाला क्षत्रिय धर्मज्ञ कहलाता है।

इसीलिए उपनिषद् ने प्रथम **'आचार्यदेवः'** कहकर उसी के साथ कह दिया कि हमारे जो अच्छे कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करो, औरों का नहीं। इससे उपनिषदों का यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि यद्यपि पिता और आचार्य को देवता के समान मानना चाहिए, तथापि यदि वे शराब पीते हैं तो पुत्र या छात्र को अपने पिता या आचार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि नीति, मर्यादा और धर्म का अधिकार माता-पिता या गुरु से अधिक होता है, परन्तु सन्तान या शिष्य **'किं कर्म किमकर्मेति'** क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, इसका निश्चय कैसे करेंगे, क्योंकि —

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥ —शां० प० २५६।१७

ऐसा आचार नहीं मिलता जो सदा सब लोगों का समान हितकारक हो। यदि किसी एक आचार को

अर्थः— नीचे दृष्टि कर ऊँचे-नीचे स्थान को देखकर चले, वस्त्र से छानके जल पीवे। सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचारके आचरण करे ॥

[शत्रु माता तथा वैरी पिता]

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा ॥

—यह किसी कवि का वचन है[१]॥

अर्थः— वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई। वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच बगुला ॥

[उपसंहार]

यही माता-पिता का कर्त्तव्यकर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन-मन-धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तमशिक्षायुक्त करना।

यह बालशिक्षा में थोड़ा-सा लिखा। इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे। [इसके आगे ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु-शिष्य की शिक्षा लिखी जाएगी। उसी के भीतर पढ़ने-पढ़ाने की शिक्षा भी लिखी जाएगी ॥][२]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये द्वितीयः
समुल्लासः सम्पूर्णः ॥२॥

स्वीकार किया जाए तो दूसरा उससे बढ़कर मिलता है। यदि इस दूसरे को स्वीकार किया जाए तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है। ऐसी स्थिति में तैत्तिरीयोपनिषद् ने मार्गदर्शन किया है। **'यान्यस्माकं सुचरितानि'** के साथ ही कह दिया—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवम् चैतदुपास्यम् ॥

अर्थात् अगर किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाए, यह समझ न पड़े कि किस स्थिति में कैसे बरतना है तो जो तुम्हारे आसपास के विद्वान्, सब प्रकार से ठीक-ठीक विचार करनेवाले हों, वे जैसा कहें वैसा करना। वे लोग ऐसे होने चाहिएँ जो उस प्रकार की स्थिति में से गुज़रे हों या समस्याओं का समाधान करने के लिए नियत हों, स्वभाव से रूखे न हो और धर्मबुद्धिवाले हों। वे जैसा कहें वैसा करना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना चाहिए।

---

१. चाणक्य-शतक ६; चाणक्य-नीति २।११ गढ़वाली-प्रेस देहरादून, सन् १६१४॥ कई संस्करणों में पाठभेद मिलता है।

२. ग्रन्थकार ने सर्वत्र प्रत्येक समुल्लास के अन्त में उत्तर समुल्लास के विषय का निर्देश किया है। तदनुसार यहां भी यह पाठ होना चाहिए। हमने इस की पूर्ति के लिए प्रथम संस्करणस्थ पंक्ति [] कोष्ठक में दे दी है।

अथ तृतीय-समुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः

[माता-पिता-आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य]

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या-शिक्षा-गुण-कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता-पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्यकर्म है। सोने-चाँदी-माणिक-मोती-मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥—नीतिशतक १५
ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमः,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयः वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ नीतिशतक ८२

सुन्दर केयूर (भुजबन्द), चन्द्रमा के समान प्रकाशमान कण्ठहार, स्नान, चन्दनादि का लेपन, पुष्पगुच्छ, केशसज्जा आदि से मनुष्य की शोभा नहीं होती। अलंकृत तथा सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है। अन्य आभूषण तो धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, एक वाणी का ही आभूषण है जो सदा चमकता रहता है।

समृद्धि की शोभा सज्जनता, शूरवीरता की वाक्-संयम, ज्ञान की शान्ति, विद्या की नम्रता, धन का सुपात्र को दान, तप की क्रोध न करना, प्रभुता की क्षमाशीलता और धर्म की निश्छल व्यवहार और इन सबकी शोभा उत्तम शील-स्वभाव है।

प्रथम श्लोक में वाणी को और द्वितीय में शील (सदाचार) को सर्वोत्तम भूषण बताया है। **'विद्या-**

[धन्य नर-नारी]

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

अर्थः—जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारीजनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहितकर्मों से पराये उपकार करने में [तत्पर] रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं ॥

विलासमनसः ......' यह श्लोक अलब्धमूल होने से स्वयं ग्रन्थकार की रचना प्रतीत होता है ।

विद्या—ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों पर विद्या की परिभाषा प्रस्तुत की है । तद्यथा—

—जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है । जो विद्या के विपरीत है—भ्रम, अन्धकार और अज्ञानरूप है—इसलिए उसको अविद्या कहते हैं ।—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—जिससे पदार्थों को यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जाएँ, वह अविद्या कहाती है ।—व्यवहारभानु

—जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सके वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है ।

—व्यवहारभानु

—यथाविहित ज्ञान ही विद्या है । प्रज्ञा (यथार्थज्ञान) के विरुद्ध अनेक भ्रम हैं, किन्तु विद्या में भ्रम नहीं होता ।

—उपदेशमंजरी

इस प्रकार विद्या में दो मुख्य तत्त्व हैं । प्रथम तत्त्व है ज्ञान की प्राप्ति अथवा ज्ञान का वर्द्धन । ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विद्या की व्युत्पत्ति से यही बात प्रकट होती है—**'वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या'**—जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह अविद्या कहाती है ।

विद्या का दूसरा तत्त्व है—उस प्राप्त ज्ञान के आधार पर उसका मानव-जीवन के लिए उपयोग । विद्या या शिक्षा के इस तत्त्व को ग्रन्थकार ने प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

—जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्या आदि दोषों को छोड़के सदा अनन्दित हो सके वह शिक्षा कहाती है ।

—व्यवहारभानु

—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं ।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

इस प्रकार ग्रन्थकार के मत में विद्या या शिक्षा की परिभाषा में विद्या (ज्ञान) की प्राप्ति और उसके आधार पर मानवीय गुणों (सभ्यता, धर्म, शिष्टाचार, संयम) का होना आवश्यक है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार भारतसहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है। जिस शिक्षा में हृदय और आत्मा की अवहेलना है, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्ष-शिक्षा के मूल तत्त्व हैं। हमारा उद्देश्य होना चाहिए ऐसी उपयुक्त शिक्षा देना जिससे भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ और विनीत हो। चाहे धर्म की किसी रूप में स्पष्ट शिक्षा दी जावे या नहीं, पर ईश्वर के लिए, मानवता के लिए, देश के लिए, दूसरों के लिए और इन सबमें अपने-आपको जीवित रखने के लिए—धर्म के इस सार को प्रत्येक विद्यालय का आदर्श बनाया जाना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कमीशन के अध्यक्ष डॉक्टर दौलतसिंह कोठारी के मत में विद्यालय-पाठ्यक्रम का एक गम्भीर दोष है—सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा का अभाव।

भारत के सबसे पहले शिक्षामन्त्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने स्कूल-कालिजों के पाठ्यक्रम के इस दोष को दूर करने के लिए धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हुए देश के राज्यों के सभी शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों (Vice-Chancellors) को अपने-अपने अधीनस्थ शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने का आदेश दिया। शिक्षामन्त्रालय के सचिव प्रो० हुमायूँ कबीर के हस्ताक्षरों से जो परिपत्र सबको भेजा गया था, हम उसकी प्रतिलिपि यहाँ दे रहे हैं—

Copy of D. O. No. F-18-7/54 dated Ist October 1955 from the Education Secretary, Govt. of India—

"There is a system of values which is widely recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and in fact the individuals constituting it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community. Steps, therefore, be taken to inculcate in the young a system of values which binds them together as members of one community. Today, there is a special need to stress this point. Not only is the urge towards the creation of new values often absent in the new generation, but it is at times looking even in a proper awareness of the rich moral and spiritual heritage which has sustained India throughout her history. The reason why India has survived inspite of poverty, hunger, disease and policical vicissitudes is her faith in values which transcend the demands of our daily experience (सत्यं शिवं सुन्दरम्) have been the principles which have governed India's destiny.

One of the main criticisms against the western system of education introduced in the last hundred and fifty years or so is that it is largely indifferent to religious values.

In educational terms this means that the development of moral and spiritual values is basic to all educational objectives. Instruction uninspired by moral and spiritual values will be inadequate as a preparation for democratic citizenship.

In the begining of the session the staff of schools and colleges may every year hold a meeting and prepare a statement of values that should guide the work of the institution for the year. Once certain values have been accepted the institution should bend all its energies to achieve the ideal in whatever is said or done within its forewalls.

[बालकों को नवम वर्ष में गुरुकुल में भेजें]

इसलिए जब आठ वर्ष के हों, तभी लड़कों को लड़कों की, और लड़कियों को लड़कियों की शाला[1] में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त

The compositions the pupils write, the speeches they make in the debating society, the pictures they paint, the maps they draw, the social activities they organise should all be directed towords the achievement of these basic values.

The central problem of moral education is that it is more a matter of practice than theory. It is not communicated by intellectual means alone, but transmitted from one person to another by living human contacts."

संक्षेपतः इस परिपत्र में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रम में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का प्रावधान करने और तद्द्वारा विद्यार्थी के चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास पर बल दिया गया है और इसके लिए अध्यापकों का स्वयं धार्मिक होना आवश्यक ठहराया गया है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ छात्रों में मानवीय व व्यावहारिक गुणों का विकास करना है। यदि विद्यार्थी में विनम्रता, कर्मठता, सत्यनिष्ठा, सेवावृत्ति, निरभिमानता, देशभक्ति आदि गुण नहीं हैं तो उसे वास्तविक अर्थों में विद्वान् वा शिक्षित होना नहीं माना जा सकता। शिक्षित मनुष्य केवल अपने लिए नहीं जीता, अपितु समाज के लिए जीता है। वह अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है। स्वरचित उपर्युक्त श्लोक में ग्रन्थकार ने साररूप में इन्हीं गुणों का निर्देश किया है। इन गुणों के अभाव में विद्या फलीभूत होगी वा नहीं, यह प्रश्न उपस्थित कर उसके उत्तर में उन्होंने कहा है—

"कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर चोरी को बुरा जानता हुआ चोरी करता और साहूकारी (वाणिज्य) को अच्छी जानकर भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करता उसको विद्या का फल कैसे होगा?" वर्त्तमान में अध्यापक का कर्त्तव्य पाठ्यक्रम में नियत पुस्तकों को पढ़ाने तक सीमित है। कक्षा के बाहर वह क्या करता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आदर्श अध्यापक को इस बात की चिन्ता होनी चाहिए कि उसके पढ़ाये ज्ञान का शिष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'व्यवहारभानु' में लिखा है—"आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ स्थिर होकर उत्साह बढ़ता जाए। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें।........... अपने आत्मा में इस बात को ध्यान में रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या, धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा का कारण न हो जाएँ।........धन्य वे मनुष्य हैं जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कभी नहीं छोड़ते।"

अध्यापक की योग्यता—ग्रन्थकार ने अध्यापक के लिए आचार्य, गुरु तथा पण्डित आदि शब्दों का पर्याय से प्रयोग करते हुए कई स्थलों पर उन्हें परिभाषित किया है। आचार्य का लक्षण और उसकी योग्यता

---

१. पदेषु पदैकदेशान् (महाभाष्य १।१। आ० १) नियम के अनुसार पाठशाला=शाला।

का विवरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

—जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम मे धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा व विद्यावान् बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं ।

—व्यवहारभानु

—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं ।

—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है ।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटा देवे, उसको भी आचार्य कहते हैं ।

—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—आचार्य उसे कहते हैं कि जो अत्याचार को छुड़ाके अर्थों को ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेद्रों के शब्द, अर्थ-सम्बन्ध और क्रिया को जाननेवाला, छल-कपटरहित, अतिप्रेम से सबको विद्यादाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश, सबका हितैषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होवे ।

इसी प्रकार गुरु व पण्डित के विषय में लिखा है—

—जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह गुरु कहाता है ।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने और दूसरों को ज्ञान कराने, सुनी-विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही पण्डित कहाता है ।

—व्यवहारभानु

सत्यार्थप्रकाश में भी अन्यत्र (चतुर्थ समुल्लास) अध्यापक और अध्यापिकाओं के गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है—

—जिसको आत्मज्ञान हो, जो निकम्मा और आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषयसम्बन्धी वस्तुएँ आकृष्ट न कर सकें, वही पण्डित कहाता है ।

—जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसे परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, विना पूछे या बिना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिए ।

—सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कर्मों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेवाला व ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही पण्डित का कर्त्तव्य कर्म है ।

धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत, और कन्याओं का भी यथायोग्य यज्ञोवीत संस्कार करके यथोक्त आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।

—जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है।

—जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण हो, जो शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है।

—जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल हो और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो, जो कभी श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे।

अध्यापक के गुणों का वर्णन करने के साथ-साथ ग्रन्थकार ने मूर्खों और पढ़ाने के अयोग्य अध्यापकों की पहचान इस प्रकार बताई है—

—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा वा सुना हो, जो बहुत घमण्डी हो, जो दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाला हो और बिना कर्म के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग मूर्ख कहते हैं।

—स०प्र० चतुर्थ समुल्लास

ऐसे अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त न करने का आदेश देते हुए वे कहते हैं—"जहाँ ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ता जाता है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अध्यापक में दो प्रकार के गुण व योग्यताओं का होना आवश्यक है—जहाँ वह पूर्ण विद्वान् और अपने विषय का पण्डित हो, वहाँ उसमें चरित्रगत व मानवीय गुण भी हों। आजकल अध्यापक की नियुक्ति के समय मात्र उसकी शैक्षणिक योग्यता अर्थात् परीक्षा में प्राप्त अंकों को ही महत्त्व दिया जाता है, किन्तु उसके चरित्रगत गुणों तथा मानवीय पक्ष की उपेक्षा की जाती है। अध्यापक में उदात्त गुणों की कल्पना करते हुए भी नियुक्ति के समय अथवा व्यवहार में इसपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों से उनके भावी जीवन में सचाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता आदि की आशा कैसे की जा सकती है?

यज्ञोपवीत—यद्यपि लड़के-लड़की के समान अधिकार को भारतीय समाज ने सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है और उसे संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त हो गयी है, तथापि समाज में ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं है जो धर्म के नाम पर लड़कियों को इस अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं। अन्यथा समान अधिकार को मानते हुए भी हृदय से लड़कियों को पढ़ाने के विरुद्ध हैं। इसलिए शास्त्रीय आधार पर इसपर विचार करना आज भी असंगत नहीं है। 'कन्याओं का यथायोग्य संस्कार करके' इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को लड़कों के समान लड़कियों का यज्ञोपवीत कराना अभीष्ट नहीं है, परन्तु ऐसा मानना ग्रन्थकार की भावना तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर व्यक्त मन्तव्यों के विपरीत होगा। द्वितीय समुल्लास में उन्होंने लिखा है—"नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके ....।" 'सन्तान' शब्द उभयवाची है अर्थात् इससे पुत्र व पुत्री दोनों का ग्रहण होता है। पुनः इसी समुल्लास में कुछ आगे

वे मनुस्मृति से **'अनेन क्रमयोगेन'** इत्यादि (मनु० २।१६४) श्लोक को उद्धृत कर उसकी व्याख्या में लिखते हैं—"इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या...... "। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में लड़का और लड़की दोनों समानरूप से उपनयन-संस्कार के अधिकारी हैं।

वस्तुतः 'सन्तान' के समान 'बालक' शब्द भी उभयवाची है और उससे लड़का व लड़की दोनों का ग्रहण होता है। इसकी पुष्टि **'लिङ्गानां च न सर्वभाक्'** व्याकरणमहाभाष्य (४।१।६३) के इस वचन से होती है। जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि ग्रन्थकार ने बालिका या कन्या के उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार का उल्लेख नहीं किया, अतः कन्याओं का उपनयन नहीं होना चाहिए, उनका यह कथन ठीक नहीं है। संस्कारविधि में 'बालक' का निर्देश करके कर्ण और नासिका दोनों के वेध का विधान किया है। तो बालक शब्दमात्र से लड़के की नासिका भी छिदनी चाहिए, परन्तु नासिकावेध तो सर्वत्र लड़कियों का ही होता है, अतः स्पष्ट है कि बालक शब्द बालक-बालिका दोनों का बोधक है। स्थल, प्रकरणादि के अनुसार दोनों में से किसी एक का अथवा दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में स्पष्ट लिखा है—

"कन्या भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से शरीर को आच्छादित और यज्ञोपवीत को धारण करके विवाहशाला में आये।" उपनयन के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है। श्रौतसूत्रादि के **'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** इस आदेश से वह मन्त्र भी पढ़ती है, अतः ग्रन्थकार को कन्याओं के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ दोनों संस्कार अभीष्ट हैं।

नामकरण आदि संस्कारों के अन्त में जो आशीर्वचन लिखे हैं वे सब पुंल्लिङ्ग में हैं, अतः बालिका के इन संस्कारों को करते समय पुंल्लिङ्ग शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में बदलकर आशीर्वचन का उच्चारण करना-कराना चाहिए। जैसे—**'हे बालक! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः'** को बालिका के आशीर्वाद में इस प्रकार पढ़ना चाहिए—**'हे बालिके! त्वमायुष्मती वर्चस्विनी तेजस्विनी श्रीमती भूयाः'**। अष्टाध्यायी के **'पुमान् स्त्रिया'** (१।२।६७) इस सूत्र के अतिरिक्त इस विषय में **'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्'** (१।२।६८) तथा **'पिता मात्रा'** (१।२।७०) आदि सूत्र द्रष्टव्य हैं।

प्राचीन काल में स्त्रियों का यज्ञोपवीत होता था और वे लड़कों के समान ही गुरुजनों से वेदादि समस्त शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करती थीं। निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ॥

गोभिलीय गृह्यसूत्र (२।१।१६)में लिखा है—**'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत्—सोमोऽददद् गन्धर्वाय इति'**— अर्थात् कन्या को वस्त्र पहने हुए तथा यज्ञोपवीत धारण किये हुए पति के पास लाये तथा यह मन्त्र पढ़े—**सोमोऽददत्**। इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय कन्या का उपवीत होना अनिवार्य है। हारीतसंहिता में स्त्रियों के दो भेद किये हैं—**'ब्रह्मवादिन्यः'** तथा **'सद्योवध्वः'**। पराशरसंहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार पण्डितप्रवर मध्वाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—**"द्विविधा स्त्रीयो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम् अग्निबन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्याचर्या इति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिद् उपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः,**—अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक ब्रह्मवादिनी जिनका उपनयन होता है, जो अग्निहोत्र करती हैं, वेदाध्ययन करती हैं और अपने परिवार में भिक्षावृत्ति करती हैं और दूसरी **'सद्योवध्वः'**—जिनका शीघ्र ही विवाह होनेवाला है। इनका उपनयन कराके

शीघ्र विवाह करा देना चाहिए। सातवीं शताब्दी के ऐतिहासिक राजा हर्षवर्धन की सभा के रत्न महाकवि बाणभट्ट ने अपने विश्वविख्यात महाकाव्य कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है—**'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्'**—अर्थात् जिसका शरीर ब्रह्मसूत्र धारण करने के कारण पवित्र था। ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत का ही अपर नाम है। स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण है—**'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता'** (ऋ० १०।१०९।४)। यज्ञोपवीत के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है।

'यथायोग्य' के पश्चात् और **'संस्कार'** से पूर्व **'यज्ञोपवीत'** का अध्याहार कर लेना चाहिए। **'यथायोग्य'** विशेषण का तात्पर्य उपनयनसंस्कारस्थ मुण्डन, भिक्षा, वस्त्रादि प्रदान की उन विधियों से है जिनमें बालक-बालिका में परम्परागत भेद करना आवश्यक है। स्मृति-ग्रन्थों में यज्ञोपवीत के पश्चात् ब्रह्मचारी के लिए दण्ड धारण करने, भिक्षा करने तथा मृगचर्मादि धारण करने का विधान है। कन्या के लिए पर-घर से भिक्षा करना तथा अजिन धारण करना आदि वर्जित है। गोभिलगृह्यसूत्र के टीकाकार बंगाली विद्वान् महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने लिखा है—**'स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च।'** अर्थात् कन्या के लिए अपने घर में ही भिक्षा का विधान है। वह अजिन अर्थात् मृगचर्म, चीर तथा जटा धारण न करे।

बालक के द्विज होने का विचार इतना उत्कृष्ट था कि यह वैदिक धर्म से अन्य धर्मों में भी जा पहुँचा। पारसी लोगों में जिनका उद्‌भव आर्यों से है, अब भी यज्ञोपवीत-संस्कार की परम्परा है। उनके यहाँ ७ से ९ वर्ष तक की आयु के बीच में 'सुदरेह कुस्ती' पहनाई जाती है। तभी उसे पारसी धर्म में प्रविष्ट माना जाता है। सुदरेह मलमल का एक अंगवस्त्र होता है और कुस्ती ऊन का बना हुआ ७२ रेशोंवाला धागा होता है।[1] अपनी पुस्तक 'Fountainhead of Religions' में पं० गंगाप्रसाद चीफ़ जज लिखते हैं—

"It is interesting to note in this connection that like the twice-born (the first three classes) among the followers of Vedic Religion, the Parsees are also enjoined to wear the sacred thread, which they call KUSTI. We quote here from the Vendidad—

"Zarathushtra asked Ahura Mazda: O Ahura Mazda ! through what is one a criminal worthy of death ?" Then said Ahura Mazada: By teaching an evil religion ? Spitoma Zarathushtra ! Whosoever during spring seasons does not put on the sacred thread (Kusti), does not recite the Gathas, does not reverence the good waters, etc."

उक्त उद्धरण का अर्थ यह है कि पारसियों के पैग़म्बर स्पित्म ज़रथुश्तर को पारसियों के भगवान् अहुरमज़्द ने कहा कि जो कुस्ती (यज्ञोपवीत) को धारण नहीं करता उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।

वैदिक संस्कृति में यज्ञोपवीत धारण का मन्त्र तथा पारसियों में कुस्ती धारण करने का मन्त्र एक समान अर्थ के द्योतक हैं। वैदिक संस्कृति का मन्त्र (पा०गृ० २।२।११) इस प्रकार है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है, बल देनेवाला है—इत्यादि।

---

१. ज़रथुस्त्री (पारसी) धर्म में कर्म की प्रधानता है। गाय को पारसी लोग पवित्र मानते हैं। सफ़ेद बछड़े का लालन-पालन विशेषरूप से करते हैं। उसे 'वरस्याजी' कहा जाता है। गोमूत्र (नीरंग) का अनेक धार्मिक क्रियाओं में उपयोग होता है।

पारसियों का मन्त्र इस प्रकार है—

'फ्राते मज़्दाओ बरत् पौरवनीम् एयाओं घनिमस्ते हर-पाये संघेम मैन्युतस्तेम् बन्धुहिम दयैनीम् मज़्दवास्नाम् ॥' इसका अर्थ है—ऐ डोरा ! तू बहुत बड़ा है, तू बहुत उज्ज्वल है (परमं पवित्रं—शुभ्रम्), आयु और बल देनेवाला है (आयुष्यमग्र्यं) है, तुझे मज़्दा ने आरोपित किया है (प्रजापतेर्यत्सहजम्). मैं तुझे पहनता हूँ ।

उपनय का अर्थ है पास ले-जाना । विद्याध्ययन के लिए, गुरु द्वारा संस्कृत होने के लिए गुरु और शिष्य का निकटतम होना आवश्यक है । संस्कृत में शिष्य के लिए प्रयुक्त 'अन्तेवासी' शब्द अत्यन्त सार्थक है । 'अन्तेवासी' का अर्थ है (गुरु के) अन्दर बसा हुआ । वेदारम्भ-संस्कार के पश्चात् बालक के माता-पिता उसे गुरु के पास ले-जाते हैं । वहाँ वे आचार्य से प्रार्थना करते हैं—**'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥''** (यजुः० २।३३) । ब्रह्मचारी के लिए पुष्पादि की माला पहनना निषिद्ध है । इसलिए 'स्रजम्' से यहाँ माला की तरह 'यज्ञोपवीत धारण किये हुए' समझना चाहिए । माता-पिता के अनुरोध को स्वीकार करके आचार्य बालक को इस प्रकार सुरक्षित रखता और पालन-पोषण करता है, जिस प्रकार माता उसे गर्भ में सँभालकर रखती है । 'अन्तेवासी' शब्द में मानो इस मन्त्र का सार निहित है । माता साँस लेती है, गर्भस्थ बालक साँस नहीं लेता, माता भोजन करती है, बालक भोजन नहीं करता, परन्तु माता के साँस में बालक का साँस और माता के भोजन में बालक का भोजन होता है । गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की इससे उत्कृष्ट उपमा नहीं हो सकती । अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

'विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिए कि विद्यार्थी, कुमार वा कुमारी को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें । जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा उसका पालन करें कि वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों । यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए ।'

गर्भ धारण करने की उपमा जहाँ गुरु तथा शिष्य की निकटता व एक-दूसरे के प्रति हितचिन्तन की पराकाष्ठा को सूचित करती है वहाँ यह गुरुकुलवास में पिता-पुत्र अथवा माँ-बेटे की तरह एक-दूसरे के सुख-दुःख के भागी बनने को भी प्रकट करती है ।

ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत आश्वलायनगृह्यसूत्र से यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् । गर्भाष्टमे वा । एकादशे क्षत्रियम् । द्वादशे वैश्यम् । आ० गृ० १।१६।१-४

आश्वलायनगृह्यसूत्र के ये वचन मनुस्मृति २।३६ के निम्न श्लोक के अनुसार हैं—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपवीतकम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

इस श्लोक से वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक होना सिद्ध होता है, जबकि मनु उसे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानते हैं । इन शब्दों का ऊहित अर्थ करने पर इस शंका का समाधान हो जाता है । तदनुसार **ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य** तथा **वैश्यस्य** का अर्थ क्रमशः ब्राह्मण का बालक, क्षत्रिय का बालक तथा वैश्य का बालक होगा । जब तक गुरुकुल में बालक की विद्या पूर्ण नहीं हो जाती और परीक्षोपरान्त आचार्य द्वारा उसका वर्ण निर्धारित नहीं होता तब तक उसे जन्मना ज्ञात वर्णस्थ मानने में कोई असामंजस्य नहीं है ।

तत्पश्चात् उन्होंने मनुस्मृति अध्याय २ के ३७वें श्लोक को उद्धृत किया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

इस श्लोक का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—'जिसके शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म या गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

इस प्रकार उन्होंने **'ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य'** का अर्थ **'ब्रह्मवर्चस'** की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण का, **'राज्ञो बलार्थिनः'** का अर्थ बल की इच्छा करनेवाले क्षत्रिय का तथा **'अर्थिनो वैश्यस्य'** का अर्थ-धन की इच्छा करनेवाले वैश्य का किया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के लिए 'इच्छुक' शब्द सार्थक नहीं है।[1] वस्तुतः ये प्रयोग बच्चे के सन्दर्भ में माता-पिता की इच्छा व आकांक्षा के अनुरूप हैं।

प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव परिलक्षित होते हैं। प्रायः अपने माता-पिता से संक्रामित गुण-कर्म-स्वभाव का बीज बालकों के हृदय में होता है। यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो द्विजों में तदनुरूप उनके विकास की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए जब तक कोई सन्तान अपने को अन्यथा सिद्ध न करदे तब तक उनका वही वर्ण माना जाता है, जो उनके माता-पिता का है, परन्तु यदि शूद्र के बालक को पढ़ाया ही न जाएगा तो उसकी उन्नति के द्वार ही बन्द हो जाएँगे, इसलिए उसे बिना यज्ञोपवीत के पाठशाला में भेजने की व्यवस्था की गयी है।

आरम्भ में माता-पिता अपनी सन्तान को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुरूप सब संस्कार करते हैं। पुनः उनकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का निश्चय आचार्य करते हैं—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ —मनु० २।१४८

मनु और तदनुयायी ग्रन्थकार ने उपनयन-संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया है। कारण ? कोई भी अपनी सन्तान को शूद्र बनाना नहीं चाहता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संकल्पपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, बन जाता है। जो व्यक्ति शिक्षा का अवसर दिये जाने पर भी इन तीन वर्णों में से किसी भी वर्ण के गुणों को धारण करने में असमर्थ रहता हैं, वह शूद्र बनकर रह जाता है। मनुस्मृति १०।४ में लिखा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥

विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म ग्रहण करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं। इस प्रकार दूसरा जन्म ग्रहण न करने से एक जाति=एक जन्मवाला शूद्र कहाता है। यह एक जन्म तो सभी का होता है—**'जन्मना जायते शूद्रः'** ।

उपनयनकाल के प्रसंग में ग्रन्थकार ने लिखा है—

1. After some time Protestants concluded that infants—who cannot believe for themselves—should not be baptised. But Luther vigorously defended the tradition of infant baptism.—World Encyclopedia, Vol. 12, P. 532

[गुरुकुल का स्थान और उसकी व्यवस्था]

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोश एक-दूसरे से दूर होनी चाहिएँ। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, सर्वकालमित्येके।

वहाँ इसे शतपथ का वचन कहा है, परन्तु शतपथ में यह नहीं मिलता। शत० २।१।३।५ में इससे मिलता-जुलता पाठ है, किन्तु वह अग्न्याधान प्रकरण का है, उपनयन का नहीं। गदाधर ने पारस्कर-गृह्यसूत्र १।२ की व्याख्या में **'श्रुतिः—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्'** ऐसा पाठ उद्धृत किया है। बोधायनगृ०सू० में **'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, वर्षासु रथकारमिति। सर्वान् एव वा वसन्ते'** यह पाठ उद्धृत है।

वर्णविभाग में यह ऋतुएँ सकारण निर्धारित की गयी हैं। वसन्त में न भीषण सर्दी पड़ती है, न घोर गरमी। ब्राह्मण को भी ऐसी सात्त्विकता अपेक्षित है। ग्रीष्म तेजस्वी होने के कारण क्षत्रिय के अनुकूल है। शरद् ऋतु में व्यापार शुरु होता है, अतः वैश्य के लिए वह सुविधाजनक है।

'द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत करके..... पाठशाला में भेज दें'—यहाँ शूद्रों के बालकों को पाठशाला में भेजे जाने के विषय में ग्रन्थकार मौन हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि वे विद्याध्ययन में शूद्रों को विद्याध्ययन से वंचित रखना चाहते हैं। ऐसा मानना ग्रन्थकार के अन्यत्र उपलब्ध वचनों के विपरीत है। द्वितीय समुल्लास में वे लिख आये हैं—'शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।' पुनः तृतीय समुल्लास में कुछ आगे चलकर सुश्रुत के प्रमाण से उन्होंने लिखा है—'शूद्र पढ़े पर उसका उपनयन न करे'। इसी समुल्लास के अन्त में उन्होंने **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** इस कथन का खण्डन करते हुए बलपूर्वक स्त्रियों के साथ-साथ शूद्रों के भी, न केवल साधारणतया पढ़ने, बल्कि वेद का अध्ययन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान की है। 'उपनयन किये बिना' की समीक्षा हम द्वितीय समुल्लास में यथास्थान कर आये हैं। अच्छा होता यदि अध्ययनाऽध्यापन विधि से सम्बन्धित इस समुल्लास के आरम्भ में अन्य वर्णों के साथ शूद्रादि के बालकों को भी गुरुकुल या पाठशाला में भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख रहता।

विद्यालय एकान्त में—ऋग्वेद ८।६।२८ में कहा है—**'उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।'** प्रचलित पाठ में **'सङ्गथे'** के स्थान में **'सङ्गमे'** पद का प्रयोग मिलता है। हमारा पाठ श्री सातवलेकरजी तथा श्री जयदेव मीमांसातीर्थ के अनुसार है। पर्वतों के समीप और नदियों के संगम स्थल में उत्तम बुद्धि और कर्म के योग तथा ध्यान के अभ्यास से मनुष्य ज्ञानी होता है। धारणा, ध्यान आदि के लिए पर्वतों तथा नदियों के आह्लादकारक स्थान सहायक सिद्ध होते हैं। ऐसे ही विद्याध्यन के लिए अपेक्षित चित्त की एकाग्रता के लिए इस प्रकार के एकान्त स्थान लाभदायक होते हैं। ग्रन्थकार ऐसे ही एकान्त स्थान में स्थित गुरुकुल में शिक्षा की व्यवस्था के पक्षधर हैं। यह बालक का निर्माणकाल है। इस समय उसे ऐसे स्वच्छ एवं पवित्र वातावरण की आवश्यकता होती है जो उसके शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास में सहायक हो। नगर का वातावरण अध्ययन-अध्यापन में किस प्रकार और किस सीमा तक बाधक है, यह सबके प्रत्यक्ष का विषय है। विविध प्रकार के निकृष्ट मनोरंजन के साधन, विवाहित स्त्री-पुरुषों का स्वेच्छाचार, आये दिन होनेवाली हड़तालें, जलूस व झगड़े आदि सभी छात्रों को अपनी ओर

आकृष्ट करते रहकर उनके कार्य में बाधक सिद्ध होते हैं और उसे अपने मार्ग से विचलित करते हैं। उसके अपने घर का वातावरण भी उसपर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। समय-समय पर उसे पारिवारिक दायित्वों को भी निभाना पड़ता है।

आज हमारे समाज के तथाकथित उच्च वर्ग को पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता की चकाचौंध में अन्धा होने के कारण अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परिवेश और परम्परा आदि सभी से घृणा है। यह वर्ग क्लबों में जाकर सुरा-सुन्दरी का सहवास प्राप्त करना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठा है। इनके घरों में विलास के सभी उपकरण सहज उपलब्ध हैं। नग्न स्त्रियों के चित्रोंवाली पत्रिकाएँ तथा अश्लील उपन्यास इनके घरों की शोभा हैं। इनके बच्चे अश्लील अंग्रेजी फ़िल्में देखते और अश्लील गानों की धुनों पर अश्लील हाव-भाव के साथ थिरकने में गर्व महसूस करते हैं। इस सबके फलस्वरूप निर्बाध विलास में लिप्त लोगों को पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने तथा उनकी कन्याओं को युवकों के साथ बाँह-में-बाँह डाले घूमने में कोई संकोच नहीं होता। उससे प्रभावित और आकृष्ट होकर मध्यवर्ग का विद्यार्थी भी उनका अनुकरण करने की चेष्टा करता है। उसके चित्त में भी अपने उच्च वर्ग के सहपाठियों जैसा विलासी जीवन व्यतीत करने की तीव्र लालसा उभरती है, परन्तु साधनों के अभाव में मन मारकर रह जाता है। इन कारणों से उत्पन्न कुण्ठाओं से ग्रस्त हर किशोर एवं युवक का चित्त एवं मस्तिष्क सर्वथा अनियन्त्रित रहता है।

विवाहोत्सवों तथा खुली सड़कों पर नशे में चूर युवक-युवतियों के अश्लील भाव-भंगिमाओं के साथ होनेवाले नृत्यों, अविवाहित प्रेमी-युगलों, सहशिक्षा, आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाले गानों तथा दूरदर्शन पर दिखाये जानेवाले कामोद्दीपक दृश्यों, विज्ञापनों, देशी-विदेशी फ़िल्मों और दीवारों पर चिपकाये गये या अन्यथा खड़े किये गये बड़े-बड़े विज्ञापनों आदि का अपरिपक्व अवस्था के छात्र-छात्राओं पर कितना दूषित प्रभाव पड़ता है—आज इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

मद्रास शहर के कालिजों में किये गये अध्ययन के आधार पर गुप्तरोग-विशेषज्ञ डॉ० नारायण रेड्डी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—

Half the students have said 'love scenes in cinemas have excited them more than pornographic and other material. Half the respondents had sexual experience between the ages of 15 and 25 years. The percentage of those who had a first homosexual experiecne increased from 16 to 19 percent, with the number of female students having such an expercience being more than that of male students by 9 to 12 percent.—Indian Express New Delhi, dated 19.4. 89.

यही कारण है कि ग्रन्थकार केवल शिक्षासंस्थाओं को ही नगरों से दूर नहीं रखना चाहते, वे यह भी चाहते हैं कि उनके माता-पिता अपनी सन्तानों से और सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार कर सकें, जिससे विद्यार्थी सब प्रकार के आकर्षणों से दूर और चिन्ताओं से मुक्त होकर सर्वात्मना विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहें।

यह कहा जा सकता है कि नगरों से दूर रहकर और परिवार व समाज से कटकर विद्यार्थी भावी जीवन में परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को नहीं निभा सकेगा। उसकी सामाजिक भावना ही नष्ट हो जाएगी, पर ग्रन्थकार ने शिक्षणसंस्था का जो स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसमें नगर व समाज से दूर रहकर भी उसकी सामाजिक भावना विलुप्त नहीं होगी। वहाँ उसे परिवार जैसा नया परिवेश मिलेगा, जिसमें आचार्य व अन्य गुरुजन उसके पितृतुल्य होंगे, संस्था उसकी माता होगी, सहपाठी

कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री, और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का, और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे, अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन-स्पर्शन-एकान्तसेवन-भाषण-विषयकथा-परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन **आठ प्रकार के मैथुनों** से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें। जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव और आत्मा के बल से युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

उसके भाई-बन्धु तथा अन्य कर्मचारी सम्बन्धियों के समान होंगे।

वस्तुतः स्वयं गुरुकुल नाम में ही कुल या परिवार की भावना विद्यमान है। एक-दूसरे से सर्वथा अपरिचित विद्यार्थियों के बीच में रहने से जिस आत्मीयता का विकास होता है वह परिवारों या नगरों में उत्पन्न सामाजिक भावना से कहीं उदात्त होती है।

सहशिक्षा—ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत शिक्षापद्धति में सहशिक्षा (Co-education) के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्रह्मचर्य व इन्द्रियसंयम पर ध्यान दिये बिना चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता। यह कोरे सिद्धान्त का विषय नहीं है। इसका व्यावहारिक पक्ष कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह एक सार्वभौम एवं सार्वकालिक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दोनों विषम लिंग एक-दूसरे के लिए आकर्षण का केन्द्र हैं, परिणामतः पारस्परिक सम्पर्क, दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदि के अवसर मिलने पर एक-दूसरे की ओर आकर्षित होना सर्वथा स्वाभाविक है। उस स्थिति में ब्रह्मचर्य की रक्षा कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस मार्ग पर **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'**—तनिक-सी असावधानी होते ही कभी भी पैर फिसल सकता है। नीतिकारों का कहना है—

'तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥' हितोपदेश

यह किसी विकृत मस्तिष्क की बड़बड़ाहट न होकर दीर्घकालीन अनुभव पर आधारित चेतावनी है।

गीता अध्याय दो में कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥६३॥

अर्थ—इन्द्रियों के दमन के लिए प्रयत्न करनेवाले विद्वान् पुरुष के मन को भी ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात् अपनी ओर खींच लेती हैं। इसलिए इन सब इन्द्रियों को संयत करके ईश्वरपरायण होना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, उसे स्थिरबुद्धि मानना चाहिए। ६०-६१।

कैशोर्य अथवा यौवनावस्था में इस स्थिति में पहुँचना अत्यन्त कठिन है। साधारणतया तो—विषयों का चिन्तन करनेवाले का मन उनमें फँसता ही जाता है। विषयों में लिप्त होने से कामवासना उत्पन्न होती है। काम की तृप्ति में बाधा होनेपर उससे क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है। सम्मोह से स्मृतिभ्रम, स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होनेपर सर्वनाश हो जाता है। ६२-६३।

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि जहाँ तक हो सके आग और घी को एक-दूसरे के पास आने के अवसर न आने दे। अवसर आने पर तो—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
अन्नं घृतदधिपयोयुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

इस सन्दर्भ में भगवान् मनु का आदेश है—

माता स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ —मनु० २।२१५

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त आसन पर न बैठे, क्योंकि बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान् को भी अपने वश में कर लेती हैं।

पूना-प्रवचन में इस वक्तव्य का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया था—'इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहन के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।'

सहशिक्षा के कारण उन्मुक्त यौनाचार कहाँ तक बढ़ा है, इसका अनुमान समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आँकड़ों से लगता है—

"Many parents in U.S.A. are alarmed at the growing and unlimited sexual freedom enjoyed by the teenagers. Boys and girls between the age of 13 and 19 consider virginity to be a burden in permissive society and get rid of this burden by ceasing to be virgins. After a study of the sexual habits of unmarried teenage girls, the researchers announced that half of American girls lose their virginity before they are 20. Of these 15% before they are 13, 21% before 16, 27% at 17, 37% at 18 and more than 46% at 19. More than 3/4 abortions in U.S.A. are performed on teenagers—400 in one University. Schools and colleges provide all types of personal counselling in these matters." —Times of India, 29.2.76 and Tribune, 10.11.75

"In West Germany 3000 illegal abortions daily. Some 12000 school girls between 13 and 15 years of age had babies every year. The number of non-virgin brides—90%. 80% marriages among the age group between 16 and 18 broke up after a very short time."

—Report from the Magazine for further Medical Aid, published in Tribune, 22.3.65.

In England—Illegitimate births anong British School girls below 16—

1957—1220

1963—4880

1980—3,20,000

'सोवियत संघ में गर्भपात की दर दुनिया में सबसे अधिक है। वर्ष में करीब एक करोड़ महिलाएँ

[राजा से रङ्क तक खान-पान-वस्त्र की समानता]

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोश दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य-वस्त्र-खान-पान-आसन दिये जाएँ। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें। जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जाएँ, तब उनके साथ अध्यापक रहें। जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें, और न आलस्य-प्रमाद करें।

गर्भपात कराती हैं। अब वहाँ विवाह—पूर्व माँ बनना निन्दनीय नहीं रहा है।

रूस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री वैज्ञानिक अर्नालिस ने कहा है कि 'अविवाहित युवतियों को समझ लेना चाहिए कि अविवाहित अवस्था में माँ बनना शादी की अपेक्षा ज्यादा सुखद, मधुर व मौजमस्तीवाला होता है।'

—नवभारत टाइम्स, २३ दिसम्बर १९८०

In California sexual assaults 25,902 yearly. —-Caravan, New Delhi, March 1976

Rape cases in U.S.A.—1968–20,000 1973–51,000

In schools mostly never or only occasionally use contraceptives. A third of the abortions by young women teachers 1974–16,000

'दिल्ली विश्वविद्यालय में ६० प्रतिशत लड़कों और ३४ प्रतिशत लड़कियों ने कम-से-कम एक बार शराब पी है। यदा-कदा पीते रहनेवालों में ७१ प्रतिशत लड़के और २६ प्रतिशत लड़कियाँ हैं।''

—हिन्दुस्तान १-२-७२

Hindustan Times (Page 5) dated 29-11-75—

Abortions—1973–74—44,000; 1974–75—90,000

'इण्डिया टुडे' के १५ अक्तूबर १९८९ के अंक में प्रकाशित दिल्ली की स्त्रीरोग विशेषज्ञ डॉ० ज्योति पारिख के वक्तव्य के अनुसार 'नई पीढ़ी के लड़कों और लड़कियों दोनों को विवाह के पहले सेक्स का अनुभव किसी-न-किसी रूप में हो ही जाता है। डॉक्टरों का कहना है कि पिछले कुछ वर्षों में गर्भवती किशोरियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। मेरे पास ९वीं और १०वीं की छात्राएँ आती रहती हैं। वे या तो गर्भवती होती हैं या फिर यह जानना चाहती हैं कि क्या उनके भावी पतियों को उनके कुमारी न होने का पता लग जाएगा? वे गर्भनिरोध के नये तरीकों में अपनी उत्सुकता ज़ाहिर करने लगी हैं।'

दिल्ली के दैनिक नवभारत टाइम्स के ११ दिसम्बर १९८९ के अंक में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार 'धौला कुआँ, नई दिल्ली के एक स्कूल में ९वीं के चार छात्रों ने छठी कक्षा की एक छात्रा के साथ स्कूल के शौचालय में कुकर्म किया। कुछ दिन बाद ११वीं कक्षा के दो छात्रों ने स्कूल की बस में वही कुचेष्टा की। वह उस समय खाली खड़ी थी। स्कूल के प्रबन्धक बदनामी के भय से मामले को चुपचाप निपटाने के प्रयास में हैं।'

आये दिन ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती रहती हैं जो विभिन्न कारणों से प्रकाश में नहीं आतीं।

सहशिक्षा से होनेवाली हानियों के परिणास्वरूप अमरीका की अनेक शिक्षासंस्थाओं में छात्र-छात्राओं

[विद्याध्ययन के विषय में राजनियम और समाजनियम]

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ —मनु० ७।१५२ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

को अलग रखने की योजना बनाई जा रही है।

समानता—वर्त्तमान में हमारा समाज दो वर्गों में बँटा हुआ है—एक साधनसम्पपन्न धनिक वर्ग और दूसरा साधनहीन निर्धन वर्ग। प्रथम वर्ग प्रायः पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता से प्रभावित है तो दूसरा वर्ग प्राचीन भारत की अध्यात्मप्रधान संस्कृति का समर्थक है। किसी हद तक ऐसी विषमता सदा, सर्वत्र विद्यमान रही है। आज का विद्यार्थी इन दोनों के बीच में खड़ा होकर अन्तर्द्वन्द्व की भट्ठी में झुलस रहा है। एक ओर उसके भीतर ऐश्वर्यमय जीवन जीने की लालसा है तो दूसरी ओर वैसा न कर पाने की असर्मथता के कारण रोष तथा विद्रोह की भावना है। अधिकारियों के प्रति अवज्ञा का भाव और तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति उसी असमर्थता और विद्रोह की अभिव्यक्ति है। आज समाजवाद का ढिंढोरा पीटनेवालों की आँखों के सामने विषमता की खाई दिन-प्रतिदिन चौड़ी होती जा रही है। आज की शिक्षा-प्रणाली में एक बालक मोटर में बैठकर स्कूल में जाता है और दूसरा लंगड़ाता हुआ पैदल घिसटता जाता है। एक सनमाइका जड़ित मेज-कुर्सी पर बैठकर पढ़ता है तो दूसरा फटे टाट पर बैठकर, एक प्रतिदिन टाई सहित नये प्रतीत होनेवाले वस्त्र पहनकर जाता है तो दूसरा टाई से भी कम पैसोंवाले आदि -मध्यान्तशून्य चिथड़े पहनकर, एक बिना भूख-प्यास के भी कैंटीन में जाकर दस-बीस रुपये फूँक आता है तो दूसरे के पास अपने पेट की आग बुझाने के लिए सूखे चने भी नहीं होते। संक्षेप में कहें तो एक की शिक्षा पर हज़ार-आठसौ रुपये प्रतिमास व्यय होता है और दूसरे पर कुल मिलाकर मुश्किल से दस रुपये। इस रूप में जिस राष्ट्र का निर्माण हो रहा है उसमें मात्र वक्तव्यों के आधार पर समाजवादी समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है? और इस प्रकार की विषमता में स्थायी सुख व शान्ति कहाँ सम्भव हो सकती है।

ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित शिक्षाप्रणाली का आधार मनुष्य के निर्माणकाल में सबके लिए अवसर की समानता है। प्राचीन आश्रमव्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता है—सबको तुल्य खान-पान, वस्त्र व आसन दिया जाना, चाहे वह कृष्ण के समान राजकुमार हो और चाहे सुदामा के समान दरिद्र की सन्तान। यह समाजवाद का व्यावहारिक रूप है जिसकी नींव गुरुकुल में रक्खी जाती है। वहाँ न कोई सम्पन्न है, न विपन्न, न कोई छोटा है, न बड़ा। सब समानरूप से आचार्य के आश्रित हैं। वहाँ न सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण अभिमान के लिए स्थान है और न दरिद्र परिवार में जन्म लेने के कारण हीनभावना से ग्रस्त होने की आशंका। निरन्तर १६ वर्ष तक इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त युवकों से ही आगे चलकर समाजवाद की भावना को बल मिल सकता है। इसी के सहारे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित वर्णव्यवस्था का विकास सम्भव है।

अनिवार्यशिक्षा—'कन्यानां सम्प्रदानम्' इत्यादि इस मनु-वचन का कई टीकाकार इस प्रकार अर्थ करते हैं कि राजा अपने कुमारों और कन्याओं की शिक्षा और रक्षा आदि की समुचित व्यवस्था करे, परन्तु पूर्वापर प्रसंग पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ राजा के स्वकीय पारिवारिक कर्त्तव्यों का

विधान नहीं, अपितु राष्ट्र के प्रति उसके कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। राजा के लिए उसकी सारी प्रजा अपनी सन्तानवत् होती है। राजा के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए अथर्ववेद (११।५।१७) में कहा है—**'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति'** अर्थात् वही राजा राष्ट्र की पूर्ण रक्षा कर सकता है जो स्वयं ब्रह्मचारी हो तथा अपने राष्ट्र के युवक-युवतियों के ब्रह्मचर्य की समुचित व्यवस्था करता हो। पौराणिक मत के अनुसार तो आवश्यकता पड़ने पर विवाहार्थ राष्ट्र की कन्याओं का सम्प्रदान (कन्यादान) भी राजा का कर्त्तव्य है। संस्कार-गणपति (पृ० २५६) में लिखा है—**'अथ कन्यादातृनिर्णयः। वीरमित्रोदये नारदः—'पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमते पितुः। मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा। माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते। तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः। यदा तु नैव कश्चित् स्यात्कन्या राजानमाव्रजेत्।'**

अर्थात् वीरमित्रोदय में नारद के प्रमाण से लिखा है—पिता स्वयं कन्यादान करे, अथवा पिता की अनुमति से भाई, नाना, मामा तथा अपने कुल का कोई बन्धु कन्यादान करे। इन सबके अभाव में माता कन्यादान करे, यदि वह स्वस्थ है। उसके अस्वस्थ होनेपर स्वजातिवाले कन्यादान करें। यदि कोई भी न हो तो कन्या राजा के पास जाए। राजा के पास जाने का प्रयोजन यही है कि असहाय स्थिति में वह उसके विवाह की समुचित व्यवस्था करे।

वर्त्तमान में अनाथ, अनाश्रित कन्याओं के विवाह की व्यवस्था शासन तथा अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं एवं संगठनों द्वारा की जाती है।

शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एडीसन ने लिखा है—

'संगमरमर के लिए जो उपयोगिता शिल्प की है, मानव आत्मा के लिए वही उपयोग शिक्षा का है। बहुधा अनेक दार्शनिक, सन्त, योद्धा, मनीषी, सज्जन और महापुरुष सामान्य मनुष्यों में ही ढके, मुँदे और छिपे रह जाते हैं। यदि उन्हें समुचित शिक्षा का अवसर मिले तो वे भी अपना आवरण हटाकर प्रकाश में आ सकते हैं।'

मनुष्यमात्र को अपने विकास का अवसर मिले, इसलिए ग्रन्थकार चाहते थे कि एक भी ऐसा मनुष्य न रहे जो शिक्षा प्राप्त न करे। एतदर्थ जहाँ उन्होंने सन्तान को अशिक्षित रखनेवाले माता-पिता को अपनी सन्तान का शत्रु घोषित किया, वहाँ राजा को इस प्रकार का नियम बनाने का निर्देश किया जिसके अनुसार ऐसे माता-पिता को दण्डित किया जा सके। सन्तान को न पढ़ाना दण्डनीय अपराध (Cognisable offence) माना जाए, इस बात को कहनेवाले ग्रन्थकार सम्भवतः पहले व्यक्ति थे। 'व्यवहारभानु' में अत्यन्त रोचक शैली में उन्होंने ऐसे लोगों का उपहास करते हुए लिखा है —'क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा जो किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर उसे मूर्ख रखना चाहे ?'

अनिवार्य शिक्षा—पूना में अपने प्रवचन (नवम) में ग्रन्थकार ने बताया था—'कौषीतकीय ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र और पुत्रियाँ ५ वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक सामाजिक नियम था, परन्तु माता-पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राजसभा से दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय होते-होते शन्तनु का समय आ पहुँचा। ऐश्वर्य के नशे के कारण सहज ही आर्यावर्त्त की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई और एकाएक देश में सामाजिक नियमों में विरुद्धता उत्पन्न हो गयी।'

ग्रन्थकार के समय में और उससे पूर्व भी **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** तथा **'पठितव्यं तदपि मर्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्तव्यम्'** जैसे मूर्खतापूर्ण उद्घोष करके लोगों को विद्याध्ययन से विरत करनेवाले धूर्तों

[उपनयन वा गायत्री-मन्त्र का उपदेश]

प्रथम लड़कों[1] का यज्ञोपवीत घर में हो, और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थसहित **गायत्री-मन्त्र का उपदेश** कर दें। वह मन्त्र यह है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—यजुः-३६।३

इस मन्त्र में जो प्रथम **'ओ३म्'** है, उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब **तीन महाव्याहृतियों के अर्थ** संक्षेप में लिखते हैं—**'भूरिति वै प्राणः' यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः,** जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस 'प्राण' का वाचक होके **'भूः'** परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः'—यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः,** जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'भुवः'** है। **'स्वरिति व्यानः'—यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः,** जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'स्वः'** है। ये तीनों[2] वचन तैत्तिरीय आरण्यक (७।५) के हैं॥

गायत्री मन्त्र का अर्थः— (सवितुः) **यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य**=जो सब जगत् का उत्पादक, और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य) **यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः**=जो सर्वसुखों का देनेहारा, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **वर्त्तुमर्हम्**=स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **शुद्धस्वरूपम्**=शुद्धस्वरूप और पवित्र करनेवाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है, (तत्)=उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि). **धरेमहि**=धारण करें। किस प्रयोजन के लिए? कि (यः) **जगदीश्वरः**=जो सविता देव परमात्मा (नः) **अस्माकम्**=हमारी (धियः) **बुद्धीः**= बुद्धियों को (प्रचोदयात्) **प्रेरयेत्**=प्रेरण करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे॥

[भावार्थ]

'हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप[3]! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव![4] [हे कृपानिधे! हे न्यायकारिन्] हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे सर्वाधार सर्वजगत्पितः

की कमी नहीं थी। स्त्रियों तथा शूद्रों (लगभग ६०-६५ प्रतिशत) को तो उन्होंने विद्याध्ययन से तथाकथित शास्त्रीय आधार पर वंचित कर ही दिया था। वैश्य भी अपने बच्चों को थोड़ा हिसाब-किताब करने की योग्यता हो जानेपर स्कूल से हटाकर दुकान पर बिठा देते थे। क्षत्रिय वर्ग भी पुलिस और सेना में भर्ती होने के बाद पढ़ने-पढ़ाने को व्यर्थ मानता था।

१. अर्थात् सन्तान=लड़का लड़की दोनों।

२. 'भूरिति वै प्राणः', 'भुवरित्यपानः', 'स्वरिति व्यानः' —ये तीनों।

३. संस्करण २ तथा उत्तरवर्ती कुछ संस्करणों में 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप' ऐसा ही पाठ मिलता है। यहाँ 'अनन्त' पद लेखक वा मुद्रकप्रमाद से छूट गया है। संस्करण १ तथा आगे भाषा में 'हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप' शुद्ध पाठ होने से यही पाठ हमने स्वीकार किया है।

४. ये कोष्ठान्तर्गत पद प्रथम संस्करण में, तथा वर्त्तमान संस्करण में भाषार्थ उपलब्ध होने से बढ़ाये हैं।

सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे विश्वम्भर सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदोम्भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति, तद्वयं धीमहि दधीमहि धरेमहि ध्यायेम वा । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह —हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु । नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे ॥'

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध-नित्यबुद्ध- नित्यमुक्त-स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादिक्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट को जाननेवाला, सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अनादि, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप, और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें । किस प्रयोजन के लिए ? कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्ग से हटाके श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे । उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें, क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है ॥

[स्नान, आचमन और प्राणायाम]

इस प्रकार गायत्री-मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो [1]स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें । प्रथम **स्नान** इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं । इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

—यह मनुस्मृति का श्लोक (५।१०६) है ॥

अर्थः—जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि=दृढ़निश्चय पवित्र होता है । इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना ॥

[प्राणायाम का लाभ]

दूसरा **'प्राणायाम'** । इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तराविवेकख्यातेः ॥

—यह योगशास्त्र का सूत्र है[2] ।

परिणामतः कुल मिलाकर लगभग ८० प्रतिशत प्रजा अनपढ़ रहती थी । इन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही ग्रन्थकार ने आठ वर्ष की आयु के बच्चों को घर में रखनेवालों के लिए शासकीय दण्डविधान की आवश्यकता पर बल दिया था । सिद्धान्तरूप में सहमत होते हुए भी सरकार अभी तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकी है ।

---

१. स्नान का सन्ध्योपासन के साथ सहभाव तो है, पर वह आचमन तथा प्राणायामादि के समान उसका अङ्ग नहीं है ।

२. योगदर्शन में **'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'** (२।२८) पाठ है । प्राणायाम के प्रसंग में **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (२।५२) पाठ है ।

अर्थः—जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

—यह मनुस्मृति (६।७१) का श्लोक है॥

अर्थः—जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं॥

अद्भिर्गात्राणि—इस श्लोक की व्याख्या में संस्कारविधि में लिखा है—'किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान ही से शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं।'

प्राणायामादशुद्धिक्षये—योगदर्शन में इस सूत्र का पूरा पाठ इस प्रकार है—**'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'** (योग० २।२८)। योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों का नाश हो जानेपर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान—आत्मसाक्षात्कार का प्रकाश हो जाता है। आगे योग के आठ अङ्गों का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है। उनका अनुष्ठान करने से चित्त के अविद्या आदि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर योगी का आचरण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त के दोष क्षीण होते जाते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित व स्पष्ट होती जाती है। अन्त में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर लेती है। वह प्रकर्ष है—विवेकख्याति। प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान—प्रकृति जड़तत्व है, आत्मतत्व चेतन, अपरिणामी है—यह साक्षात् बोध आत्मा को हो जाता है। इस प्रकार योग के अङ्गों का अनुष्ठान जहाँ दोषों के वियोग का कारण है, वहाँ विवेकख्याति की प्राप्ति का भी कारण है। आचार्यों ने नौ प्रकार के कारण बताये हैं—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति—ये नौ प्रकार के कारण हैं। योगानुष्ठान में इनमें से केवल दो कारणों का उपयोग होता है—वियोगकारण तथा प्राप्तिकारण।

वियोगकारण—जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के खण्डों के वियोग का कारण होता है, वैसे ही योग के अङ्गों का अनुष्ठान चित्त के दोषों के वियोग का कारण है।

प्राप्तिकारण—जैसे धर्म सुख-प्राप्ति का कारण है, ऐसे ही योगाङ्गानुष्ठान विवेख्याति की प्राप्ति का कारण है।

अशुद्धि का अर्थ केवल अज्ञान नहीं, अपितु अज्ञानमूलक कर्म और उनका संचित संस्कार है, अतः योगानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म नष्ट होता है। उससे ज्ञान की सम्यक् ख्याति होती है। ज्ञान की ख्याति होनेपर अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान भली-भाँति नष्ट होनेपर कैवल्य होता है। इस प्रकार कैवल्य का हेतु योगाङ्गानुष्ठान है।

वस्तुतः योग के आठ अङ्गों में अन्य सभी भावों व साधनों का अन्तर्भाव है। महाभारत (शा०प०

३१६-३१७) में कहा है—**'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः'**—मनीषी वेदों में योग को अष्टाङ्ग कहते हैं, अर्थात् योग का अपर नाम अष्टाङ्ग है।

दृष्टान्त—शरीर में दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं—एक शिराएँ जो समस्त शरीर से हृदय में जाती हैं और दूसरी धमनियाँ जो हृदय से समस्त शरीर में पहुँचती हैं। समस्त शरीर के व्यापारों में प्रयोग में आने से जो रक्त अशुद्ध हो जाता है वह शिराओं द्वारा हृदय में पहुँचाया जाता है। हृदय उस अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में भेज देता है। फेफड़े स्पंज की भाँति छोटे-छोटे असंख्य कोशों का समुदाय हैं। ये कोश एक मांसपेशी की भाँति खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तो एक ओर से तो हृदय से आया अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा आया शुद्ध वायु एकत्र हो जाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह दूसरी में से उसी को अपनी ओर खींचती है। इस नियम के अनुसार रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये वायु में से आक्सीजन निकलकर रक्त में चला जाता है। शुद्ध हुआ रक्त धमनियों द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु श्वास द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य शरीर में हर समय होता रहता है।

यदि श्वास के द्वारा पर्याप्त शुद्ध वायु फेफड़ों में न पहुँच पाये अथवा अशुद्ध वायु समस्त कोशों में से निकलकर बाहर न चला जाए तो क्या परिणाम होगा ? निश्चय ही फेफड़ों में पर्याप्त शुद्ध वायु न पहुँचने से जहाँ एक ओर खाँसी, दमा, यक्ष्मा आदि फेफड़ों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होंगे, वहाँ दूसरी ओर हृदय से आया अशुद्ध रक्त बिना शुद्ध हुए लौटकर सारे शरीर में चला जाएगा। इसका फल रक्त-विकार होगा। इन दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़ों को भरपूर शुद्ध वायु मिले और एक भी कोना ऐसा न रहे जहाँ वायु न पहुँचे। प्राणायाम यही काम करता है। प्राणायाम द्वारा जब श्वास बाहर रोक दिया जाता है तो कुछ समय पश्चात् ही मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा होती है, तब भीतर श्वास लेते समय स्वभावतः श्वास तीव्र वेग के साथ आँधी के समान फेफड़ों में पहुँचता है और जिस प्रकार आँधी का वेग नगर और घरों के भीतर सर्वत्र दूर-दूर तक प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करते समय वेग के साथ श्वास द्वारा लिया गया वायु फेफड़ों के एक-एक कोश तक पहुँच जाता है। ऐसी अवस्था में न फेफड़ों में कभी कोई विकार हो सकता है और न रक्त ही दूषित हो सकता है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर और इन्द्रियों के मलों को दूर कर शुद्ध एवं स्वस्थ रखने का सर्वोत्तम उपाय है।

जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं के मल अग्नि से तपाये जानेपर दग्ध होकर शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने लिखा है—'बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन और मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है।' जिधर प्राण जाता है, सब इन्द्रियों को वहीं उसके साथ जाना पड़ता है। इसी कारण जब मनुष्य किसी गहरे विचार में मग्न होता है तो उसकी श्वास-प्रश्वास क्रिया भी निरुद्धकल्प हो जाती है। इस प्रकार के ध्यान को अंग्रेजी में निरुद्धश्वास ध्यान (Breathless attention) कहते हैं। प्राणायाम में प्रक्रिया उलटी कर दी गयी है। ध्यान से प्राणनिरोध होने के स्थान में प्राणनिरोध के द्वारा एकाग्रता की सामग्री प्रस्तुत की गयी है। यह एक साधारण-सा परीक्षण है कि जब कभी काम, क्रोध आदि का वेग मन को प्रबलता से एक ओर खींचता हो उस समय प्राण को रोकने से एक बार तो अवश्य मन वश में आ जाता है। फिर उस वशीकार को हम कहाँ तक स्थिर रख सकते हैं, यह दूसरी बात है।

प्राणायाम की विधिः

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ —योगसूत्र १।३४

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंकके बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके [१][कुछ चिर भीतर ही रोकके बाहर निकाल दे।] फिर भी वैसे ही करता जाए, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में **'ओ३म्'** इसका जाप करता जाए। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

'प्राणायाम' चार प्रकार का होता है —एक **'बाह्यविषय'** अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा **'आभ्यन्तर'** अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाए, उतना रोके। तीसरा **'स्तम्भवृत्ति'** अर्थात् एक ही बार जहाँ-का-तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा **'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी'** अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाए। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र, सूक्ष्मरूप हो जाती है, कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थिति कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।

[सामान्यव्यवहार की शिक्षा देवें]

भोजन-छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

योगदर्शन में प्राणायाम के अनुष्ठान का फल बताया है—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (२।५२) अर्थात्—प्राणायाम के अनुष्ठान से आत्मसाक्षात्कार में बाधक परदा शिथिल हो जाता है।

प्राणसूत्रों के द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों में पहुँचकर प्राण अपना कार्य सम्पादन करता है। मस्तिष्क में निवास करता हुआ आत्मा अन्तःकरण को प्रेरित करता है और अन्तःकरण प्राण, प्राणसूत्रों और ज्ञानसूत्रों के द्वारा शरीर के सब कार्यों का निर्वाह करता है। प्राणसूत्रों में विस्तृत अन्तःकरण तत्त्व को केन्द्रस्थानीय अन्तःकरण खींचकर अपने स्थान में एकत्रित कर सकता है और इसी प्रकार केन्द्रस्थानीय प्राण शरीर के सब प्राण को अपने स्थान में आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार के कार्य प्राण और अन्तःकरण के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। प्राण के बिना अन्तःकरण और अन्तःकरण के बिना प्राण कोई कार्य नहीं कर सकता। फलतः प्राणों के रोकने से अन्तःकरण रुक जाएगा और उसके रुक जाने से शरीर के ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रकार के कार्य बन्द हो जाएँगे। इस सारे विक्षेप के हट जाने पर आत्मा अपने स्वरूप का और उसके अभ्यन्तर विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का अनुभव कर सकेगा। यही प्राणायाम के अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार में बाधक आवरण का शिथिल होना है।

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ आवश्यक है। इसके बिना प्राणायाम की विधि पूरी नहीं होती। द्र०—पञ्चमहायज्ञविधि, दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ २६६, पं० ३२। संस्कारविधि पृष्ठ २२५, पं० ६, १०।

[सन्ध्योपासन=ब्रह्मयज्ञ की विधि]

सन्ध्योपासन, जिसको 'ब्रह्मयज्ञ'[1] भी कहते हैं। **'आचमन'** उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है। पश्चात् **'मार्जन'** अर्थात् मध्यमा और अनामिका अङ्गुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक **प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान।** पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् **'अघमर्षण'** अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे।

प्रच्छर्दन—सूत्रगत प्राण पद का तात्पर्य यहाँ उस वायु से है जो श्वास-प्रश्वास के रूप में बाहर से भीतर शरीर में और शरीर के भीतर से बाहर की ओर नासिका-छिद्रों द्वारा फेंका जाता है। इस प्रकार वायु का बाहर-भीतर फेंकना 'प्रच्छर्दन' कहाता है। वायु को भीतर और बाहर फेंककर उसे वहीं रोक देना 'विधारण' है। वायु को भीतर से बाहर फेंकना 'रेचक' और बाहर से भीतर को फेंकना 'पूरक' कहाता है। इन दोनों क्रियाओं (रेचक और पूरक) के अनन्तर जो प्राण को वहीं रोक देना है उसका नाम 'कुम्भक' है। जब बाहर रोका जाए तो 'बाह्यकुम्भक' और जो भीतर रोका जाए तो 'आन्तरकुम्भक' कहा जाता है। इस प्रकार एक प्राणायाम तीन अंशों में पूरा होता है—रेचक, पूरक, कुम्भक। सूत्र में केवल दो पदों का प्रयोग है—प्रच्छर्दन तथा विधारण। रेचक तथा पूरक दोनों 'प्रच्छर्दन' के अन्तर्गत हैं और कुम्भक (दोनों बार का) 'विधारण' में। इस प्रकार सूत्र के दो पदों से प्राणायाम का पूरा विवरण प्रस्तुत हो जाता है।

प्रतिदिन विधिपूर्वक प्राणायाम करते रहने से चञ्चल चित्त शान्त होकर स्थिरता को प्राप्त होने लगता है। चित्त की स्थिरता के लिए प्राणायाम का महत्त्व वेद, उपनिषत्, मनु, गीता आदि (अथर्व० ११।४। ; तैत्तिरीय० ३।३; छां० १।११।५; मनु० ६।६६-७२; गीता ४।२६, ६।१०-१४) प्राचीन एवं मध्यकालीन आध्यात्मिक साहित्य में विस्तार के साथ वर्णित है। प्राण की महिमा प्राणायाम के महत्त्व को साधार स्पष्ट करती है। वस्तुतः समस्त करण अपनी प्रवृत्ति के लिए प्राण पर आश्रित रहते हैं। प्राण के नियन्त्रित होनेपर करण स्वतः नियन्त्रित एवं अनुशासित हो जाते हैं। प्राणों का नियन्त्रण प्राणायाम से होकर, साथ ही इन्द्रियाँ, मन आदि करण वृत्तियों में चंचल न रहकर स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'नाभि के नीचे से अर्थात् मूलेन्द्रिय से लेके धैर्य से अपानवायु को नाभि में ले आना, नाभि से अपानवायु और समानवायु को हृदय में ले आना, हृदय में दोनों वे और तीसरा प्राण इन तीनों को बल से नासिका द्वार से बाहर आकाश में फेंक देना, अर्थात् जो वायु कुछ नासिका से निकलता है और भीतर जाता है उस सबका नाम प्राण है। उसको मूलेन्द्रिय, नाभि और उदर को ऊपर उठा ले तब तक वायु न निकले। पीछे हृदय में इकट्ठा करके, जैसाकि वमन में अन्न बाहर फेंका जाता है, वैसे उस भीतर के वायु को बाहर फेंक दे, फिर उसका ग्रहण न करै। जितना सामर्थ्य होय तब तक बाहर ही वायु को रोक रक्खै। जब चित्त में कुछ क्लेश होय तब बाहर से वायु को धीरे-धीरे भीतर ले जाए। फिर उसको वैसा ही बारम्बार २० बार भी करेगा तो उसका प्राणवायु स्थिर हो जाएगा और उसके साथ चित्त भी स्थिर होगा तथा बुद्धि और ज्ञान बढ़ेगा। बुद्धि इस प्रकार की तीव्र होगी कि बहुत

१. ब्रह्मयज्ञ के तीन भाग हैं—वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, और योगाभ्यास। द्र०—आगे समु० ४ में **'स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन्'** मनुश्लोक की व्याख्या ॥

कठिन विषय को भी शीघ्र जान लेगी। शरीर में भी बल-पराक्रम बढ़ेगा और वीर्य भी स्थिर होगा तथा जितेन्द्रियता होगी, सब शास्त्रों को थोड़े काल में पढ़ लेगा।'

पञ्चमहायज्ञविधि में प्राणायाम के पश्चात् गायत्री मन्त्र से शिखा बाँधने का निर्देश किया गया है, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है—'इसके (प्राणायाम के) अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बाँधकर रक्षा करे।' इसका प्रयोजन बताया है—'**इतस्ततः केशा न पतेयुः, एतदर्थं शिखाबन्धनम्**।' केश इधर-उधर न गिरें। 'सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे।'

ब्रह्मयज्ञ—'ब्रह्मयज्ञ' का अपर नाम 'ऋषियज्ञ' है। आगे चतुर्थ समुल्लास के अन्तर्गत '**स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन्**' (मनु० ३।८१) श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने ब्रह्मयज्ञ में सन्ध्योपासन, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा योगाभ्यास—इन तीनों का समावेश किया है।

सन्ध्योपासन का सबसे पहला मन्त्र आचमन-मन्त्र है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का आरम्भ भी शान्ति से है और उसका पर्यवसान भी शान्ति में है। जिस उद्योग से अन्त में शान्ति न मिले वह व्यर्थ है, परन्तु जो उद्योग शान्त और समाहित चित्त से न किया जाए वह कदापि सफल नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म-प्राप्ति में साधनभूत ब्रह्मयज्ञ का आरम्भ भी 'शम्' नो (देवीः) से होता है और उसका समापन भी 'नमः शम्' (भवाय) से होता है। शान्ति का प्रतीक=स्थूलरूप जल है। जल का आचमन करते समय उपासक मानो अपने आपसे कह रहा है कि जिस प्रकार यह जल शरीर के मलों को दूर करके शान्ति पहुँचाता है, इसी प्रकार मैं भी शान्त एवं समाहित चित्त से सन्ध्योपासना का उपक्रम कर रहा हूँ। शतपथब्राह्मण का आरम्भ ही आचमन-क्रिया की व्याख्या से होता है। वहाँ व्रत करनेवाला मनुष्य पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। तब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जल का उपस्पर्शन अर्थात् आचमन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—'**अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन हि पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति**' (शत० १।१।१।१) अर्थात् मनुष्य अपवित्र है, वह झूठ बोलता है। जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है। जल शान्त एवं पवित्र है, मेधा के लिए हितकर है। यह जल का प्रतीकात्मक वर्णन समझना चाहिए, क्योंकि वेद के अनुसार '**आपः**' प्रभु का भी नाम है—'**ता आपः स प्रजापतिः**' (यजुः० ३२।१)। स्थूल जल भी ऐहिक अभीष्ट की सिद्धि में परम सहायक है। कण्ठस्थ कफ़ मन्त्रोच्चारण में बाधक होता है, उसकी निवृत्त्यर्थ जल परम औषध है।

इन्द्रियस्पर्श तथा मार्जन आलस्य को दूर करने में तो सहायक होता ही है, किन्तु उसका मुख्य प्रयोजन परमेश्वर के साहाय्य से इन्द्रियों तथा शरीर के अंगों की शुद्धि तथा उनकी वृत्ति और क्रिया-कलाप का निरीक्षण करते हुए चारित्रिक पवित्रता का सम्पादन करना है। स्पर्श तथा संकेत की इस प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगिता निर्विवाद है। अभिमर्श (Mesmerism), आदेश (Hypnotic Suggestion), आत्म-प्रेरणा (Auto Suggestion) आदि इसी के विभिन्न रूप हैं।

समन्त्रक प्राणायाम—प्राणायाम के मन्त्र मार्जनमन्त्रों का संक्षेपमात्र हैं। इनमें मार्जनमन्त्रों की आवृत्ति है। चित्त की एकाग्रता के लिए शब्द छोटे कर दिये गये हैं। सन्ध्योपासना में प्रवृत्त व्यक्ति को अन्ततः उस अवस्था में पहुँचना है जहाँ एक ओंकार मात्र के उच्चारण से वे समस्त भावनाएँ जाग्रत् होती हैं जो आरम्भ में इतने मन्त्रकलाप से होती हैं। वह स्थिति दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास के अनन्तर प्राप्त होती है। इसलिए प्राणायाम-मन्त्र में मार्जनमन्त्रों के आरम्भ वाक्य ही ले लिये गये हैं। ओ३म् के व्याहृतिपूर्वक अर्थचिन्तन से आत्मा व परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने लगता है और व्याधि आदि

(योग १।३०) चित्त का विक्षेप करनेवाले विघ्नों का नाश हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा मन की चंचलता नष्ट होकर चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है और आत्मा एवं मन की स्थिति ध्यान के लिए सम्पादित होती है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ २।२।११

वस्तुतः जो उपासक **'ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** इस बात को समझ लेता है उसे सामने वही अमृत ब्रह्म दीखता है, ब्रह्म ही पीठ पीछे दिखाई देता है, ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर में दीखता है, नीचे-ऊपर भी ब्रह्म दीखता है, सब दिशाओं में ब्रह्म ही फैला दीखता है। **'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है'** की लोकोक्ति के अनुसार उसे विश्व की प्रत्येक वस्तु ब्रह्मरूप में दिखाई देने लगती है। पाँचभौतिक शरीर के द्वारा उस विराट् ब्रह्म की प्रदक्षिणा कर पाना नितान्त असम्भव है, अतः ग्रन्थकार ने इस निमित्त मनसा परिक्रमा का विधान किया है।

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में आलंकारिक रूप में परमेश्वर और उसके गुणों का वर्णन हुआ है। यहाँ उसके **'रक्षिता'** गुण पर विशेष बल दिया गया है। प्रत्येक दिशा मनुष्य की यात्रा की एक दिशा है। इस अनन्त यात्रा में वह सब ओर से उसके रक्षिता गुण के प्रति आश्वस्त होना चाहता है। जिसे परमेश्वर की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा न्यायकारिता पर विश्वास हो जाता है वह **'अभयं मित्रादभयममित्रात्'** की स्थिति में पहुँच जाता है और एक परमेश्वर के सहारे संसार में निर्भय विचरता है।

मनसा परिक्रमा का अर्थ है 'मन के द्वारा परिक्रमा'। मन तो सदा परिक्रमा करता रहता है। शय्या पर लेटकर आँखों को बन्द कर लेने पर भी इसकी परिक्रमा बन्द नहीं होती। उस समय भी वह अपने चारों ओर बनी हुई संस्कारों की परिधि का चक्कर काटता रहता है। सन्ध्योपासना में 'मन की' परिक्रमा नहीं, 'मन से परिक्रमा' अभीष्ट है। ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत 'मनसा परिक्रमा' शब्द का यही स्वारस्य है। ग्रन्थकार ऋषि के प्रादुर्भाव से पूर्व भी लोग सन्ध्याकाल में सूर्य की परिक्रमा किया करते थे। पृथिवी से तेरह लाख गुणा बड़े सूर्य के चारों ओर घूमना तो मनुष्य जैसे क्षुद्र प्राणी के लिए किसी प्रकार सम्भव नहीं था। इसलिए वे एक ही स्थान पर खड़े-खड़े चारों ओर घूम लिया करते थे। हो सकता है कि इस आशंका के कारण भी ऋषि को 'परिक्रमा' के साथ 'मनसा' शब्द जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। ऐसा न करने पर बहुत सम्भव था कि कालान्तर में लोग, इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए, अपने सिर को ही छहों दिशाओं में घुमाकर परमेश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लिया करते।

उपस्थान—उपस्थान का अर्थ है परमात्मा के पास पहुँचना। मनसा परिक्रमा की आध्यात्मिक प्रक्रिया से अन्तःकरण के मल-विक्षेप-आवरण को क्रमशः दूर करता हुआ आत्मा, जब उसे सत्त्वप्रधान और निर्मल बनाने में सफल हो जाता है और निर्विकल्प समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है, तब सब अन्तरायों=प्रतिबन्धों के हट जाने से आत्मा अपने भीतर ही चमकते हुए सूर्य की भाँति भगवान् की विभूतियों का और स्वयं भगवान् का साक्षात्कार कर, आनन्दविभोर होता हुआ जिन कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में प्रभु की स्तुति करता है, उसी स्तोत्र का नाम सन्ध्योपासनविधि में उपस्थान है।

अघमर्षण—अघमर्षण का अर्थ पापों का प्रक्षालन करना है। जिन तीन मन्त्रों का विनियोग ग्रन्थकार ने अघमर्षण-विधि में किया है, उनमें सृष्टि से पूर्व की अवस्था में परमात्मा के तप से किस प्रकार अति

सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था को प्राप्त होकर समस्त ब्रह्माण्ड—पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोक आदि बने, इस प्रक्रिया के सम्यग्ज्ञान से प्रत्याहार की साधना होती है। प्रभु की शक्तियों का बार-बार चिन्तन कर उनके महत्त्व से आत्मा को अभिभूत करना होता है। पाप-नाश के इसी साधन को उपासकों के हृदय में अंकित करने के लिए ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि में इन मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या की है।

ईश्वर द्वारा रचित इस विशाल संसार को देखकर उपासक के हृदय में कुछ इस प्रकार की भावनाओं का जाग्रत् होना स्वाभाविक है—'सृष्टि-रचना की कल्पनातीत सामग्री को भगवान् ने लीलामात्र से—बात-की-बात में अनन्त रूपों और नामों के आकार में विभक्त कर दिया। उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। मैं तो उसके एक पत्ते की भी रचना को समझने में असमर्थ हूँ।' मनुष्य ब्रह्माण्ड के केवल एक अंश का ही प्रत्यक्ष कर पाता है, किन्तु उस थोड़े-से अंश से ही चमत्कृत होकर उसके स्रष्टा की अनन्तता का आभास या उसकी झलक पा लेता है, पर इतना विशाल जगत् भी उस स्रष्टा की तुलना में अत्यन्त तुच्छ है—सागर की तुलना में एक बूँद के समान अथवा हिमालय की तुलना में एक रजकण के समान। इन भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर उपासक भगवान् के गुणों की ओर आकर्षित होता है और उसके अनन्त सामर्थ्य से अभिभूत होकर अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के लिए उसका आश्रय लेने और उसकी शक्तियों से शक्तिशाली बनने का यत्न करता है। इसी प्रकार उसकी पाप की प्रवृत्ति का नाश—मर्षण होता है।

ग्रन्थकार ने इस सन्दर्भ में पञ्चमहायज्ञविधि में लिखा है—"ईश्वर सब जगत् को उत्पन्न कर सबमें व्यापक होके अन्तर्यामिरूप से सबके पाप-पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़के सत्य-न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है। ऐसा निश्चित जानके ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, वचन और कर्म से पाप-कर्मों को कभी न करें। इसी का नाम 'अघमर्षण' है।"

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' फलोपभोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**। स्वयं भगवान् मनु की घोषणा है—**'न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः'** यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल हो जाए।

वस्तुतः जब कोई व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कर्म को करके उसके कारण मन में खिन्नता अनुभव करता है तब वह, मानो उसके दण्ड के रूप में, स्वयं कष्ट अनुभव करता हुआ यह संकल्प करता है कि 'भविष्य में मैं इस प्रकार का दुष्कर्म कभी नहीं करूँगा', तो यह प्रायश्चित कहाता है—**'तपादि-साधनपूर्वकं किल्बिषनिवारणार्थं चित्तं निश्चयं प्रायश्चित्तम्'**। इससे वह आगे ऐसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त से पूर्वकृत पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पापभावना क्षीण होती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख हो जाता है। मनुस्मृति में इसका विशदीकरण करते हुए कहा है

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥
कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः॥ मनु० ११।२२८-२३०

अर्थात् अधर्मयुक्त आचरण करके जैसे-जैसे मनुष्य अपने पाप को लोगों से कहता है, वैसे-वैसे साँप की कैंचुली के समान उस अधर्म से, उस अपराधजन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है। जैसे-जैसे उसका

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

—यह मनुस्मृति (२।१०४) का वचन है ।

अर्थः—जंगल में अर्थात् एकान्तदेश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री-मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है ॥

आत्मा किये हुए पाप कर्म को धिक्कारता है, वैसे-वैसे उसका शरीर उस पाप से मुक्त होता जाता है, अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानने से उसके प्रति ग्लानि के कारण शरीर और मन दुष्कर्म से निवृत्त हो जाते हैं । मनुष्य पाप करके, उसके लिए पश्चात्ताप करके और फिर कभी वैसा न करने का संकल्प करके पाप से (पाप-फल से नहीं) छूट जाता है ।

ग्रन्थकार ने पूना-प्रवचन में उपर्युक्त अन्तिम श्लोक को उद्धृत करके कहा था—

"अब कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता (यह हमारा मत है) तो फिर पश्चात्ताप का कोई फल नहीं है क्या ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है ।" इसलिए अघमर्षण का अर्थ पाप का नाश न होकर पाप की भावना या प्रवृत्ति का नाश समझना चाहिए । यह कैसे होता है, इसे लोकविश्रुत इस एक घटना से सहज ही जाना जा सकता है—

राजा मुंज ने राज्य के लोभ से अपने सहोदर भाई के पुत्र भोज को मरवाने के लिए जंगल में भेज दिया । भोज ने अन्तिम सन्देश के रूप में एक श्लोक मुंज को लिख भेजा, जो इस प्रकार था—

मान्धाता स महापतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते,
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ॥

अर्थात् सत्ययुग में मान्धाता नामी बड़ा प्रतापी राजा था जो पृथिवी को अलङ्कृत करता था, वह चला गया । जिस राम ने समुद्र पर पुल बाँधा और महापराक्रमी रावण का वध किया, वह भी नहीं रहा और युधिष्ठिर जैसे बड़े-बड़े शूरवीर भी दिवंगत हुए, पर यह पृथिवी किसी के साथ नहीं गयी ! ऐसा लगता है कि तुम्हारे साथ जाएगी ।

मुंज ने पत्र पढ़ा तो आँखें खुल गयीं । बोध हुआ, हृदय-परिवर्त्तन हुआ । मन का पाप धुल गया—अघमर्षण हो गया । सारा राजपाट भोज को सौंप जंगल में तपस्या करने के लिए चला गया ।

इस प्रकार सोचने-समझनेवाले मनुष्य के पापमय विचार, संकल्प धीरे-धीरे दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं । इसी का नाम **'अघमर्षण'** है ।

क्रमविपर्यास—**'पञ्चमहायज्ञविधि'** (दोनों संवत् १६३२ व १६३४) तथा 'संस्कारविधि' (संवत् १६४०) में अघमर्षण कर्म का विधान मनसा परिक्रमा से पूर्व है । वर्तमान में यही क्रम सर्वत्र प्रचलित है । 'सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण' में मनसा परिक्रमा का निर्देश नहीं है, परन्तु उसमें भी उपस्थान के पश्चात् अघमर्षण का विधान है । यहाँ सन्ध्योपासन के मुख्य-मुख्य अंगों का वर्णन अभिप्रेत है, न कि क्रम । ग्रन्थकार के मन्तव्यानुसार सन्ध्या का क्रम इस प्रकार है—स्नान, अमन्त्रक प्राणायाम, गायत्रीमन्त्र द्वारा शिखाबन्धन

(आवश्यकतानुसार), **'शन्नो देवीः'** मन्त्र से आचमन, अङ्गस्पर्श, मार्जन, समन्त्रक प्राणायाम, अघमर्षण, **'शन्नो देवीः'** से पुनः आचमन, मनसा परिक्रमा, उपस्थान, गायत्रीमन्त्र, ऋषिवाक्य **'हे ईश्वर दयानिधे'** से समर्पण तथा **'नमः शम्भवाय'** इत्यादि मन्त्र से नमस्कार। विशेषरूप से इसी कार्य के लिए लिखी गयी **'पञ्चमहायज्ञविधि'** में यही क्रम निर्दिष्ट है, अतः यहाँ 'अघमर्षण' से पूर्व आये **'पश्चात्'** शब्द का अर्थ **'तथा'** समझना चाहिए।

उपासना का स्थान—इस विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१० में लिखा है—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

अर्थात् समतल, शुद्ध-पवित्र भूमि हो, पत्थर, रोड़े, बालु, अग्नि आदि से रहित हो, शब्द (कोलाहल) न हो, जलाश्रयादि हो। आँखों को चुभनेवाला स्थान न हो। वायु-शब्दादिशून्य गुफ़ा में आसन जमाए। गीता के छठे अध्याय के ११ से १७ तक के श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य हैं। ११-१२ श्लोक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योगाभ्यास के लिए स्वस्तिक आदि आसनों पर बैठते समय नीचे बिछाये जानेवाले आसन की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न होनेपर आसन लगाने का स्थान भी कष्टदायक हो सकता है। स्थान ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़ न होना चाहिए। आसन न इतना कठोर हो कि उसके स्पर्श से अंग में चुभन हो और न इतना कोमल तथा गदीला कि जिससे आलस्य बढ़कर तन्द्रा चित्त को अभिभूत करे।

उपासना के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करते हुए वेद में कहा है—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ —यजुः० २६।१५

अर्थात् पर्वतों के समीप नदियों के संगमस्थलों में ही उपासना के अनुकूल स्थान मिल सकता है।

ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इतना और लिखा है—"जल के समीप जाके और जितनी प्राणायामादिक क्रिया उनको करके शून्यदेश में बैठके गायत्री को मन से यथावदुच्चारण करके एक-एक पद का अर्थ चिन्तन करके और प्राणायाम से प्राण, चित्त और इन्द्रियों की स्थिरता करके परमेश्वर की प्रार्थना और स्वरूप-विचार से उक्त रीति से उसमें मग्न हो जाए—नाम समाधिस्थ हो जाए, ऐसे ही नित्य दो बार द्विज लोग प्रातःकाल और सायंकाल करैं और एक घण्टा तो अवश्य ही करैं। इससे बहुत-सा सुख और लाभ भी होगा।"

यह जन्म से करना—इसपर महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक की सत्यार्थप्रकाश के स्वसम्पादित संस्करण में टिप्पणी है—"पंचम संस्करण में पं० लेखरामजी ने 'जन्म से' के स्थान पर 'जप मन से' शोधा है। यही पाठ ३५वें संस्करण तक छप रहा है। यद्यपि यह पाठ आपाततः ठीक प्रतीत होता है, पुनरपि यहाँ 'जन्म' का अभिप्राय द्वितीय जन्म, जो आचार्य और गायत्री के योग से होता है (द्र० मनु०२।१४८) लिया जाए, तो 'जन्म से' का अभिप्राय होगा—वेदारम्भकाल से। इस प्रकार के शब्दों से कहीं-कहीं विशिष्टार्थ का ग्रहण शास्त्रों में देखा जाता है। यथा—**'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते'** (तै० सं० ६।३।११।१३) का अर्थ वात्स्यायन मुनि ने किया है—**'जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह वै ब्राह्मण इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमान इति'**। (द्र०—न्यायभाष्य ४।१।६०)। इसी प्रकार यहाँ भी 'जन्म' शब्द का मातृजन्म अर्थ सम्भव नहीं, अतः 'द्वितीय जन्म' अर्थ जानना चाहिए। इस अर्थ में 'यह' पद से गायत्री का उच्चारण, अर्थज्ञान और तदनुसार आचरण तीनों संगृहीत

हो जाते हैं। कतिपय शास्त्रानभिज्ञ व्यक्ति कहते हैं कि गायत्री के जप का विधान ऋषिदयानन्द ने नहीं किया। वे भूल करते हैं। यहाँ लिखा उच्चारण उपांशु अथवा मानसिक ही अभिप्रेत है और यही उच्चारण 'जप' कहा जाता है (द्र० काशिका १।२।३४)। उच्चैः उच्चारण अभिप्रेत नहीं है। मनु ने '**पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्**' (२।१०१) में स्पष्ट गायत्री के जप का विधान किया है। यह श्लोक ग्रन्थकार द्वारा 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भी व्याख्यात है।''

अर्थज्ञान—शब्द का प्रयोजन किसी अर्थ का बोध कराना होता है। जिस शब्द से किसी अर्थ का बोध न हो, वह निरर्थक अथवा व्यर्थ कहाता है। आचारशास्त्र में निरर्थक, अपार्थक अथवा व्यर्थ शब्दों के बोलने का निषेध है। इसलिए जो व्यक्ति अर्थ को जाने बिना तोते की भाँति केवल मन्त्रों को रट लेता है, उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के लिए निरुक्त (१।१८) में कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

अर्थात्—जो वेद का पाठमात्र करता है, परन्तु अर्थ नहीं जानता, वह बिना गुणबोध के डाली, पत्ते, फूल, फल को सिर पर धारण करनेवाले वृक्ष अथवा ईंट-पत्थर का भार ढोनेवाले पशु के समान है। यहाँ कथित स्थाणु की उपमा को सुश्रुत (सूत्रस्थान अध्याय ४) में इस प्रकार स्पष्ट किया है —

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद् वहन्ति॥

जैसे चन्दन के भार को ढोनेवाला गधा इतना ही जानता है कि उसके ऊपर भार लदा है, यह नहीं कि उसे चन्दन जैसी अमूल्य और उपयोगी वस्तु प्राप्त है, वैसे ही अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी अर्थज्ञान की दृष्टि से मूढ़ मनुष्य गधे की भाँति अपनी स्मृति में शब्दों का भार ही ढोते हैं, अर्थज्ञान के अभाव में उससे मिल सकनेवाली सुगन्धि से लाभान्वित नहीं हो पाते। अर्थज्ञान के बिना मन्त्रपाठ में किये गये परिश्रम को व्यर्थ बताते हुए वहीं (नि० १।१८) एक अत्यन्त मार्मिक बात कही है—

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

जो बिना समझे ग्रहण किया जाता है—पढ़ा जाता है और पाठमात्र से उच्चरित होता है, वह पठितशास्त्र अग्निरहित स्थान में पड़ी सूखी लकड़ियों की भाँति कभी प्रज्वलित नहीं होता—ज्ञान का प्रकाश नहीं करता।

इसके विपरीत अर्थज्ञानपूर्वक मन्त्रपाठ करनेवाले के सम्बन्ध में वहीं कहा है—'**योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा**' अर्थात् जो वेद को पढ़ता और यथावत् उसका अर्थ जानता है वह ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर (**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**—गीता ४।३८) मृत्यु के उपरान्त परमसुख—मोक्ष को प्राप्त करता है।

फिर भी, जो मनुष्य मन्त्रार्थ नहीं जानता, किन्तु मन्त्रपाठ करता है, वह उसकी अपेक्षा अच्छा है जो पाठमात्र भी नहीं करता। केवल मन्त्र स्मरण कर लेने से भी मनुष्य को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। इसलिए महर्षि यास्क ने बिना अर्थज्ञान के मन्त्र के पाठ को पहले '**अफला=निष्फला**' वाणी कहने के बाद 'अ' को निषेधार्थक न मान अल्पार्थक मानकर '**किञ्चित्फला**' स्वीकार कर लिया।

[देवयज्ञ की विधि]

दूसरा देवयज्ञ—जो अग्निहोत्र और विद्वानों का सङ्ग सेवादिक से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात-दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। न्यून-से-न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे।

जप चाहे गायत्रीमन्त्र का किया जाए, चाहे व्याहृतियों का और चाहे मात्र ओंकार का—ऐसा करते समय अर्थ का भावन-चिन्तन अवश्य करना चाहिए। परमेश्वर के स्वरूप को अपने ध्यान से न हटने देना उसका चिन्तन है। यही ईश्वरप्रणिधान है। योगसूत्र **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (१।२८) का यही अभिप्राय है।

ज्ञान का पर्यवसान कर्म है, इसलिए जानना जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है। शरीर में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक साथ हैं। दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुष **'यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'**। जैसा मन में चिन्तन करता है, वैसा ही वाणी से बोलता है और जैसा वाणी से बोलता है, वैसा ही आचरण करता है। उपासक के मन, वचन और कर्म में सामंजस्य होता है।

देवयज्ञ—देवयज्ञ का प्रचलित नाम अग्निहोत्र या होम है। सन्ध्या तथा अग्निहोत्र रात-दिन की सन्धिवेला में दो ही बार किया जाना शास्त्रसम्मत तथा युक्तिसंगत है—**'सायंप्रातः सन्ध्यामुपासीत'**—लौगाक्षि० १।२६। 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार ने स्वनिर्मित **'पञ्चमहायज्ञविधिः'** अथवा **'नित्यकर्मविधिः'** में लिखा है—**'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'** अर्थात् भली-भाँति ध्यान करते हैं या ध्यान किया जाए परमेश्वर का जिसमें, वह सन्ध्या है। सन्ध्या कब करनी चाहिए, इस विषय में वहाँ लिखा है—**'तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्योः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्यः।'** अर्थात् रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए।

ग्रन्थकार का यह मत वेदादिशास्त्रसम्मत है, इसकी पुष्टि में यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. **उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥** हे (अग्ने) परमेश्वर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं।—ऋग्वेद १।१।७॥ **'वस्त इत्यहर्वाचीति स्वामिदयानन्दः सायणोऽपि'**।

२. **तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासीत। स ज्योतिष्याज्ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः 'सा सन्ध्या, तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्॥** —षड्विंशब्राह्मण ४।५

ब्रह्म का उपासक रात्रि और दिवस के सन्धिसमय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अन्धकार का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना और उस समय में सन्ध्योपासन की जो क्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं।

३. **उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।**

तै०आ० प्रपा०२० अनु० २

जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्यप्रकाशस्वरूप, आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक मनुष्य ही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

४. **पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।**
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ —मनु० २।१०१

दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदयपर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेके तारों के दर्शनपर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक नित्य करें।

५. **ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन् ।**
षड्विंश ब्रा० ४।५

६. मनुस्मृति ने एक बार फिर स्पष्ट करते हुए कहा—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ —२।१०२

प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की और सायं सन्ध्या से दिनभर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों से सर्वथा स्पष्ट है कि सायं-प्रातः दो काल ही सन्ध्योपासन करना शास्त्रसम्मत है। किसी-किसी का मत है कि सन्ध्या त्रिकाल—सायं, प्रातः तथा मध्याह्न करनी चाहिए। इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने आगे चतुर्थ समुल्लास में लिखा है—

"तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या करना माने वह मध्य रात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण क्यों न करे? जो ऐसा करना भी चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना उचित है, तीसरे काल में नहीं।"

नियमितरूप से सन्ध्या करनेवाले साधक की उपलब्धि के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ —मनु० ४।९४

दीर्घकाल तक सन्ध्या का अनुष्ठान करने से ऋषि लोग दीर्घायु, प्रज्ञा, यश और ब्रह्मतेज को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत आचरण करनेवाले के लिए मनुजी कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ —मनु० २।१०३

अर्थात् जो मनुष्य सायं-प्रातः सन्ध्योपासन नहीं करता, उसे सज्जन पुरुष समस्त द्विजकर्म से बाहर कर दें, उससे शूद्रवत् बर्तें। इसका अनुमोदन करते हुए बोधायनधर्मसूत्र (२।४।२०) में कहा है—

1. Sleep with clean hands—either kept clean all day by integrity or washed clean at night by repentence. —Anon
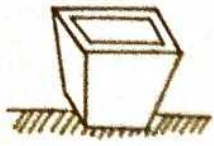
तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है। उसके लिए एक किसी धातु वा मट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अङ्गुल चौकोर उतनी ही गहिरी, और नीचे ३ तीन वा ४ चार अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे, अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो, उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहें। उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खे। उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उसपर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त ईंधन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र ऐसा, और तीसरा प्रणीतापात्र इस प्रकार का, और एक इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र। और चमसा ऐसा सोने-चाँदी वा काष्ठ का बनवाके प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रखके घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिए है कि उससे हाथ धोने का जल लेना सुगम है। पश्चात् उसी घी को अच्छे प्रकार से देख लेव। फिर इन मन्त्रों से होम करे—

सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा न उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥

राजा को चाहिए कि सायं-प्रातः सन्ध्या न करनेवाले विप्र को शूद्र कार्यों में लगा दे।

पञ्चमहायज्ञविधि में तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को विद्या के चिह्न यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकार से वंचित करदे और वह सेवाकर्म किया करे।

अग्निहोत्र का काल—सन्ध्या की भाँति अग्निहोत्र भी सायं-प्रातः दोनों काल करना चाहिए। सायंकाल में हुत द्रव्य प्रातःकाल तक और प्रातःकाल में हुत द्रव्य सायंकालपर्यन्त जलवायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि तथा आरोग्य प्रदान करनेवाला होता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।६३।१) में लिखा है—**'अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः'** सायं-प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।

प्रातः और सायं में कौन-से विशिष्ट काल अग्निहोत्र के लिए अभिप्रेत हैं, इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में निम्न संकेत किये हैं—

१. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है।—स०प्र० समु० ३

२. दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।—स०प्र० समु० ४

३. जैसे सायं-प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें। इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।—सं०वि० (गृहाश्रम)

४. ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धिसमय में नित्य उपासना करें। .... सन्ध्योपासन के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। —प० म० विधि

भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक-एक आहुति देवे । और जो अधिक आहुति देना हो तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव ॥ —यजु० ३०।३

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री-मन्त्र से आहुति देवे ।

इन वचनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि—

क. सन्ध्योपासना दोनों समय सन्धिवेलाओं में की जाती है ।

ख. दोनों समय सन्ध्योपासना के पश्चात् ही अग्निहोत्र का समय है ।

ग. प्रातःकालीन अग्निहोत्र सन्धिवेला अर्थात् उषःकाल के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए ।

घ. सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त से पूर्व करना चाहिए ।

परन्तु जब सन्ध्योपासना सायं सन्धिकाल में की जाएगी और अग्निहोत्र उसके पश्चात् करना होगा, तब अग्निहोत्र सूर्यमण्डल के अस्त हो जाने पर ही हो सकता है । इस स्थिति में 'सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र का समय है' यह वचन असंगत प्रतीत होता है । इसकी संगति इस प्रकार लग सकती है, कि पूर्ण सूर्यास्त तब समझना चाहिए, जब आकाश में तारे दीखने आरम्भ हो जाएँ, क्योंकि सायंकालीन अग्निहोत्र तारादर्शन से पूर्व ही करना अभीष्ट है, अतः वह 'सूर्यास्त से पूर्व' ही कहाएगा, किन्तु सूर्यमण्डल के क्षितिज में अस्त होने के पश्चात् होगा ।

प्रथम संस्करण में **'ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा.......'** आदि के स्थान में निम्न प्रकार मन्त्र लिखे हैं—

"ओं भूरग्नये स्वाहा । इदमग्नये इदन्न मम ॥ ओं भुवर्वायवे स्वाहा । इदं वायवे इदन्न मम ॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा । इदमादित्याय इदन्न मम ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्य इदन्न मम ॥ ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ।"

विशेष—प्राचीन याज्ञिकप्रक्रियानुसार आहुति के पश्चात् यजमान त्याग के लिए **'इदमग्नये'** (अभिप्रेत देवता पद का प्रयोग) अथवा **'इदन्न मम'** वाक्य का प्रयोग करते हैं, अर्थात् त्याग अर्थ के बोध के लिए इनमें से एक वाक्य का प्रयोग किया जाता है, परन्तु ग्रन्थकार ने सर्वत्र **'स्वाहा'** के पश्चात् **'इदमग्नये इदन्न मम'** सदृश दोनों वाक्यों का प्रयोग किया है । इसका अभिप्राय ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण में इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. ग्रन्थकार ने यहाँ प्रातः-सायं होम के **'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा', अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** आदि विशिष्ट मन्त्रों का **संकेत नहीं किया है** । उभयकाल में प्रयुक्त होनेवाले सामान्य मन्त्रों का ही निर्देश किया है । इसी प्रकार यहाँ तथा 'पञ्चमहायज्ञविधि' में **'इदमग्नये प्राणाय —इदं न मम'** आदि पदों का निर्देश भी नहीं मिलता है, परन्तु 'संस्कारविधि' में **दिये हैं** ।

'भूः' और **'प्राण'** आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। **'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है**—कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिए।

[होम से अनेक लाभ]

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है ?

"और जो इसमें तीन बार पाठ (१. **अग्नये स्वाहा,** २. **इदमग्नये,** ३. **इदं न मम**) है, सो प्रथम जो **'अग्नये स्वाहा'** इसका अर्थ यह है कि जो कुछ करना सो परमेश्वर के उद्देश्य से ही करना। **'इदमग्नये'** जो दूसरा पाठ है उसका यह अभिप्राय है कि सब जगत् परमेश्वर को जानने के लिए है, क्योंकि जो कार्य होता है सो कारणवाला ही होता है। **'इदं न मम'** यह जो तीसरा पाठ है, सो इस अभिप्राय से है कि यह जो जगत् है सो मेरा नहीं है, किन्तु परमेश्वर की ही रचना है। किसलिए कि हम लोगों के सुख के लिए परमेश्वर ने पदार्थ बनाये हैं। हम लोग तो भृत्यवत् हैं। परमेश्वर ही इस जगत् का स्वामी है, क्योंकि जिसका पदार्थ होता है, उसका वही स्वामी होता है।" पृष्ठ ४१

स्वाहा—निरुक्त ८।१६(२०) में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—**'स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वाग् आहेति वा स्वं आहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा'**।

(क) प्रियवचन, मधुर वचन, कल्याणकारी वचन। **सु आह वक्ति अनेनेति स्वाहा,** सु+आह्+घञ्= स्वाह, **सुपां सुलुक्** से सब विभक्तियों को 'आ' आदेश, अतः प्रियवचन से, इत्यादि सब विभक्तियों के अर्थ स्वाहा शब्द में पाये जाएँगे। यहाँ **'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः'** (पा० ३।४।८४) से 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश है। **सु आह वक्तीति स्वाहा,** एवं कर्त्ता में प्रत्यय करने पर 'स्वाहा' का अर्थ प्रियवक्ता, कल्याणवक्ता भी होगा।

(ख) सत्यभाषण, सत्यवक्ता। **'स्वा वाक् आह वक्ति अस्मिन्निति स्वाहा'**। स्वा+आह्+घञ्+ सु=स्वाहा। सत्यभाषण या सत्यवक्ता में वागिन्द्रिय अपनी हृदयस्थ वाणी कहती है, अर्थात् जो हृदय में है वही वाणी द्वारा उच्चारण किया जाता है।

(ग) अपने पदार्थ को ही अपना समझना, दूसरे के पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा न करना अर्थात् अपरिग्रह। **'स्वं पदार्थं प्राह वक्ति अनेन अयं वा सः स्वाहा'** स्व+आह्+घञ्+सु=स्वाहा।

(घ) सुग्रहीत हवि की आहुतियाँ देना अर्थात् सामग्री आदि को भली प्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक यज्ञ करना और इसी प्रकार विधिवूर्वक यज्ञ करनेवाला। फिर सामान्यतः सत्क्रिया या सत्कर्त्ता मात्र के लिए स्वाहा शब्द प्रयुक्त होता है। **'सु आहुतं हविः जुहोति अनेन कर्मणा अयं मनुष्यो वा इति स्वाहा'** सु+आ+हु+ड+सु=स्वाहा। आ=आहुत=गृहीत।

ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि के अन्तर्गत आये **'चित्रं देवानामुदगा.....'** मन्त्र में आये **'स्वाहा'** शब्द का अर्थ विस्तार से लिखा है। यज्ञ करते हुए मन्त्र के अन्त में **'स्वाहा'** शब्द बोलने का विधान शतपथ ब्राह्मण २।२।४।६ में है—**'स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमाहेति। स स्वाहेत्याजुहोत तस्मात् स्वाहेत्याजुहोत् तस्मात् स्वाहेत्येव हूयते'**, अर्थात् प्रजापति ने जाना कि मेरी अपनी महिमा आत्मा ने मुझसे कही है, अतः उसने 'स्वाहा' कहकर होम किया। इसी कारण 'स्वाहा' कहकर होम किया जाता है।

होम से लाभ—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** (शतपथ)। कर्मकाण्डप्रधान यजुर्वेद १।१ में परमेश्वर से इसी

यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करने की प्रार्थना की गयी है—**'प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** । अन्यत्र (यजुः० ६।२१, १८।२६, २२।३३) मनुष्य को अपना सर्वस्व यज्ञार्थ समर्पित कर जीवन को यज्ञमय बनाने की प्रेरणा की गयी है । भोजन-छादनादि से तो उसके कर्त्ता को ही सुख होता है, किन्तु सुगन्धयुक्त, पुष्टिकारक, मिष्टगुणकारक तथा रोगनाशक द्रव्यों से जो यज्ञ होता है, वह प्राणिमात्र के लिए सुखदायक होता है । इसीलिए उसे श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है । मनुस्मृति के अनुसार **'दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्'** देवयज्ञ (अग्निहोत्र) में प्रवृत्त मनुष्य समस्त चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है । मीमांसा (४।१।३) में **'परार्थत्वात्'** तथा ऐतरेयब्राह्मण में **'जनतायै'** (१।२) शब्दों से यज्ञ का परोपकारार्थ किया जाना स्पष्ट है । इसमें अपने-पराये, शत्रु-मित्र आदि में भेद करना सम्भव नहीं । चाहकर भी कोई अपने विरोधी पड़ोसी के घर में होम-जन्य सुगन्धि को जाने से नहीं रोक सकता ।

व्यापकरूप से पृथिवी एवं अन्तरिक्ष के दोषों को दूर करते रहने का सर्वोत्तम साधन सूर्य है । अथर्ववेद (२।३२।१) में कहा है—उदय और अस्त होता हुआ सूर्य अपनी प्रखर किरणों से शरीर के भीतर-बाहर और पृथिवी पर विद्यमान कीटाणुओं को नष्ट कर देता है । उस सूक्त के शेष मन्त्रों में भी सूर्य के विविध रूप में कृमिनाशक होने का वर्णन किया गया है । उदयास्त-काल में सूर्य की किरणें पृथिवी पर तिरछी पड़ती हैं, इसलिए उदय और अस्त होते हुए सूर्य का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है । तिरछी किरणें ही घरों के भीतर, गुफाओं में तथा वृक्षों के झुरमुटों में प्रवेश कर सकती हैं । अथर्ववेद (५।२३।३-६)में सूर्य की तेज धूप को सब प्रकार के कृमियों का नाशक बताया गया है । वृक्षादि वातावरण में विद्यमान दूषित वायु को ग्रहण कर तथा शुद्ध वायु प्रदान कर शुद्धि-कार्य में प्रवृत्त रहते हैं । सूअर, मुर्गा, मछली, कौआ, गिद्ध, सर्प आदि भी अपने-अपने ढंग से जल-थल-वायु की गन्दगी को दूर करने में सहायक हैं । यह सब ईश्वरीय व्यवस्था है ।

परन्तु मलमूत्र के विसर्जन, पदार्थों के गलने-सड़ने, श्वास-प्रश्वास की क्रिया तथा वर्त्तमान में धूम्रपान, कल-कारखानों की चिमनियों से निरन्तर निकलनेवाले धुएँ एवं दूषित पदार्थों तथा यातायात आदि के कारण उत्पन्न प्रदूषण के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है । तब उसका निवारण करना भी उसी का कर्त्तव्य है । इसका एकमात्र उपाय अग्निहोत्र है । द्युस्थानीय सूर्य का धरती पर प्रतिनिधित्व अग्नि करती है । अग्नि में पड़ते ही किसी पदार्थ का दूषण सर्वथा समाप्त हो जाता है । उसी के प्रभाव से उष्ण जल भी कृमिनाश में सहायक होता है । अग्नि में होम किये अनेक प्रकार के रोगनाशक तथा सुगन्धगुणयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुआँ जलवायु के दोषों अथवा विकारों को दूर करने मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है । जहाँ होम किया जाता है उस स्थान के अन्दर वर्त्तमान अग्नि, वायु तथा सूर्य की किरणों की शक्ति बढ़ जाती है । होम की सहायता से होनेवाली वर्षा का जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध जलवायु से उत्पन्न ओषधि, वनस्पति आदि भी शुद्ध अथवा निर्दोष होते हैं और मनुष्य के शरीर में जाकर उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते । इसलिए वेद ने यज्ञ की सहायता से कृषि करने का आदेश दिया है—

'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्' । —यजुः० १८।६

होमयज्ञ के द्वारा ज्ञात, अज्ञात तथा दुःसाध्य सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है । कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनका निदान नहीं हो पाता अथवा जिनके उपचार के लिए उपयुक्त ओषधि उपलब्ध नहीं हो पाती। ऐसे सभी रोगों की चिकित्सा के लिए वेद ने होमयज्ञ का विधान किया है । यज्ञ के द्वारा वेद ने जहाँ सामान्यरूप से चिकित्सा का उपदेश किया है, वहाँ विशेष द्रव्यों से रोगविशेषों की चिकित्सा का भी निर्देश

किया है। यज्ञ द्वारा रोगनिवारण का उल्लेख चरकसंहिता, बृहन्निघण्टु आदि आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों में अनेकत्र मिलता है। गिलोय, गुग्गुल, चिरायता आदि रोगनाशक ओषधियाँ अग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न हो सहस्रगुणा शक्ति पाकर जलवायु को शुद्ध करती हैं। यह ओषधीय प्रभाव वातावरण को प्रदूषण से मुक्त करके स्वस्थ रहने में सहायक होता है। यज्ञीय वातावरण की शान्ति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने के लिए सोने में सुगन्ध का काम करते हैं। अब तो आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने भी परीक्षण करके यज्ञ द्वारा वाय्वादि की शुद्धि होकर रोगनिवारण की वैदिक मान्यता को स्वीकार कर लिया है।

विज्ञान के अनुसार रासायनिक प्रक्रिया छोटे-छोटे पदार्थों में अधिक होती है। रासायनिक क्रियाओं में पदार्थों के अणु (Molecules) भाग लेते हैं, क्योंकि अणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, अतः पदार्थ जितना अधिक सूक्ष्म होगा वह क्रिया में उतनी ही जल्दी भाग लेगा एवं क्रिया तेजी से होगी। रासायनिक क्रिया ठोस एवं द्रव की अपेक्षा गैस में सबसे अधिक तेजी से होती है। इस क्रिया में केवल अणु का पृष्ठभाग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि पदार्थ का पृष्ठ भाग अधिक होगा तो क्रिया अधिक होगी और यह तभी सम्भव है जब पदार्थ को सूक्ष्म अतिसूक्ष्म करके फैला दिया जाए। उदाहरण के लिए—यदि तेज़ाब (Hydrocloric Acid) में थोड़े-से संगमरमर (Calcium Carbonate) के टुकड़े डाल दिये जाएँ तो गैस (Carbon dioxide) निकलने लगती है, परन्तु यदि संगमरमर का चूरा डाल दिया जाए तो गैस अधिक वेग से निकलती है। रासायनिक क्रिया के लिए कणों (Particles) की पृष्ठवक्रता (surface curvature) भी कम होनी चाहिए। यदि पदार्थ के कण सूक्ष्म होंगे तो उनकी पृष्ठवक्रता भी कम होगी एवं क्रिया तेजी से होगी।

जब कोई पदार्थ अग्नि में डाला जाता है तो वह अत्यन्त सूक्ष्म होकर गैसरूप में आ जाता है, क्योंकि अग्नि के प्रभाव से पदार्थ फैलते हैं। इसके अतिरिक्त जब कण सूक्ष्म हो जाते हैं तो उसकी पृष्ठवक्रता भी कम हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों बातों के लिए होम अत्यन्त उपयोगी है। जब कोई पदार्थ हवन-यज्ञ में डाला जाता है तो उसकी रासायनिक शक्ति बढ़ जाती है।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि स्थूल पदार्थ से उसके चूर्ण में, चूर्ण से तरल में और तरल से वायु या गैसरूप में अधिक शक्ति होती है। मिर्च के खाने और आग में डालकर उसको सूँघने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। अग्नि में डाले गये द्रव्य की शक्ति और उसका व्यापार-क्षेत्र उसके सूक्ष्म होने से अनेक गुणा बढ़ जाता है।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—

"जैसे दाल, शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि में तपाके उनमें छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं। वैसे ही यज्ञ से जो भाप उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है। इससे यह यज्ञ परोपकार के लिए ही होता है।"

—वेदविषयविचारः

सुगन्धित पदार्थ रक्खा जाए तो वे अधिक लाभकारी होंगे, ऐसा समझना भूल होगी। हम जानते हैं कि कोई पदार्थ जितना क्रियाशील गैस के रूप में होता है उतना उन पदार्थों के द्रवरूप (तेल, अर्क आदि) में नहीं होता।

जल, वायु एवं अन्न आदि की शुद्धि के लिए अन्य उपाय भी हैं। शुद्धिकरण के लिए हम कृमिनाशक

पदार्थों (Disinfectants) और कृमिहर (Antiseptics) का प्रयोग करते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी प्रयोग में लाये जाते हैं जिनसे खाद्य पदार्थों में सड़न उत्पन्न न हो। इन्हें संरक्षक (Preservatives) कहते हैं। कृमिहर पदार्थों में प्रायः फ़िनोल, क्रियजोट और हाइड्रोजन पैराक्साइड (H_2O_2) आदि मुख्य होते हैं। ये कीटाणुओं को मारते नहीं, अपितु पदार्थों को कीटाणुओं के प्रभाव से बचाते हैं। कृमिनाशक पदार्थों में प्रायः क्लोरीन, सल्फर-डाइ-आक्साइड आदि अधिक प्रयोग में लाये जाते हैं। ये रोगों के कीटाणुओं को मारते हैं। प्रायः शहरों में यह देखा जाता है कि पानी का रंग नीला स्वच्छ न होकर कुछ भिन्न रंग का होता है। ऐसा पानी में क्लोरीन डालने से होता है। पानी की टंकी में क्लोरीन गैस मिला दी जाती है जो पानी के कीटाणुओं को मार देती है। इसी प्रकार कुओं में भी लाल दवाई नामक पदार्थ मिलाया जाता है। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो कृमिहर एवं कृमिनाशक दोनों के रूप में काम में लाये जाते रहे हैं, जैसे—फार्मल्डीहाइड, परन्तु यह गुण उनकी सान्द्रता पर निर्भर करता है। यदि पदार्थ तनु (dilute) होता है तो वह कृमिहर का काम देता है, परन्तु अधिक सान्द्र (concentrated) होने पर कृमिनाशक के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे पदार्थों का प्रयोग करना कठिन कार्य है, क्योंकि यदि वे आवश्यकता से अधिक डाल दिये जाएँ तो हानिकारक सिद्ध हो जाते हैं। हवन-गैस के विश्लेषण से पता चलता है कि उसमें ये पदार्थ सान्द्र अवस्था में नहीं होते। वे सिर्फ़ इतनी मात्रा में होते हैं कि कीटाणुओं को मार सकें, अतः हवन-गैस खाद्य पदार्थों के उपयोगी भाग को नष्ट किये बिना अपना काम करते हैं। हवन-गैस में वे Preservatives गैस के रूप में होते हैं। वह गैस वायु के साथ मिलकर हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट कर देती है, परन्तु आवश्यक भाग को नष्ट नहीं करती।

घर में अग्निहोत्र करने से प्रांगण या परिसर की वायु हल्की होकर बाहर निकल जाती है एवं बाहर की शुद्ध वायु घर के भीतर आ जाती है। यह बात सुगन्धित पदार्थों को घर में रखने से नहीं हो सकती।

प्रायः यह कहा जाता है कि हवन करने से कार्बन डाई आक्साईड गैस निकलती है जो मानव के लिए हानिकारक है। वास्तव में ऐसा नहीं है। हम जानते हैं कि वायु में कार्बन डाइ आक्साइड सामान्यतः .०४ प्रतिशत तक होती है। यह गैस मनुष्य के रक्त में उपस्थित गैसों में भी पाई जाती है। यह गैस अपने आप में इतनी विषैली नहीं होती। इस गैस की उपस्थिति में हानि का कारण वहाँ पर आक्सीजन की कमी होती है। साँस लेने के लिए आक्सीजन का पर्याप्त मात्रा में होना अपेक्षित है। यदि हवन करने से इतनी अधिक कार्बन डाई आक्साइड निकलती कि आक्सीजन की अपेक्षित मात्रा में कमी हो जाती तो साँस लेने में कठिनाई हो जाती तो हवन में यह दोष माना जा सकता था, परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि हवन से पैदा होनेवाली यह गैस मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं है। कार्बन डाई आक्साइड गैस जल में घुलनशील है, अतः हवन करते समय जो जल हवनकुण्ड के चारों ओर छिड़का जाता है, कुछ गैस उसमें भी घुल जाती है। यदि हवन ठीक रीति से किया जाए—समिधाएँ ठीक प्रकार की और ठीक परिमाण में डाली जाएँ और घी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जाए—तो कार्बन डाइ आक्साइड बहुत कम बनेगी।

सभी इस बात को जानते हैं कि पेड़-पौधे दिन में कार्बन डाइ आक्साइड गैस खींचते हैं और रात्रि में उसे छोड़ते हैं। यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि जो गैस मनुष्य के लिए हानिकारक है वही पौधों का आहार होने से उनके लिए लाभदायक है। इसलिए हवन करने से जो कार्बन डाइ-आक्साइड निकलती है वह पेड़ पौधों का आहार बन जाती है। यही कारण है कि जहाँ कार्बन-डाइ-आक्साइड अधिक होती है, वहाँ

पेड़-पौधे अधिक और दूसरों की तुलना में अधिक अच्छे होते हैं।

किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश कभी नहीं होता। अभिव्यक्तावस्था में आजाने पर जब कोई वस्तु अपने रूप का परित्याग करती है तो वह या तो रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में लीन हो जाती है। इस स्थिति को साधारणतया उस वस्तु का नाश समझ लिया जाता है। परिणमन के कारण उसका नाम-रूप भले ही बदलता रहे, पर उसका सर्वात्मना विनाश कभी नहीं होगा। जल का आक्सीजन-हाइड्रोजन में विभक्त होकर अदृश्य हो जाना अथवा वाष्परूप होकर उड़ जाना जल का नष्ट हो जाना नहीं, एक स्थिति से दूसरी में परिवर्त्तित हो जाना है। मोमबत्ती के जलते-जलते बुझ जाने पर भी न उसकी बत्ती नष्ट होती है और न मोम। केवल हमें उसका उस रूप में दिखाई देना बन्द हो जाता है। यदि अग्नि में जल जाने से मिर्चों का नाश हो जाता है तो क्या कारण है कि हम उस स्थान पर बहुत देर बाद तक भी खड़े नहीं रह सकते। निश्चय ही मिर्चों का अस्तित्व अपने परिवर्तित रूप में बना रहता है। यही बात अग्नि में पड़कर भस्म हुए पदार्थों की है। सूक्ष्मरूप में वे सदा आकाश में बने रहते हैं।

आनुषंगिक लाभ—आनुषंगिक रूप में भी यज्ञ से अनेक सांकेतिक लाभ होते हैं। जैसे **'इदन्न मम'** के बार-बार उच्चारण से त्यागवृत्ति एवं समर्पण की भावना का उदय, अहंकार का मर्दन, जलती हुई समिधाओं से अपने को खोकर कुछ पाने की प्रेरणा, ऊपर ही ऊपर उठती प्रचण्ड अग्नि ज्वाला को देखकर स्वयं ऊपर उठने की आशा को बल, अपने को स्वाहा करने पर ही प्रकाश और अमरता की प्राप्ति, संसार के कल्याणार्थ अपने को बलिदान करने का सन्देश, तेज की शिखा दबाने पर भी ऊपर की ओर ही उठना चाहती है—यह देखकर विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति, जातीय गौरव तथा संगठन का भाव इत्यादि। जो व्यक्ति प्रतिदिन वेदी पर बैठकर आहुतियाँ डालता हुआ, भौतिक अग्नि के साथ-साथ आत्मिक ज्वाला को भी प्रदीप्त करता रहता है, वह शनैः-शनैः उन्नति तथा विकास के शिखर पर पहुँच जाता है। जिसका अग्नि के साथ सम्पर्क हो जाता है, वह ऊर्ध्वगति हो जाता है—वह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है। पानी सदा नीचे को बहता है, परन्तु अग्नि के सम्पर्क में आकर वह भाप बन जाता है और ऊपर की ओर उठने लगता है। मनुष्य भी परमात्मा का सान्निध्य पाकर ऊपर उठने लगता है—ऊपर-ही-ऊपर जाता है। फिर उसके पतन की आशंका नहीं रहती। जैसे यज्ञाग्नि में डाली आहुति अग्निरूप हो जाती है, वैसे ही जो ब्रह्माग्नि में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है। जैसे यज्ञाग्नि अरणियों के घर्षण से पैदा होती है, वैसे ही ब्रह्माग्नि तपस्या से प्रकट होती है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अग्निहोत्र के प्रकाश से जीवन का प्रकाश करने का अभ्यासी हो जाता है, उसे मृत्यु भी कष्ट नहीं दे सकती। जिसने अपने जीवन का एक-एक क्षण अपने स्वामी की कीर्ति का विस्तार करने में लगाया हो वह तो मृत्यु के आने पर 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहकर हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगा लेगा।[1]

यह कहा जा सकता है कि यदि जल-वायु की शुद्धि करना ही अग्निहोत्र का उद्देश्य है तो यह तो बहुत सारी आग जलाकर उसमें घृत-सामग्री झोंक देने से पूरा हो सकता है। फिर यह सब आडम्बर किस लिए ? यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अंगसंचालन के साथ किया हुआ कार्य और कथन केवल

१. महाप्रयाण के समय ग्रन्थकार के मुख से निकले अन्तिम शब्द थे —हे दयामय परमेश्वर ! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! मेरे प्रभु! तैंने अच्छी लीला की।'

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख; और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य, और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है ।

प्रश्न—चन्दनादि घिसके किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो । अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं ।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते, तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता[1] । देखो, जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी । इतने ही से समझलो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके, फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है ।

प्रश्न—जब ऐसा ही है, तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा ।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ[2] वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है । और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके, बाहर निकालकर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है ।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाएँ, और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें । वेद-पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे ।

वाणी से निःसृत शब्दों से अधिक प्रभावशाली होता है । इसी कारण श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य में लोगों की रुचि अधिक होती है । बालकों को पाठ कण्ठस्थ कराने के लिए प्रायः इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है । होम करते समय हाथों से आहुति डालते, आचमन व अंगस्पर्श करते और जल-प्रोक्षण करते हैं, आँखों से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं । इस सारी प्रक्रिया के साथ वाणी से मन्त्र बोलने में रस आता है । यही कारण है कि बच्चे अपने माता-पिता के साथ बड़े चाव से यज्ञ में बैठते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे यज्ञ में बोले जानेवाले मन्त्र उन्हें अनायास कण्ठस्थ हो जाते हैं ।

मन्त्रपाठ—मन्त्रपाठ के प्रयोजन के विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—"जैसे हाथ से होम करते, आँख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं, क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो-जो फल होते हैं, उनका स्मरण भी होता है । वेदमन्त्रों के बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं तथा रक्षा भी होती है और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाए । ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है, सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है । इसलिए सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित होता है ।"

—वेदविषय विचार ।

---

१. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। —गीता २।१६
यह वचन ग्रन्थकार ने अष्टम समुल्लास में उद्धृत किया है ।

२. अर्थात् घर में स्थित=विद्यमान वायु को ।

परन्तु होम से होनेवाले फलों का स्मरण मन्त्रपाठ से तब तक नहीं हो सकता जब तक उनके अर्थों का ज्ञान न हो। इस विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं होगा।

अर्थज्ञान के बिना मन्त्रपाठ—तो क्या अर्थज्ञान के बिना वेदमन्त्रों का पाठ करना ही नहीं चाहिए? करना चाहिए, क्योंकि केवल मन्त्र-स्मरण करने से भी मनुष्य को पूरा न सही, कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य होता है। उसकी स्मृति में कल्याणी वेदवाणी के शब्द रहते हैं। कालान्तर में वह कभी अर्थज्ञान में प्रवृत्त हो सकता है। स्मृतिगत किसी मन्त्र की व्याख्या सुनते समय उसे मन्त्र से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आनन्द आएगा। दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने अर्थज्ञान के बिना वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ कर जिस प्रकार वेदों की रक्षा की है, उसके लिए कौन उनके प्रति नतमस्तक नहीं होगा? **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**। यदि उनके कण्ठ में वेद सुरक्षित न रहते तो आज कौन वेद का भाष्य करता या उनपर प्रवचन करता। यदि मन्त्रपाठ की कोई उपयोगिता न होती तो ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर भी वेद की रक्षा न की होती, दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता और **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयः'** के अनुसार बिना किंचित् लाभ की आशा के वेदों के पठन-पाठन में सारा जीवन न लगाया होता। वेद की रक्षा के लिए वे जितने भी उपाय कर सकते थे, उन्होंने किये। वेदों के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम उपाय श्रवण-परम्परा को अपनाना था, अतः उन्होंने उसी को अपनाया। लेखकों के प्रमाद (तथा वर्त्तमान में मुद्रणालयों की असावधानी) के कारण, वेदों का पाठ अधिक भ्रष्ट हो सकता था। इसलिए लेखनकला का अतिप्राचीन काल से ज्ञान होनेपर भी प्राचीन भारतीयों ने प्रायः लिपिबद्ध न कर श्रवणपरम्परा से ही इसे बाद की पीढ़ियों को संक्रमित किया। कालान्तर में इस श्रवणपरम्परा के लिए कई घराने विशिष्टरूप से निर्धारित किये गये। उनमें से किन्हीं ने दो वेदों पर परिश्रम किया, किन्हीं ने तीन पर और किन्हीं ने चारों पर। वे ही बाद में द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी कहलाए। आज जबकि वेद मुद्रितरूप में उपलब्ध हैं, अनेक वेदपाठी इसकी युग-युग पुरानी मौखिक परम्परा का पालन कर रहे हैं। उनके मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं, जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इस अद्भुत आश्चर्य को देखकर एक पाश्चात्य विद्वान् ने आत्मविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी मुद्रित प्रतियाँ नष्ट हो जाएँ तो भी इसे ब्राह्मणों के मुख से पुनः प्राप्त किया जा सकता है। वेद के कभी नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ब्राह्मणों के मुख में ये चारों वेद उनके अर्थज्ञान के बिना ही सुरक्षित रहे हैं। इसलिए उनसे मनुष्यसमाज पूरी तरह लाभान्वित नहीं हो सका।

केनोपनिषद् की टीका में श्री अरविन्द ने लिखा है—"मनोविज्ञान का कहना है कि चेतना का जो रूप हमारे जानने में आता है, वह केवल सतह का ऊपर-ऊपर का रूप है। अन्तश्चेतना के बहुत बड़े भाग से हम अनभिज्ञ रहते हैं। अन्तश्चेतना का यह विशाल भाग उस सबको स्मृति के कोठे में संचित कर लेता है, जो-जो मनुष्य की इन्द्रियों के सामने से गुज़रता है। यह सम्भव है कि जो कुछ हम देखते-सुनते हैं, उस सबकी ओर हमारा ध्यान बिल्कुल न जाता हो, परन्तु हमारी चेतना का वह भाग जिसे उपचेतना (Sub-conscious) कहा जाता है, हर बात को, हर घटना को अपने भीतर अंकित कर लेता है। उसके ध्यान से कुछ नहीं छूटता, छोटी-से-छोटी बात भी उसमें अंकित होकर संचित हो जाती है। उदाहरणार्थ जैसे—एक अनपढ़ नौकरानी प्रतिदिन अपने मालिक को हिब्रू भाषा में प्रार्थना करते सुनती रही। वह इस

भाषा के सिर-पैर को बिल्कुल नहीं समझती थी। उसके मन के चेतन भाग (Conscious self) ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, परन्तु उसकी उप-चेतना में इस सर्वथा अनजानी भाषा का एक-एक शब्द अंकित होता गया और मन की विकृत अवस्था में एक दिन अनजाने में ही उसने इस सबको उगल दिया। एक-एक वाक्य के सब शब्द उसके लिए सर्वथा अर्थहीन थे, वे सब उसकी उपचेतना से बाहर आ गये। इसका कारण यह है कि नौकरानी का चेतन मन जो आँख-कान आदि से काम लेता है, यद्यपि इन प्रार्थनाओं को सुनकर भी नहीं सुन रहा था, तो भी उसका उपचेतन इस सबको सुन रहा था—इतना सुन रहा था कि प्रार्थना का एक-एक शब्द उसे याद था। चेतन मन सतह पर काम करता है, उपचेतन मन चेतना के भीतर काम करता है। वर्त्तमान मनोविज्ञान ने प्रायः उसी सत्य का उद्‌घाटन किया है जिसे भारत के प्राचीन दार्शनिक अपनी भाषा में दूसरे ढंग से कहते रहे हैं।" यदि एक अनपढ़ नौकरानी द्वारा अनजाने में उपचेतन द्वारा सुने हुए सर्वथा अपरिचित भाषा के अर्थहीन शब्द इस प्रकार अंकित होकर संचित हो जाते हैं, तो एक पढ़े-लिखे व्यक्ति द्वारा कुछ-कुछ परिचित भाषा के जान-बूझकर उच्चरित मन्त्रों के संस्कारों के स्वयं उसके मन पर अंकित होकर संचित होने में क्या सन्देह हो सकता है? जन्म-जन्मान्तर के संस्कार आत्मा पर अंकित होते रहते हैं। संस्कार से स्मरण और स्मरण से प्रवृत्ति होती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों की स्मृति उद्‌बुद्ध हो जाने पर यह उपार्जित सामग्री उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

वृक्ष की पूर्ण सफलता तो इसी में है कि समय आनेपर उसमें फूल-फल लगें, किन्तु यदि किसी कारण इसमें बाधा पड़ जाए तो भी वृक्ष के बने रहने से अनेक लाभ मिलते हैं। ऐसा वृक्ष भी छाया देता है, वायु की शुद्धि में सहायक होता है, धरती को रेतीली बनने से रोकता है और अन्ततः मेज़-कुर्सी आदि बनाने के लिए अथवा ईंधन के लिए लकड़ी प्रदान करता है।

यज्ञ में मन्त्रपाठ के सन्दर्भ में वेद का निश्चित आदेश है—

उपप्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥ —यजुः० ३।११

अर्थात् 'यज्ञ में आये हम लोग ईश्वर की उपासना के लिए मन्त्रों का उच्चारण करें। वह हमारे दूर और पास सर्वत्र सुनता है।' ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—**'मनुष्यैर्वेदमन्त्रैरीश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासना यज्ञानुष्ठानं च कर्त्तव्यम्।'**

यज्ञ में मन्त्रपाठ की अनिवार्यता का निर्देश करते हुए गीता (१७।१३) में कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

बिना मन्त्रपाठ किये गये यज्ञ से जल-वायु की शुद्धि आदि का प्रयोजन तो सिद्ध हो जाएगा, किन्तु वेदों का मुख्य तात्पर्य तो ईश्वराराधन में है। उसकी सिद्धि अर्थज्ञानपूर्वक मन्त्रपाठ के बिना नहीं होगी। अग्नि में घृत-सामग्री की आहुति देनेमात्र से अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए अपेक्षित लाभ तो मिलेंगे, परन्तु निःश्रेयस की सिद्धि नहीं होगी।

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख-विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है, परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिए। परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

होम न करना पाप—जैसा पाप निषिद्ध कर्मों के करने में है, वैसा ही विहित कर्मों के न करने में है। अन्य देहधारी प्राणी भी प्रदूषण उत्पन्न करते हैं, किन्तु मनुष्य के बुद्धिजीवी होने से शास्त्र में धर्माधर्म का विधान उसी के लिए किया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने का सामर्थ्य अन्य किसी प्राणी में नहीं है। जैसे वेद ने सत्यभाषणादि का उपदेश दिया है, वैसे ही मनुष्यों को यज्ञ करने का भी आदेश दिया है। यज्ञ न करनेवालों के लिए निन्दापरक वचन भी वेद में मिलते हैं। तद्यथा—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति। —अथर्ववेद १२।२।३७

अयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः। —ऋक्० १।३३।४

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। —ऋक्० १।३३।५

वैदिक धर्म में अग्निहोत्र के महत्त्व को दर्शानेवाला याज्ञवल्क्य तथा जनक का संवाद द्रष्टव्य है। शतपथब्राह्मण में कथित वह संवाद कुछ इस प्रकार है—

"तद्धैतज्जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ—वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति। वेद सम्राडिति। किमिति पयऽएवेति ॥१॥ यत्पयो न स्यात् केन जुहुयाऽइति। व्रीहियवाभ्यामिति। यद् व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुयाऽइति। या अन्या ओषधयऽइति। यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुयादिति ॥२॥ यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुयादिति। वानस्पत्येन इति। यद् वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुयाऽइति। अद्भिरिति। यदापो न स्युः केन जुहुयाऽइति ॥३॥ स होवाच न वा इह तर्हि किञ्चनासीदथैतदहूयतैव—सत्यं श्रद्धायामिति। वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतं ददामीति होवाच ॥४॥"

अर्थात् जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा—याज्ञवल्क्य, क्या अग्निहोत्र की सामग्री जानते हो ? उसने कहा—सम्राट् ! जानता हूँ। जनक—क्या ? याज्ञ०—दूध या घृत। जनक—यदि दूध न हो तो किससे हवन करें ? याज्ञ०—जौ और चावल से। जनक—यदि जौ और चावल न हों तो..... । याज्ञ०—जो अन्य ओषधयाँ हों, उनसे। जनक—जो अन्य ओषधियाँ न हों तो। याज्ञ०—जंगली ओषधियों से। जनक—यदि जंगली ओषधियाँ भी न हों तो। याज्ञ०—यदि वे भी न हों तो जल से। जनक—यदि जल भी न हो तो। कुछ भी न हो तो भी हवन तो करना ही चाहिए। सत्य को श्रद्धा में होम दें। इसपर जनक ने कहा—याज्ञवल्क्य, आप अग्निहोत्र के विषय में जानते हैं, अतः मैं आपको सौ गौवें देता हूँ।

ऋग्वेद ८।१०२।१९-२२ में दरिद्र मनुष्य की हवन सामग्री का अत्यन्त कारुणिक वर्णन है—**"नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति। अथैतादृग्भरामि ते ॥ यदग्ने कानि कानिचिदा ते दारूणि दध्मसि। ता**

[दैनिक आहुतियों की संख्या और द्रव्य-परिमाण]

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे ? और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह[1] आहुति, और छः-छः मासे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिए। और जो इससे अधिक करे, तो बहुत अच्छा है। इसलिए आर्यवरशिरोमणि, महाशय, ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्य्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।

[ब्रह्मचर्य में कर्त्तव्य दो यज्ञ]

ये दो यज्ञ अर्थात् **ब्रह्मयज्ञ**—जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना। दूसरा **देवयज्ञ**—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ, और विद्वानों की सेवा-संग करना, परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

जुषस्व यविष्ठ्य ॥ यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥ अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमीन्धे विवस्वभिः ॥''

अर्थात्—यद्यपि मेरे पास गौ नहीं है और न ही लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ा है तो भी मैं तेरा यज्ञ करता हूँ। हे सर्वश्रेष्ठ विवेकिन् ! मैं जैसी-कैसी लकड़ियाँ लाया हूँ, उन्हीं को स्वीकार करो। मधुमक्षिका आदि का जो उच्छिष्ट बह रहा है, वह घृत हो। अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य बुद्धि वा क्रिया को मन से मिलाये और फिर हृदय की भावनाओं से अग्नि प्रदीप्त करे।

पूर्वोक्त शतपथ-वचन में मानो इसी का विस्तार है।

कितनी आहुतियाँ—ये सोलह आहुतियाँ एक समय में कर्त्तव्यरूप हैं या दोनों समय में ८+८ मिलाकर सोलह कर्त्तव्य हैं, इस बात को ग्रन्थकार ने कहीं स्पष्ट नहीं किया है। पं० श्री युधिष्ठिरजी के अनुसार **'पञ्चमहायज्ञविधि'** के प्रकाश में सत्यार्थप्रकाश का अभिप्राय जानना चाहिए। तदनुसार दोनों काल की ८+८ मिलाकर १६ आहुतियाँ होती हैं।

ब्राह्मणस्त्रयाणाम्—पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए सुश्रुत के इस वचन के यहाँ उद्‌धृत किये जाने की कोई प्रासंगिकता प्रतीत नहीं होती। उपनयन में अधिकारानधिकार का विवेचन इसी समुल्लास के आरम्भ में हो चुका। वेदाध्ययन में अधिकारानधिकार विषय पर आगे इसी समुल्लास के अन्त में भली प्रकार विचार किया गया है। वर्णव्यवस्थानुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण चतुर्थ समुल्लास में किया गया है। वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभावाश्रित है। तदनुसार कर्मकाण्ड तथा अध्यापन करना ब्राह्मण-कर्म है, यह

---

१. ये सोलह आहुतियाँ एक समय में कर्त्तव्यरूप हैं, अथवा दोनों समय में ८+८ मिलाकर १६ कर्त्तव्य हैं। यह विषय ग्रन्थकार के किसी वचन से स्पष्ट नहीं होता। हमारे विचार में 'पञ्चमहायज्ञविधि' के प्रकाश में 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय जानना चाहिए। तदनुसार दोनों समय की ८+८ मिलाकर १६ आहुतियाँ होती हैं। जो लोग 'संस्कारविधि' के प्रकाश में एक काल में १६ आहुतियों की व्याख्या करते हैं, वह ठीक नहीं। क्योंकि ग्रन्थकार ने जब यह पंक्ति लिखी थी, तब 'संस्कारविधि' का उक्त परिशोधित संस्करण लिखा ही नहीं गया था। विशेष विचार श्री मीमांसकजी के 'वैदिक नित्यकर्म विधि' ग्रन्थ के उपोद्घात पृष्ठ ११-१३ तक देखें।

[उपनयन कराने के अधिकारी]

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति । राजन्यो द्वयस्य । वैश्यो वैश्यस्यैवेति । शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके' ॥ यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है ॥

अर्थः—ब्राह्मण तीनों वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य

सर्ववादीसम्मत है। मन्वादि के अनुसार अध्यापन करना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है, क्षत्रिय और वैश्य का नहीं। मनुस्मृति (१०।१) में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥

अर्थात् तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने कर्म में स्थिर रहते हुए अध्ययन तो करें, किन्तु पढ़ाने का काम ब्राह्मण करें अन्य नहीं—यह निश्चित है। कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—

ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्ठातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान्न क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः ।

क्षत्रियादि अध्यापन के योग्य नहीं हो सकते। तलवार चलाने के अभ्यास में प्रवृत्त क्षत्रिय या कृषिकर्म में दक्ष या व्यापारबुद्धिवाले वैश्य से वेद-वेदाङ्ग में निष्णात होने की आशा कैसे की जा सकती है?

वर्णानुक्रम के आधार पर गुरु-शिष्य का विभाजन (ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को पढ़ा सकता है, किन्तु क्षत्रिय अध्यापक, ब्राह्मण बालक को और वैश्य अध्यापक, ब्राह्मण व क्षत्रिय बालकों को नहीं पढ़ा सकता) भी न शास्त्रसम्मत है, न तर्कसंगत है और न व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है। निश्चय ही यह विभाजन जन्म के आधार पर अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले बालकों के माता-पिता के वर्ण के आधार पर होगा, क्योंकि अध्येताओं के वर्ण का निर्धारण तो विद्याध्ययन की समाप्ति पर होगा।

आधुनिक काल में मनुष्यमात्र को पढ़ने, विशेषतः वेदाध्ययन करने, का अधिकार प्रदान करने का श्रेय ग्रन्थकार ऋषि दयानन्द को है, परन्तु सुश्रुत के यहाँ उद्धृत प्रमाण से 'कुलगुणसम्पन्न' (कुलीन शुभलक्षणयुक्त—ग्रन्थकार) शूद्र को भी उपनयन धारण करने तथा वेद पढ़ने (**मन्त्रवर्जमनुपनीतम्**) आदि के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।

उद्धृत सन्दर्भ में **'इत्येके'** तथा भाषार्थ में 'यह मत अनेक आचार्यों का है' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह स्वयं सुश्रुत का मत नहीं है। सुश्रुत आयुर्वेदशास्त्र में प्रमाण है, धर्मशास्त्र में नहीं। इसलिए उनका **'इत्येके'** लिखकर मौन हो जाना समझ में आ सकता है, किन्तु ग्रन्थकार तो धर्मशास्त्र में आप्त पुरुष हैं। **'इत्येके'** अथवा 'यह मत अनेक आचार्यों का है' इन शब्दों से यह ध्वनि तो निकलती है कि वे इससे पूरी तरह सहमत नहीं हैं, परन्तु इस युग में **'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः** ....' का दिग्-दिगन्तर में उद्घोष करनेवाले ग्रन्थकार द्वारा उनके आधारभूत मन्तव्यों के विरोधी वचन का प्रत्याख्यान न किया जाना समझ में नहीं आता। इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रकरण भी द्रष्टव्य है—

ग्रन्थकार ने काशी में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी। जनता को इसकी जानकारी देने के लिए एक विज्ञापन प्रचारित किया था। यह विज्ञापन प्रथम बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित तथा संचालित 'कविवचनसुधा' के आषाढ़ सुदी ६ शनि, संवत् १६३१, तदनुसार २० जून १८७४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। वहाँ से 'बिहारबन्धु' भाग २, अंक २१, आषाढ़ सुदी १४, संवत् १६३१, तदनुसार २८ जून १८७४ में प्रकाशित हुआ। 'बिहारबन्धु' से पं० लेखरामजी ने लिया। विज्ञापन इस प्रकार था—

"एक समाचार सबको विदित हो कि आपका आर्यविद्यालय काशी में संवत् १६३० पौष मास तदनुसार दिसम्बर सन् १८७३ में केदारघाट पर जिसका आरम्भ हुआ था, वही अब मित्रपुर भैरवी मोहल्ला, मिश्र दुर्गाप्रसाद के स्थान में संवत् १६३१ मिति आषाढ़ सुदी ५ शुक्रवार, १६ जून सन् १८७४ प्रातः काल ७ बजे के उपरान्त आरम्भ होगा। इसका प्रबन्ध सब अच्छे प्रकार होगा। इसमें अध्यापक गणेश श्रोत्रिय होंगे। सो पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तदर्शन, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक दश उपनिषद्, मनुस्मृति, कात्यायन और पारस्करकृत गृह्यसूत्र, इनको पढ़ाया जाएगा। थोड़े समय के पीछे चार वेद, चार उपवेद तथा ज्योतिष के ग्रन्थ पढ़ाये जाएँगे और एक उपवैयाकरण रहेगा। वह अष्टाध्यायी, धातुपाठगण, उणादिगण, शिक्षा और प्रातिपदिक गणपाठ—ये पाँच पाणिनिमुनिकृत और पतञ्जलिमुनिकृतभाष्य, पिङ्गलमुनिकृत छन्दोग्रन्थ, यास्कमुनिकृत निरुक्त, निघण्टु और काव्यालङ्कार सूत्रभाष्य इन सबको पढ़ना होगा। जिनको पढ़ने की इच्छा होवे, सो आकर पढ़ें। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेदपर्यन्त और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़के सब शास्त्र पढ़ेंगे।'

—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३४-३५

"इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेदपर्यन्त और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे।" यह अंश विवेच्य है। शूद्र के प्रति यह भेदभाव क्यों? सबके समान योग्यता प्राप्त तथा सकल शास्त्र निष्णात होने पर भी केवल शूद्र होने के कारण वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध और वह भी ऋषि दयानन्द की पाठशाला में! इसका कारण अन्वेषणीय है।

ग्रन्थकार ने जब उक्त पाठशाला चालू की थी तब तक आर्यसमाज की स्थापना भी नहीं हो पाई थी। अपनी मान्यताओं का प्रचार करनेवाले वे अकेले थे। अपने विचारों के बीज बखेरते फिर रहे थे, फसल काटने का समय तो अभी बहुत दूर था। **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** के उस युग में ग्रन्थकार की मान्यताओं के पोषक विद्वान्, और वह भी काशी में, मिलना अत्यन्त दुर्लभ था। शूद्रों को वेद पढ़ाने के लिए तैयार होकर पौराणिक जगत् का विरोध सहने का साहस कौन करता? हो सकता है, ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने अपना काम निकालने—पाठशाला चलाने के लिए पण्डितों से यह समझौता किया हो, 'अच्छा भाई! वेद को छोड़कर शेष सब तो सबको पढ़ाओ'। यह केवल लोकव्यवहार की दृष्टि से था। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, उसपर वे अडिग थे, जैसाकि इसी समुल्लास के अन्त में 'क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें? इस प्रश्न के उत्तर से स्पष्ट है।

जहाँ तक **'ब्राह्मणस्त्रयाणाम्'** सन्दर्भ का प्रश्न है, हो सकता है लिपिकर की भूल से यह अस्थान में लिखा गया हो अथवा मुद्रणकाल में असावधानी के कारण प्रक्षिप्त हो। यह समस्त प्रकरण विचारणीय है।

आजकल कन्याओं की शिक्षा का वैसा तीव्र विरोध नहीं है जैसा ग्रन्थकार के समय में था, तथापि कई

रुढ़िवादी लोग आज भी स्त्री-शिक्षा का विरोध करते हैं। अतएव यहाँ कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। अष्टाध्यायी के **'इङश्च'** (३।३।२१) इस सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि मुनिजी लिखते हैं—**'उपेत्याधीतेऽस्याः उपाध्यायी, उपाध्याया'**, अर्थात् जिसके पास जाकर पढ़े वह स्त्री उपाध्यायी या उपाध्याया कहलाती है। यदि स्त्री पठित न हो तो उसके पास जाकर पढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार **'अनुपसर्जनात्'** (४।१।१४) सूत्र के भाष्य में लिखा है—**'आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला. . . . ., काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते ब्राह्मणी काशकृत्स्ना'** अर्थात् आपिशलि के व्याकरण को पढ़नेवाली ब्राह्मणी आपिशला. . . . ., काशकृत्स्नि की बनाई काशकृत्स्नी मीमांसा को पढ़नेवाली ब्राह्मणी काशकृत्स्ना। स्पष्ट है कि स्त्रियाँ व्याकरण और मीमांसा भी पढ़ती थीं। शंकरदिग्विजय में मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी भारती देवी के शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ का वर्णन है। शंकराचार्य ने भारती देवी से शास्त्रार्थ करने से यह कहकर इनकार कर दिया कि यशस्वी जन स्त्रियों से शास्त्रार्थ नहीं करते। इसका उत्तर देते हुए भारती देवी ने प्राचीन इतिहास से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा—**'अतएव गार्ग्याभिधया कलहं सह याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्। जनकस्तथा सुलभयाऽबलया किममी भवन्ति न यशोधनाः॥'** (सर्ग ६, श्लोक ६१)। अर्थात् अपने पक्ष की रक्षा और परपक्ष के खण्डन के लिए मुनिराज याज्ञवल्क्य ने गार्गी से शास्त्रार्थ किया और जनक ने सुलभा से किया। क्या ये यशस्वी न थे ? इतना ही नहीं, उन दोनों के शास्त्रार्थ का उल्लेख इन शब्दों में है—**'अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोरुभयोः परस्परजयोत्सुकयोः। मतिचातुरीरचितशब्दझरी श्रुतिविस्मयीकृतविचक्षणयोः'** ॥६।६३ अर्थात् एक-दूसरे को जीतने के अभिलाषी उन दोनों का शास्त्रार्थ चालू हुआ जिसमें बुद्धि की चतुरता, शब्दों की गम्भीरता और श्रुतिवाक्यों के विस्मयकारक प्रमाण, ये दोनों चतुरों ने प्रस्तुत किये। यदि भारती देवी विदुषी न होती तो श्रुति के प्रमाण कैसे देती ? वेद में तो लड़के के समान ही कन्या के ब्रह्मचर्य का विधान है—**'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** (अथर्व० ११।५।१८) अर्थात् ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करनेवाली कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त पति को प्राप्त करे।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' तथा **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'** जैसे मिथ्या एवं कल्पित वचनों के आधार पर शूद्रों के साथ-साथ स्त्रियों के वेदाध्ययन पर ही नहीं, अध्ययनमात्र पर प्रतिबन्ध लगाने की कुत्सित प्रवृत्ति भी यत्र-तत्र देखी जाती है, किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—**'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत'** (६।४।१७) अर्थात् यदि पिता चाहता है कि मेरी पुत्री विदुषी बने तो . . . .। इस सन्दर्भ का अर्थ करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—**'पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्'**, अर्थात् यहाँ पाण्डित्य का अर्थ घरेलू कामकाज ही है, क्योंकि उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। आचार्य के इस कथन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि लड़कियों को गृहविज्ञान (Home Science) पढ़ने का अधिकार है। 'पाण्डित्य' शब्द का 'गृहविज्ञान' अर्थ स्वामी शंकराचार्य की ही कल्पना है। शंकरदिग्विजय में भारती देवी के विषय में लिखा है—**'शास्त्राणि सर्वाणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम्'**—अर्थात् वह छह शास्त्रों और छह अंगोंसहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों में निष्णात थी। इतना ही नहीं, **'तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला'** ऐसा कोई विषय नहीं था जिसका उसे ज्ञान न हो। तभी तो दिग्विजयी शंकर को शास्त्रार्थ में भारती देवी से पराजित होना पड़ा था।

पुरुषो वावेति—(पुरुषः) जीवात्मा (वाव) निश्चय ही (यज्ञः) यज्ञ है। (तस्य) उसके शरीर की आयु के (यानि) जो (चतुर्विंशतिर्वर्षाणि) २४ वर्ष हैं (तत्) वह (प्रातःसवनम्) प्रातःसवन के समान हैं, क्योंकि

वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे। यह मत अनेक आचार्य्यों का है॥

[ब्रह्मचर्य का काल]

पश्चात् पाँचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में, और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें –

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ —मनु० ३।१॥

अर्थः—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस, और आठ मिलाके चवालीस, अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस, वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे॥

[तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्वि॑ꣳशति॑र्वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्वि॑ꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति॥१॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनꣳसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारि॑ꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिन॑ꣳसवनं चतुश्चत्वारि॑ꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनꣳसवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳसर्वꣳरोदयन्ति॥३॥

(गायत्रं प्रातःसवनम्) प्रातःसवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है और वह (चतुर्विंशत्यक्षरा) २४ अक्षरों की होती है, अतः मनुष्य के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातःसवन के समान हैं। (अस्य) उस यज्ञ पुरुष के (तत्) उस प्रातःसवन से (वसवः) वसु (अन्वायत्ताः) सम्बन्धित हैं। (प्राणा वाव वसवः) प्राण ही वसु हैं, क्योंकि (एते) ये (हि) ही (इदं सर्वं) इस समस्त प्राणिसमूह को (वासयन्ति) बसाते हैं। प्राणों के कारण ही तो सब जीवधारियों की स्थिति है। इस प्रातःसवन अर्थात् २४ वर्ष की अवधि में गुरु के सान्निध्य में रहकर मनुष्य ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करे॥१॥

तमिति—(एतस्मिन् वयसि) इस २४ वर्ष की अवधि के काल में (तम्) उस ब्रह्मचारी को (चेद्) यदि कोई (किञ्चित्) कुछ भी (उपतपेत्) दुःख दे अर्थात् उसके अनुष्ठान में किसी प्रकार की बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः वसवः) हे प्राणप्रिय वसुओ—बन्धुओ! (इदं मे) यह मेरा (प्रातः सवनम्) प्रथम प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्यकाल है। आप मेरे इस पवित्र कार्य में बाधा न डालें, मेरे लिए (माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिन सवन अर्थात् ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य को (संतनुत) विस्तृत करें अर्थात् ऐसा उपाय करें जिससे मेरा माध्यन्दिनसवन निर्विघ्न सम्पन्न हो। ऐसा यत्न करें कि आप (प्राणानां वसूनां मध्ये) प्राणप्रिय वसुओं के मध्य में (अहं यज्ञः मा विलोप्सीय) मेरा यह यज्ञ विलुप्त न हो जाए—मेरा ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान वसु-ब्रह्मचर्य पर समाप्त न हो जाए, मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन सकूँ। (ततः ह उद् एति) इस प्रकार

१. सामवेदीय ग्रन्थों में ऊपर अनुस्वर तथा ꣳ चिह्न दोनों का प्रयोग देखा जाता है। ग्रन्थकार ने प्रायः ꣳ चिह्न का प्रयोग अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है। द्र० —सं स्कारविधि

की विनय-प्रार्थना से वह सर्वत्र उदय को प्राप्त होता है और (अगदः ह भवति) वह स्वस्थचित्त होकर चिन्ता- (रोग)-रहित हो जाता है ॥२॥

अथेति—(अथ) तदनन्तर (यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि) ४४ वर्ष हैं (तत्) वह (माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिनसवन है। गुरुकुलनिवासी ब्रह्मचारी आयु के इन दिनों को तत्सवन समान अध्ययन में लगाकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे। माध्यन्दिनसवन में प्रायः त्रिष्टुप् छन्दों का प्रयोग होता है। (चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का होता है, इसलिए (त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिनसवन त्रैष्टुभ कहलाता है। (अस्य तद् रुद्राः अन्वायत्ताः) इस पुरुष यज्ञ के उस माध्यन्दिनसवन से रुद्र सम्बन्धित हैं—उसके अनुगामी हैं। इस प्रकार आयु के द्वितीय काल का ब्रह्मचर्य मध्यदिन का सवन है। जैसे त्रिष्टुप का देवता रुद्र है, वैसे पुरुष की आयु के द्वितीय भाग के इस ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता रुद्र ब्रह्मचारी है। (प्राणा वाव रुद्राः) प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि (एते इदं सर्वं रोदयन्ति) ये इस प्राणिसमूह को रुलाते हैं ॥३॥

तञ्चेद्—(एतस्मिन् वयसि) इस ४४ वर्षवाले ब्रह्मचर्य की अवस्था में (तम्) उसे (चेत् किञ्चिद् उपतपेत्) यदि कोई किसी प्रकार सताये, अर्थात् उसके ब्रह्मचर्य में बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः रुद्राः) हे प्राणप्रिय रुद्र बन्धुओ ! (इदं मे माध्यन्दिन् सवनम्) यह मेरा माध्यन्दिनसवन है—सम्प्रति मैं मध्यम ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान कर रहा हूँ। आप ऐसा अनुग्रह करें जिससे (तृतीयसवनं सन्तनुत इति) मेरे लिए तृतीय सवन अर्थात् ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का मार्ग प्रशस्त हो। कहीं (प्राणानां रुद्राणां मध्ये) आप प्राणप्रिय बन्धुओं और रुद्रों के बीच (अहं यज्ञः) यज्ञरूप मैं (मा विलोप्सीय) लुप्त न हो जाऊँ, अर्थात् मेरा ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान यहीं बीच में ही समाप्त न हो जाए। ऐसा ब्रह्मचारी (ततः ह उद् एति) इस विनय से सर्वत्र सत्कृत व प्रोत्साहित होता है और (अगदः ह भवति) रोगरहित—निश्चिन्त होकर ब्रह्मचर्य के प्रतिपालन में प्रवृत्त हो जाता है ॥४॥

अथ यानीति—(अथ) माध्यन्दिनसवन के अनन्तर (यानि) जो (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि) ४८ वर्ष हैं (तत्तृतीयसवनम्) वे मानो यज्ञ का तृतीय सवन हैं। तृतीय सवन जगतीछन्दोऽन्वित होता है, क्योंकि इसमें प्रायः जगती छन्दों का प्रयोग होता है। (अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती) जगती छन्द में ४८ अक्षर होते हैं, अतः (जागतं तृतीयसवनम्) तृतीय सवन को 'जागतम्' नाम से अभिहित किया जाता है। (अस्य तद् आदित्याः अन्वायत्ताः) इस यज्ञरूप पुरुष के उस सवन में आदित्य अनुगत हैं। आदित्य कौन हैं ? (प्राणाः वाव आदित्याः) प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि (एते) ये प्राण ही (इदं सर्वम्) इस सबको ग्रहण करते हैं। आदित्य ब्रह्मचारी के प्राण सूर्य की भाँति शुद्ध एवं नियमित होते हैं। इसलिए पुरुष की आयु के तृतीय भाग के इस ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है ॥५॥

तं चेदिति—(एतस्मिन् वयसि) इस वयोऽवस्था में (तञ्चेत्) उस ब्रह्मचारी को यदि (किञ्चिद् उपतपेत्) कोई तनिक भी सताये अर्थात् उसके ब्रह्मचर्य में बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः आदित्या) हे प्राणप्रिय आदित्यो ! (इदं मे तृतीयसवनम्) यह मेरा तृतीय सवन है। आप लोग ऐसा उपाय करें कि जिससे (आयुः अनुसन्तनुत) मेरी आयु बढ़े। (प्राणानां आदित्यानां मध्ये अहं यज्ञः मा विलोप्सीय) मैं आप प्राणों और आदित्यों के बाच में विलुप्त न हो जाऊँ, अर्थात् आयुपर्यन्त ब्रह्मचारी रहूँ। (ततः ह उद् एति) इस विनय से उसका विस्तार होता है और वह नीरोग—त्रिविध तापों से मुक्त रहता है।

इस प्रसंग का अन्तिम सन्दर्भ इस प्रकार है—

> **एतद्ध स्म वैतद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं एतदुपतपसि योऽहमनेन न ।**
> **प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥७॥**

यह कथानक चला आ रहा है कि इतरा के पुत्र (ऐतरेय) महीदास ने यह सब जानते हुए कहा था—ऐ मेरे ब्रह्मचर्यव्रत के पालन में उपस्थित होनेवाले विघ्न ! तू मुझे क्यों सता रहा है ? मैं तेरे वश में आनेवाला नहीं हूँ। कहते हैं कि इस संकल्प से ही महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहा और जो इस रहस्य को जानता है वह ११६ वर्ष तक जीवित रहता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय पाठक के इस सोलहवें खण्ड में उपनिषत्कार ने जीवन को यज्ञ कहा है और उसका सोमयाग से समन्वय दर्शाया है। सोमयाग आदि बड़े यज्ञों में तीन समय यज्ञ होता है—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं। इन्हीं के पारिभाषिक नाम हैं—प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा तृतीयसवन। ब्रह्मचर्यकाल को भी तीन भागों में विभक्त किया गया है—वसु-ब्रह्मचर्य, रुद्र-ब्रह्मचर्य तथा आदित्य-ब्रह्मचर्य। सोमयाग का प्रातःकाल ब्रह्मचारी के वसु-ब्रह्मचर्य के काल का प्रतीक है, मध्याह्नकाल उसके रुद्र-ब्रह्मचर्य काल का प्रतीक है और तृतीयकाल आदित्य-ब्रह्मचर्य काल का। सोमयाग में भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है—प्रातःसवन में गायत्री का, माध्यन्दिनसवन में त्रिष्टुप् का तथा तृतीयसवन में जगती का। इन छन्दों में क्रमशः २४, ४४, ४८ अक्षर होते हैं। सोमयाग का २४ अक्षरों का गायत्री छन्द वसु ब्रह्मचारी के २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है और ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द रुद्र ब्रह्मचारी के ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है और ४८ अक्षरों का जगती छन्द आदित्य ब्रह्मचारी के ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है। इस प्रकार उपनिषत्कार ने मनुष्य के शिक्षाकालीन जीवन को एक बृहद् यज्ञ के रूप में प्रस्तुत करके उसे तीन भागों में विभक्त किया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने जीवन को यज्ञरूप और यज्ञमय बनाकर अपने ज्ञान और आयु की वृद्धि करे। ऐतरेय महीदास के उदाहरण से प्रमाणित भी कर दिया गया है कि ब्रह्मचर्य का विधिपूर्वक पालन करनेवाला कम-से-कम ११६ वर्ष की आयु का उपभोग कर सकता है।

चार सौ वर्ष की आयु—उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करने से आयु को चार सौ वर्षपर्यन्त बढ़ाया जा सकता है। यजुर्भाष्य में तीसरे अध्याय के ६२वें मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'**त्रयायुषं त्रिगुणमायुः**=तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक आयु'। भावार्थ में कहा है—"**त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः। त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वाऽऽयुः**' 'त्र्यायुषम्' इस पद की चार बार आवृत्ति होने से तीन सौ वर्ष से अधिक चार सौ वर्ष पर्यन्त भी आयु का ग्रहण किया है। .... आयु को हम लोग तीन सौ वा चार सौवर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक भोगें।"

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदसंज्ञाविचार) में वे लिखते हैं —'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।" चरकसंहिता (सूत्रस्थान अध्याय २४, खण्ड ३८) में ब्रह्मचर्य को आयुष्यवर्धकों में प्रधान माना है—'**ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्**'।

आयु शब्द दो प्रकार का है—एक उकारान्त और दूसरा सकारान्त। उणादिकोष में '**छन्दसीणः**' (१।२) सूत्र है। इससे उकारान्त आयु शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए ग्रन्थकार ने '**एति प्राप्नोति सर्वानिति आयुः—जीवनकालः**' अर्थ किया है। पुनः '**एतेर्णिच्च**' (२।११६) इस सूत्र से सकारान्त आयु शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए '**ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः, जीवनं वा**' अर्थ किया है। सामान्यरूप से कहा जा सकता है—'**जानुषातो मृत्युपर्यन्तमायुष्यम्**' अर्थात् जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितना काल है उसे आयु कहते हैं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता में दो स्थानों पर आयु शब्द के सम्बन्ध में लिखा है—

१. **शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।**
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ सूत्रस्थान १।४२

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग आयु कहाता है। धारि, जीवितम्, नित्यगः और अनुबन्ध इसके पर्याय हैं।

२. **आयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः** (सूत्रस्थान ३०।२२)। अर्थात् आयु, चेतनावृत्ति, जीवितम्, अनुबन्ध और धारि ये सब समानार्थक हैं। इस दृष्टि से ग्रन्थकार ने उणादिकोश में आयु का अर्थ **'जीवनम्, जीवनकालः'** किया है। यजुर्वेद के **'आयुर्मे पाहि'** (१४।१७) मन्त्रार्थ के प्रसंग में भी आयु शब्द का अर्थ **'जीवनम्'** किया है।

मनुष्य की आयु की इयत्ता के विषय में भगवान् मनु का कथन है—**'वेदोक्तमायुरमर्त्यानाम्'** अर्थात् मनुष्य की सामान्य आयु उतनी जाननी चाहिए जितनी वेद में कही है। वैदिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध वचनों में इस प्रसंग में 'सौ वर्ष' का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः** । —यजुः० ४०।२

२. **शतायुर्वै पुरुषः** । —ऐतरेय ब्राह्मण

३. **पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवामशरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्** । —यजुः० ३६।२४ ('**भूयश्च शरदः शतात्**' = **भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकम्** = सौ वर्ष के उपरान्त भी—पञ्चमहायज्ञविधिः)।

४. **जरां गच्छ परिधत्स्व वासः..... शतं च जीव शरदः सुवर्चा** । —पा०गृ० १।४।१२

५. **शतं च जीवामि शरदः पुरूचीः** । —यजुः० ३५।१५

६. छान्दोग्य उपनिषद् में पुरुष में यज्ञ का आरोप करके उपसंहार में उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताने से उस यज्ञ के तत्वविद् महीदास की ११६ वर्ष की आयु प्राप्त करने का विस्तृत विवरण ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अन्य लोग भी तदनुसार आचरण करने पर ११६ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकते हैं—**प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद** ।

निघण्टु में 'शतम्' का अर्थ बहुत अथवा अनेक लिखा है—**'शतं बहुनाम'** (३।१)। सायणाचार्य ने ऋग्वेद ८।१।५ का भाष्य करते हुए लिखा है—**'शतायुर्बहुनामैतदपरिमितायुः'** । उव्वट के अनुसार शत शब्द असंख्य का वाचक है—**शतशब्दोऽसंख्यातविषयः'** (यजुः० १२।८)। यजुः० ४०।२ का भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है—**'शतं समाः इत्युपलक्षणार्थम् । यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः'** । कतिपय विद्वानों के मत में शत शब्द मध्यम संख्यावाचक होने से समीपस्थ संख्या का भी ग्राहक है, किन्तु इससे सहस्रों तक नहीं खींचा जा सकता। मीमांसासूत्र **'नासामर्थ्यात्'** (६।७।३३) के भाष्य में कहा गया है—**'न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः ..... कुतः ? शतायुर्वै पुरुष इत्यनुवादः'** ।

वस्तुतः सामान्यरूप से मनुष्य सौ वर्ष आयुवाला होता है। अपने उत्तम-निकृष्ट आचार-व्यवहार के आधार पर वह उसे बढ़ा-घटा सकता है। यदि ऐसा सम्भव न होता तो **'भूयश्च शरदः शतात्'** (यजुः० ३६।२७), **'भूयसीः शरदः शतात्'** (अथर्व० १९।६७।८), **'यो वै शतादूर्ध्वं जीवति स अमृतत्वमश्नुते'** (शतपथ) आदि वचनों की क्या सार्थकता थी ? तदनुसार ही ग्रन्थकार ने लिखा है—**'ब्रह्मचर्यादिनियमेन मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते'** ऋ०भा०भू०। ग्रन्थकार की इस मान्यता की पुष्टि आर्षग्रन्थों में

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनꣳ तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राण वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥५॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥६॥

—यह छान्दोग्योपनिषद् (३।१६) का वचन है।

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। **कनिष्ठ ब्रह्मचर्य**— जो पुरुष अन्न-रसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है। इसको अवश्य[1] है कि २४ वर्षपर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादिविद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करानेवाले होते हैं ॥१॥

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में सन्तप्त करे, और वह आचार्य्य वैसा ही उपदेश किया करे। और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य्य से रहूँगा, तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य, बलवान् होके शुभ गुणों को वसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो ! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूँगा, तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूँगा। और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी ॥२॥

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं ॥३॥

उपलब्ध प्रमाणों तथा इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन से होती है। ग्रन्थकार ने अन्यत्र लिखा है—

१. **आयुश्च रूपं च नाम च कीर्त्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च**। (अथर्व० १२।५।६)। इसका अर्थ किया है—'इन अच्छे नियमों से उम्र को सदा बढ़ाओ। हे स्त्री-पुरुषो ! तुम अपना जीवन बढ़ाओ'।

२. **'इहैव स्तं मा वि यौष्टम्'** ..... (अथर्व० १४।१।२२) का अर्थ—'ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो सौ वर्षों से कम नहीं है, उसको प्राप्त होओ।

३. अन्यथा वीर्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती। —स० प्र० समु० ४

४. जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि, बल, पराक्रमवृद्धि और आयुवृद्धि होवे उन तण्डुलादि, गोधूम, फल, मूल का भोजन भक्ष्य कहाता है। —स०प्र० समु० १०

५. **'शतं हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते'** (यजुः० २।२७) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने शतपथब्राह्मण का प्रमाण दिया है—**'भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति'** (शत० १।७।४।१६) और लिखा है—'सौ वर्ष तक जीवें और जितेन्द्रियता से सौ वर्ष से अधिक भी सुखपूर्वक जीवन का उपभोग करें।

६ **'आयुर्दाऽग्नेऽस्यायुर्मे देहि'** (यजु:० ३।१७)—आर्याभिविनय में इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—'हे महावैद्य (परमेश्वर) ! आप आयु (उम्र) को बढ़ानेवाले हो, मुझे सुखरूप उत्तम आयु दीजिए'।

---

१. अर्थात् यह अनिवार्य है।

जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूँ, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ, और उसी आचार्य्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ। जैसाकि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो ॥४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य—४८ वर्षपर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती, वैसे जो ४८ वर्षपर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥५॥

---

७. **'मा मऽआयुः प्रमोषीः'** (यजुः० ४।२३) के भावार्थ में—'सब मनुष्य शुद्ध कर्म और बुद्धि से वाग् विद्या और विद्युद्‌विद्या को ग्रहण करके आयु को बढ़ाकर सुखी रहें'।

८. **'मा न आयुः प्रमोषीः'** (ऋ० १।१४।११) के भावार्थ में—'सर्वदा ईश्वर की आज्ञा पालन और उसके रचे हुए सूर्य आदि पदार्थों के गुणों को जानकर उनसे उपकार लेके अपनी उम्र निरन्त बढ़ानी चाहिए'।

९. **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः'** (ऋ० १।८९।९) इस मन्त्र में कहा है—'विद्वान् पुरुष अशुभाचरण से आयु को बीच में ही नष्ट न होने देवें और शुभ कर्मों से आयु को बढ़ावें'।

१०. **'देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे'** (ऋ० १।८९।२)—विद्वान् लोग ब्रह्मचर्यादि की सुशिक्षा से हमारी आयु को बढ़ावें।

११. **'त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे'** (ऋ० १।९१।६) **'वयं न अकालमृत्युं क्षणभंगदेहे प्राप्नुयाम'** हम लोग क्षणभंगुर देह में अकालमृत्यु को प्राप्त न करें।

अन्य आर्षग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों से भी आयु के घटने-बढ़ने की पुष्टि होती है। तद्यथा—

१. **अभिवादनशीलस्यनित्यं वृद्धोपसेविनः ।**
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ —मनु० १।१२१

२. **आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।** —मनु० ४।१२६

३. **दुराचारी हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।**
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ —मनु० ६।१५७

४. **यदि अकाले मृत्युर्न स्यात्प्रत्यक्षानुमानोपदेशाः ।**
स्यादप्रमाणानि स्युः ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु ॥

चरकसंहिता में भगवान् आत्रेय लिखते हैं—**'द्विविधा तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश ! प्राणानां ह्येके अभिसराः हन्तारो रोगाणां, रोगाणां ह्येके अभिसरो हन्तारः प्राणानामिति।'**—हे अग्निवेश ! दो प्रकार के वैद्य होते हैं—एक तो प्राणों को प्राप्त करानेवाले और रोगों को मारनेवाले और दूसरे रोगों को लानेवाले और प्राणों को हरनेवाले। अन्ततः अग्निवेश ने सीधा प्रश्न किया—'हे भगवन् ! आयु के काल का प्रमाण नियत है या नहीं ? भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश ! इस संसार में प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा रखती है। यह बात निश्चित है कि मनुष्य का जीवन हितकारी आचरण तथा चिकित्सा पर निर्भर है। इसके विपरीत अर्थात् उचित चिकित्सा न होने पर मृत्यु निश्चित है। देशकाल और आत्म-विपरीत कर्म तथा आहार-विहार सम्बन्धी विकारों से भी अकालमृत्यु होती है। यदि आयु के काल का प्रमाण नियत है तो दीर्घजीवन प्राप्त करने की इच्छा

करनेवालों के लिए मन्त्र, औषध, मणि, मंगल, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास आदि का प्रयोजन कुछ नहीं है। . . . . . शत्रुसमूह, प्रवृद्ध अग्नि तथा अनेक प्रकार के विषैले सर्प आदि से बचने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जब आयु का प्रमाण नियत ही है तो इनसे क्या भय है ?"[1]

यह सुनकर अग्निवेश बोला—हे भगवन् ! जब आयु के काल का प्रमाण नियत नहीं है तो कालमृत्यु और अकालमृत्यु कैसे होती है ? तब भगवान् आत्रेय ने समझाया कि जैसे रथ में लगा धुरा सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समय पाकर घिसने से अन्त को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार शरीर की आयु भी प्रकृति के अनुसार यथावत् उपचर्यमाण किये जाने पर भी अपने प्रमाण के क्षीण हो जाने पर अवसान को प्राप्त हो जाती है। यही मृत्यु कालमृत्यु कहाती है और जैसे वही धुरा अधिक बोझ लादने से, ऊँचे-नीचे मार्ग पर चलने से, अपथ में जाने से, चक्रमण्डल के टूटने से, वाह्यवाहक के दोष से, अनिर्मोक्षण से, पर्यसन से अथवा अन्य अवयवों के टूट जाने से कुसमय में भंग हो जाता है, वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने से, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने से, अत्यन्त मैथुन करने से, उपस्थित वेगों के रोकने से, विष, अग्नि के उपताप से, चोट लगने से, सर्वथा भोजन न करने से बीच में ही विपत् को प्राप्त हो जाती है। इसी को अकालमृत्यु कहते हैं। ज्वरादि रोग भी अच्छी तरह चिकित्सा न किये जाने पर अकालमृत्यु का कारण हो जाते हैं।[2]

'कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतँ् समाः' इत्यादि मन्त्र में सौ वर्ष जीने की इच्छा का निर्देश परमेश्वर की ओर से है। यदि आयु की इयत्ता उसकी ओर से निर्धारित है और जीव में उसे घटाने-बढ़ाने का सामर्थ्य नहीं है तो परमेश्वर की ओर से उसे एतद्विषयक निर्देश दिया जाना व्यर्थ है और जीव में तदर्थ इच्छा का होना निरर्थक है। **'जिजीविषेत्'** विधिलिङ् की क्रिया है और साथ में सन्नन्त भी। जहाँ आदेश के साथ इच्छा का मेल भी अपेक्षित होता है, वहाँ क्रिया सन्नन्त होती है। इच्छा सदा अप्राप्त वस्तु के लिए होती है और बिना प्रयत्न के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। प्रयत्न भी उसी के लिए होता है जिसकी प्राप्ति की सम्भावना हो। इसलिए यदि आयु का घटाना-बढ़ाना सम्भव न होता तो वेद में **'जिजीविषेच्छतँ् समाः'** का निर्देश न होता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट चार सौ वर्ष तक की आयु प्राप्त करना सर्वथा सम्भव है।

विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार सन् १३०० ईसवी तक भारत में कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग थे

---

१. भगवन् ! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति । भगवानुवाच इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते । तस्माद्धितोपचारमूलां जीवितं, अतो विपर्ययान् मृत्युरपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रियोपयोगः । यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात् तदायुष्कामानां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-स्वत्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन् । न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः । आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् । एवं सति अनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् ! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्भवतीति ।

२. तमुवाच भगवानात्रेयः —'श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् तथायुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युः काले । यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद् वाह्यवाहकदोषाद् अणिमोक्षात् पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते तथायुरप्ययथाबलमारम्भायवहरणाद् विषमाभ्यवहरणाद् विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद् विधार्यवेगाविधारणाद् भूतविषवाटवग्न्युपतापादभिघातादाहार-विवर्जनाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते । स मृत्युरकाले । तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति ।
—चरकसंहिता विमानस्थान, अध्याय ३

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें, और वे सन्तान आप-ही-आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ, क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥

[शरीर की चार अवस्था]

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥[1]

जिनकी औसत आयु १५० वर्ष से ऊपर होती थी। मार्को पोलो ने, जो भारत में १२८० ईसवी में आया और जिसने अपनी यात्रा का विवरण १३०० ईसवी में लिखा, इस विषय में लिखा है—"सब ब्राह्मण पश्चिमी प्रदेश के हैं। वे सभी व्यापारी हैं और सत्यनिष्ठ हैं। वे न मांस खाते हैं और न मदिरा-पान करते हैं। अत्यन्त पवित्र जीवन बिताते हैं। वे अपने कन्धों पर पीठ और छाती से गुजरता हुआ सूती धागा (यज्ञोपवीत) पहनते हैं। मादक द्रव्यों से दूर रहने के कारण वे दीर्घजीवी होते हैं। एक बूटी विशेष के चबाने से उनके दाँत बहुत पक्के हैं। ब्राह्मणों की एक जाति जोगी कहाती है। यह और भी अधिक दीर्घजीवी है। वे १५०-२०० वर्ष जीते हैं। वे केवल दूध और चावल का प्रयोग करते हैं। वे दिन में दो बार गन्धक और पारे का प्रयोग करते हैं और जल के सिवा कुछ नहीं पीते हैं। वे धरती पर सोते हैं और लम्बी आयु भोगते हैं।"[2]

चतस्रोऽवस्थाः—यहाँ उद्‌धृत पाठ सुश्रुत के वर्त्तमान में उपलब्ध संस्करणों में नहीं मिलता। सुश्रुत का एक वृद्ध पाठ भी था जिसके अनेक सन्दर्भ प्राचीन ग्रन्थों में उद्‌धृत बताये जाते हैं। आजकल सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार पाठ मिलता है—

'वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडषवर्षा बालाः। तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः क्षीरान्नादा अन्नादा इति। तेषु संवत्सराः क्षीरपा द्विसंवत्सराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति। षोडषसंप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनं, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत्सप्ततिरिति। सप्ततेरुर्ध्वं

---

१. तुलना करो —सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।२५॥ संप्रति उपलब्ध पाठ में भिन्नता है। सुश्रुत का एक वृद्ध पाठ भी था। वृद्ध सुश्रुत के अनेक पाठ प्राचीन ग्रन्थों में उद्‌धृत मिलते हैं। यही पाठ स० प्र० प्र० सं० पृष्ठ १०१; संस्कारविधि सं० २ वेदारम्भसंस्कार, पृष्ठ ८३; तथा पूनाप्रवचन व्याख्यान ४ में मिलता है। सं० वि० के गर्भाधानसंस्कार में 'आचतुर्विंशतेर्यौवनम्' पाठ है, पर अर्थ 'पच्चीसवें वर्ष से' ऐसा मिलता है। सं० २ में पते में 'शरीरस्थान' पाठ है।

2. All Brahmanas come from that country on the West. They are best merchants and most truthful. They eat no flesh and drink no wine and lead a life of chastity. They wear a thread of cotton on shoulders which crosses the chest and the back. They are long lived and have capital teeth owing to a certain herb, they chew. There are other Brahmans called 'Jogi' who are longer lived. They live upto 150-200 years. They eat rice and milk only. They drink a potion of sulphur and quicksilver twice a day which leads to longevity. They fast many days and drink nothing but water. They sleep on the ground and live long.—History of Medieval Hindu India by C.V. Vaidya, Vol.III, P. 383

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥

—यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है ॥

अर्थः—इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक **वृद्धि—जो १६वें वर्ष से लेके २५वें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी यौवन** —जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी **सम्पूर्णता**—जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती

क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलिपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियासु असमर्थं जीर्णागारमिव अभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ।' (सूत्रस्थान ३५।२५)

अर्थात् वयः तीन प्रकार का होता है—बाल्य, मध्य और वृद्ध। उनमें से १६ वर्ष से न्यून वयवाले बालक होते हैं। उनमें भी तीन भेद हैं—(१) क्षीरप=केवल दूध पीनेवाले, (२) क्षीरान्नाद=दूध और अन्न खानेवाले, (३) अन्नाद=अन्न खानेवाले। एक वर्ष की आयुवाले क्षीरप, दो वर्षवाले क्षीरान्नाद और इससे आगे अन्नाद होते हैं। सोलह और सत्तर वर्षों के बीच मध्य वय होता है। उसके चार भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता तथा हानि। उनमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस वर्ष तक सब धातुओं, इन्द्रियों के बल और वीर्य की पूर्णता। इसके बाद सत्तर वर्ष की आयु तक कुछ-कुछ घटती। सत्तर वर्ष के बाद वृद्ध कहाता है। उस अवस्था में धातुओं, इन्द्रियों के बल-वीर्य तथा उत्साह क्षीण हो रहे होते हैं। प्रतिदिन झुर्रियाँ, सफेद बाल तथा गंजापन बढ़ता है, खाँसी, दमा आदि उपद्रवों से परेशान रहता है। सभी इन्द्रियों की क्रियाओं में असमर्थ, पुराने घर की भाँति, बरस चुके बादल की भाँति नष्ट हो रहा होता है।

वर्त्तमान संस्करणों में सूत्रस्थान ३५।४६-५० में शरीर की अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—**'वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयस्तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्राविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबल-वीर्यसम्पूर्णता। अत ऊर्ध्वमीषद् हानिर्यावत् सप्ततिरिति।'** अर्थात्—अवस्था तीन प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध। इनमें १६ वर्ष तक बालावस्था रहती है। १६ से ७० वर्ष तक मध्य अवस्था होती है। फिर उसके (मध्य के) ये भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता तथा हानि। उसमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस तक सम्पूर्णता अर्थात् सब धातु, उपधातु और सब इन्द्रियों और बल की सम्पूर्णता होती है। इसके बाद ७० वर्ष की अवस्था तक क्रमशः घटती होती रहती है। इसमें और पूर्वोद्धृत विवरण में विस्तारभेद है, मूलतः दोनों एक हैं।

ग्रन्थकार का लेख है—'दूसरी (यौवन) २५ वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में यौवन का आरम्भ होता है—तीसरी (सम्पूर्णता) जो २५वें वर्ष से ४०वें वर्ष पर्यन्त धातुओं की पुष्टि होती है।' एतदनुसार २५/२६ से ४० वर्ष के बीच दूसरी (यौवन) और तीसरी (सम्पूर्णता) दोनों अवस्थाएँ युगपत् रहती हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार के लेख का सुश्रुत के मूल सन्दर्भ और उसके अर्थ से सामंजस्य नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के लिपिक ने यहाँ मध्यवयवाला वर्णन उद्धृत कर दिया है। दोनों के आशय में कोई विशेष अन्तर नहीं है। स्मृतियों में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं। यथा हारीतस्मृति में आता है—

आषोडशाद् भवेद् बालः आपञ्चत्रिंशं युवा नरः ।
मध्यमा सप्ततिर्यावत् परतो वृद्ध उच्यते ॥ —अध्याय ५

है। चौथी **किञ्चित्परिहाणि**—जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न-प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है। वही ४०वाँ वर्ष उत्तम समय विवाह का है अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना।

[विवाहार्थी स्त्री वा पुरुष के ब्रह्मचर्यकाल की तुलना]

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है ?

उत्तर—नहीं। जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या; जो पुरुष ३० तीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष; जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहे तो स्त्री १८ वर्ष; जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष; जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष; जो पुरुष ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४चौबीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य-सेवन रक्खे, अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष, और २४वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए, परन्तु यह नियम विवाह करनेवाले पुरुष और स्त्रियों का

अथवा इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि ग्रन्थकार ने शरीर की मध्यकालिक अवस्था का यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता की दृष्टि से किया है। उनके द्वारा किये गये इस सन्दर्भ के व्याख्यान से इस भावना की पुष्टि हो जाती है कि २६ से ४० वर्ष के बीच के १५ वर्ष के अन्तराल में युवावस्था का परिपाक होकर सम्पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर धीरे-धीरे शरीर की शक्ति की क्षीणता आरम्भ हो जाती है। यही किञ्चित्-परिहाणि की अवस्था है। यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है, इसकी पुष्टि अगले सन्दर्भ तथा उसके विवेचन से भी होती है।

ब्रह्मचर्य के प्रसंग में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—'२५ से ३० वर्ष तक न्यून-से-न्यून ब्रह्मचर्य का नियम है। इससे न्यून ब्रह्मचर्य का नियम कभी न होना चाहिए। जो कोई इससे न्यून करेगा, वह सदा रोगी, भ्रष्टबुद्धि, विद्याहीन, कुत्सित कर्मकारी ही होगा, क्योंकि जिसके धातुओं की क्षीणता और विषमता शरीर में होगी उस मनुष्य को किसी रीति से सुख न होगा और कन्याओं का २० से २४ वर्ष तक उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम है, १६ से आगे २० वर्ष तक मध्यम ब्रह्मचर्य आश्रमकाल है। १६वें वर्ष से १७ या १८ वर्ष तक अधम ब्रह्मचर्यकाल है। १६ वर्ष से न्यून कन्याओं का ब्रह्मचर्य कभी न होना चाहिए। जो कोई कन्या १६ वर्ष से न्यून ब्रह्मचर्याश्रम करेगी वह विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित और रोगादिक दोषों से युक्त होगी और सदा दुःखी रहेगी। इसका अर्थ यह है कि १६ वर्ष से न्यून कन्या का और २५ वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करना चाहिए और जो कोई इसका व्यतिक्रम करै और १६ वर्ष से पहिले कन्याओं का विवाह करै और २५ वर्ष से पहिले पुत्रों का विवाह करै, उसको राजा दण्ड दे, और उनके माता-पिता को भी[1] क्योंकि सब लोगों के सत्यव्यवहार और धर्मव्यवहार की व्यवस्था राजा ही के अधीन है। जिस देश का जो राजा होय उसी को इस व्यवस्था का पालन करना चाहिए।'

---

१. इससे प्रेरणा पाकर ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के मन्त्री दीवान हरविलास शारदा ने सन् १९२९ में केन्द्रीय धारासभा (वर्तमान में लोकसभा) से बालविवाह निरोधक कानून (गःक्षि डर्षषंझ दर्ज्ञौर्षुं क्हें) पास कराया था, जिसके अधीन १४ वर्ष से कम आयु की लड़की की और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध यही कानून वर्तमान कानून (जुक्षं डर्षषंझ क्हें) में निर्धारित क्रमशः १८ और २१ वर्ष की आयु का आधार है। शारदा एक्ट में ही बालविवाह से सम्बन्धित माता-पिता या संरक्षक को भी तीन मास की कैद तथा जुर्माने का भी प्रावधान किया गया था।

है और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रहते हों तो भले ही रहें, परन्तु यह काम पूर्णविद्यावाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभके इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

[पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम]

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षा० ६) का वचन है।

अर्थः—ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं—(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें। (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें। (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादिशास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें। (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोकके पढ़ें और पढ़ाते जाएँ। (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जाएँ और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें। (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। (मानुषं०) मनुष्य-सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते-पढ़ाते रहें। (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ॥

ऋतं च—मनुष्य को चाहिए कि वह जो शिक्षा प्राप्त करे उसे अपने भावी जीवन में जीवित रक्खे। उपनिषत्कार ने उसके दो उपाय बताये हैं—स्वाध्याय तथा प्रवचन। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं—एक जो कुछ पढ़ा है, शिक्षा ग्रहण की है, उसका पाठ करते रहना, नये-नये ग्रन्थों को खोज-खोजकर उन्हें पढ़ते रहना और इस प्रकार अपने ज्ञान को बढ़ाते रहना। इसको वर्तमान में continuing education के नाम से जाना जाता है। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है—'स्व' का, अपने-आपका अध्ययन करना—**'आत्मानं विद्धि'**। आत्माध्ययन (Self study) द्वारा अपने जीवन का लेखा-जोखा करते रहना। स्वाध्याय के अतिरिक्त अपनी शिक्षा को न केवल बनाये रखने, प्रत्युत उसे बढ़ाने का दूसरा उपाय है—प्रवचन। मनुष्य जो कुछ जाने उसे केवल अपने तक सीमित न रखके प्रवचन द्वारा उससे दूसरों को भी लाभान्वित करे।

संसार में सर्वत्र नियम का शासन है। इसीलिए परमेश्वर को नियामक तथा विधाता (विधान के अनुसार संसार को धारण करने, उसका संचालन करनेवाला) कहते हैं। दैवी नियम को 'ऋत' कहते हैं। भगवान् का बनाया हुआ होने से वह शाश्वत, अखण्ड, सार्वभौम होता है। उसका कोई अपवाद नहीं होता। उन नियमों का पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए। 'ऋत' अर्थात् ईश्वरीय नियमों के अनुकूल नियमों की संज्ञा 'सत्य' है।

कुछ नियम देश-काल-परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक आधार के व्यवहार के लिए बनाये जाते हैं। ये साधारण नियम होते हैं जो कभी भी बदल सकते हैं। 'ऋत' के समान ही सत्य का पालन तथा प्रवचन करना भी आवश्यक है। **'सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च'**। उपनिषदों में सत्य, ऋत और तप का अनेकत्र इकट्ठा उल्लेख मिलता है। जैसे **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसः अध्यजायत'**। ऋत और सत्य का

पालन करना एक प्रकार का तप है, क्योंकि ऋत और सत्य का पालन करने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। जिन्हें तप के बिना पार करना बड़ा कठिन होता है। इसलिए कहा है—**'तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च'**। तप के साथ दम और शम जुड़े हुए हैं। प्रलोभनों में न पड़ना 'तप' है, उनका दमन करना 'दम' है और उनके होते हुए शान्त रहना 'शम' है। इसीलिए उपनिषद् का आदेश है—**'दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च'**। इसी प्रकरण में अग्निहोत्र, अतिथिसेवा, मानवसेवा, प्रजापालन, सन्तानोत्पत्ति, पुत्र-पौत्र का पालन आदि कर्तव्यों का अनुष्ठान करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया गया है। प्रत्येक अवस्था में स्वाध्याय तथा प्रवचन का निर्देश किये जाने से ब्रह्मचारी के भावी जीवन में उनका असाधारण महत्त्व स्पष्ट है। इस सबमें भी सत्य, तप, स्वाध्याय तथा प्रवचन पर इतना बल दिया गया है कि यह सारा उपदेश देकर भी मानो उपनिषत्कार को सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—**'सत्यम् इति सत्यवचा राथीतरः, तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टः; स्वाध्यायप्रवचने एव इति नाकः मौद्गल्यः।'** अर्थात् सत्य ही सब-कुछ है, यह सत्यवाक् राथीतर का कहना है, तप ही सब-कुछ है, यह तपस्वी पौरुशिष्ट का कहना है और स्वाध्याय और प्रवचन ही सब-कुछ है, यह मुद्गल के पुत्र नाक का कहना है। —तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक् ६

प्रथम संस्करण में इस सन्दर्भ की व्याख्या ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है—

'ऋत' नाम है यथार्थ और सत्य-सत्य ज्ञान का। ब्रह्मचारी लोग और अध्यापक लोग सत्य-सत्य बात की प्रतिज्ञा करें कि सत्य-सत्य ही को मानेंगे, मिथ्या को कभी नहीं और असत्य को न सुनेंगे, न कहेंगे। स्वाध्याय नाम पढ़ना और प्रवचन नाम पढ़ाना। सत्य-सत्य पढ़ेंगे और सत्य-सत्य पढ़ावेंगे, सत्य ही कर्म करेंगे और करावेंगे। 'तप' नाम धर्मानुष्ठान का है, सदा धर्म ही करेंगे और अधर्म कभी नहीं। हम लोग जितेन्द्रिय होंगे और किसी इन्द्रिय से कभी पर-पदार्थ और परस्त्री ग्रहण नहीं करेंगे। इसका नाम 'दम' है। 'शम' नाम अधर्म की मन से भी इच्छा न करनी। 'अग्नयश्च' नाम अग्नि में जगत् के उपकार के लिए सदा हम लोग होम करेंगे, 'अग्निहोत्रञ्च' नाम अग्निहोत्र का नियम सब दिन पालेंगे। अतिथियों की सेवा सब दिन करेंगे। 'मानुषञ्च' नाम मनुष्यों में जिससे जैसा व्यवहार करना चाहिए वैसा ही करेंगे, बड़ा, छोटा और तुल्य इनको जैसा मानना चाहिए वैसा उसको मानेंगे और जिस रीति से प्रजा की उत्पत्ति करनी चाहिए प्रजा का व्यवहार और पालन जैसा करना चाहिए धर्म से वैसा ही करेंगे। 'प्रजनश्च' नाम वीर्यदान जो करेंगे सो धर्म ही से करेंगे। 'प्रजापतिश्च' नाम जैसाकि गर्भ का पालन करना चाहिए और जन्म के पीछे भी जैसा पालन करना चाहिए वैसा ही पालन उसका करेंगे, परन्तु ऋतादि करेंगे, स्वाध्याय प्रवचन का त्याग कभी नहीं करेंगे। स्वाध्याय पढ़ना, प्रवचन नाम पढ़ाना ऋतादिकों के ग्रहणपूर्वक ही स्वाध्याय और प्रवचन को सदा करना चाहिए। इसका विचार सब दिन करेंगे। इसके छोड़ने से संसार की भी बहुत-सी हानि हो जाती है। इस प्रकार से शिष्यों के प्रति पुरुष, कन्याओं को स्त्री और पुरुषों को पुरुष शिक्षा करें।"

महाभारत (शा०प० ३१६।७) में कहा है—**'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः'**, अर्थात् मनीषी वेदों में (वेदानुकूल) योग को अष्टांग कहते हैं। योगांगानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म और उनके संचित संस्कारों का नाश हो जाता है। इस प्रकार योगांगों के अनुष्ठान से चित्त के अविद्यादि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं। अभ्यास और वैराग्य

'यम' पाँच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ —योगसूत्र २।३०

(अहिंसा) अर्थात् वैरत्याग, (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना, (अस्तेय) अर्थात् मन-वचन-कर्म से चोरीत्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता= स्वत्वाभिमानरहित होना, इन पाँच **यमों** का सेवन सदा करे ॥ केवल नियमों का सेवन, अर्थात्—

का अनुष्ठान यम-नियमादि के पालन से ही सम्भव है। इन आठ अंगों में अन्य सभी भाव और साधनों का अन्तर्भाव है।

यम पद **'यमु उपरमे'** धातु से सिद्ध होता है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है बाह्य विषयों की ओर से अपने आपको निवृत्त करना अर्थात् अपने आपको संयत या नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति के लिए जिन निर्देशक सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है वे 'यम' के अन्तर्गत हैं। जिन कार्यों व भावनाओं को केवल व्यक्तिगत जीवन में निभाना होता है वे नियमों में परिगणित हैं। आत्मा में योग के बीज बोने के लिए यम-नियमों के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। यम-नियम का पूर्णतया पालन किये बिना चरित्र-निर्माण असम्भव है और चरित्र-निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन में यम-नियम का व्यवहार नहीं, वे तथाकथित योगी केवल आत्मवंचक एवं जगवंचक ही हैं।

तत्राहिंसा०—

अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़कर प्रीतिपूर्वक वर्तना 'अहिंसा' है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना का भी मन में आने देना हिंसा है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। सत्य आदि अन्य सभी यम-नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसासिद्धि के हेतु ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने में ही उनका साफल्य है। अहिंसाव्रत में पूर्ण परिपाक हो जाने पर उनके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** (योग० २।३५)। जिस प्रकार मैस्मरिज़्म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को वश में कर अपना अनुगामी बना लिया जाता है, उसी प्रकार जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो चुकी होती है कि वे उसके द्वारा स्वप्रकृति से हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते हैं, उनकी सन्निधि में अन्य प्राणी उनके मनोभाव से प्रभावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्ध ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक साथ खाते-पीते व रहते तथा साँप और नेवला एक-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

सत्य—जो विषय प्रमित हुआ है चित्त और वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा मानना, कहना और करना सत्य कहाता है। छल, प्रपञ्च या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य **(अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा)** भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियों के लिए हितकर हो। सत्यसाधन में मितभाषी होना सहायक होता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में रघुकुल के लोगों के गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है—**'सत्याय मितभाषिणाम्'**। अधिक बोलने में वाणी से अनेक असत्यवचन निकल जाते हैं। इसलिए साधक को सत्यप्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि काल्पनिक

विषयों से विरक्त होना पड़ता है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके मन तथा वाक्य सदा यथार्थविषयक होते हैं उसकी वाक्यविहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नोटिज़म (कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति (Subject) के मन में विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न हो सरल वाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के मन पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल हो जाते हैं। वस्तुतः सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति उसी बात को कहता है जो हो सकती है। सदा सत्य का उच्चारण करने की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नहीं। इसलिए उसका कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार सत्य की प्रतिष्ठा में क्रिया के फल का आश्रय होना वाणी में सिद्ध हो जाता है—**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** (योग० २।३६)।

अस्तेय—पर पदार्थों में इच्छा का न होना 'अस्तेय' है। जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य हो उसका ग्रहण अथवा जो निज स्व नहीं उसका उसके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना 'स्तेय' है। ऐसे पदार्थ के विषय में जो निस्पृह होने का भावविशेष है, वही अस्तेय है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह ग्राह्य नहीं हो जाता, क्योंकि निश्चय ही वह निज-स्व न होकर पर-स्व है।

चोरी की भावना का परित्याग हो जाने पर वस्तुओं के लोभ और संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है। तब वह जिस वस्तु की कामना करता है, संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है। कहीं भी चला जाए उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। यही इच्छामात्र से सब रत्नों का उपस्थित होना है—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** (योग० २।३७)।

ब्रह्मचर्य—कामवासनाओं से सर्वात्मना बचते हुए प्रयत्नपूर्वक वीर्यरक्षा करना ब्रह्मचर्य है, किन्तु मात्र उपस्थ-संयम ब्रह्मचर्य नहीं कहाता। पूर्णरूप से वीर्यरक्षा के साथ समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों को निर्बाधरूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है। यदि चक्षु, रसन आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाए तो ये सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं। ब्रह्मचर्य की साधना में लगे व्यक्ति को सावधान करने के लिए मनुस्मृति (२।८८,९३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयम्य यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

अर्थात् जैसे सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे ही विद्वान् मन को खोटे कामों में खींचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को यत्नपूर्वक नियन्त्रण में रक्खे, क्योंकि इन्द्रियों के वश में होके जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अच्छा तो यह है कि जहाँ तक हो सके इन्द्रियों को विषयों से दूर रखा जाए—

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ —योगसूत्र २।३२

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तप) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये पाँच **'नियम'** कहाते हैं ॥

ब्रह्मचर्य-साधन में प्रवृत्त व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचे रहना चाहिए। स्त्री-पुरुष का एकान्तदर्शन, स्पर्शन, सेवन, विषयकथा, भाषण, क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग—ये आठ प्रकार के मैथुन है।

जीवन का उद्देश्य है अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि, एतदर्थ निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोत्तम साधन हैं।

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। प्राणधारण के लिए भोजन, शरीर ढाँपने के लिए वस्त्र तथा गर्मी, सर्दी और वर्षा से बचने के लिए मकान आवश्यक है, परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढंग से बने छोटे मकान से हो सकती है। असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और शानदार बंगले 'परिग्रह' की कोटि में आ जाते हैं। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सामाजिक अपराध है—समाज के प्रति अन्याय है। ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है।

योगदर्शन में अपरिग्रह की सिद्धि का फल जन्म के कथम्भाव का ज्ञान बताया है **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (योग० २।३८)। अर्थात् 'मैं पूर्वजन्म में क्या था ? किन कारणों से था ? चालू जन्म किन कारणों से हुआ ? आगे क्या और किन कारणों से बनूँगा ?' अपरिग्रह की सिद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति इस प्रकार अपने जन्मों के विषय में जिज्ञासा होने पर यथार्थरूप से उन परिस्थितियों को जान लेता है, परन्तु अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह न करने का जन्मकथा से क्या सम्बन्ध है ? यह जिज्ञासा स्वभावतः उभरती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि जब मनुष्य यह सोचने लगता है कि जीवन क्या है ? तब उसका ध्यान जन्म की ओर जाता है। यह जन्म-जन्मान्तर का चिन्तन परिग्रह की भावना को शिथिल कर अभ्यासी को अपरिग्रह की ओर प्रेरित करने में सहायक होता है और वह निवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर होता है।

शौचसन्तोष०—

शौच—'शौच' का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर अथवा शारीरिक और मानसिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ —५।१०६

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् धर्मानुष्ठान से आत्मा और ज्ञान अर्थात् पृथिवी से परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है। जल आदि से शरीर, वस्त्र और आवास को शुद्ध रखना बाह्य शौच है। मद, मान, मात्सर्य, असूया, राग-द्वेष आदि चित्तमलों का प्रक्षालन करके मन को स्वच्छ रखना आभ्यन्तर शौच है। कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है, अतः

दोनों प्रकार का शौच समानरूप से आवश्यक है।

सन्तोष—जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हों उनसे प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कहाता है। **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम, दास मलूका कह गये सबके दाता राम'** ऐसा सोचकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना सन्तोष नहीं, अकर्मण्यता है—**'अकर्मा दस्युः'**। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थसंचय में प्रवृत होना चिन्त्य है। तृष्णा के जाल में फँसा व्यक्ति फिर उससे निकल नहीं पाता। भर्तृहरि के शब्दों में **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'** मनुष्य का अन्त हो जाने पर भी उसकी तृष्णा बनी रहती है। अधिकतर दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं।

स्वामी शंकराचार्य का कथन है—**'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'** अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग अर्थात् सुखों का घर मिल गया। महाभारत में तो यहाँ तक कह दिया—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ महा० शान्ति० १७४।४६

इह लोक में काम्य वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है, वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है—**'सन्तोषः परमं सुखम्'**।

तप—धर्मानुष्ठान में सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का सहना तप है। इस रूप में कष्टसहन का अभ्यासी होना ही तपस्वी होना है। तप दो प्रकार का होता है—कायिक और मानसिक। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, चलना-ठहरना, बोलना-मौन रहना आदि द्वन्द्वों का प्रसन्नतापूर्वक सहन करना ही कायिक या शारीरिक तप है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, राग-द्वेष, आदि द्वन्द्वों को सहन करना मानसिक तप है। यह द्वन्द्व-सहन तप तभी कहा जाएगा जब वह किसी शुभ कार्य के लिए किया जाए। निष्प्रयोजन एक टाँग पर खड़े रहना, निरन्तर उठाये रखकर हाथ को सुखा देना, चिरकाल तक धूप में या जल में खड़े रहना आदि तप नहीं कहाता। धर्मानुष्ठान में बाधक द्वन्द्वों का सहन करना ही वास्तविक तप है।

स्वाध्याय—शास्त्रों का अध्ययन और ओंकार का जप 'स्वाध्याय' है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिए प्रेरणा मिलती है और दोनों के संयोग से परमात्मा का प्रकाश होता। परमात्मा के अनुग्रह से साहाय्य, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्तिलाभ करता है।

ईश्वरप्रणिधान—आत्मा को परमात्मा में समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है। तादात्म्यभाव से अपने आपको सर्वात्मना परमात्मा में अर्पण कर प्रणव-जपादि का निरन्तर अनुष्ठान करना ईश्वरप्रणिधान कहाता है। बाह्य व्यवहारों से चित्त को हटाकर उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, निज की ईश्वर में और ईश्वर की निज में भावना कर योगी अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर देता है। निज को ईश्वरस्थ जानकर ही भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जाग्रत् होता है। यही भावना द्वारा भगवान् में निमग्न होना है। ईश्वरप्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावनारूप है।

स०प्र० प्रथम संस्करण में नियमों की व्याख्या में लिखा है—

[यम-नियमों का सब सेवन करें]

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।[1]
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ —मनु० ४।२०४

अर्थः—यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों के सेवन को छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है ॥

[अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता दोनों त्याज्य]

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ —मनु० २।२

अर्थः—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि जो कामना न करे, तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित यज्ञादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें ॥ इसलिए —

"मृत्तिका और जलादिकों से बाह्य शरीर की शुद्धि और शान्त्यादि के ग्रहण से और ईर्ष्यादिकों के त्याग से चित्त की शुद्धता, इसका नाम 'शौच' है। धर्मयुक्त पुरुषार्थ करने से जितने पदार्थ प्राप्त होय उतने ही में सन्तुष्ट रहे, और पुरुषार्थ का त्याग कभी न करै, इसका नाम 'सन्तोष' है। क्षुधा, तृषा, शीत और उष्ण इत्यादिक द्वन्द्वों को सहै, इसका नाम 'तप' है। मोक्षशास्त्र और उपनिषदों का अध्ययन करै, ओंकार के अर्थ का विचार और जप करै, उसका नाम 'स्वाध्याय' है। पापकर्म कभी न करै, यथावत् पुण्य कर्मों को करके सिवाय परमेश्वर की प्राप्ति के फल की इच्छा न करै, इसका नाम 'ईश्वरप्रणिधान' है।

यमान् सेवेत—यही पाठ संस्कारविधि (वेदारम्भ-संस्कार) में भी है, परन्तु मनुस्मृति में **'न नित्यं नियमान् बुधः'** पाठ मिलता है। 'यम' मुख्यरूप से आत्मा से सम्बद्ध आचरण हैं, जबकि नियम प्रमुखतः बाह्याचरण हैं। केवल बाह्याचरणों के सेवन से व्यक्ति की आत्मिक उन्नति नहीं होती और न उसकी आत्मा में दृढ़ता आती है। बाह्याचरणवाला व्यक्ति पाखण्ड भी कर सकता है, जबकि आत्मिक आचरण में इसकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार केवल नियमों के पालन के स्तर तक व्यक्ति के पतन की आशंका बनी रहती है। वस्तुतः यम-नियमों में से एक की भी उपेक्षा या अवहेलना योगी को हानि पहुँचा सकती है—उसके किये-कराये पर पानी फेर सकती है। कूर्मपुराण (२।११।६६-७०) में लिखा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं दमो तपः ।
सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः ।
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ॥

ब्रह्मचर्यादि में से किसी एक का अनुष्ठान न करने पर शेष सभी व्रतों का लोप हो जाता है।

स्वाध्यायेन—यहाँ 'ब्राह्मण' से वर्णव्यवस्थान्तर्गत ब्राह्मणपदवाच्य वर्णविशेष अभिप्रेत नहीं है। शरीर का कोई वर्ण होता भी नहीं। यजुर्वेद अध्याय ७, मन्त्र ४६ में **'ब्राह्मणम्'** का अर्थ ग्रन्थकार ने **'वेदेश्वरविदम्'** किया है। स्वाध्याय आदि के द्वारा ब्राह्मण बनने का अर्थ **'वेदेश्वरवित्'** बनना ही है। प्रस्तुत श्लोक का

---

१. यही पाठ संस्कारविधि वेदारम्भसंस्कार पृष्ठ १२४ में भी है। मनु० में 'न नित्यं नियमान् बुधः' ऐसा पाठ मिलता है।

[ब्राह्मण-शरीर बनाने के साधन]

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ —मनु० २।२८

अर्थः—(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (व्रत) ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि, नियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग, और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या के ग्रहण, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ, और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या-विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को **ब्राह्मी** अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनाया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता ॥

[इन्द्रियों के संयम से लाभ और असंयम से हानि]

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ —मनु ० २।८८

अर्थः—जैसे सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे विद्वान् मन और आत्मा को खोटे कामों में खेंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे, क्योंकि—

अर्थ 'ब्राह्मी' अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार किया है। संस्कारविधि में 'ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी' अर्थ किया है। इस प्रकार 'ब्राह्मण शरीर' से भौतिक शरीरधारी ब्राह्मण व्यक्तिविशेष का ग्रहण नहीं होता।

इन्द्रियाणाम्—इस विषय का विशदीकरण कठोपनिषद् में इस प्रकार किया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

इन सभी श्लोकों में अलंकार द्वारा यह बतलाया है कि मनुष्य किस प्रकार अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधिकार में रक्खे जिससे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। कठोपनिषद् के इन श्लोकों का मूल यजुर्वेद के अन्तर्गत इस मन्त्र में उपलब्ध है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३४।६

अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है, चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और बलिष्ठ होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक पग सारथि की इच्छानुसार पड़े। घोड़ों को नियन्त्रण में रखने के लिए सारथि को रस्सी (लगाम) की आवश्यकता होती है। वेद में ऐसी रस्सी को 'अभीशु' नाम से पुकारा गया है। 'अभीशु' का पदार्थ है—अभि= सम्मुख, इशु=ऐश्वर्यवाला, अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ —मनु० २।९३

अर्थः—जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

[भाव की शुद्धि आवश्यक]

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ —मनु० २।९७

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥

[स्वाध्याय में अनध्याय नहीं]

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१॥
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥२॥ —मनु० २।१०५,१०६

वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पञ्च महायज्ञों के करने, और होममन्त्रों में अनध्याय-विषयक अनुरोध=आग्रह नहीं है ॥१॥

क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता । जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं बन्द नहीं किये

मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ में 'अभीशु' का अर्थ होगा—संचालन तथा नियन्त्रण में समर्थ । समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी शक्तियों का इच्छानुसार प्रयोग करने का साहस होगा । जाग्रत् तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगानेवाला मन यदि इन्द्रियों को कान पकड़कर नहीं बिठा सकता और इसके विपरीत स्वयं उनका अनुयायी बन जाता है, तो उसे सुषारथि क्या, सामान्य अर्थों में भी सारथि नहीं कहा जा सकता, अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुँचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न वहाँ पहुँचानेवाला ही सुषारथि पद का अधिकारी हो सकता है ।

वेदास्त्यागश्च—'जो अजितेन्द्रिय है उसे विप्रदुष्ट कहते हैं' (दशम समुल्लास) । 'जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न और दुष्टरूप देखके अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता' ।—तदेव

आचारहीन को वैदिक कर्मों की फल-प्राप्ति नहीं होती—इस विषय में निर्णय अत्यन्त स्पष्ट है—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ —१।१०६

अभिवादनशीलस्य—अभिवादनशील व्यक्ति विनम्र होता है । उसके आदर करने के स्वभाव, विनम्रता और सेवा-शुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है । इस प्रकार उसका यश

जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिए, न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥२॥

[वृद्धजनों की सेवा के फल]

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ —मनु २।१२१

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल —ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते, उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ॥

[वाणी और मन की शुद्धि आवश्यक]

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥२॥ —मनु० २।१५६,१६०

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के कल्याण के मार्ग का उपदेश करें। और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले, और सत्य ही का उपदेश करे ॥१॥

फैलता है। यहाँ **'उपसेविनः'** पद का प्रयोग हुआ है जिसका अभिप्राय है—वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना। इससे उसपर सेव्य और अभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव पड़ता है। ऐसे व्यक्ति की सेवा, शुश्रूषा और विनम्रता से प्रसन्न होने से विद्वानों की स्वाभाविकरूप से उसे अधिक-से-अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। ऐसा व्यक्ति गुरुजनों की बुद्धि में अन्तर्निहित ज्ञान को जैसे स्वतः आकृष्ट कर लेता है। विद्यावयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य में रहने से उनके जीवन, अनुभव और व्यवहार से मिलनेवाली प्रेरणा से तन, मन की शुद्धि होकर नीरोगता, सदाचार आदि के फलस्वरूप आयु और बल की वृद्धि होती है।

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ —मनु० २।१२२

विप्र अपने बड़े का अभिवादन करते समय अभिवादन-सूचक शब्द के साथ 'मैं अमुकनामवाला हूँ' ऐसा कहते हुए अपना नाम बतलाये, जैसे—**'अभिवादये अहं देवदत्तः'** ।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ —मनु० २।७२

---

१. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ॥२॥

[सम्मान की इच्छा का त्याग]

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ —मनु० २।१६२

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है, और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ —मनु० २।१६४

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जाएँ ॥

गुरु के चरणों का स्पर्श हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए अर्थात् बायें हाथ से बायें चरण का और दायें हाथ से दायें चरण का स्पर्श करना चाहिए। स्पर्शकर्त्ता का बायाँ हाथ नीचे रहकर गुरु के बायें पैर का और दायाँ हाथ बायें हाथ के ऊपर से दायें पैर का स्पर्श करे।

स.प्र. के प्रथम संस्करण में इस सन्दर्भ में मनुस्मृति २।७१[1] के आधार पर इतना विशेष लिखा है—'जब शिष्य गुरु के पास पढ़ने का नित्य आरम्भ करैं तब आदि और अन्त में गुरु को नमस्कार और पादस्पर्श करैं। जब तक पढ़ैं और गुरु के सम्मुख रहैं तब तक हाथ जोड़कर ही रहैं। इसी का नाम ब्रह्माञ्जलि है। जब गुरु उठैं तब आप ही पहिले उठै। जो आप बैठा होय और गुरु आवैं तब अपने आप उठके सन्मुख जाके गुरु को शीघ्र ही नमस्कार करै और उत्तम आसन पर बैठावै, आप नीचे आसन पर बैठै और नम्रतापूर्वक पूछै अथवा सुनै।'

अहिंसयैव—अहिंसा का अर्थ ग्रन्थकार ने 'वैरबुद्धि का परित्याग' किया है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना का भी मन में न आने देना अहिंसा है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया अथवा अनिष्ट आदि की भावना का चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। इसलिए योगदर्शन में अहिंसाधर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति की पहचान बताते हुए कहा है—**'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**—अहिंसा व्रत का पूर्ण परिपाक हो जाने पर उसके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जब साधक के चित्त में किसी भी रूप में हिंसा की भावना नहीं उभरती तो उसकी संगति में सामान्य विरोधी की तो बात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी परस्पर वैरभाव छोड़ देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्ध ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक घाट पानी पीते और सर्प तथा नेवले एक-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

यस्य वाङ्—यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है। जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने मन में हो वैसा ही मानना, कहना और करना सत्य कहाता है। जो लोग मन में कुछ सोचते, वाणी से कुछ कहते और व्यवहार में कुछ और ही करते

---

१. तुलना करें—वर्तमान में गुरु को प्रायः खड़े रहना होता है, जबकि विद्यार्थी आराम से कुर्सियों आदि पर बैठे रहते हैं।

[वेदाध्ययन के त्याग से शूद्रत्व की प्राप्ति]

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ —मनु० २।१६८

जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्रसहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥

[ब्रह्मचारी के विशेष कर्तव्य]

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१॥

हैं, वेद ने उन्हें आत्मघाती (**आत्महनः**—यजुः० ४०।३) कहा है। अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो लोग आत्मा में कुछ और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं वे राक्षस, असुर या पिशाच हैं। इसके विपरीत जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में एक-सा आचरण करते हैं, वे देव कहाते हैं।" सज्जन पुरुष की यह पहचान है कि वह जो कुछ मन में सोचता है वही वाणी से कहता और कर्म से करता है।—**'यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ।'** महाभारत में तो बड़े कठोर शब्दों में कहा है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

जिसके आत्मा में कुछ हो और कहता कुछ और हो, वह कौन-सा पाप नहीं करता ? ऐसे आत्महन्ता से बढ़कर कोई चोर नहीं।

संस्कृत साहित्य में महात्मा और दुरात्मा का लक्षण करते हुए कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात् जो मन, वचन और कर्म में एक हैं, वे महात्मा कहाते हैं। इसके विपरीत जिनके मन में कुछ, वचन में कुछ, कर्म में कुछ और होता है, वे दुरात्मा कहाते हैं। छल, प्रपञ्च या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य अथवा द्व्यर्थक वाक्य भी हेय है। वेदोपनिषद् की शिक्षा के अभाव में नैतिक पतन अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ रहा है। वर्त्तमान में वे राजनेता जिन्हें अपने हृद्गत विचारों को दबाना आता है, जानबूझकर ऐसी शब्दावलि का प्रयोग करते हैं, जिसके समय आने पर आवश्यकतानुसार मनमाने अर्थ निकाले जा सकें। जो ऐसा नहीं कर सकते—अपनी बात को पलट नहीं सकते—उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया जाता है—

ना अहल हैं वो अहले सयासत की नज़र में ।
वादों से अपने जिनको मुकरना नहीं आता ॥

'रामो द्विर्नाभिभाषते' तथा **'प्राण जाए पर वचन न जाई'** पर गर्व करनेवाले देश में अब आत्महनन को ही योग्यता और कार्य-कुशलता की कसौटी माना जाने लगा है। छल, कपट और बेईमानी आदि को Tact, Policy, Strategy, Diplomacy आदि का नाम देकर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। झूठ के पर्याय इन

शब्दों की आड़ में किया गया पाप भी धर्म बन जाता है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में सत्याग्रही ग्रन्थकार ने यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"**एषा वः सत्या संवागभूत्**"—तुम लोगों की राजनीति में स्थित अच्छी वाणी सत्यस्वरूप हो। राजा, राजकर्मचारी और प्रजा पुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिनकी वाणी सब काल में सत्य होती है वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन रापुरुषों का विश्वास नहीं होता।"—यजुर्वेद ६।१२

सम्मानाद्—संस्कारविधि के अन्तर्गत संन्यासाश्रम के प्रकरण में इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्नपान, वस्त्र, उत्तम स्थान मिले वा न मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सबको सहन करे और अधर्म का खण्डन और धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरा किसी को न माने।"

सम्मान व लोकैषणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फँसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है तब तक वह विरक्त या वीतराग नहीं हो सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है जो ब्रह्मप्राप्ति में सबसे अधिक बाधक है। लौकेषणा के वशीभूत हुआ मनुष्य हेय-से-हेय कार्य करने में संकोच नहीं करता। इसका छूटना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।[1] अपमान की कामना और सहिष्णुता से अहंकार क्षीण होता है। अपमान अर्थात् निन्दा को सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चरित्र में निर्मलता आती है। सन्त कबीर ने अपनी वाणी में बड़े पते की बात कही है—

निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय।
बिन साबन पानी बिना निर्मल करे सुभाय॥

इन भावों की पुष्टि मनु० ६।४७-४८ में इन शब्दों में की गयी है—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ —६।४७
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ —६।४८

अपमानजनक वचनों को सहन कर ले, कभी किसी का अपमान न करे और इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी से वैर न करे। जब कहीं उपदेश या संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उसपर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ ही उपदेश करे और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार अभ्यास करे, इसका उल्लेख निम्न श्लोकों में किया है—

1. Fame is the last infirmity of a noble mind.

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥२॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥४॥ —मनु० २।१७७-१८०

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा ॥१॥

अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या-द्वेष और नाच-गान, बाजा बजाना ॥२॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ —मनु० ६।५७-५८

भिक्षा न मिलने पर दुःखी न हो और मिलने पर प्रसन्नता न अनुभव करे। न्यूनाधिक, अच्छी-बुरी भिक्षा का मोह न करके, अर्थात् जैसी-जितनी भिक्षा मिल जाए उसे ग्रहण करके केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे।

इससे प्राप्त होनेवाले फल का उल्लेख मनु० २।१६३ में इस प्रकार हुआ है—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥

अर्थात् अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जाग्रदवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है, अभिप्राय यह कि मानव को सर्वाधिक व्यथित करनेवाली मान-अपमान और उनसे उत्पन्न होनेवाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते-जागते किसी अवस्था में व्यथित नहीं करतीं, वह सदा निश्चिन्त रहता है और संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है। इसके विपरीत अपमान के कारण व्यथित होनेवाला व्यक्ति चिन्ता और शोक के कारण विनाश को प्राप्त होता है।

अनेन—श्लोक के अर्थ में **'गुरौ वसन्'** का 'गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए' अर्थ मुद्रणकाल में छूट गया है।

योऽनधीत्य—यहाँ शंका हो सकती है कि वेदाध्ययन में परिश्रम न करनेवाले व्यक्ति के साथ उसका परिवार क्यों और कैसे शूद्रत्व को प्राप्त होता है ? वस्तुतः ऐसा व्यक्ति शूद्र नहीं बन जाता अपितु 'शूद्रत्व' को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति वेदाध्ययन में प्रवृत्त न होकर अन्य सामान्य ग्रन्थों के पठन-पाठन में अपना समय लगाएगा उसमें क्रमशः विद्वत्ता और धार्मिकता का ह्रास होता जाएगा। इस प्रकार कालान्तर में वह शूद्रत्व के स्तर पर आ जाएगा। जब परिवार का प्रमुख विद्वान् नहीं रहेगा तब उसके आश्रित छोटे-बड़े भी धीरे-धीरे शूद्रवत् व्यवहार करने लगेंगे। द्विजों का मुख्य धर्म वेदाध्ययन करना है। इस धर्म का पालन न करनेवाला शूद्र की कोटि में पहुँच जाएगा। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते**

द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥३॥

सर्वत्र एकाकी सोवें, वीर्य स्खलित कभी न करें। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥४॥

[आचार्य का शिष्य को उपदेश]

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्ययाप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥ देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥२-३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेश एष उपदेश एष वेदोपनिषत् ॥ एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥ तैत्तिरीय० शिक्षा० १।१

आचार्य्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करें कि—"तू सदासत्य बोल। धर्माचार कर। प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण कर और आचार्य्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर। प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़। प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य

लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ (गीता ३।२१)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य साधारण मनुष्य करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर करता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं। तदनुसार परिवार के मुखिया के शूद्रत्व को प्राप्त होने पर सारा कुटुम्ब शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

वर्जयेत्—इस श्लोक में मधु का अर्थ मदिरा है, मधुमक्खियों द्वारा तैयार किया गया मधु=शहद नहीं। शहद अर्थवाचक मधु को मनु अभक्ष्य पदार्थ नहीं मानते। जातकर्म संस्कार की विधि में सद्योजात बालक को उसके चटाने का विधान है—**'मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्'** (मनु० २।४)। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में जातकर्म में निम्न विधान वर्णित है—

'कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्।' (१।१५।१)

अर्थात् बालक के जन्म के पश्चात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद और घी चटाए।

'माद्यते इति मदः' जो नशा उत्पन्न करे वह मद कहाता है। मांस के साथ इस शब्द का निषेधात्मक रूप में प्रयोग होने से इस अर्थ की पुष्टि होती है।

वेदमनूच्य—शिक्षाकाल की समाप्ति पर आचार्य शिष्य को सीख देता है—ऐसी सीख जो जीवनभर उसके काम आएगी। आजकल की भाषा में इसे दीक्षान्तभाषण (Convocation Address) कहते हैं। यह उपदेश इतना सुन्दर और व्यावहारिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है कि आजकल प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में दीक्षान्तसंस्कार के समय यही भाषण देने की परिपाटी चल पड़ी है। वेदमनूच्य—वेद की शिक्षा देकर

की वृद्धि को मत छोड़ । प्रमाद से पढ़ने और पढाने को कभी मत छोड़ ॥१॥

देव-विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर । जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता-पिता आचार्य्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर । जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म है, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर । जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्य्युक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर, और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी ग्रहण मत कर ॥

जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान्, धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ, और उन्हीं का विश्वास किया कर । श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना, और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए । जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो ॥२-३॥

तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी अथवा तपस्वी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करनेवाले, धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी उसमें वर्त्ता कर । यही आदेश=आज्ञा यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है । इसी प्रकार वर्त्तना और अपना चालचलन सुधारना चाहिए ॥४॥

आचार्य अपने अन्तेवासी को उपदेश देता है—यह उपदेश अनुशासन या आदेशरूप है ।

संहिताओं का अनुसरण करते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् ने भी सबसे पहले सत्यनिष्ठ धर्माचरण पर बल दिया है । आचार्य का निर्देश है—अब तू इस आश्रम की छोटी-सी दुनिया से निकलकर विशाल संसार में जा रहा है । वहाँ लोग तुझे समझाएँगे कि आश्रम के नियम दुनिया में नहीं चलेंगे । हर बात में सच पर डटे रहोगे तो तुम मुश्किल में पड़ जाओगे । पर, **'सत्यमेव जयते'** इसे मत भूलना । वेद में उन नियमों का, आचार-विचार का वर्णन है, जिनका पालन करने से व्यक्ति और समाज सुखी रहता है । उस धर्म का, उन मर्यादाओं का पालन करना । वंश परम्परा को मत काटना—यह उपदेश **'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्'** शतपथब्राह्मण के इस आदेश को ध्यान में रखकर दिया है । इससे पूर्व तैत्तिरीय आरण्यक के उपदेश में ही 'प्रजा-प्रजन-प्रजाति' शब्दों के प्रयोग द्वारा नियमानुसार सन्तानोत्पत्ति करने, गर्भावस्था में आवश्यक सावधानी वर्तने और सन्तानों के पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा पर ध्यान देने की बात कही जा चुकी है । प्रस्तुत प्रकरण में सन्तुलित व समन्वित जीवन पर बल देते हुए माता-पिता-आचार्य-अतिथि-विद्वान् सबकी सेवा का निर्देश किया है । समाज में सब तरह के लोग हैं, उनका आदर करना और कहना मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है तथापि उनकी मानने योग्य बात ही मानना, जो कोई किसी का निन्दित कर्म हो उसका अनुकरण मत करना । हम भी मनुष्य हैं, हमसे भी भूल हो सकती है । इसलिए हमारे भी शुभाचरण का ही अनुकरण करना, अनुचित बात हमारी भी मत मानना । ऐसी बात उसी आचार्य की वाणी से निकल सकती है जिसे अपने आचरण पर भरोसा हो । इन सबकी देवसंज्ञा है, किन्तु कोई भी पूर्ण नहीं होता, उनमें भी दोष हो सकते हैं । 'हमारे सद्विचारों तथा अनिन्द्य कर्मों को ही ग्रहण करना, हमारे दोषों की ओर ध्यान न देना' कितना व्यावहारिक तथा कल्याणकारी उपदेश है और कितने नपे-तुले शब्दों में इसे प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार यह कहकर कि 'चाहे श्रद्धा से दो, चाहे अश्रद्धा से दो, चाहे लोकलाज से दो, चाहे समाज के, शासन के या अन्य किसी प्रकार के भय के कारण दो—पर दो अवश्य' दान देते रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है । गृहस्थ के अनेक प्रकार के झंझटों में फँसे रहने पर भी कभी सुपथ से विचलित नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार अन्यथा व्यस्त रहने पर भी स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए । फिर भी जीवन में सदा-कदा ऐसे अवसर आते रहते हैं जब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता

[सर्वथा कामना-त्याग की असम्भवता]

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ —मनु० २।४

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिए कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है । इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है ॥

[आचार का महत्त्व]

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥१॥

है । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने धर्माचरण के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए और ऐसी स्थिति की कल्पना करते हुए, उससे निकलने का मार्ग सुझाया है । दुविधा की ऐसी स्थिति आने पर अपनी शंका का समाधान पाने के लिए ऐसे व्यक्तियों के पास जाना चाहिए जो विद्वान् हों, निष्पक्ष हों, अनुभवी हों, हितैषी हों और धर्मबुद्धि हों । वे जैसा कहें, वैसा करना चाहिए । अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कहा गया है—यही वेद और उपनिषत् का सार है, यही हमारा आदेश है, अनुशासन है । इसी के अनुसार जीवन में आचरण करना उचित है ।

अकामस्य—न्यायदर्शन (१।१।१०) के अनुसार जीवात्मा के अस्तित्व में इच्छा का होना सबसे पहला प्रमाण है । इच्छा के बिना कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । प्रत्येक कामना संकल्पमूलक होती है, अर्थात् प्रत्येक इच्छा संकल्प से ही उत्पन्न होती है और संकल्प-विकल्प करनेवाला मन है । इस प्रकार मन की प्रेरणा के बिना कोई कर्म नहीं होता—**'यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते'** (यजुः० ३४।३) । इसलिए जब आत्मा को कुछ जानने या करने की इच्छा होती है तो वह अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहनेवाली विचार-तरंग को उत्पन्न करता है । यह विचार-तरंग संवेदनतन्त्रिकाओं (Sensory nerves) में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्र-बिन्दु से जा टकराती है, जिसका वह विषय होता है । इस प्रकार बाहर के विषय से सम्पर्क होते ही उसका स्वरूप लिये वह तरंग उन्हीं संवेदनतन्त्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौटकर मन को सौंप देती है । इस प्रकार आत्मा को अपने इच्छित विषय का ज्ञान होता है । ज्ञान को प्राप्त करने पर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरकतन्त्रिकाओं (Motor nerves) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है । इस प्रकार जीवात्मा की समस्त प्रवृत्तियों का मूल इच्छा में है । इसलिए कहा जाता है—**'संकल्पमयः पुरुषः'** । जहाँ इच्छा का प्रभाव है वहाँ जीवात्मा का प्रभाव जानना चाहिए ।

आचारः—सत्यासत्य=धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए वेद से परे कोई न्यायालय नहीं है—वही सर्वोपरि है—**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** । मानव के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है । यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है । **'स्मार्त्त एव च'**—वेद के बाद स्मृति का प्रामाण्य है, किन्तु स्मृति और परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं है । उसे तभी स्वीकार किया जाना चाहिए, जब वह वेदानुकूल हो । इस विषय में सब एकमत हैं, तद्यथा—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥२॥ —मनु० १।१०८,१०६॥

कहने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना, इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहे ॥१॥

क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥२॥

[वेद का निन्दक नास्तिक]

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ —मनु० २।२१

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिए, क्योंकि—

[धर्म का चतुर्विध लक्षण]

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ —मनु० २।१२ ॥

वेद, स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म, और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसाकि सत्यभाषण। ये **चार धर्म के लक्षण** अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम **'धर्म'**। और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को **'अधर्म'** कहते हैं ॥

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् । —मीमांसा २।३।३
श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम् । —शा० भाष्य २।१।१
श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । —जाबालस्मृतिः
श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना । —भविष्यपुराण
पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव न चापरः ।
तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति ॥ —मध्वाचार्य

श्रुतिः स्मृतिः—मनुस्मृति में **'वेदः'** पाठ है। आगे दशम समुल्लास में **'वेदः'** पाठ ही है। प्रथम संस्करण में पृष्ठ ५७ पर भी **'वेदः'** पाठ ही मिलता है। वेद के पर्यायवाची श्रुति आदि के विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"(प्रश्न)— वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

(उत्तर)— अर्थभेद से, क्योंकि एक 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी 'विद्' धातु सत्तार्थक है, तीसरी 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथी 'विद्' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं के करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है। जिनके पढ़ने से यथार्थ

[धर्मज्ञान में वेद परम प्रमाण]

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ —मनु० २।१३ ॥

जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि रत्न, और काम=स्त्रीसेवनादि में नहीं फँसते हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता ॥

[क्षत्रिय आदि को पढ़ाने में ब्राह्मण का भी कल्याण]

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावे, क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के अधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं।

और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं, और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें, तो क्षत्रियादि को वेदादिसत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें, क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते। इसलिए वे विद्या-व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या-सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्म-युक्त मिथ्याव्यवहार को नहीं चला सकता।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

[सत्याऽसत्य की पाँच प्रकार से परीक्षा]

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। **परीक्षा पाँच प्रकार से होती है—**

विद्या का ज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहितादि का नाम वेद है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हमलोग पर्यन्त जिससे सत्यविद्याओं को सुनते आये हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है।......... जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिताभाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं।"

यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थमात्र के लिए किया जा सकता है, तथापि पंकज, जलज आदि के समान वह श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत

एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव, और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य, और उससे विरुद्ध असत्य है ।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य, और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह-वह असत्य है । जैसे कोई कहे कि विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ । ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है ।

तीसरा—**'आप्त'** अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह-वह ग्राह्य, और जो-जो विरुद्ध वह-वह अग्राह्य है ।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि—'मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूँगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा' ।

और **पाँचवीं**—आठों **प्रमाण** अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ।

ग्रन्थविशेष के लिए ही रूढ़ हो गया है ।

सत्यासत्य की परीक्षा—सत्यासत्य की परीक्षा पाँच प्रकार से की जाती है । ग्रन्थकार के अनुसार मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जाननेवाला है, अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य का विवेक करने की शक्ति है, किन्तु स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों के कारण सत्य को छोड़ असत्य की ओर झुक जाता है । यदि हम सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार खुले हैं तो हम असंगत और तर्कहीन विचारों को छोड़कर सत्य की ओर बढ़ते जाएँगे । जब कोई व्यक्ति किसी विषय को जानना चाहता है तो उसके पक्ष-विपक्ष में प्रमाण व हेतु जुटा, गम्भीरतापूर्क मनन व चिन्तन करके किसी निर्णय पर पहुँचता है । सत्यान्वेषी का इस विषय में मार्गदर्शन करने के लिए सत्यासत्य की परख के निमित्त ग्रन्थकार ने पाँच कसौटियाँ निश्चित की हैं । पहली कसौटी है—

वेदनुकूल होना—जो ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुकूल है वह सत्य है । किसी भी मनुष्य के लिए पूर्णज्ञानी होना सम्भव नहीं । मानव का ज्ञान यत्किञ्चित् अज्ञानमिश्रित रहता है । ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण एवं निर्भ्रान्त है । मनुष्य के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है । उसका निरपेक्ष प्रामाण्य होने से वहाँ जो विहित है वह अनुष्ठेय है तथा जो निषिद्ध है वह त्याज्य है । यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है । इसलिए ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त आर्यों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा परमश्वेर ने सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश किया जिससे परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कर सकें ।

बाल की खाल उतारनेवाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में प्रमुख महर्षि कणाद ने **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै०द०६।१।१) की घोषणा करने से पहले वेद का पूरी तरह अनुशीलन करने और बुद्धि की कसौटी पर परखने के बाद यह निश्चय किया कि वेद में जो भी वाक्य-रचना है, वह सब बुद्धिपूर्वक है, नित्यज्ञानमूलक है और उसमें भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है । अन्यान्य दर्शनों में भी इसी प्रकार वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है । तद्यथा—

निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् । —सां० ५।५१

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । —न्याय० २।१।६७

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । —योग० समधिपाद २६
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । —मीमांसा १।१।२
शास्त्रयोनित्वात् । —वेदान्त १।१।३

उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है वह वैदिक मान्यताओं की प्रयोगात्मक एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति है । ईशोपनिषद् तो सीधे यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है । शेष उपनिषदों का मुख्य आधार यही उपनिषद् है । मनु ने **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**, (२।६)। कहकर वेद को धर्म का मूल मानते हुए घोषणा की—**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** (२।१३) तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** (१२।६७) । मनुस्मृति के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रसनातनात् ॥

अर्थात् वेदशास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं । अन्य सब शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं ।

वैदिकधर्मेतर मत-मतान्तरों के मान्य ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र-अनेकत्र वेदोक्त धर्म को मान्यता प्रदान की गयी है । दूसरी कसौटी है—

सृष्टिक्रम के अनुकूल—जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल है वह सत्य है, सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था और प्राकृतिक नियमों के अधीन है । ये सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं । प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं । अभाव से भाव की उत्पत्ति अथवा असत् का सद्भाव, कारण के बिना कार्य, विना फल भोगे कर्म का क्षय, अग्न्यादि द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, वन्ध्या के अथवा बिना माता-पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति अथवा चेतन का जड़रूप होना, जीव की सर्वज्ञता या सर्वव्यापकता अथवा ईश्वर का जीवों की भाँति शरीर धारण कर जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य है ।

ग्रन्थकार की इस मान्यता पर टिप्पणी करते हुए जेम्स हेस्टिंग्ज़ ने अपनी पुस्तक 'Dictionary of Religions and Ethics' में लिखा—

"Dayanand tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया । यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों का परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल होना स्वाभाविक है । ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा । यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे नक्शे का बनानेवाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पुस्तक में तो दिल्ली का यमुना के किनारे पर स्थित होना लिखे और नक्शे में उसकी स्थिति गंगा के किनारे पर दिखाए ? संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही मनुष्य अल्पज्ञ होने के कारण उसकी व्याख्या न कर सके । जिन बातों को हम समझ नहीं पाते उन्हें हम जादू या चमत्कार का नाम दे देते हैं । अनेक मिथ्या विश्वासों के मूल में उनका सृष्टिक्रम के विरुद्ध होना पाया जाएगा । तीसरी कसौटी है—

आप्तोपदेश के अनुकूल—जो आप्त पुरुषों के उपदेश और आचरण के अनुकूल है वह सत्य और उसके विपरीत असत्य है । किसी कार्य में सर्वात्मना समर्पित व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र में अपने विषय की पूरी जानकारी रखनेवाला उस विषय में साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' कहलाता है । जो वस्तु जैसी हो

[प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण]

इनमें से [प्रथम] प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो-जो सूत्र नीचे लिखेंगे, वे-वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

—न्याय० अध्याय १। आह्निक १। सूत्र ४

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का, और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न

उसको निश्चयपूर्वक उसी रूप में जानना 'साक्षात्कार' कहाता है। ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर जब कोई व्यक्ति उस विषय की जानकारी दूसरे लोगों को देने लगता है तब वह उपदेष्टा है। उस रूप (उपदेष्टारूप) में उसके लिए छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, यथार्थवक्ता एवं सदाचारी होना आवश्यक है। उसकी कथनी और करनी एक-जैसी होनी चाहिए। ऐसे अर्थात् सत्यज्ञानी, सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी, परोपकारी और पक्षपातरहित विद्वान् जिस बात को मानें सबको मन्तव्य होने से वह सत्य और उसके विपरीत असत्य है। मनुस्मृति में **'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः'** वचन को धर्म कहकर इसी की पुष्टि की गयी है। चौथी कसौटी—

अपनी आत्मा के अनुकूल—जो अपने आत्मा को प्रिय लगे वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी काम में प्रवृत्त करता है तो जीव की इच्छा, ज्ञान आदि उसी में केन्द्रित हो जाते हैं। उसी क्षण आत्मा में बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उसके भीतर अन्तरात्मा की यह पुकार उतनी ही मुखर होती है। इसी भाव को कालिदास ने **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'** (शकु०) अर्थात् 'सन्देह की स्थिति में मनुष्य को अपने आत्मा की प्रवृत्ति को प्रमाण मानना चाहिए' कहकर व्यक्त किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी धर्म का सार बताते हुए कहा—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण किसी के प्रति कभी न करें। आगे चलकर **'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश'** के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे।"

सत्यासत्य के निर्णयार्थ पाँचवीं कसौटी है—

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होना—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से सिद्ध हो वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। 'प्रमाण' यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' (मा) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। **'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्'** अर्थात् ज्ञान का जो करण=साधन है वह प्रमाण कहाता है। इस प्रकार जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ निश्चितरूप से जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव में आठ प्रमाण हैं। किसी विषय को जानने के लिए आठों प्रमाणों की सम्मिलितरूप में अपेक्षा नहीं होती। कहीं एक प्रमेय (ज्ञान के विषय) में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है और किसी विषय में एक ही प्रमाण का प्रवृत्त होना सम्भव होता है।

होता है, वह, वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि—'तू जल ले आ'। वह लाके उसके पास धरके बोला कि—'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मँगवानेवाला नहीं देख सकता है, किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है, वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्दप्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम 'व्यभिचारी' है, सो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देखके कहा कि—'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है', 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त'। जब तक एक निश्चय न हो, तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं ॥

प्रत्यक्ष—बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न आत्मा का होता है, न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है। मन आन्तर साधन है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्यसाधन हैं।

आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को उस अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब बाह्य विषय का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रिय से, बाह्य इन्द्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का आत्मा से है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है। आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है।

ज्ञान की प्रक्रिया में आन्तर साधनरूप मन के बिना कोई कार्य होना सम्भव नहीं। सुषुप्ति में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है। उस समय इन्द्रियों और उनके अर्थों के होते हुए भी बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जाग्रदवस्था में भी एक साथ सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सन्निकर्ष होते हुए भी एक समय में सबका ज्ञान नहीं होता। जिस इन्द्रिय का मन के साथ संयोग होता है उसी इन्द्रिय के विषय का बोध होता है, किन्तु मन स्वयं जड़ है, इसलिए उसे ज्ञान नहीं हो सकता। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की भाँति आन्तर इन्द्रिय मन भी ज्ञानप्राप्ति में साधन है। ज्ञान तो चेतन आत्मा को ही होता है। वही मन को, मन के द्वारा इन्द्रियों को अपने-अपने काम में लगाकर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार ज्ञान के लिए आवश्यक है कि विषयों के साथ इन्द्रियों का, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष हो।

आत्मा से संयुक्त मन के द्वारा प्राप्त मन—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान निर्दोष हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह—

१—अव्यपदेश्य हो—शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना 'व्यपदेश' कहाता है। जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है वह 'व्यपदेश्य' कहाएगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली पहचान यह है कि वह अव्यपदेश्य हो, अर्थात् शब्द द्वारा उसका बोध कराया जा सके। प्रमाता को होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान शब्दनिरपेक्ष अर्थात् अव्यपदेश्य होता है। जो व्यपदेश्य है, वह प्रत्यक्ष न होकर शब्दज्ञान है जो शब्दप्रमाण का विषय है। संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान व्यपदेश्य होगा। 'जल' नामक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, 'ज-ल' इन दो अक्षरोंवाली संज्ञा का नहीं। यदि दो व्यक्तियों को किसी पदार्थ का उपभोग कराया जाए तो रस की अनुभूति दोनों की एक जैसी होगी—भले ही उनमें से एक उस पदार्थ के वाचक शब्द को जाननेवाला हो और दूसरा उससे सर्वथा अनभिज्ञ। अनुभूति में समानता होते हुए भी दोनों की अभिव्यक्ति भिन्न होगी।

दूसरा अनुमान—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ॥

—न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ५

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी वा एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान[1] होने

अनुभूति ही प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होगी, अभिव्यक्ति नहीं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती। वस्तुतः अनुभूत्यात्मक अर्थज्ञान का वाचक कोई ऐसा शब्द ही नहीं हो सकता जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जा सके।

२—अव्यभिचारी हो—अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ का ज्ञान हो जाना—जैसे झुटपुटे में टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर साँप समझ लेना या ग्रीष्म ऋतु में दूर तक फैले रेत को जल समझ लेना—व्यभिचारी ज्ञान कहाता है, जो पर्याप्त प्रकाश होने या निकट जाकर देखने पर नष्ट हो जाता है। जहाँ जिसका अभाव है वहाँ उसका दीखना व्यभिचारी ज्ञान है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता। रस्सी को रस्सी और रेत को रेत जानना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

३—व्यवसायात्मक हो—'व्यवसाय' पद का अर्थ है क्रिया का पूर्णरूप से सम्पन्न होना। ज्ञान के क्षेत्र में इस का अर्थ है—निश्चय पर पहुँच जाना अथवा सन्देहरहित हो जाना। इस प्रकार 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ हुआ— निश्चयात्मक। जब तक कोई 'वह मनुष्य है वा ठूँठ, वह देवदत्त है वा यज्ञदत्त ? अथवा 'यह बालू है या जल' की द्विविधा में ग्रस्त है तब तक उसका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आएगा। संशयरहित होकर निश्चयात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक होने पर ही वह प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाएगा।

गुणों का प्रत्यक्ष—इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों की अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि की सूचनामात्र हैं। मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग से **बुद्धि** उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं, किन्तु गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। **आशुगतित्वान्मनसः**—मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अनुमान—'अनुमान' शब्द का अर्थ है—**अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्** अर्थात् जिसका कोई एक देश अथवा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूरदेश से सहचारी का एकदेश (अवयव) से प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान होने को

---

१. इस का भाव यह है—पाठकशाला में धूम और अग्नि का साहचर्य देखने के पश्चात् दूर पर्वतादि देश में सहचारी धूम के दर्शन से अदृष्ट सहचारी अग्नि का ज्ञान होता है। और एकदेश=अवयव के प्रत्यक्ष होने से अवयवों में सम्बद्ध अवयवी का ज्ञान होता है।

को **'अनुमान'** कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक—**'पूर्ववत्'** जैसे बद्दलों को देखके वर्षा, विवाह को देखके सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहाँ-जहाँ कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो, वह 'पूर्ववत्'। दूसरा—**'शेषवत्'** अर्थात् जहाँ कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि-कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का, और सुख-दुःख को देखके पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा—**'सामान्यतोदृष्ट'** जो कोई किसी का कार्य-कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो। जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता। वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। **'अनुमान' शब्द का अर्थ** यही है कि **'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'** जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो। जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

'अनुमान' कहते हैं। आग और धुएँ को एकसाथ देखने अथवा लिंगी और लिंग के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर में एक का प्रत्यक्ष होने पर दूसरे को अनुमान से जान लिया जाता है। अनुमान के प्रयोग में निम्न प्रकार पाँच अवयवों का उपयोग किया जाता है—

१. प्रतिज्ञा—वहाँ आग है।
२. हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है।
३. दृष्टान्त—जैसे रसोईघर में।
४. उपनय—वैसा ही यहाँ है अर्थात् धुँआ दिखाई दे रहा है।
५. निगमन—धुआँ होने से वहाँ आग अवश्य है।

इस प्रकार वर्त्तमान में धुएँ का प्रत्यक्ष होने और लिंग-लिंगी सम्बन्ध की स्मृति होने से अप्रत्यक्ष अर्थ अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान हो जाता है। अनुमान तीन प्रकार का माना जाता है—

पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—कार्योन्मुख कारण को देखकर जब कार्य का अनुमान होता है तब पूर्ववत् अनुमान होता है, ज़ैसे—बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए इसे पूर्ववत् कहा गया है।

शेषवत्—जहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है, जैसे नदी में बाढ़ को देखकर ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का और सुख-दुःख को देखकर पाप-पुण्य के आचरण का—वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान भी शेषवत् अनुमान का उदाहरण है। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है।

समान्यतोदृष्ट—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है वहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यात्रा के बिना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए गतवर्ष वाराणसी में देखे गये देवदत्त को आज दिल्ली में देखकर हमें उसकी यात्रा

तीसरा उपमान—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० ६

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको **'उपमान'** कहते हैं। **'उपमीयते येन तदुपमानम्'**। जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि—'तू विष्णुमित्र को बुला ला'। वह बोला कि—'मैंने उसको कभी नहीं देखा'। उसके स्वामी ने कहा कि—'जैसा यह देवदत्त है वैसा ही वह विष्णुमित्र है'। वा 'जैसी यह गाय है वैसा[1] ही गवय अर्थात् नील गाय होता है।' जब वह वहाँ गया, और देवदत्त के सदृश पुरुष को देख निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है उसको ले आया। अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम गवय है॥

चौथा शब्दप्रमाण —

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० ७॥

(हमारे लिए अदृष्ट) का अनुमान हो जाता है। यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है। इसी प्रकार सूर्य को प्रातःकाल पूर्व में और सांयकाल पश्चिम में देखकर उसकी गति (लोकव्यवहार की भाषा के आधार पर) का अनुमान होता है। यहाँ कार्यकारणसम्बन्ध न होकर साधर्म्य के आधार पर अदृष्ट अर्थ का बोध होता है। गन्ध आदि गुणों के पृथिवी आदि अपने द्रव्यों में समवेत रहने की भाँति इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुण भी किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिएँ (क्योंकि प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होता है), इनका जो आश्रय द्रव्य है, वही आत्मा है। इस प्रकार गन्ध आदि की समानता के आधार पर इच्छा आदि गुणों से —उनके आश्रय के रूप में—आत्मा का अस्तित्व सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है।

उपमान—'उपमीयते येन तदुपमानम्'—अर्थात् जिसके समान किसी का कथन किया जाए वह उपमान होता है और जिसके विषय में कथन किया जाए वह उपमेय। दो पदार्थों में सादृश्य होने पर उपमान से काम लिया जाता है।

नीलगाय का गाय से सादृश्य बता दिये जाने पर इन चार अवयवों के प्रयोग से नीलगाय की पहचान होती है—

१. गवय नीलगाय के सादृश्य का ज्ञान।

२. जंगल में नीलगाय का प्रत्यक्ष।

३ पूर्वश्रुत गाय और नीलगाय की समानता की स्मृति।

४ पशुविशेष में गाय का सादृश्य देखकर उसके नीलगाय होने का निश्चय।

उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्य है, जिसे प्रसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष साम्य की संज्ञा दी गयी है—ऐसा साधर्म्य जो उपमेय को देखते ही उसका निश्चय करा देता है।

आप्तोपदेश—आप्त शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से निष्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ के यथार्थज्ञान का नाम **'आप्ति'** है। इसलिए किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहते हैं। पृथिवी से

---

१. 'गवय' के कारण पुंल्लिङ्ग निर्देश है।

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जो पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उपदेष्टा होता है, ऐसे पुरुष के उपदेश और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को '**शब्दप्रमाण**' जानो ॥

परमेश्वरपर्यन्त में से किसी पदार्थ का यथार्थज्ञानप्राप्त पुरुष आप्तजनों की कोटि में आता है। वह जैसा अपने आत्मा में जानता है और जिससे वह स्वयं सुख पा चुका है, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित होकर सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश करता है। ऐसे पुरुष का वचन ही शब्दप्रमाण माना जाता है। न्यायदर्शन (१।१।७) वात्स्यायनभाष्य में लिखा है—

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणम् अर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः।

अर्थात् आप्त कहलाने के लिए सत्य का साक्षात् दर्शन, उसका अनुभव व अनुष्ठान तथा मनुष्यमात्र के कल्याण की भावना से उसका उपदेष्टा होना आवश्यक है।

आप्त का लक्षण लिखने के बाद वात्स्यायन मुनि ने '**ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्**' ऐसा लिखा है। इसमें पठित ऋषि, आर्य और म्लेच्छ शब्दों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण में लिखा है—

"ऋषि नाम यथार्थ मन्त्रद्रष्टा, यथार्थ पदार्थों का विचार करनेवाले। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व में समुद्र और पश्चिम में समुद्र, इन चारों के अवधिपर्यन्त देश में रहनेवाले मनुष्यों का नाम आर्य है। इस देश से भिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्यों का नाम म्लेच्छ है। म्लेच्छ नाम निन्दित नहीं है, किन्तु '**म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे**' इस धातु से म्लेच्छ शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ यह है कि जिन पुरुषों के उच्चारण में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता, उनका नाम म्लेच्छ है।"

जगत् में अनेक प्रकार के प्रमाण आप्त प्रमाण के आधार पर चलते हैं। यदि हम अपने पूर्वजों के कथन पर विश्वास न करते और हर पीढ़ी सब-कुछ नये सिरे से करते तो मनुष्यजाति जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहती। आज भी हम अपने सीमित क्षेत्र में विशेष ज्ञान रखनेवाले अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा लोगों की सहायता से अपना काम चलाते हैं, किन्तु पूर्ण आप्त केवल परमेश्वर है। इससे उसका उपदेश—वेद स्वतःप्रमाण है तथा पूर्ण, नित्य एवं निर्भ्रान्त है।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्दप्रमाण दो प्रकार का है। शब्दप्रमाण से जाने गये जिस अर्थ को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके वह '**दृष्टार्थ**' है। किसी ने कहा कि मेरे घर में आम का पेड़ लगा है। वहाँ जाकर देखा तो आम का पेड़ खड़ा पाया। वक्ता का ऐसा कथन दृष्टार्थ शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है, क्योंकि उसके कथन की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गयी। शब्दप्रमाण से जाने गये जिस अर्थ में और कोई प्रमाण प्रवृत्त न हो सके वह '**अदृष्टार्थ**' शब्दप्रमाण कहाता है। वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध विधिवाक्य है—'**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छावाला यज्ञ करे। इस वाक्य से बोधित अर्थ को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह वैदिक वाक्य अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य के आधार पर किये शब्द-प्रमाण के विभाग में लौकिक वाक्य '**दृष्टार्थ**' और वैदिक वाक्य '**अदृष्टार्थ**' समझने चाहिएँ। दोनों को ही प्रमाण मानना चाहिए।

पाँचवाँ ऐतिह्य—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥[1]

—न्याय० अ० २ । आ० २ । सू० १

जो **इति ह** अर्थात् इस प्रकार का था, उसने इस प्रकार किया, अर्थात् किसी के जीवन-चरित्र का नाम 'ऐतिह्य' है ॥

छठा अर्थापत्ति—

'अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः' । **केनचिदुच्यते—'सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्य्यं भवतीति' किमत्र प्रसज्यते—'असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे च कार्य्यं न भवति'** जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'बद्दल के होने से वर्षा, और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है' । इससे विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि—'विना बद्दल वर्षा और विना कारण के कार्य्य कभी नहीं हो सकता' ॥

सातवाँ सम्भव—

'सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः' । कोई कहे कि—'माता-पिता के विना सन्तानोत्पत्ति हुई । किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तैराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे, और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया' इत्यादि सब बातें असम्भव हैं, क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं । जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही **'सम्भव'** है ॥

आठवाँ अभाव—

'न भवति यस्मिन् सोऽभावः' । जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'हाथी ले आ' । उसने वहाँ हाथी का अभाव देखकर जहाँ हाथी था वहाँ से ले आया ॥

ये आठ प्रमाण हैं । इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य, और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं ।[2]

इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्याऽसत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

ऐतिह्य—जिन बातों को परम्परा से कहते-सुनते चले आते हैं अथवा यत्र-तत्र ग्रन्थों में जिनका उल्लेख मिलता है, ऐसे प्रवादों अथवा कथानकों की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है । ऐतिह्य में प्रथम वक्ता का निर्देश नहीं रहता, इसलिए यह शब्दप्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता ।

अर्थापत्ति—किसी के एक बात कहने से जब दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाए तो वह 'अर्थापत्ति' कहाती है । यह कहने पर कि 'सत्यवादी का विश्वास किया जाता है' अथवा 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है कि 'झूठे का विश्वास नहीं किया जाता' अथवा 'कारण के बिना कार्य नहीं होता' । इस प्रकार का ज्ञान 'अर्थापत्ति' प्रमाण से प्राप्त होता है ।

सम्भव—जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है वह सम्भव और जो उसके विपरीत है वह असम्भव है ।

अभाव—पुरोवात के कारण बादलों के भारी वर्षा होनेवाले होने पर भी वर्षा का अभाव उनके विरोधी

---

१. सूत्रार्थ —ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव —इन चार के भी प्रमाण होने से प्रमाण केवल चार ही नहीं हैं। यहाँ यह सूत्र अन्य प्रमाणों का सद्भाव द्योतन करने के लिए पढ़ा है ।

२. शब्द ऐतिह्यानर्थान्तर्भावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः । —न्या०अ०२ । आ० २ । सू० २

[द्रव्य-गुणादि के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति][1]

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्ववज्ञानान्निश्रेयसम् ॥

—वैशेषिक अ० १ । आ० १ । सू० ४

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर, 'साधर्म्य' अर्थात् जो तुल्य धर्म है, जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़; वैधर्म्य' अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल । इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के तत्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से 'निःश्रेयसम्'=मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

प्रतिबन्धक 'विधारक-वात' का ज्ञान करा देता है । इस प्रकार 'अभाव' अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिना जाता है ।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने आठ प्रमाणों की प्रमाण संज्ञा मानी है ।

परन्तु न्यायदर्शन के उद्देशसूत्र (१।१।१) में चार प्रमाणों का उल्लेख मिलता है—**'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण हैं । शिष्य शंका करता है—**'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्'** (२।२।१) प्रमाणों का चार मानना ठीक नहीं, क्योंकि इनके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव ये चार प्रमाण और हैं । तब प्रमाण आठ माने जाने चाहिएँ । उद्देशसूत्र में इनका निर्देश न होना ठीक नहीं । सूत्रकार आचार्य ने शंका का समाधान करते हुए कहा कि यह ठीक है कि ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है, क्योंकि—**'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः'** (२।२।२) ऐतिह्य आदि का शब्द आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव होने से उद्देशसूत्रगत प्रमाणनिर्देशविषयक शंका ठीक नहीं है । ऐतिह्य शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है । शब्द का लक्षण किया गया है—**'आप्तोपदेशः शब्दः'** । ऐतिह्य आप्त का उपदेश है, यह असम्भावित नहीं है । इसमें केवल इतना अन्तर है—ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता, परन्तु इतने से उसके आप्तोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं रहती । इस प्रकार ऐतिह्य के शब्दरूप होने से उसे पृथक् नहीं पढ़ा गया।

अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं जाते । अनुमान में यही विशेषता है कि प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है । अर्थापत्ति में इसी प्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान हो जाता है, जो कहा नहीं गया है । बात यह कही गयी कि 'बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती' । इससे अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ कि 'बादलों के होने पर ही वर्षा होती है' । इसमें पहला कथन हेतु और दूसरा अकथित अर्थ साध्य है । यही अनुमान का स्वरूप है । इसी प्रकार सम्भव और अभाव की व्याख्या से उन दोनों का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए न्याय के उद्देशसूत्र में और ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विवेचन में कोई असामंजस्य अथवा किसी प्रकार का तात्विक भेद नहीं है ।

धर्मविशेषप्रसूतात्—(धर्मविशेषप्रसूतात्) धर्मविशेष में उत्पन्न हुए (द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया-

---

१. दूसरी परीक्षा सृष्टिक्रमानुकूल कही है । उसी सृष्टिक्रम का बोध कराने के लिए वैशेषिकदर्शन के अगले सूत्र अदधृत किये गये हैं ।

[द्रव्यों की गणना]

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥

— वै० अ० १ । आ० १ । सू० ५

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव **'द्रव्य'** हैं ॥

नाम्) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक (पदार्थानाम्) पदार्थों के (साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्) साधर्म्य और वैधर्म्यके साथ अथवा इस प्रकार के (तत्त्वज्ञानात्) तत्त्वज्ञान से (निःश्रेयसम्) निःश्रेयस—मोक्ष प्राप्त होता है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय —इन छह पदार्थों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ, धर्मविशेष से उत्पन्न हुए—तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । साधर्म्य और वैधर्म्य पदों में 'धर्म' पद का भाव है—विशेषता । पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उनकी साधारण एवं असाधारण विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है । इसी ज्ञान पर द्रव्यादि पदार्थों का यथार्थज्ञान आधारित है । इन पदार्थों में कौन-सी विशेषता किनमें समानरूप से पायी जाती है, तथा किनमें इनका वैपरीत्य रहता है, इसको यथार्थ में जान लेना द्रव्यादि-विषयक तत्त्वज्ञान है । वह तत्त्वज्ञान—जिससे निःश्रेयस की सिद्धि होती है—धर्मविशेष से उत्पन्न होता है । धर्मविशेष से उत्पन्न हुआ द्रव्यादि का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस मार्ग में उपयोगी होता है । मानसिक शक्तियों के साध लेने पर आत्मा एक दिव्य प्रतिभा से सम्पन्न हो जाता है । आत्मा का जो चमत्कारपूर्ण सामर्थ्य अब तक सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा था, वह इस साधना से जाग्रत् हो जाता है, और उस समय आत्मा एक दिव्य शक्ति से सम्पन्न होता है । मन को साधने की उस प्रक्रिया का नाम योग अथवा समाधि है । इस प्रक्रिया से आत्मा का जो दिव्य सामर्थ्य जाग्रत् हो जाता है, उसी को यहाँ 'धर्मविशेष' कहा गया है ।

इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से पदार्थों की सूक्ष्म स्थिति तक का जो यथार्थ ज्ञान होता है, वही द्रव्यादि का ऐसा तत्त्वज्ञान है, जो निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है । इसी तथ्य को सूत्र में **'धर्मविशेषप्रसूतात्........तत्त्वज्ञानान् निःश्रेयसम्'** इन पदों से यहाँ कहा गया है ।

वैशेषिकशास्त्र अपने रूप में विशुद्ध भौतिकी शास्त्र है, जिसमें भूततत्त्वसम्बन्धी विद्या का विवरण दिया गया है । अन्य भी अपेक्षित प्रासंगिक विवेचन है । भौतिक पदार्थों की नश्वरता का साक्षात् हो जाने पर अबये पदार्थ हमारे लिए साधनमात्र हैं, हम इनके लिए नहीं, हमें इनका दास नहीं होना चाहिए, प्रत्युत हमें महान् उद्देश्य व लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्हें अपना सहायक समझ उसी सीमा तक इनका उपयोग करना चाहिए—ऐसा बोध हो जाता है, तब सीधा अध्यात्म का मार्ग खुल जाता है । इस मार्ग पर प्रगति करते हुए जो महान् आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, ग्रन्थकार की तरह वे उस दशा में लोकोपकार की भावना से उच्चकोटि के ऐसे वाङ्मय का निर्माण कर जाते हैं, जिससे आगे आनेवाला समाज उनके अनुभवों से लाभान्वित होकर अपना मार्ग प्रशस्त कर पाता है । विविध प्रकार के शास्त्र इसी रूप में समय-समय पर बनते आये हैं और प्रकाशस्तम्भ का काम देते रहे हैं ।

पृथिव्यापस्तेजः—(पृथिवी) पृथिवी, (आपः) जल, (तेजः) अग्नि, (वायुः) वायु, (आकाशं) आकाश, (कालः) काल, (दिक्) दिशा, (आत्मा) जीवात्मा व परमात्मा, (मनः) मन (इति) ये अथवा इतने (द्रव्याणि) द्रव्य हैं ।

[द्रव्य का लक्षण]

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० १५

'क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहें, उसको **'द्रव्य'** कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं। **'समवायि=समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि प्राग्वृतित्वं कारणम्; समवायि: च तत्कारणं च समवायिकारणम्'**। **'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'**। जो मिलने के स्वभावयुक्त (समवायि) कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, उसी को **'द्रव्य'** कहते हैं[1]। जिससे लक्ष्य जाना जाए, जैसा आँख से रूप जाना जाता है, उसको **'लक्षण'** कहते हैं ॥

सूत्र में इनकी गणना का सूचक कोई संख्यापद नहीं है, किन्तु पृथक्-पृथक् नामोच्चारणपूर्वक बताये जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य नौ हैं। नामों के अन्त में 'इति' पद इनके विभक्त स्वरूप को, अथवा 'ये इतने ही हैं' इस भाव को अभिव्यक्त करता है। वैशेषिक में 'आत्मा' पदबोध्य द्रव्यतत्त्व जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं। इनमें संख्या की दृष्टि से जीवात्मा अनन्त और परमात्मा एकमात्र द्रव्य है। अन्तिम द्रव्य मन भी संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीवात्मा के साथ साधनरूप में एक मन सम्बद्ध रहता है। इसलिए जितने जीवात्मा होंगे उतने ही मन होंगे। इस प्रकार द्रव्यों की नौ संख्या केवल इनके वर्गीकरण की दृष्टि से है।

पृथिवी आदि को वैशेषिक में द्रव्य नाम क्यों दिया गया ? गम्भीरता से विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव की समस्त उन्नति और प्रणिमात्र के जीवन-निर्वाह का एकमात्र आधार पृथिव्यादि पदार्थ हैं। स्वयं वह प्राणी 'आत्मारूप' से इन्हीं के बीच प्रतिष्ठित है। 'द्रव्य' पद को वैशेषिक में कणाद ने पृथिवी आदि नौ वर्गीकृत तत्त्वों के लिए परिभाषित कर दिया है। इसलिए इस शास्त्र में 'द्रव्य' पद से इन्हीं का ग्रहण होगा, अन्य का नहीं।

क्रियागुणवत्—(क्रियागुणवत्) क्रिया=कर्मों का आश्रय और गुणों का आश्रय (समवायिकारणम्) समवायिकारण (सब उत्पन्न होनेवाले कार्यों का), (इति) यह (द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण—चिह्न है।

क्रिया और गुणों का जो अधिकरण—आश्रय है, वह द्रव्य है। कर्म अर्थात् क्रिया किसी द्रव्य में हो सकती है। विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष समस्त नित्य परमाणु आदि एवं अनित्य घट आदि द्रव्यों में क्रिया—गति आदि कर्म बराबर हुआ करते हैं। पृथिवी आदि द्रव्यों को छोड़कर गुण आदि पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं। इस लिए जहाँ क्रिया देखी जाए, समझ लेना चाहिए—यह द्रव्य है। किसी जगह क्रिया का होना, उसके द्रव्य होने का चिह्न है।

विभु द्रव्यों में क्रिया होना सम्भव नहीं, अतः सूत्रकार ने दूसरा अधिक व्यापक चिह्न बताया—**'गुणवत्'**—गुण का अधिकरण, गुणों का आश्रय। प्रत्येक गुण द्रव्य में आश्रित होकर आत्मलाभ करता है। द्रव्य के बिना गुण का रहना सम्भव नहीं। प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य में रहता है। जहाँ कहीं कोई गुण देखा जाए, समझ लेना चाहिए, इस गुण का जो आश्रय पदार्थ है, वह द्रव्य है।

'पदार्थधर्म्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ के द्रव्यपरिच्छेद में आचार्य प्रशस्तपाद मुनि ने किस-किस द्रव्य में

---

१. पूर्ण सन्दर्भ का भाव यह है कि 'जो क्रिया से युक्त, गुण से युक्त, और समवायिकारणवाला हो वह 'द्रव्य' कहाता है।

कौन-कौन-से गुण होते हैं, इसका विशद वर्णन किया है। उसके अनुसार—

पृथिवी—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या- परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवती । आपः—रूपरसद्रवत्वस्नेहसंख्या परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवत्यः । तेजः—रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् । वायुः—स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् । तत्राकाशस्य गुणाः—शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । कालः, तस्य गुणाः- संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । दिक्, तस्यास्तु गुणाः —संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । आत्मा, तस्य गुणाः— बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंख्यासंस्कारपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । मनः, तस्य गुणाः— संख्या परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः ।

अर्थात् पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार गुण हैं। जल में रूप, रस, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व तथा संस्कार गुण हैं। तेज (अग्नि) में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार गुण हैं। वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार गुण हैं। आकाश में शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। काल में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। दिक् (दिशा) में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। आत्मा में बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। मन में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार गुण हैं।

किस द्रव्य में कितने गुण रहते हैं, इसका संकलन किसी विद्वान् ने निम्न श्लोक में किया है —

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनस्तथैव च ॥

वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथिवी और जीवात्मा के चौदह-चौदह, दिशा और काल के पाँच-पाँच, आकाश में छह, परमात्मा में आठ और मन के आठ गुण माने गये हैं। इसे सरलता से समझने के लिए गुणों का क्रम इस प्रकार रक्खा जा सकता है—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (सांसिद्धिक, नैमित्तिक), गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (भावना, वेग, स्थितिस्थापक), शब्द ।

वायु के नौ गुण—स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवाँ वेग नामक संस्कार ।

तेज ११—रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दस और ग्यारहवां वेग नामक संस्कार ।

जल १४—रस से स्नेह तक तेरह और चौदहवाँ वेगस्थितिस्थापक नामक संस्कार । मध्यगत द्रवत्व (सांसिद्धिक) है ।

पृथिवी १४—गन्ध से गुरुत्व तक तेरह और चौदहवाँ संस्कार (वेग, स्थितिस्थापक दोनों) । मध्यगत द्रवत्व नैमित्तिक है ।

जीवात्मा १४—संख्या से विभाग तक पाँच, बुद्धि से संस्कार (भावना नामक) तक नौ ।

दिशा ५—संख्या से विभाग तक ।

काल ५—संख्या से विभाग तक ।

आकाश ६—संख्या से विभाग तक पाँच, छठा शब्द ।

महेश्वर ८—संख्या से विभाग तक पाँच, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ।

मन ८—संख्या से अपरत्व तक सात, आठवाँ संस्कार (वेगनामक) ।

कौन-सा गुण किन-किन द्रव्यों में रहता है, गुणों के क्रम से यह इस प्रकार समझना चाहिए—

गन्ध—केवल पृथिवी में ।

रस—पृथिवी और जल में ।

रूप—पृथिवी, जल और तेज में ।

स्पर्श—पृथिवी, जल, तेज, वायु में ।

संख्या से विभाग तक—सब द्रव्यों में ।

परत्व, अपरत्व—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में ।

द्रवत्व—जल में (सांसिद्धिक) पृथिवी, तेज में (नैमित्तिक) ।

गुरुत्व—पृथिवी, जल में ।

स्नेह—केवल जल में ।

बुद्धि से संस्कार (भावना) तक जीवात्मा में ।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न—जीवात्मा, परमात्मा दोनों में ।

वेग, संस्कार—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सबमें ।

स्थितिस्थापक—केवल पृथिवी में ।

शब्द—आकाश में ।

सब गुणों को दो भागों में विभक्त माना गया है—विशेष और सामान्य । विशेषगुण अपने आश्रय द्रव्य का लक्षण—चिह्न होता है । इसका निरूपण गुण-प्रसंग में किया गया है ।

किसी कार्य के आत्मलाभ के लिए उसके कारणों का पहले विद्यमान रहना आवश्यक है । यदि कारण न होगा तो कार्य का उत्पन्न होना सम्भव नहीं । इसलिए द्रव्य में क्रिया व गुण की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि क्रिया व गुण का कारणद्रव्य क्रिया और गुण की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहे । किसी भी कार्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है । उत्पन्न द्रव्य के आद्य क्षण में भी उस द्रव्य में उत्पन्न होनेवाले क्रिया व गुण की समवायिकारणता विद्यमान रहती है । यदि ऐसा न हो अर्थात् उसमें क्रिया व गुण को उत्पन्न करने की क्षमता न हो तो उसमें क्रिया व गुण का उत्पन्न होना सम्भव न होगा । इसलिए 'समवायिकारण होना' द्रव्य का निर्दोष लक्षण है । ग्रन्थकार ने **'प्राग्वृत्तित्वं कारणं, समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्' 'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'** द्वारा इसी का निर्देश किया है ।

रूपरस—(रूपरसगन्धस्पर्शवती) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली (होती है) (पृथिवी) पृथिवी ।

यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग सप्तमी अर्थ में अर्थात् अधिकरण में हुआ है, षष्ठी विभक्ति के अर्थ में

[पृथिव्यादि भूत द्रव्यों के लक्षण वा गुण]

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० १

रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाली **पृथिवी** है। उनमें रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० २

पृथिवी में गन्ध-गुण स्वाभाविक है। वैसे ही जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है॥

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० २॥

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल **'जल'** कहाता है, परन्तु इनमें जल का रस स्वाभाविक

नहीं। इसका तात्पर्य है—रूपादि गुण पृथिवी में रहते हैं अर्थात् पृथिवी रूपादि गुणों का आश्रय है। इस आश्रयाश्रितभाव का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। इस प्रकार पृथिवी समवायसम्बन्ध से रूपादि गुणों का आश्रय—आधार है। यह पृथिवी का लक्षण हुआ।

प्रस्तुत सूत्र में पृथिवी के चार गुणों का उल्लेख हुआ है। ये उसके 'विशेष गुण' हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि अन्य गुण 'सामान्य गुण' हैं, क्योंकि वे अधिकतर द्रव्यों में पाये जाते हैं। विशेष गुण वे कहे जाते हैं जिनके द्वारा उनके आधार पर द्रव्य का लक्षण किया जा सके। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श पृथिवी के विशेष गुण हैं। इनमें भी 'गन्ध' प्रधानरूप से पृथिवी का विशेष गुण है, क्योंकि यह अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता। इसलिए **'गन्धवती पृथिवी'** पृथिवी का यह लक्षण पूर्णरूप से अन्यनिरपेक्ष है।

व्यवस्थितः—(व्यवस्थितः) व्यवस्थित है (पृथिव्याम्) पृथिवी में (गन्धः) गन्ध।

पृथिवी में गन्धगुण विशेषरूप से अवस्थित है। केवल पृथिवी में गन्ध रहता है, और पृथिविमात्र में रहता है। पृथिवी और पार्थिव विकारों का ऐसा कोई भाग नहीं जहाँ गन्ध विद्यमान न हो। वस्तुतः गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, जबकि शेष गुण औपाधिक हैं, जैसे—रूप, रस और स्पर्श, अग्नि, जल और वायु के निमित्त अथवा योग से हैं। इसलिए 'गन्धवती' के समान 'रूपवती' या 'रसवती' कहकर पृथ्वी का लक्षण नहीं किया जा सकता।

रूपरसस्पर्शवत्यः—(रूपरसस्पर्शवत्यः) रूप, रस, स्पर्शवाले हैं (आपः) जल (द्रवाः) द्रव हैं (स्निग्धाः) स्निग्ध हैं। द्रवत्व गुणवाले हैं तथा स्नेह गुणवाले हैं।

इस सूत्र में जल के पाँच गुणों का उल्लेख हुआ है—रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्नेह। स्नेह गुण केवल जलवृत्ति है, अतः वह जल का निरपेक्ष विशेषगुण है। स्नेह वह गुण है जिसके कारण आटा, मिट्टी, सीमेंट आदि बिखरी हुई वस्तुएँ पिण्डीभूत हो जाती हैं।

द्रवत्व गुण जल में सांसिद्धिक माना गया है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है— जल का स्वतः द्रवरूप होना, किसी बाह्य निमित्त के कारण न होना। पृथिवी, तेज में द्रवत्व नैमित्तिक है। 'सांसिद्धिक द्रवत्व' जल के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में न रहने के कारण इसके द्वारा जल का लक्षण पूर्ण होता है। सांसिद्धिक द्रवत्व का जो समवायिकारण अथवा आश्रय है, वह जल है।

गुण तथा रूप, स्पर्श, अग्नि और वायु के योग से है ॥

अप्सु शीतता ॥ —वै० अ० २। सू० ५

और जल में शीतलत्व गुण भी स्वाभाविक है ॥

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ —वै० अ० २। आ० १ । सू० ३।

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह **'तेज'** है, परन्तु इनमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है॥

स्पर्शवान् वायुः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० ४

स्पर्श गुणवाला **'वायु'** है, परन्तु इसमें भी उष्णता, शीतता, तेज और जल के योग से रहते हैं ।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ —वै० अ० २ । आ० १ । सू० ५

रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श आकाश में नहीं हैं, किन्तु 'शब्द' ही **आकाश** का गुण है ॥

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ —वै० अ० २ । आ० १ । सू०२०

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह **'आकाश'** का लिङ्ग है ॥

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ —वै० अ० २ । आ० १ । सू० २५

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द स्पर्शगुणवाले भूमि आदि का गुण नहीं है, किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है ॥

अप्सु शीतता—(अप्सु) जलों में (शीतता) शीतस्पर्श (व्यवस्थित है) ।

लिङ्गविपर्यास के साथ यहाँ **'व्यवस्थितः'** पद २।२।३ से अनुवृत्त समझना चाहिए । तब अर्थ होगा—जल में शीतस्पर्श उसका स्वाभाविक गुण है, किसी अन्य के सहयोग से न आने के कारण औपाधिक नहीं है । जल के अतिरिक्त यदि कहीं द्रव्य में शीतस्पर्श उपलब्ध होगा तो वहाँ उसे औपाधिक समझना चाहिए ।

तेजो रूप— (तेजः) तेज अथवा अग्नि (रूपस्पर्शवत्) रूप व स्पर्शवाला है । तेज में भास्कर शुक्लरूप और उष्णस्पर्श समवेत रहते हैं । भास्कर शुक्लरूप का एवं उष्णस्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय तेज है, यह तेज का लक्षण स्पष्ट होता है । तेज में इन गुणों के उद्भावन (प्रकट होना), अनुद्भावन (प्रकट न होना) के आधार पर चार परिस्थिति देखने में आती हैं । १—जहाँ रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत रहते हैं, जैसे—सौर तेज तथा काष्ठादिप्रज्वलित अग्नि । २—जहाँ कथंचित् रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत रहते हैं, जैसे मानव आदि का चक्षु—तेज । ३—जहाँ रूप उद्भूत रहता है, स्पर्श अनुद्भूत जैसे—चन्द्रमा । ४—जहाँ रूप अनुद्भूत रहता है, स्पर्श उद्भूत, जैसे—तप्त पाषाण अथवा भर्जनपात्रस्थ बालू ।

स्पर्शवान्—(स्पर्शवान्) स्पर्शवाला है (वायुः) वायु ।

स्पर्शगुण तीन प्रकार का अनुभूत होता है—उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत । वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है । इस प्रकार के स्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय वायु है, यह वायु का लक्षण व स्वरूप स्पष्ट होता है ।

पृथिवी, जल, तेज और वायु चार द्रव्यों के लक्षण व स्वरूप का उपर्युक्त विवरण चार सूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया । वैशेषिकशास्त्र में समस्त कार्यजगत् के मूल उपादान के रूप में चार प्रकार के परमाणु माने गये हैं । इन्हीं परमाणुओं से बननेवाला समस्त विश्व व्यवहार में आता है । ये परमाणु 'पृथिवी, जल,

तेज, वायु' नाम से व्यवहृत होते हैं ।

त आकाशे—(ते) वे (आकाशे) आकाश में (न) नहीं (विद्यन्ते) रहते । वे-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श-गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते ।

'आकाश' पद काल आदि शेष सब द्रव्यों का उपलक्षण है । आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इन सभी द्रव्यों में रूपादि उक्त गुण नहीं रहते । केवल शब्द ही आकाश का गुण है ।

पृथिव्यादि चार द्रव्यों का विवेचन करने के अनन्तर क्रमप्राप्त 'आकाश' द्रव्य का निरूपण किया जाता है—

निष्क्रमणम्—(निष्क्रमणं) बाहर निकलना, (प्रवेशनं) बाहर से भीतर जाना, (इति) इस प्रकार की क्रिया का सम्भव होना (आकाशस्य) आकाश का (लिङ्गम्) चिह्न है ।

घर के भीतर-बाहर आना-जाना अथवा कहीं भी घूमना-फिरना यह क्रिया या गति ऐसे द्रव्य का अनुमान कराती है जो इन क्रियाओं के लिए अवकाश प्रदान करता है । न केवल क्रिया, प्रत्युत कोई भी मूर्त्त पदार्थ उस अवकाश के बिना आत्मलाभ करने में अक्षम रहता है, जो आकाश के अस्तित्व से प्राप्त होता है । यदि उस अवकाश को कोई एक मूर्त्त पदार्थ घेर लेता है तो उसमें दूसरे मूर्त्त पदार्थ का आना सम्भव नहीं । इस प्रकार सूक्ष्मतम मूर्त्त द्रव्यों से लेकर महान्-से-महान् मूर्त्त द्रव्यों तक की स्थिति ऐसे पदार्थ का अनुमान कराती है, जो इनके लिए अवकाश प्रदान करता है । वही द्रव्य आकाश है ।

कार्यान्तर—(कार्यान्तराप्रादुर्भावात्) कार्यान्तरों (अवयवों) से प्रादुर्भूत न होने के कारण (च) और (शब्द) शब्दगुण (स्पर्शवताम्) स्पर्शवाले द्रव्यों का (अगुणः) गुण नहीं है ।

स्पर्शवाले द्रव्य चार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु । पृथिवी आदि कार्यों में गन्ध आदि गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं । किसी कार्य—अवयवी में गन्ध, रस, रूपादि गुण उसके (अवयवी के) कारण-अवयवगत गन्ध, रस, रूपादि गुणों के समान देखे जाते हैं । आम में जो गन्ध, रस आदि हैं, उनके समान जातीय गन्ध-रस आम के अवयवों में उपलब्ध हैं । अवयवगत गन्ध-रस-कार्य अवयवी आम में अपने सजातीय गन्ध-रस के आरम्भक होते हैं । शुक्लपटगत शुक्लरूप पट के कारण तन्तु-अवयवगत शुक्लरूप के समानजातीय होता है, अर्थात् तन्तुकारणगत शुक्लरूप कार्यपट में अपने समानजातीय शुक्लरूप का आरम्भक होता है । यह स्थिति—कार्यगुण कारणगुणपूर्वक होता है (२।१।२४)—इस व्यवस्था के अनुसार है । इस प्रकार पृथिवी आदि में प्रकट न होने से शब्द आकाश ही का गुण है ।

अपरस्मिन्—(अपरस्मिन्) अपर में (अपरम्) अपर, (युगपत्) एक साथ (चिरम्) देर (क्षिप्रम्) जल्दी (इति) इस प्रकार (जो ज्ञान व व्यवहार होते हैं, वे) (काललिङ्गानि) काल के लक्षण हैं ।

काल की न्यूनता-अधिकता सूर्यादिसम्बन्धी न्यून-अधिक गतियों पर आधारित है । जिस पिण्ड का सम्बन्ध अन्य की अपेक्षा अधिक गतियों से रहा है, वह 'पर' कहा जाएगा, दूसरा अपर । यह 'पर' भी अन्य किसी की अपेक्षा 'अपर' है । ऐसे ही एक जगह 'अपर' उस अन्य की अपेक्षा 'पर' है जिसका सम्बन्ध सूर्यादि गतियों के साथ न्यून रहा है । इस प्रकार यह सब व्यवहार जिस द्रव्य से नियमित होता है, वह 'काल' है । लोक में साधारणतया यह कहते सुना जाता है—अमुक ने साठ दीवाली या होली देखी हैं, और उसने अभी केवल तीस, उनकी कैसी समानता ? यह व्यवहार कालकृत परत्वापरत्व का बोधक है । इसलिए जहाँ परत्वापरत्व का अस्तित्व है, वह काल के अस्तित्व को लक्षित करता है ।

[काल का लक्षण]

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० ६

जिसमें अपर, पर, युगपत्=एकवार, चिरम्=विलम्ब, क्षिप्रम्=शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको 'काल' कहते हैं ॥

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० ६

जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसलिए कारण में ही **'काल'** संज्ञा है।

[दिक्=दिशा का लक्षण और भेद]

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १०

यहाँ से यह पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर ऊपर-नीचे, जिसमें यह व्यवहार होता है, उसी को **'दिशा'** कहते हैं ॥

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १४

जिन अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दीख रही है, वह समानता काल के कारण है। यह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा हो गया, दोनों के सम्पन्न होने के काल की समानता में 'युगपत्' का व्यवहार होता है। जहाँ असमानता हो, वहाँ 'चिर' और 'क्षिप्र' का व्यवहार होता है। जहाँ देर लगे, वहाँ 'चिर', जहाँ जल्दी हो, वहाँ 'क्षिप्र'। यह जल्दी और देर का व्यवहार 'काल' पर आधारित है। यह 'काल' का लक्षण है।

नित्येष्वभावात्—(नित्येषु) नित्य पदार्थों में (अभावात्) न होने से (अनित्येषु) अनित्य पदार्थों में (भावात्) होने से (चिर, क्षिप्र, युगपत् आदि व्यवहार) (कारणे) कारण होने में (कालाख्या) काल का नाम (लिया जाता है) (इति) इस प्रकार अथवा प्रकरण की समाप्ति।

अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में **'भावात्'** पर्यन्त एक सूत्र और **'कारणे कालाख्येति'** यह दूसरा अतिरिक्त सूत्र माना है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में भी दो सूत्र हैं, पर दूसरे सूत्र में **'इति'** पद नहीं है।

आकाश, परमाणु आदि नित्य पदार्थों में—यह जल्दी हुआ, यह देर में हुआ, यह एकसाथ हुआ, यह पर है, यह अपर है—इत्यादि व्यवहार नहीं होता, परन्तु घट, पट आदि अनित्य पदार्थों में ऐसा व्यवहार होता है। इससे स्पष्ट है कि कार्यमात्र (चाहे वह कार्य द्रव्य, गुण, कर्म कुछ भी हो) के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त होता है, इसलिए कार्यमात्र का कारण काल को माना गया है।

विविध ऋतुओं के अनुसार विभिन्न वनस्पति, फूल, फल आदि का उत्पन्न होना काल के अस्तित्व का चिह्न है। वसन्त, हेमन्त आदि ऋतुएँ काल का स्वरूप हैं। इन पदों से काल का अभिव्यंजन होता है। 'इति' पद प्रकरण की समाप्ति का द्योतक समझना चाहिए।

इत इदमिति—(इतः) इधर से, यहाँ से (इदम्) यह है, (इति) इस प्रकार (का व्यवहार) (यतः) जिस (निमित्त) से (होता है) (तत्) वह (दिश्यं) दिक् का द्योतक (लिङ्गम्) लिङ्ग—लक्षण है।

लोक में सर्वत्र ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि अमुक वस्तु इधर से उतनी दूर अथवा समीप है, इधर है या उधर है। यह व्यवहार जिस निमित्त से होता है, उस निमित्त—दिशा नामक पदार्थ—का यह लिङ्ग है। इससे दिक् नामक पदार्थ पहचाना जाता है। लोक में प्रयुक्त 'दूर' और 'समीप' पदों के अर्थ के लिए

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको **पूर्व दिशा** कहते हैं और जहाँ अस्त हो, उसको **पश्चिम** कहते हैं। पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर **दक्षिण**, और बाँई ओर **उत्तर** दिशा कहाती है ॥

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १६

इससे पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा को **'आग्नेयी'**, दक्षिण-पश्चिम के बीच को **'नैर्ऋति'**, पश्चिम-उत्तर के बीच को **'वायवी'**, और उत्तर पूर्व के बीच को **'ऐशानी'** दिशा कहते हैं ॥

[आत्मा के लिङ्ग]

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० १

शास्त्र में 'पर-अपर' पदों का प्रयोग होता है। जैसे कालकृत परत्वापरत्व में बड़े-छोटे का बोध होता है, वैसे ही दिक्कृत परत्वापरत्व में दूर-समीप का बोध होता है। इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे आदि व्यवहार का जो निमित्त है, उसी का नाम 'दिक्' है।

आदित्यसंयोगात्—(आदित्यसंयोगात्) सूर्य के संयोग से (भूतपूर्वात्) पहले हुए-हुए (भविष्यतः) आगे होनेवाले (भूतात्) वर्त्तमान में हो रहे (च) और (प्राची) पूर्वदिशा।

सर्ग के आदिकाल से सूर्य एक निर्धारित दिशा में निकलता आया है और आगे आनेवाले काल में भी इसी प्रकार निकलता दिखाई देता रहेगा। अब वर्त्तमान में भी ऐसा ही दिखाई देता है। यह निर्धारित दिशा, जिधर सर्वप्रथम सूर्य सदा दिखाई देता है, प्राची दिशा कही जाती है। सूत्रकार ने तीनों कालों का निर्देश इसी प्रयोजन से किया कि ऐसी प्रतीति एवं व्यवहार में कभी विपर्यास नहीं होता। जिस ओर सबसे पहले सूर्य दिखाई देता है उस ओर को प्राची दिशा कहा गया। इसके ठीक उलटी ओर जब सूर्य दृष्टिगोचर होता है, वह प्रतीची—पश्चिम दिशा है—**'प्रत्यग् अञ्चति यस्यां सा'** पहले से ठीक उलटी दिशा में सूर्य प्राप्त हो वह पश्चिम दिशा है। दाएँ हाथ की ओर दक्षिण और बाएँ हाथ की ओर उत्तर—उदीची दिशा कहाती है। इसी प्रक्रिया का अवान्तर दिशाओं को समझाने के लिए सूत्रकार ने अतिदेश किया—

एतेन—(एतेन) इससे (दिगन्तरालानि) दिशाओं के अन्तराल—मध्य की अन्तर दिशाओं का (व्याख्यातानि) व्याख्यान समझ लेना चाहिए। प्राची, प्रतीची आदि दिशाओं के विवरण से उनके मध्यवर्ती अवान्तर दिशाओं को जान लेना चाहिए—

पूर्व और दक्षिण के अन्तराल की दिशा—आग्नेयी

दक्षिण और पश्चिम के अन्तराल की दिशा—नैर्ऋति

पश्चिम और उत्तर के अन्तराल की दिशा—वायवी

उत्तर और पूर्व के अन्तराल की दिशा—ऐशानी

एकमात्र दिक् (दिशा) द्रव्य के ये सब औपचारिक भेद हैं—केवल व्यवहार की सुविधा के लिए, पर इस प्रकार के अवान्तर विभागों की कोई सीमा नहीं है। व्यवहार-सिद्धि के लिए किन्हीं सीमित रेखाओं में इन्हें निर्धारित कर लिया गया है। यही दस दिशाओं के माने जाने का आधार है।

इच्छा-द्वेष—लोकव्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के विषय में सुख का अनुभव करता है तो वैसे पदार्थ को पुनः देखकर उसे लेना चाहता है। रसनेन्द्रिय से गृहीत आम्र-रस का—कालान्तर में चक्षु द्वारा वैसे आम्ररस को देखकर—स्मरण हो आता है और उस फल को लेने की

जिसमें इच्छा=राग, द्वेष=वैर, प्रयत्न= पुरुषार्थ, सुख, दुःख, ज्ञान=जानना गुण हों, वह **'जीवात्मा'** कहाता है ॥

'वैशेषिक' में इतना विशेष है—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

—वै० अ० ३। आ० २। सू० ४॥

प्राण=भीतर से वायु को बाहर निकालना, अपान=बाहर से वायु को भीतर लेना, निमेष=आँख को नीचे ढाँकना, उन्मेष=आँख को ऊपर उठाना, जीवन=प्राण का धारण करना, मनः=मनन, विचार अर्थात् ज्ञान, गति=यथेष्ट गमन करना, इन्द्रिय=इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना, अन्तर्विकार=क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब **आत्मा के लिङ्ग** अर्थात् कर्म और गुण हैं ॥

[मन का लिङ्ग]

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० १६

इच्छा होती है। चक्षु द्वारा फल को देखकर लेने की इच्छा उसी को होती है, जिसने पहले उसका रसास्वादन किया होता है। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करनेवाला, इन दोनों इन्द्रियों से अतिरिक्त, किन्तु सम्बद्ध; जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस प्रकार इच्छा का होना आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है।

ऐसे ही जिस पदार्थ के सम्बन्ध से किसी को दुःख पहुँचता है, उसके प्रति द्वेष की भावना उभरने से उससे दूर होना चाहता है और जिसके सम्बन्ध से सुख पहुँचता है, उसे देखकर उसके प्रति राग होने से उसे प्राप्त करना चाहता है। यह सब अनेक अर्थों के द्रष्टा व अनुभविता एक चेतन तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार सुखसाधन पदार्थों के आदान में प्रयत्न के समान दुःखसाधन पदार्थों के परित्याग में प्रयत्न भी आत्मा के अस्तित्व का लिङ्ग—लक्षण है।

विभिन्न इन्द्रियाँ अपने नियत एक-एक विषय के ग्रहण करने में समर्थ हैं। स्वयं इन्द्रियों के द्रष्टा माने जाने पर—एक देह में हुए ज्ञान का अन्य देह से प्रतिसन्धान न होने के समान—एक इन्द्रिय से ज्ञात विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं। इससे अनेक विषयों के द्रष्टा एक आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध है।

इस प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान से देह इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त जीवच्चेतन=आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्राणापान—शरीर के भीतर संचरण करनेवाला वायु ऊर्ध्वगामी और अधोगामी रहता है। नासिका-द्वार से वायु भीतर जाता और बाहर आता है। कभी-कभी अपेक्षा होने पर कुछ काल तक मुखद्वारा वायु बाहर-भीतर आता-जाता रहता है। यह सब नियमित व्यवस्था शरीर में किसी चेतन अधिष्ठाता के प्रयत्न आदि के बिना सम्भव नहीं। जड़ वायु का स्वभाव तिर्यग् गति (तिरछा चलना) रहता है, परन्तु, देह में ऊर्ध्वगामी और अधोगामी प्राण-अपान की व्यवस्था देह में चेतन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

भीतर से वायु को बाहर निकालना 'प्राण' और बाहर से वायु को भीतर लेना 'अपान' कहाता है। प्राण-अपान के इन शुद्ध अर्थों को संस्करण ३ में उलटकर प्राण के स्थान पर अपान और अपान के स्थान

पर प्राण कर दिया गया। ऐसा ही पाठ-परिवर्त्तन सप्तम समुल्लास में भी इस सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया। दोनों स्थलों में इस प्रकार परिवर्तित पाठ १४-१५ संस्करणों तक निरन्तर छपता रहा। प्राचीन शास्त्रों से अनभिज्ञ जन ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत प्राण-अपान के अर्थों को अशुद्ध समझते रहे। ग्रन्थकार ने वर्त्तमान संस्करण में उपलब्ध अर्थ यजुर्भाष्य २२।२३, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (**शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः, बाह्याद् देशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः**'—वेदोक्तधर्मविषयः) तथा पत्रव्यवहार पृष्ठ ६६ (द्वितीय संस्करण) में भी लिखा है। सायण ने भी अथर्व० १८।२।४६ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—'**मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः प्राणः, अन्तर्गच्छन्नपानः**'। यही प्राचीन शास्त्रसम्मत अर्थ है। ऋषि ने इन पदों की व्याख्या योगशास्त्र के मन्तव्यों के अनुसार की है। वे स्वयं योगी थे। उन्हें 'प्राण' और 'अपान' की उन स्थितियों एवं वास्तविकताओं का अनुभव था। साधारण जन इन विषयों की जानकारी न होने से अनायास भ्रम में पड़ सकते हैं। प्राण-अपान की यही व्याख्या अन्यत्र प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों ने की है। इस निमित्त कुछ प्रसंग यहाँ उद्धृत करते हैं—

१—गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के योगाङ्क (वर्ष १० अंक १, अगस्त १६३५) में एक लेख 'प्राणायाम' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक हैं—स्वामी श्री कृष्णानन्दजी। यह लेख पृष्ठ ५५४ पर आरम्भ होता है। लेखक ने प्रारम्भ में लिखा है—"हठयोग का लक्षण शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है—

हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

फुफ्फुस में से उच्छ्वासरूप से बाहर आनेवाले वायु को 'प्राण' और 'ह' कहते हैं। उष्ण होने के कारण इसका नाम सूर्य भी है, बाहर से जो वायु श्वासरूप में भीतर फुफ्फुसों में खींचा जाता है, वह 'अपान' और 'ठ' है। शीतल होने के कारण उसे 'चन्द्र' नाम भी देते हैं। इसी सूर्य और चन्द्र अर्थात् प्राण-अपान की क्रिया के नियमित संयोग को हठयोग कहते हैं। इस हठयोग का फल राजयोग की प्राप्ति है। इसलिए कहा है—**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते**। —हठयोगप्रदीपिका १।२"

२—मैत्रायणी उपनिषद्, प्रपाठक २ की ७वीं कण्डिका में निम्नलिखित पाठ उपलब्ध होता है—"**अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः**।"

इस सन्दर्भ की उपनिषद् में ब्रह्मयोगी विरचित व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध है—"**अथ योऽयं वायुः नासाद् ऊर्ध्वमुत्क्रमत्येष वाव स प्राणः। अथ योऽयं बाह्यनासिकारन्ध्राद् अवाङ् संक्रामति एष वाव सोऽपानः**।" [अड्यारसंस्करण]

जो वायु फुफ्फुस प्रदेश से ऊपर की ओर फेंका जाता है और नासिकाद्वार से बाहर को उत्क्रमण करता है, वह 'प्राण' है, जो वायु बाहर की ओर से नासिकारन्ध्र से होकर नीचे फुफ्फुसों की ओर संक्रमण करता है, वह 'अपान' है। उक्त उपनिषद् सन्दर्भ और उसकी व्याख्या का यही अभिप्राय है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि 'श्वास' का नाम 'अपान' और 'उच्छ्वास' का नाम 'प्राण' है। इसी आशय का लेख मैत्रायणीय आरण्यक (२।६) में भी उपलब्ध होता है।

३—अथर्ववेद के प्राणसूक्त (११।४) की दो ऋचाएँ उपर्युक्त भाव को स्पष्ट करती हैं। इस सूक्त की साठवीं ऋचा इस प्रकार है—

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः ....॥

इस मन्त्र में ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वार्द्ध के **'प्राणते'** और **'अपानते'** पदों का यथाक्रम सम्बन्ध उत्तरार्द्ध के **'पराचीनाय'** और 'प्रतीचीनाय' पदों के साथ है । चतुर्वेदभाष्यकार श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने उत्तरार्द्ध के दो पदों की व्याख्या इस प्रकार की है—

(पराचीनाय) पराङ्मुख देह से बाहर आते हुए,

(प्रतीचीनाय) अपनी तरफ़ आते हुए, देह के भीतर आते हुए ।

इस व्याख्या को लक्ष्य कर इन पदों का जब हम पूर्वार्द्ध के उक्त पदों के साथ सम्बन्ध पर विचार करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि पराङ्मुख अर्थात् देह से बाहर जाता हुआ वायु 'प्राण' है । इसी प्रकार प्रतीचीन अर्थात् बाहर से देह के भीतर की ओर आते हुए वायु का नाम 'अपान' है ।

इसी सूक्त का एक और मन्त्र इस प्रकार है—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥

गर्भस्थित बालक के शरीर में प्राणरूप वायुक्रिया नहीं होती । जैसे ही गर्भ परिपुष्ट होकर यथाकाल बालक-शरीर बाहर आता है, तब 'बालक उत्पन्न हुआ' ऐसा व्यवहार होता है। उसी समय बालक-देह में प्राणरूप वायुक्रिया का आरम्भ होता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि वायु की पहली क्रिया 'अपानति' है, उसके अनन्तर 'प्राणति' क्रिया होती है। जब तक बाहर का वायु बाह्यनासाद्वार से भीतर फुफ्फुसों में नहीं पहुँचेगा, तब तक भीतर की ओर से वायु के आने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'अपानति' वह क्रिया है जिसमें बाहर से वायु भीतर आकर फुफ्फुसों में पहुँचता है, इसी कारण उस वायुक्रिया का नाम 'अपान' है। जब वायु अन्दर फुफ्फुसों में पहुँच जाता है, तब वही वायु दूसरी क्रिया के रूप में उलट जाता है, वह क्रिया है—'प्राणति' । वह फुफ्फुसगत वायु नासाद्वार से बाहर को फेंक दी जाती है, फलतः इस क्रिया का नाम प्राण है। जब तक वायु बाहर से अन्दर नहीं जाएगा तब तक अन्दर से बाहर नहीं आ सकता। इस कारण मन्त्र में 'अपानति' 'प्राणति' इन क्रिया-पदों का क्रमिक प्रयोग इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है कि जो वायु बाहर से भीतर जाता है, वह 'अपान' और जो भीतर से बाहर आता है, वह 'प्राण' है।

निमेष-उन्मेष—आँख की पलकों का झपकना 'निमेष' और खोलना 'उन्मेष' कहाता है । पलकों में यह नियमित चेष्टा बिना चेतन की इच्छा व प्रयत्न के सम्भव नहीं । कभी इच्छा होने पर किसी वस्तु को अपलक=एकटक देखने की भावना से निमेष-उन्मेष की क्रिया बन्द होती देखी जाती है । जड़ का स्वाभाविक धर्म होने पर ऐसा नहीं हो सकता, अतः निमेष-उन्मेष शरीर से भिन्न, किन्तु शरीर में, आत्मा के अस्तित्व के लिङ्ग हैं ।

जीवन—शरीर में प्राण-धारण की स्थिति का नाम जीवन है । जीवन रहते शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्न संरोहण आदि देखा जाता है । खाल छिल जाने या खरोंच आदि आजाने पर आन्तर शरीर-क्रियाओं से वह भाग स्वतः ठीक हो जाता है । यह सब जीवनकाल में सम्भव है । इससे देह में देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व की विद्यमानता प्रमाणित होती है ।

मनोगति—इन्द्रियविशेष के साथ मन का सान्निध्य ज्ञानोत्पत्ति का निमित्त है । यह मन की गतिविशेष

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण ज्ञान नहीं होता, उसको **'मन'** कहते हैं ॥

यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा । अब 'गुणों' को कहते हैं—

[गुणों की गणना]

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयःसुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥

वै० अ० १। आ० १। सू० ६॥

से होता है । ज्ञाता प्रणिधानपूर्वक अभिमत इन्द्रिय के प्रति मन को प्रेरित करता है । यह सब प्रेरण व निवेशन शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर सम्भव है । इस सम्बन्ध के छूटते ही प्राण-अपान आदि सब अन्तर्हित हो जाते हैं । इससे देह में देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है ।

इन्द्रियान्तरविकार—एक बार आम के विशेष रूप को देखा और साथ ही रसना से उसके मधुर रस का आस्वादन किया । कालान्तर में चक्षु से देखे आम का प्रत्यक्ष होने पर आम के पूर्वास्वादित मधुर रस का स्मरण होने से मुँह में पानी आ गया । आँख और रसना दोनों भिन्न करण हैं । तब एक को दूसरे के ग्रहण किये का स्मरण कैसे हो आया ? निश्चय ही एक ऐसी सत्ता है जो दोनों के ग्राह्य विषय का अनुभव करती है । तभी चक्षु से ग्राह्यरूप को देखकर रसना से पूर्वास्वादित रस का स्मरण कर मुँह में पानी भर आता है । यह स्थिति चक्षु और रसना से अतिरिक्त दोनों विषयों के भोक्ता चेतन आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करती है ।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—सुख आदि गुण हैं । गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं । पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से ये किसी के गुण नहीं हैं । गत सूत्र में 'ज्ञान' आत्मा का गुण सिद्ध किया है । उसी प्रक्रिया से सुख आदि को आत्मा का गुण समझ लेना चाहिए । ये गुण किसी अचेतन द्रव्य के नहीं हो सकते । इसीलिए इनके आश्रयरूप में आत्मा द्रव्य की सिद्धि होती है ।

युगपज्ज्ञान—एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिङ्ग (लक्षण) है । यद्यपि स्मृति, अनुमान, शब्दप्रमाण आदि के द्वारा भी ज्ञान आत्मा को होता है, गन्ध आदि बाह्य अर्थ को जाननें के लिए साधन है—घ्राण आदि इन्द्रियाँ । इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही आत्मा को उस विषय का ज्ञान होता है । जिस समय एक इन्द्रिय का अपने विषय से सन्निकर्ष रहता है, उसी समय अन्य इन्द्रियों का भी अपने-अपने ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष सम्भव है । ऐसी दशा में प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान एक समय में हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं । गन्धज्ञान के समय रूपज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार रूपज्ञान के समय अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों का ज्ञान नहीं होता । इससे निश्चय होता है कि कोई साधन है जो ज्ञान के होने में सहयोगी है—**'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'**, जिसके बिना कोई क्रिया नहीं होती । जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष होता है, उस समय में उसी इन्द्रिय से ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होता है । वह सहयोगी साधन मन है । परिमाण की दृष्टि से मन अत्यन्त अणु है, इसलिए उसका अनेक इन्द्रियों से एक समय में संयोग सम्भव नहीं । इस प्रकार एक समय में अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण कहा गया है ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक कार्य में गम्भीरता से लगा हुआ पुरुष अपने सामने या समीप से जानेवाले व्यक्ति को नहीं जान पाता, यद्यपि उसकी आँखों का उससे सन्निकर्ष रहता है । स्पष्ट है ऐसे

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, [1]गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये '**२४ गुण**' कहाते हैं ॥

'**गुण**' उसको कहते हैं कि—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० १६॥

जो द्रव्य के आश्रय रहे, अन्य गुण का धारण न करे, संयोग और विभाग में कारण न हो, अनपेक्ष अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न करे, उसका नाम '**गुण**' है ॥

अवसरों पर मन जिस अन्य इन्द्रिय के साथ आसक्त है, उसी के ग्राह्य विषय का बोध होता है। किसी के द्वारा बार-बार पुकारे जाने पर उस पुकार को न सुन पाने का भी यही कारण है। इस प्रकार आत्मा, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ का परस्पर सन्निकर्ष होने पर भी कभी ज्ञान का होना और कभी न होना —इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि मन को एक समय में एक से अधिक ज्ञान नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि नर्त्तकी द्वारा नृत्य प्रस्तुत करने के अवसर पर कर, चरण, मुख, नेत्र, अंगुली आदि देहांगों की अनेक प्रकार की चेष्टा एक समय में अथवा एक साथ होती देखी जाती है, जो निश्चय ही ज्ञान और तदनुसारी प्रयत्नपूर्वक होती है। ऐसी दशा में ज्ञान का युगपत् न होना कैसे माना जा सकता है?

वस्तुतः नर्तकी का कर-चरणादि चालन युगपत् न होकर क्रमिक ही होता है, पर मन की गति इतनी तीव्र व चंचल होती है कि उसके क्रम को अनायास पकड़ पाना सम्भव नहीं होता है। इसी कारण अनेक चेष्टाओं के युगपत् होने का भ्रम होता है। यन्त्र का एक चक्र एक मिनट में सहस्र बार घूम जाता है, पर देखनेवाले को वह स्थिर जैसा दीखता है, यद्यपि प्रत्येक क्षण में असंख्य बार अपना स्थान-परिवर्त्तन करता है। मन की गति तो इन आशुगामी भौतिक साधनों से सहस्रों गुणा अधिक है, फलतः नर्त्तकी का अंगचालन क्रमिक रहता है, पर वह क्रम अतिसूक्ष्म व तीव्र होने से पकड़ में नहीं आता, अतः एक काल में अनेक ज्ञानों का होना भ्रममात्र है।

रूपरसगन्ध—प्रस्तुत सूत्र में रूप, रस आदि सत्रह गुणों का उल्लेख है। लोकप्रसिद्ध सात अन्य गुणों का निर्देश सूत्रगत 'च' पद से किया गया है। वे सात गुण हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। पहले समस्त (समासयुक्त) पद से इकट्ठे चार गुणों का निर्देश किया है—रूप, रस गन्ध, स्पर्श। चारों को एक ही पद में कहने का तात्पर्य व्याख्याकार आचार्यों ने यह समझा है कि ये चारों गुण ऐसे हैं जो उसी द्रव्य में नित्य भी हैं और अनित्य भी। पृथिव्यादि परमाणु में वे गुण नित्य हैं, और कार्यरूप पृथिव्यादि में अनित्य, परन्तु इस विषय में मतभेद है।

गुरुत्व—भारीपन, द्रवत्व—पिघलापन, स्नेह—बिखरे द्रव्य या पदार्थ को पिण्डरूप बना देने की क्षमता। संस्कार के तीन अवान्तर भेद हैं—वेग, स्थितिस्थापक, भावना। हाथ से फेंका गया पत्थर, बन्दूक से निकली गोली, धनुष् से छोड़ा गया बाण एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना प्रयत्न के चले जाते हैं, इसमें वेग नामक संस्कारगुण निमित्त होता है। पेड़ की टहनी को झुकाकर छोड़ देने से टहनी स्वतः अपने

१. गुरुत्वादि गुण सूत्रस्थ 'च' शब्द से संगृहीत किये जाते हैं। द्र० —'च शब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्ट-(धर्माधर्म)-शब्दाः सप्त'। प्रशस्तपाद-भाष्य।

[1]**श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥**

—महाभाष्य १।१।१

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति, जो बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, और प्रयोग से प्रकाशित तथा आकाश जिसका देश है, वह '**शब्द**' कहाता है ॥

[2]नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह **रूप**, जिह्वा से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता वह **रस**, नासिका से जिसका ग्रहण हो वह **गन्ध**, त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह **स्पर्श**, एक, द्वि इत्यादि गणना

स्थान पर पहुँच जाती है, इसका निमित्त स्थितिस्थापक नाम का संस्कार-गुण है। किसी प्रकार के कार्य या अनुष्ठान से जो प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, वह भावना नामक संस्कार-गुण है, धर्म—पुण्यकर्म , अधर्म—पापकर्म और शब्द—प्रसिद्ध ध्वनिरूप है। सूत्र में **'संख्या'** पद बहुवचनान्त निर्दिष्ट है। यह संख्या की अनेकता या अनन्तता का द्योतक है। एकत्व संख्या केन्द्रभूत है, इसको बढ़ाते जाएँ तो उसका अन्त नहीं, घटाते जाएँ तो उसकी सीमा नहीं। इसी प्रकार **'परिमाणानि'** पद बहुचनान्त है। वस्तुतत्त्व अनन्त हैं, उनके परिमाण भी अनन्त हैं। बहुवचन इसी का संकेत करता है। **'पृथक्त्व'** गुण का एकवचन से निर्देश किया है। चाहे पृथक्त्व दो का कहा जाए अथवा अधिक का, पृथक्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। एक-दूसरे से 'अलगपना' सब जगह एक-सा रहता है।

'संयोगविभागौ', **'परत्वापरत्वे'**, **'सुखदुःखे'**, **'इच्छाद्वेषौ'** ये सब द्वन्द्व=जोड़े हैं। संयोग का अभाव वियोग है, अथवा विभाग का अभाव संयोग है, ऐसा नहीं है। इन दोनों की स्वतन्त्र व वास्तविक सत्ता है, पर दोनों एक-दूसरे से विपरीत हैं। शेष जोड़ों की भी यही स्थिति है। सूत्र में **'बुद्धयः'** पद बहुवचन में होने से वह ज्ञान की अनन्तता को अभिव्यक्त करता है। यही व्यवस्था **'प्रयत्नाः'** इस बहुवचनान्त प्रयोग की है।

द्रव्याश्रय्य—द्रव्याश्रयी जो पदार्थ स्वभावतः गुण में आश्रय पाता हो अर्थात् जो पदार्थ समवायसम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण है। गुण का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि जितने कार्यद्रव्य हैं, वे सब समवायसन्बन्ध से अपने कारणद्रव्यों में आश्रित रहते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए सूत्रकार ने अगला पद पढ़ा—**अगुणवान्**। गुण में समवाय से गुण नहीं रहता, कार्यद्रव्य में गुण रहता है। तात्पर्य हुआ—जिस पदार्थ में समवायसम्बन्ध से गुण न रहते हों, वह गुण है। इसलिए कार्यद्रव्य द्रव्याश्रयी होता हुआ भी गुणों का आश्रय है।

संयोगविभागेष्वकारणम्—संयोग-विभाग में कारण न हो। कर्म द्रव्याश्रित है और अगुणवान् है— लक्षण गुण का किया, पर कर्म में भी घटित हो गया। इससे कर्म में अतिव्याप्ति बनी रही। इस दोष से बचाने के लिए सूत्रकार ने कहा—**संयोगविभागेषु अकारणम्**—जो द्रव्याश्रित और अगुणवान् होता हुआ, संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो, वह गुण है। पर संयोग-विभाग संयोगज संयोग और विभागज विभाग की उत्पत्ति में कारण हैं, इसलिए संयोग और विभाग गुण नहीं रहेंगे, पर इन्हें २४ गुणों के अन्तर्गत गुण

---

१. 'श्रोत्रोपलब्धि ....'शब्द कहाता है' इन चार पङ्क्तियों का शब्द का स्वरूपबोधक पाठ अगले 'नेत्र से जिसका ग्रहण' सन्दर्भ के अन्त में 'कोमलतादि' पाठ के पश्चात् और 'ये चौबीस गुण हैं' से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि शब्द की गणना इसके अन्त में की है।

२. यहाँ से आगे 'रूपरसगन्धस्पर्शाः...' सूत्रगत शेष रूपादि की व्याख्या जाननी चाहिए।

जिससे होती है वह **संख्या**, जिससे तोल अर्थात् हल्का-भारी विदित होता है वह **परिमाण**, एक-दूसरे से अलग होना वह **पृथक्त्व**, एक-दूसरे के साथ मिलना वह **संयोग**, एक-दूसरे के मिले हुए के अनेक टुकड़े होना वह **विभाग**, इससे यह परे है वह **पर**, उससे यह उरे है वह **अपर**, जिससे अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है वह **बुद्धि**, आनन्द का नाम **सुख**, क्लेश का नाम **दुःख**, **इच्छा**=राग, **द्वेष**=विरोध **प्रयत्न**=अनेक प्रकार का बल-पुरुषार्थ, **गुरुत्व**=भारीपन, **द्रवत्व**=पिघल जाना, **स्नेह**=प्रीत और चिकनापन, **संस्कार**=दूसरे के योग से वासना का होना, **धर्म**=न्यायाचरण और कठिनत्वादि, **अधर्म**=अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलतादि ये चौबीस गुण हैं ॥

[कर्म के भेद और लक्षण]

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० ७

'उत्क्षेपण'=ऊपर को चेष्टा करना, **'अवक्षेपण'**=नीचे को चेष्टा करना, **'आकुञ्चन'**=संकोच करना, **'प्रसारण'**=फैलाना, **'गमन'** आना-जाना-घूमना आदि, इनको **'कर्म'** कहते हैं ॥

अब कर्म का लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम् इति कर्मलक्षणम् ॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० १७

'एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यं, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिन् वा तदगुणं, संयोगेषु विभागेषु

नाम से अभिहित किया गया है। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए सूत्रकार ने कहा—**'अनपेक्षः'**। तात्पर्य यह कि संयोग और विभाग की उत्पत्ति में जो अन्य की अपेक्षा न रखता हुआ कारण न हो, अर्थात् सापेक्ष कारण हो, वह गुण होगा। संयोग और विभाग संयोगज-संयोग और विभागज-विभाग की उत्पत्ति में अन्य-सापेक्ष कारण हैं, अतः वे गुण की श्रेणी में बने रहेंगे। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गुण का लक्षण हुआ—द्रव्याश्रित, अगुणवान् होते हुए जो संयोग-विभागों की उत्पत्ति में अनपेक्ष अकारण हो, वह गुण है। इसका निष्कर्ष निकालकर व्याख्याकारों ने गुण का लक्षण इस रूप में किया है—द्रव्य और कर्म के अतिरिक्त जो पदार्थ सत्तासामान्य का आश्रय हो, वह गुण है।

श्रोत्रोपलब्धिः—शब्द का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में लिखा है—**"श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्यः, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्**—अर्थात् कान से सुनके जिसका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाना जाता है, जो वागिन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होता है और जिसका निवासस्थान आकाश है, उसे शब्द कहते हैं।

—(वेदानां नित्यत्वविचारः)

उत्क्षेपणम्—इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा किसी वस्तु में ऊपर की ओर जो क्रिया या प्रवृत्ति होती है, वह 'उत्क्षेपण' नामक कर्म है। हाथ में लेकर गेंद फेंकी जाए तो वह उत्क्षेपण है, किन्तु यदि प्रयत्नपूर्वक नीचे की ओर फेंकने पर तीव्र आघात पाकर स्वयं ऊपर की ओर उछल जाए तो वह उत्क्षेपण न होकर सामान्य गतिरूप क्रिया होगी, क्योंकि वहाँ इच्छा का अभाव है। इसी प्रकार मूसल को ऊपर उठाकर निम्नस्थित वस्तु पर चोट करने की इच्छा से प्रयत्नपूर्वक उसे नीचे की ओर लाने की क्रिया अवक्षेपण नामक कर्म है, किन्तु यदि मूसल को ऊपर उठाकर अधर में छोड़ दिया जाए तो उसका नीचे की ओर गति करके स्वतः गिर जाना अवक्षेपण न होकर सामान्य गति या क्रिया होगी, क्योंकि उसमें इच्छापूर्वक प्रयत्न का अभाव है।

चाऽपेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम्' । अथवा—'**यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्, कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्'** एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित, संयोग और विभाग होने में जो अपेक्षारहित कारण हो, उसको **'कर्म'**[1] कहते हैं ॥

[सामान्य द्रव्य का निर्देश]

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० १८

जो कार्य द्रव्य गुण और कर्म का कारण द्रव्य है, वह **सामान्य द्रव्य है** ॥

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् । —वै० अ० १। आ० १। सू० २३

जो द्रव्यों का कार्य द्रव्य है, वह कार्यपन से सब कार्यों में सामान्य है ॥

[सामान्य विशेष]

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ५

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब **सामान्य और विशेष** कहाते हैं, क्योंकि द्रव्यों

आकुञ्चन का अर्थ है—सिकुड़ना या सिकोड़ना । किसी वस्तु के आकार या फैलाव को थोड़े प्रदेश में सीमित करदेनेवाली क्रिया 'आकुञ्चन' और उसी को पूर्व अवस्था में ले-जानेवाली क्रिया 'प्रसारण' नामक कर्म है । हाथ की मुट्ठी बाँधना और खोलना भी आकुञ्चन और प्रसारण है ।

सूत्रगत **'गमनम्'** शब्द से पूर्वोक्त उत्क्षेपण आदि के अतिरिक्त—उन समस्त क्रियाओं का ग्रहण होता है जो द्रव्यसमुदाय में साधारणरूप से होती रहती हैं । भ्रमण (चाक या पहिए आदि का घूमना), रेचन (मल-मूत्र आदि का विसर्जन), स्पन्दन (जल आदि द्रव पदार्थों का बहते रहना), ऊर्ध्वज्वलन (अग्नि आदि का ऊपर की ओर गति करना) आदि विविध प्रकार की समस्त प्रकार की क्रियाओं का समावेश 'गमन' नामक कर्म में हो जाता है । निष्क्रमण, प्रवेशन, भीतर से बाहर, बाहर से भीतर आना-जाना, घर के एक कमरे से निकलकर दूसरे कमरे में प्रवेश करना आदि सामान्य गमन-कर्म के रूप हैं ।

एकद्रव्यमगुणम्—जब कोई क्रिया होती है, उसका आश्रय-द्रव्य केवल एक रहता है । एक क्रिया उसी काल में अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकती । जैसे—संयोग-विभाग, द्वित्वादिसंख्या, पृथक्त्व आदि अनेक गुण अनेकद्रव्याश्रित रहते हैं, इस प्रकार कर्म (क्रिया—गति आदि) कभी अनेकाश्रित नहीं रहता । कर्म कभी गुण का आश्रय नहीं होता । यहाँ आश्रयता समवायसम्बन्ध से समझनी चाहिए ।

कुछ द्रव्य नित्य हैं, कुछ अनित्य, गुण भी नित्य-अनित्य दोनों हैं, परन्तु कर्म कभी नित्य नहीं होता । प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती और अपना कार्य सम्पन्न कर नष्ट होती रहती है । सूत्र के प्रथम पदों को लेकर सूत्रार्थ होगा—जो केवल एक द्रव्य में आश्रित रहता है, पर गुण नहीं है, कर्म है । तात्पर्य हुआ कि—एक द्रव्यवृत्ति गुण को छोड़कर जो पदार्थ केवल एकद्रव्याश्रित रहता है, वह कर्म है ।

---

१. यह कर्म ही पाश्चात्य साइंस के अनुसार Energy (एनर्जी) का रूप धारण करता है । यह द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं, अतः आईस्टीन ने लिखा है कि भविष्य में मैटर और ऐनर्जी का भेद मिट जाएगा । भ० द०

में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व, कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ३

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे— मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादि से विशेष तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व, इनमें [1]ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानो ॥

[समवाय का लक्षण]

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ —वै० अ० ७। आ० २। सू० २६

कारण अर्थात् अवयवों में अवयवी, कार्यों में क्रिया क्रियावान्[2], गुण गुणी, जाति व्यक्ति, कार्य्य कारण,

---

द्रव्यगुण—द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का द्रव्य समानरूप से कारण है। द्रव्य जैसा द्रव्य का कारण है, वैसा ही गुण और कर्म का। तात्पर्य हुआ कि—किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। प्रत्येक कार्य द्रव्य अवयवी कहा जाता है। वह अवयवी द्रव्य अपने कारणद्रव्य अवयवों में समवायसम्बन्ध से आत्मलाभ करता है, जैसे पट के अवयवतन्तु। तन्तु पट के समवायिकारण हैं। तन्तु के अवयव अंशु। अंशु तन्तु के समवायिकारण हैं, अंशु के और छोटे-छोटे रेशे उसके समवायिकारण हैं। यह कारणपरम्परा का क्रम द्व्यणुक तक चला जाता है। स्थूल से द्व्यणुक तक प्रत्येक इकाई अवयवी भी है और अवयव भी, परन्तु द्व्यणुक के समवायिकारण दो परमाणु अपने रूप में केवल अवयव हैं। वैशेषिक में द्रव्य-विवरण पृथिवी आदि के परमाणुओं को द्रव्य मानकर प्रस्तुत किया गया है, इसलिए यहाँ पृथिवी आदि द्रव्य का परमाणु अवयवमात्र इकाई है। उसके आगे अवयवों की कल्पना इस शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं है।

द्रव्याणां द्रव्यं—(द्रव्याणां) अनेक द्रव्यों का, (द्रव्यं) द्रव्य, (कार्यं) कार्य, (सामान्यम्) सामान्य—एक होता है।

'सामान्य' पद का अर्थ यहाँ साधर्म्य है। यह 'एक' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सूत्र का 'द्रव्याणाम्' बहुवचनान्त प्रयोग कारणद्रव्य की अनेकता का बोधक है—एक से अधिक अनेक हैं, दो या अधिक। अनेक तन्तुरूप कारणद्रव्यों को संयुक्त कर पट बनाया जाता है। एकमात्र कारणद्रव्य में संयोग की सम्भावना नहीं हो सकती, अतः कारणद्रव्य का अनेक होना आवश्यक है। अनेक कारणद्रव्य अवयवों से उत्पन्न कार्यद्रव्य

---

१. ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व जातियाँ न्याय-दर्शन प्रतिपादित जातियाँ नहीं हैं, अपितु ये वैयाकरणों की पारिभाषित जातियाँ हैं। इस विषय पर विशेष विचार ११वें समुल्लास के अन्त में 'ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की समीक्षा' प्रकरण में जातिभेद विवेचनात्मक टिप्पणी में किया है। पाठक उसे अवश्य देखें।

२. यही पाठ सं० २ से ३२ तक मिलता है। ३४वें संस्करण से 'इसमें यह, जैसे द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवों में अवयवी, कार्यों में कारण अर्थात् क्रियावान्' पाठ मिलता है। इस पाठ का आधार विवेचनीय है। ग्रन्थकार ने सूत्र का शब्दार्थ नहीं किया है। सूत्र का शब्दार्थ इस प्रकार जानना चाहिए— यह यहाँ, ऐसी प्रतीति जिस कारण से होती है, वह समवाय सम्बन्ध है। जैसे कार्य और कारण का सम्बन्ध। सूत्र में 'कार्यकारणयोः' ग्रहण उपलक्षणार्थ है। कार्यकारणरहित में भी यह सम्बन्ध जानना चाहिए। इसी लिए प्रशस्तपादभाष्य में लिखा है —'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः', अर्थात् अविनाभाव-सम्बन्ध से रहनेवाले, आधार आधेयरूप पदार्थों का जो सम्बन्ध 'इस बुद्धि का कारण है, वह 'समवाय' कहाता है। सत्यार्थ-प्रकाशस्थ मुद्रित पाठ उक्त सूत्र एवं प्रशस्तपादभाष्य का फलितार्थ रूप है।

अवयव अवयवी इनका नित्य सम्बन्ध होने से **समवाय** कहाता है और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

[साधर्म्य वैधर्म्य]

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ —वै० अ० १ आ० १। सू० ६॥

जो द्रव्य और गुण का समानजातीयक कार्य का आरम्भ होता है, उसको **साधर्म्य** कहते हैं। जैसे

अवयवी उनसे भिन्न है। इसी आधार पर कारण-कार्य अथवा अवयव-अवयवी का सम्बन्ध समवाय माना गया है।

यदि कार्यद्रव्य को एक अवयवीरूप नहीं माना जाता, तो लोकव्यवहार सिद्ध न हो सकेगा, यह बड़ी भारी हानि है। लोक में एक वस्तु के लाने-लेजाने, उठाने-खींचने आदि का व्यवहार 'अवयवी' के आधार पर सम्भव है। घट को किनारा पकड़ कर उठा लेते हैं, चादर को कोना पकड़कर खींच लेते हैं। यह सब उस वस्तु के एक अवयवीरूप होने से हो जाता है। यदि वह वस्तु एकरूप न हो तो घट या पट का वह अंश ही हाथ में पकड़ा रह जाना चाहिए, जो दबाया हुआ है, शेष वहीं छूट जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। सूत्रकार ने **'द्रव्यम्'** एकवचन कहकर इसी अवयवी के अस्तित्व का संकेत किया है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं—द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य-विशेष जाति के हैं। केवल यही तीन जाति सामान्य-विशेष हों, ऐसा नहीं है। द्रव्यों में पृथिवीत्व, जलत्व आदि, गुणों में गन्धत्व, रसत्व आदि, कर्मों में उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व आदि जातियाँ भी सामान्य-विशेष हैं। सूत्र के 'च' पद से ऐसी सब जातियों का संग्रह कर लेना चाहिए।

पृथिवीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व 'पर' जाति है, इस स्थिति में वह 'सामान्य' है और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' जाति होने से 'विशेष' है। इसी प्रकार 'पृथिवीत्व' जाति घटत्व की अपेक्षा 'पर' होने से 'सामान्य' है और द्रव्यत्व की अपेक्षा 'अपर' होने से 'विशेष' है। सत्ता किसी की अवान्तर जाति नहीं है, इसलिए वह केवल 'पर सामान्य' है। इसी प्रकार घटत्व की कोई अवान्तर जाति नहीं है, इसलिए घटत्व केवल 'अपर'-सामान्य कहा जाता है।

सामान्यं विशेष—सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ ज्ञान है। जिन अनेक पदार्थों में समान जैसा ज्ञान होता है, वह ज्ञान उन पदार्थों में एक 'सामान्य' नामक धर्म का बोध कराता है। ऐसा सामान्य उस समय 'विशेष' कहा जाता है जब उसका आधारक्षेत्र विस्तृत क्षेत्र से हटकर सीमित हो जाता है। सूत्र के **'बुद्ध्यपेक्षम्'** पद का अर्थ है—बुद्धि है अपेक्षा—लक्षण—चिह्न जिसका, ऐसा 'सामान्य' होता है। अनेक में एक बुद्धि ही 'सामान्य' का बोधक है। पृथिवी आदि अनेक में 'द्रव्य' है, यह एक बुद्धि है। 'द्रव्य है' यह बुद्धि सामान्य है। इसी को जब कहा जाता है—'ये गुण नहीं हैं,' ये कर्म नहीं हैं', तब यह बुद्धिविशेष का बोधक है। इसी को अन्य शब्दों में कहा जाता है—अनुवृत्त बुद्धि 'सामान्य' और व्यावृत्त बुद्धि 'विशेष' का प्रयोजक है। एक ही 'द्रव्यत्व' धर्म समस्त द्रव्यों में समान बुद्धि का प्रयोजक है और वही धर्म द्रव्यों को गुणादि से हटाकर पृथक् रखता है। इस रूप में द्रव्यत्व 'सामान्य-विशेष' उभयात्मक जाति है।

पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादिकार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है वैसे ही जल में भी जड़त्व और हिम आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ, पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है, अर्थात् '**द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्**' यह विदित हुआ है कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य का आरम्भ है, उसको **वैधर्म्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धत्व धर्म जल से विरुद्ध, और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तता पृथिवी से विरुद्ध है ॥

[कार्य-कारण सम्बन्ध]

कारणभावात् कार्यभावः ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० ३

कारण के होने ही से कार्य होता है ॥

इहेदमिति—(इह) इस आधार में (इदम्) यह आधेय है (इति) इस प्रकार का प्रत्यय—ज्ञान—व्यवहार (यतः) जिस सम्बन्ध से (कार्यकारणयोः) कार्य और कारण में परस्पर होता है, (सः) वह (समवायः) समवायनामक सम्बन्ध है।

जिन पदार्थों में परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, वहाँ यह बोध या व्यवहार बराबर हुआ करता है, कि इस कारण (अधिकरण) में कार्य आश्रित (आधेय) है, जैसे कपड़ा धागों में आश्रित रहता है। प्रत्येक अवयवी के कारण होते हैं वे अवयव, जिनके संयुक्त होने पर वह अवयवी बनता या उत्पन्न होता है। अवयव कारण हैं, अवयवी कार्य है। कार्य कारण में जिस सम्बन्ध से रहता है वह 'समवाय' कहा जाता है।

ऐसे केवल पाँच जोड़े हैं, जिनका परस्पर समवायसम्बन्ध रहता है। द्रव्य-गुण, द्रव्य-कर्म, अवयव-अवयवी, ये तीन जोड़े हैं। सूत्र के '**कार्यकारणयोः**' पद में प्रायः इन तीनों का ग्रहण होता है। प्रायः इसलिए कहा गया है, कतिपय द्रव्याश्रित गुण नित्य होते हैं, उनका द्रव्य के साथ कार्य-कारण भाव नहीं होता, केवल आश्रयाश्रितभाव अथवा आधाराधेयभाव रहता है। अन्य दो जोड़े हैं—व्यक्ति-जाति, अन्त्य-नित्यद्रव्यविशेष। व्यक्ति में जाति आश्रित है तथा अन्त्य नित्यद्रव्य (परमाणु) में विशेष। यहाँ भी कार्य-कारणभाव नहीं है, परन्तु उनका समवायसम्बन्ध है, इसलिए सूत्र का '**कार्यकारणयोः**' पद '**अकार्यकारणयोः**' का भी उपलक्षण माना गया है। कतिपय ऐसे युगलों में भी समवायसम्बन्ध होता है, जिनका परस्पर कार्यकारणभाव नहीं।

द्रव्यगुणयोः—जब कोई द्रव्य किसी द्रव्य को उत्पन्न करेगा, तो वह सजातीय द्रव्य को ही उत्पन्न करेगा। पृथिवी परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, अन्य जलत्व जातीय आदि को नहीं। इसी प्रकार जलीय परमाणु जलत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, पृथिवीत्वजातीय आदि को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्यद्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को उत्पन्न करता है, विजातीय को नहीं। तन्तुओं का नील अथवा श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। इसको ऐसे भी समझना चाहिए कि रूप रूप को उत्पन्न करेगा, रस आदि को नहीं।

कारणभावात्—कारण जब सद्रूप में विद्यमान रहता है, तभी उससे किसी कार्य के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। कार्य की विद्यमानता प्रत्यक्ष है। तब उससे कारण के सद्भाव का अनुमान हो जाता है। जो मूलकारण है, वह भावरूप है, अभाव से भावकार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यद्रव्यों में जो गुण देखे जाते हैं, वे कारणगुणपूर्वक हैं। कारण में विद्यमान गुणों से कार्य में गुण आते अथवा उत्पन्न होते हैं। सूत्रकार ने इससे यह स्पष्ट किया कि कार्यजगत् में जो रूप, रस आदि गुण दिखाई देते हैं, वे जगत्

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० २

किन्तु कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता ॥

कारणाऽभावात् कार्याऽभावः ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० १

कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता ॥

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० २४

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य में होते हैं ॥

[कार्य-कारण सम्बन्ध]

परिणाम दो प्रकार का है—

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ —वै अ० ७। आ० १। सू० ६

अणु=सूक्ष्म, महत्=बड़ा, जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है, तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे और वृक्षों से बड़े हैं ॥

के मूल उपादानकारण परमाणुओं से आते हैं, अतः परमाणु इन गुणों से युक्त अर्थात् इन गुणों के आश्रय रहते हैं, यह सिद्ध होता है।

न तु—कार्य के न होने से कारण का न होना सिद्ध नहीं होता। किन्हीं पदार्थों के कार्यकारण सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक बताया कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारण का अस्तित्व अपेक्षित रहता है। यदि कारणवस्तु का अस्तित्व न होगा तो कार्य का होना असम्भव है। यदि बादल नहीं होंगे तो वर्षा नहीं होगी। इसी प्रकार यदि पति-पत्नी नहीं होंगे तो सन्तान नहीं होगी, किन्तु बादलों के होने पर भी सदा वर्षा नहीं होती और दम्पती के रहने पर भी कभी-कभी सन्तान नहीं होती। इससे बादलों या दम्पती के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

कारणाभावात्—कौन किसका कार्य और कौन किसका कारण है, इसकी परख के लिए यह कसौटी है—जिसके रहने पर ही जो होता है, उनमें होनेवाली वस्तु कार्य और दूसरी उसका कारण होती है। इस व्यवस्था के अनुसार यह आवश्यक है कि कार्य के आत्मलाभ से पूर्व कारण का अस्तित्व हो। फलतः कारण वह पदार्थ है, जिसका आगे परिवर्त्तन होता है। परिवर्त्तन किसी सद्वस्तु का होता है। इस कारण परिवर्त्तन के लिए उस वस्तु का पहले विद्यमान होना आवश्यक है।

प्रत्येक कार्य के अनेक कारण होते हैं। कोई समवायिकारण होते हैं, कोई असमवायि और कोई निमित्त। उदाहरण के लिए—एक कार्य पट को लीजिए। पट के समवायिकारण तन्तु हैं, असमवायिकारण तन्तुओं का परस्पर संयोग है, तन्तुवाय आदि निमित्तकारण हैं। इन कारणों में से किसी एक के अभाव में भी पट नहीं बनेगा। इसलिए वह प्रत्येक वस्तु पट का कारण है जिसके बिना पट का बनना सम्भव नहीं। यही व्यवस्था वस्तुओं के कार्य-कारणभाव को प्रमाणित करती है।

कारणगुण—पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों में जो गन्धादि विशेष गुण देखे जाते हैं, वे कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं। मिट्टी के घड़े में मिट्टी के और स्वर्ण अथवा रजत से बने आभूषणों में स्वर्ण अथवा रजत जैसे गुण पाये जाते हैं। जीवों में ब्रह्म के समान गुण नहीं पाये जाते, इसलिए उन्हें ब्रह्म से उत्पन्न अथवा उसका अंश नहीं माना जाना चाहिए।

[सत्ता का लक्षण]

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ७

जो द्रव्य गुण और कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् **'सद् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत्कर्म'** सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म, अर्थात् वर्त्तमानकालवाची शब्द का अन्वय सबके साथ रहता है ॥

[महासामान्य]

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ —वै० अ० १। २। सू० ४

जो सबके साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो **महासामान्य** कहाता है। यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है ॥

[अभाव के ५ भेद]

और जो **अभाव** है, वह पाँच प्रकार का होता है—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ —वै० अ० ९ ॥ आ० १ । सू० १

जो क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के[1] प्राक् अर्थात् पूर्व 'असत्'=न था। जैसे घट वस्त्रादि उत्पत्ति

अणुमहदिति—(अणु) अणु है यह (महत्) महत् है यह (इति) इस प्रकार एक वस्तु में जो परिमाण विषयक ज्ञान व व्यवहार होता है (तस्मिन्) उस परिमाण में (विशेषभावात्) विशेष-अपकर्ष के होने से अणु व्यवहार (विशेषभावात्) विशेष-अपकर्ष के न होने से महत् व्यवहार होता है।

लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि बिल्व से आँवला अणु है और रत्तक (गुञ्जा-चोंटली) से आँवला महत् है। यह अणु-महत् का आपेक्षिक व्यवहार लौकिक प्रत्यक्षग्राह्य महत् में हुआ करता है। इससे अणु-महत् के वैपरीत्य का कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने बताया, इस प्रकार के व्यवहार के विषयपरिमाण में एक स्थल पर जो अणु-महत् व्यवहार होता है, वह उन पदार्थों की परस्पर आपेक्षिक स्थिति के आधार पर है। रत्तक, आँवला और बिल्व तीनों महत्परिमाण के आश्रय हैं, यह प्रत्यक्ष गृहीत होता है। वहाँ महत्परिमाण अपने निर्दिष्ट कारणों से उत्पन्न है। इसलिए यथार्थरूप में वहाँ अणुपरिमाण की सम्भावना नहीं, परन्तु किसी एक की अपेक्षा दूसरे में जहाँ अपकर्ष (छोटापन) है, उसमें औपचारिक रूप से अणु व्यवहार हो जाता है, परन्तु अपकर्ष की भावना होने-न-होने दोनों अवस्थाओं में महत्परिमाण वहाँ यथार्थरूप में विद्यमान रहता है।

सदिति—द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में जिससे यह ज्ञान होता है कि ये सत् हैं, वह धर्म 'सत्तासामान्य' कहा जाता है। तात्पर्य हुआ, द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत्' प्रतीति का कारण सत्ता है। सत्तासामान्य इन तीनों पदार्थों में समवेत है, इसी कारण **'सत् द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म'** इत्यादि ज्ञान हो पाता है। यही सत्ता का लक्षण या स्वरूप है

१. अजमेर मुद्रित शताब्दी-संस्करण (सन् १९२५) से संस्करण ३३ तक 'निमित्त के अभाव से प्राग्' पाठ छपता रहा है। सूत्रार्थ— 'द्रव्य की उत्पत्ति में पूर्व (कारणावस्था में) क्रिया (घट है,) गुण (=लाल, पीला घड़ा) का कथन न होने से कार्य प्राक्=पहले (=कारण में) नहीं था' यह प्रागभाव कहाता है।

के पूर्व नहीं थे, इसका नाम **'प्रागभाव'** है ॥ **दूसरा**—

सदसत् ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० २

जो होके न रहै। जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाए, यह **'प्रध्वंसाभाव'** कहाता है ॥ **तीसरा**—

सच्चासत् ॥ —वै ० अ० ६। आ० १। सू ०

जो होवे और न होवे। जैसे **'अगौरश्वोऽनश्वो गौः'** यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं, अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव, और गाय में गाय, घोड़े में घोड़े का भाव है। यह **'अन्योन्याभाव'** कहाता है ॥ **चौथा**—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० ५

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको **'अत्यन्ताभाव'** कहते हैं। जैसे 'नरशृङ्ग' अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प'=आकाश का फूल, और 'वन्ध्यापुत्र'=वन्ध्या का पुत्र, इत्यादि ॥ **पाँचवाँ**—

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० १०॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है, [यह **'संसर्गाभाव'** कहाता है ॥] ये पाँच अभाव कहाते हैं।

भावानुवृत्तेः—सत्ता केवल सामान्य अर्थात् केवल परजाति है, क्योंकि वह अनुवृत्ति का हेतु है, व्यावृत्ति का नहीं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में सद्बुद्धि समानरूप से होती है, इसीलिए 'सत्ता' केवल सामान्य अथवा 'पर-जाति' कही जाती है।

क्रियागुण—कोई कार्य अपने निर्धारित कारणों से उत्पन्न होता है, अथवा कार्यरूप से प्रकाश में आता है। ऐसा नहीं है, कि प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो जाए। किसी कार्यविशेष को उत्पन्न करने की योग्यता अथवा क्षमता कारणविशेष में होती है। तन्तुओं में पट बनने की क्षमता है, उनसे घट नहीं बन सकता। मिट्टी से वस्त्र नहीं बन सकता, घट बन जाता है। वस्तुओं के कार्यकारणभाव की इस स्थिति को लक्ष्य कर कहा जाता है, उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारणों में कारणरूप से विद्यमान भी कार्यरूप से असत् होता है, क्योंकि कार्यदशा में जिन क्रियाओं व गुणों का उसमें व्यपदेश-कथन-व्यवहार किया जाता है; कारणदशा में उन सबका अभाव रहता है। केवल तन्तुओं से न देह ढका जाता है, न शीतातप का निवारण होता है, न मिट्टी में पानी भरा जा सकता है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है।

प्रागभाव से अन्य एक और प्रकार का अभाव अगले सूत्र में बताया है—

सदसत्—(सत्) विद्यमान कार्य (असत्) अविद्यमान हो जाता है। उत्पन्न हो जाने पर कार्य सत् है। अपने रूप में विद्यमान घट से जलाहरण आदि कार्य होता है और वह गुण व क्रिया का आधार है, यह व्यवहार उसमें बराबर होता रहता है। ऐसे ही तन्तुओं से वस्त्र बन जाने पर उससे देहादि आवृत होते हैं और शीत, वर्षा आदि से वस्त्र द्वारा देह की रक्षा होती है। यह घट, पट आदि की कार्यावस्था सत् है। अब किसी कारण घड़ा फूटकर नष्ट हो गया। जैसे उत्पत्ति से पूर्व असत् होने से घट के क्रियागुणव्यपदेश का अभाव था, वैसी ही स्थिति घट के फूट जाने से उपस्थित हो गयी। प्रत्येक कार्यवस्तु का यही अवसान है। वस्तु के ऐसे अभाव को 'ध्वंसाभाव' कहते हैं।

सच्चासत्—प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव से अतिरिक्त एक और अभाव है—अन्योऽन्याभाव। सच्चासत् के

[अविद्या के हेतु]

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ —वै० अ० ६। आ० २। सू० १०

इन्द्रियों और संस्कार के दोष से **'अविद्या'** उत्पन्न होती है ॥

तद् [1]दुष्टं ज्ञानम् ॥ —वै० अ० ६। सू० ११

जो दुष्ट अथवा विपरीत ज्ञान है, उसको **'अविद्या'** कहते हैं ॥

अदुष्टं विद्या ॥ —वै० अ० ६। आ० २। सू० १२

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको **'विद्या'** कहते हैं ॥

[पृथिव्यादि-गुणों के नित्य अनित्य भेद]

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ —वै० अ० ७। आ० १। सू० २

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० ३

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण हैं, ये सब कार्यद्रव्यों के अनित्य होने से **अनित्य** हैं और जो इसके कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों के गन्धादि गुण हैं, वे **'नित्य'** हैं ॥

अनुसार विद्यमान पदार्थ भी अभावरूप कहा जाता है। घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं, अर्थात् गाय में घोड़े का अभाव है और घोड़े में गाय का। दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का अन्योऽन्य से भेद है। इस प्रकार एक-दूसरे से प्रत्येक वस्तु का भेदरूप अभाव 'अन्योऽन्याभाव' कहाता है।

एक अन्य प्रकार का अभाव है, जो पूर्वोक्त अभावों की सीमा में नहीं आता।

यच्चान्यदसदतस्तदसत्—सूत्रपाठ में 'अतः' पद से उसका वैकल्पिक परामर्श होता है। विकल्प से इस रूप में कि 'अतः' पद से पूर्वोक्त तीन अभावों का परामर्श हो सकता है, और पक्ष में 'सतः' का भी। तात्पर्य हुआ, पूर्वोक्त तीन अभावों से भिन्न जो एक और अभाव है, वह चौथा 'अत्यन्ताभाव' है।

'सतः' पदघटित सूत्रपाठ में 'अत्यन्ताभाव' की भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'सत्' से भिन्न—सर्वथा विपरीत—जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है, जैसे—शशविषाण, नरशृङ्ग, आकाशपुष्प आदि।

नास्ति घटः—'घर में घड़ा नहीं है' इससे अन्यत्र विद्यमान घट का कथित घर में अभाव घोषित होता है। यह अत्यन्ताभाव जैसा प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में अन्तर है। घर में घड़ा इस समय नहीं है, पर आगे-पीछे हो सकता है। पहले वहाँ घड़ा रहा हो, और अनन्तर फिर भी आ जाए, यह सम्भव है, परन्तु मनुष्य के सिर पर सींग न कभी थे, न हैं और न होंगे। इस कारण कतिपय आचार्यों ने इनका भेद स्पष्ट करने की भावना से 'घर में घड़ा नहीं है' इस अभाव को 'सामयिकाभाव' नाम दिया है—जो समयविशेष में रहता, और फिर नहीं रहता।

इन्द्रियदोषात्—वैशेषिक शास्त्र में 'अविद्या' के अन्तर्गत संशय, स्वप्न, अनध्यवसाय तथा विपर्यय चारों की गिनती होती है, परन्तु प्रकरण का विचार करते हुए यहाँ 'अविद्या' पद केवल 'विपर्यय' का बोध कराता है। विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान इन्द्रियदोष से तथा संस्कारदोष से हुआ करता है। इन्द्रियदोष

---

१. ग्रन्थकार-निर्दिष्ट पाठ चन्द्रानन्दकृत व्याख्या (बड़ौदा से प्रकाशित) में मिलता है। अन्य व्याख्याग्रन्थों में 'दुष्टज्ञानम्' ऐसा पाठ है।

[नित्य का लक्षण]

सदकारणवन्नित्यम् ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० १॥

जो विद्यमान हो, और जिसका कारण कोई भी न हो, वह **'नित्य'** है, अर्थात् **'सत्कारणवदनित्यम्'** जो कारणवाले कार्यरूप गुण हैं, वे **'अनित्य'** कहाते हैं ॥

[लैङ्गिक ज्ञान के भेद]

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥

—वै० अ० ६। आ० २। सू० १

है—वात, पित्त आदि शरीर के धातुओं के विकृत होने से इन्द्रियों के द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने की क्षमता में दुर्बलता आ जाना। प्रत्येक इन्द्रिय में विभिन्न कारणों से दुर्बलता आ जाने पर विविध रोग उत्पन्न होते हैं। यही इन्द्रियदोष है। ऐसा होने पर विषय का उपयुक्त ग्रहण न होने से उसका अन्यथा—कुछ-का-कुछ ज्ञान हो जाता है। यही मिथ्याज्ञान या विपर्ययज्ञान है। संस्कारदोष से मिथ्याज्ञान उस अवस्था में होता है, जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो और उससे भ्रान्त संस्कार हो जाए। उससे जो स्मृति आदि ज्ञान होगा, वह मिथ्या होगा।

तद् दुष्टं ज्ञानम्—सूत्र में 'तत्' पद गतसूत्र में पठित 'अविद्या' का परामर्शक है। 'अविद्या' पद स्त्रीलिङ्ग तथा 'तत्' नपुसकलिंग है, परन्तु विधेय पद ज्ञान नपुंसक होने से 'तत्' के नपुंसक प्रयोग का सामंजस्य सम्भव है। **'या अविद्या प्रागुक्ता, दुष्टं ज्ञानं तत्'**। सूत्र का तात्पर्य हुआ—जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या है—**'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानमविद्या'**।

अदुष्टं विद्या—पूर्वसूत्र से 'ज्ञान' पद की अनुवृति यहाँ है। जो ज्ञान दोषरहित है वह विद्या है। इसी को प्रमा नाम से कहा जाता है। अविद्या से विपरीत होने के कारण विद्या का स्वरूप होगा—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना— **तस्मिंस्तद्बुद्धिर्विद्या**।

पृथिव्यादि—सूत्र में 'आदि' पद से जल, तेज, वायु तीन द्रव्यों का ग्रहण होता है। पृथिवी आदि चारों द्रव्य प्रत्येक दो भागों में विभक्त है—नित्य और अनित्य। परमाणुरूप पृथिवी आदि नित्य हैं—द्वयणुकादिरूप अनित्य। अपने समवायिकारण पृथिव्यादि द्रव्यों के उत्पन्न हो जाने पर उनमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रूपादि गुणों के नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

एतेषु—गत सूत्र में यह कहे जाने से कि अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रहनेवाले रूपादि गुण नित्य नहीं हो सकते, अर्थापत्ति द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य द्रव्यों में रहने पर ये गुण नित्य होते हैं।

सदकारणवत्—जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नहीं होता, वह नित्य कहलाता है। समस्त दृश्यादृश्य कार्यरूप जगत् अपने उपादानतत्त्व से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह अनित्य है। जो वस्तु अनेक अवयवों से मिलकर बनी है, वह सावयव और अनित्य है। अवयवों को तोड़ते चले जाएँ तो एक ऐसी स्थिति आ जाएगी कि फिर आगे उसी रूप में उसका टुकड़ा न किया जा सकेगा। जहाँ विभाजन क्रिया की अन्तिम सीमा है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव है। इसी का नाम 'परमाणु' है। यह शब्द परम और अणु दो पदों से मिलकर बना है। परम का अर्थ है—अति और अणु का अर्थ है—छोटा। परमाणु निरवयव,

इसका यह कार्य वा कारण है, इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि[1] और विरोधि यह चार प्रकार का **लैङ्गिक** अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध से होनेवाला ज्ञान होता है। **'समवायि'**—जैसे आकाश परिमाणवाला है। **'संयोगि'**—जैसे शरीर त्वचावाला है, इत्यादि का नित्य संयोग[2] है। **'एकार्थसमवायि'**—एक अर्थ में दो का [3]रहना, जैसे कार्यरूप स्पर्श कार्य का लिङ्ग[4] अर्थात् जनानेवाला है। **'विरोधि'**—जैसे हुई वृष्टि होनेवाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है॥

अविभाज्य और अविच्छेद्य द्रव्य है, अतः इसका नाश नहीं होता। यह समस्त जगत् का मूलकारण है, इसका कोई कारण नहीं, अतः वह नित्य है।

अस्येदम्—लिङ्ग द्वारा होनेवाला ज्ञान लैंगिक होता है। नियमपूर्वक साथ रहनेवाली दो वस्तुओं में से जब एक दीखती है, तब दीखनेवाली वस्तु से न दीखनेवाली का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि उन दोनों में एक दूसरी को छोड़कर नहीं रह सकती। जो दीखती है, वह लिंग है, ज्ञान का साधन है, जो जानी जाती है वह साध्य या लिंगी है।

रसोई घर में आग और धुएँ को नियम से साथ रहते देखा है, अतः कालान्तर में उठते हुए धुएँ को देखकर ओट में जलती हुई आग का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि धुआँ आग के बिना हो नहीं सकता।

यह लिंग=साधन=करण कहीं साध्य का कार्य होता है, कहीं कारण, कहीं संयोगी, कहीं विरोधी, कहीं समवायी और कहीं एकार्थसमवायी। सूत्र के **'अस्य'** पद का अर्थ है **'साध्यस्य'**, अर्थात् सर्वनाम पद 'साध्य' अर्थ का बोध कराता है। **'इदम्'** सर्वनाम 'लिंग' का बोधक है। **'कार्यम्'** आदि पद के साथ इसका अलग-अलग सम्बन्ध होगा। सूत्रार्थ है—इस साध्य का यह कार्य लिंग, इस साध्य का यह संयोगी लिंग है; इत्यादि।

नियतधर्म—व्यवस्थापूर्वक धर्मों का इकट्ठा रहना व्याप्ति है, चाहे वह (उभयोः) दोनों धर्मों का हो (वा) अथवा (एकतरस्य) दोनों में किसी एक का हो।

साध्य और साधन दोनों धर्मों का नियत साहचर्य अथवा केवल साधनधर्म का साध्य के साथ नियत साहचर्य 'व्याप्ति' है। धूम, अग्नि के बिना सम्भव नहीं, इसलिए धूम की अग्नि के साथ 'व्याप्ति' है, पर अग्नि धूम के बिना भी दग्ध अयोगोलक अथवा अंगार आदि में रहता है, इसलिए अग्नि की व्याप्ति धूम के साथ नहीं बनती, फलतः कहीं दोनों धर्मों का और कहीं एक का अव्यभिचरित साहचर्य व्याप्ति का स्वरूप है। जहाँ दोनों धर्मों का परस्पर एक-दूसरे के साथ समान साहचर्य होता है, उसे समव्याप्ति और जहाँ एक ही धर्म का साहचर्य हो, उसे विषमव्याप्ति कहा जाता है।

निजशक्ति—पदार्थ अथवा धर्मों की निज सहज शक्ति की अभिव्यक्ति ही उन वस्तुओं अथवा धर्मों का साहचर्य है। किसी वस्तु वा धर्म में यह सहज स्वाभाविक सामर्थ्य रहता है कि वह किसी का कारण वा कार्य हो अथवा प्रयोजक या प्रयोज्य हो। यह बनाने से नहीं बनती, यह वस्तुओं का अपना स्वभाव है। यही

---

१. यहाँ सूत्रस्थ 'चकार' से 'संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च' (३।१।६) सूत्र में निर्दिष्ट 'एकार्थसमवायि' का समुच्चय जानना चाहिए।

२. अर्थात् शरीर और त्वचा का सम्बन्ध यावद् द्रव्यभावी (—जब तब शरीर रहता है तब तक रहता) है।

३. यहाँ 'एक में अन्य का समवेत रहना' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

४. एक जल में समवेत कार्यरूप उष्ण स्पर्श जल में समवेत कार्यरूप अग्नि का बोधक होता है।

व्याप्ति—

> **नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥**
> **निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥**
> **आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥**
>
> —सांख्यसूत्र अ० ५सू० २९, ३१, ३२॥

जो दोनों साध्य-साधन अर्थात् सिद्धि करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाए, उन दोनों अथवा एक साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को '**व्याप्ति**' कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है ॥२९॥

तथा व्याप्य जो धूम उसकी[1] निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है, तब विना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है। उसी का नाम '**व्याप्ति**' है, अर्थात् अग्नि के छेदन-भेदन सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है ॥३१॥

जैसे महतत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता, बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम '**व्याप्ति**' है। जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है ॥३२॥

[ग्रन्थों की परीक्षा करके पढ़ें-पढ़ावें]

इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उस ग्रन्थ की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो-जो

वस्तुओं के साहचर्य के नाम से कहा जाता है, क्योंकि कोई कार्य अथवा प्रयोज्य अपने कारण या प्रयोजक की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व का लाभ नहीं कर सकता। इसी साहचर्य के आधार पर एक से दूसरे का अनुमान हो जाता है।

आधेयशक्ति—व्याप्ति के विषय में पञ्चशिख का विचार है कि जैसे धूम अग्नि का अनुमापक है, इस स्थल में धूम अग्नि का कार्य है। कोई कार्य कारण के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकता। इस प्रकार धूम का अग्नि के साथ साहचर्य अभिव्यक्त होता है, पर यह साहचर्य धूम की अपनी सहज कार्यरूप शक्ति से अन्य कुछ नहीं। इस साहचर्य में कार्यता की छाया दीखती है, क्योंकि यहाँ धूम कार्य है, इसलिए वह (साहचर्य) उसी का रूप है।

इस विषय में पञ्चशिख का यह कहना है कि कार्यता आधेयशक्ति है। व्युत्पादन द्वारा हम इस शक्ति का आधान करते हैं। जब तक किसी को यह बोध न कराया जाए, तब तक उसमें (धूम में) अग्नि की अनुमापकता नहीं आ सकती। अन्यथा अव्युत्पन्न व्यक्ति भी अनुमान करले, पर ऐसा नहीं होता। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि धूम में वह शक्ति सहज नहीं, प्रत्युत आधेय है। उद्बोधन द्वारा उपस्थापित कराई जाती है। उसे 'संकेत' भी कह सकते हैं।

ग्रन्थों की परीक्षा—आयुर्वेदीय चरकसंहिता, विमानस्थान अध्याय ८ के आरम्भ में पठनीय शास्त्र की परीक्षा का विशद वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है—''संसार में चिकित्सा-सम्बन्धी अनेकानेक शास्त्र हैं। उनमें से उसी शास्त्र का ग्रहण कर्त्तव्य है जो बड़े यशस्वी तथा धीर पुरुषों से सेवित है, जो गम्भीर आशयों

---

१. अर्थात् व्याप्य धर्म की।

ग्रन्थ सत्य ठहरे वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें । जो-जो ग्रन्थ इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें न पढ़ावें । क्योंकि **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**[1] लक्षण—जैसाकि **'गन्धवती पृथिवी'**, जो पृथिवी है वह गन्धवाली है, ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण इनसे सब सत्याऽसत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है, इसके विना कुछ भी नहीं होता ।

अथ पठनपाठनविधिः

अब **पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार** लिखते हैं—

[वर्णोच्चारण-शिक्षा]

प्रथम पाणिनिमुनिकृत **शिक्षा**[2] जोकि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है । जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करना 'करण' कहाता है । इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता-पिता, आचार्य सिखलावें ।

[व्याकरण—अष्टाध्यायी-महाभाष्य]

तदनन्तर **व्याकरण** अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, जैसे **'वृद्धिरादैच्'** (अ० १।१।१) । फिर पदच्छेद, जैसे **'वृद्धिः आत् ऐच् वा**[3] **आदैच्'** । फिर समास —**'आच्च ऐच्च आदैच्'** । और अर्थ, जैसे **'आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते'** अर्थात् आ ऐ औ की वृद्धिसंज्ञा की जाती है । **'तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः'** तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो वह 'तपर' कहाता है । इससे क्या सिद्ध हुआ जो आकार से परे त्[4] और त् से परे ऐच् दोनों 'तपर' हैं । तपर का यह प्रयोजन है कि ह्रस्व[5] और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई ।

उदाहरण—**'भागः'** यहाँ **'भज्'** धातु से **'घञ्'** प्रत्यय के परे[6] **'घ्' 'ञ्'** की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया । पश्चात् **'भज् अ'** यहाँ जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार हो गया है, तो

१. न्याय-वात्स्यायनभाष्य ३।१।२८॥

२. पाणिनिमुनिकृत शिक्षासूत्रों का एक हस्तलेख ग्रन्थकार ने उपलब्ध करके आर्यभाषा व्याख्यासहित 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के नाम से वि० सं० १९३६ के अन्त में छपवाया था । ग्रन्थकार को उपलब्ध हस्तलेख त्रुटित था ।उसकी दूसरी प्रति प्राप्त करके हमने 'शिक्षा-सूत्राणि' संग्रह में छापा है । डा० मनमोहन घोष ने ग्रन्थकार द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्रों को स्वसम्पादित 'पाणिनीयशिक्षा' की भूमिका में जाली सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है । इसका उत्तर हमने 'मूल पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक लेख ('साहित्य' पटना, वर्ष ७ अङ्क ४, सन् १९५७) में दिया है । —युधिष्ठिर मीमांसक

३. कुछ व्याख्याता 'आत्' 'ऐच्' दो पद मानते हैं कुछ 'आदैच्' समस्त एक पद ।

४. इसका भाव यह है कि आकार से परे 'त्' होने से आकार तपर है और 'त्' से परे ऐच् होने से ऐच् भी तपर है।

५. **'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'** (अ० १।१।६८) के नियम से सूत्रपठित 'अण्' सवर्णों के ग्राहक होते हैं । **'तपरस्तत्कालस्य'** (अ० १।१।६९) के नियम से तपर वर्ण उसी कालवाले सवर्णों का ग्रहण कराते हैं, जिस कालवाले वर्ण के साथ तकार पढ़ा गया है । यह पूर्व (१।१।६८) का अपवाद है । आकार के अण् न होने से उसमें सवर्णग्राहकता नहीं है । इस कारण आकार को तपर करने का प्रयोजन न होने से यहाँ तपर का 'ह्रस्व की वृद्धि संज्ञा नहीं हुई' यह प्रयोजन दर्शाना मन्दबुद्धियों के लिए है, ऐसा जानना चाहिए ।

६. यहाँ 'प्रत्यय के धातु से परे अवस्थित हो जाने पर' यह अभिप्राय जानना चाहिए ।

'भाज्'। पुनः **'ज्'** को ग् हो [कर] अकार के साथ मिलके **'भागः'** ऐसा प्रयोग हुआ।

'अध्यायः' यहाँ अधिपूर्वक **'इङ्'** धातु के ह्रस्व इ के स्थान में **'घञ्'** प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको **'आय्'** होकर मिलके 'अध्यायः'।

'नायकः' यहाँ **'नीञ्'** धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में **'ण्वुल्'** प्रत्यय[1] के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' होकर मिलके 'नायकः'।

और **'स्तावकः'** यहाँ **'स्तु'** धातु से **'ण्वुल्'** प्रत्यय[1] होकर ह्रस्व उकार के स्थान में 'औ' वृद्धि और 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया, तो 'स्तावकः'।

'कारक' **'कृञ्'** धातु से आगे **'ण्वुल्'** प्रत्यय, 'ण्' 'ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में अक आदेश, और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर **'कारकः'** सिद्ध हुआ।

जो-जो सूत्र आगे-पीछे के प्रयोग में लगें, उनका कार्य्य सब बतलाया जाए और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखलाके कच्चा रूप धरके, जैसे—**'भज+घञ्+सु'** इस प्रकार धरके प्रथम अकार का लोप, पश्चात् घ्कार का, फिर ञ् का लोप होकर **'भज्+अ+सु'** ऐसा रहा। फिर [अ को आकार वृद्धि, और] 'ज्' के स्थान में 'ग्' होने से **'भाग्+सु'** पुनः अकार में मिल जाने से **'भाग+सु'** रहा। अब उकार की इत्संज्ञा, 'स्' के स्थान में 'रुँ' होकर पुनः उकार इत्संज्ञा लोप हो जाने के पश्चात् 'भागर्' ऐसा रहा। अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर **'भागः'** यह रूप सिद्ध हुआ। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है, उस-उसको पढ़-पढ़ाके और लिखवाकर कार्य कराता जाए। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है।

एक बार इसी प्रकार[2] **'अष्टाध्यायी** पढ़ाके **'धातुपाठ'** अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्यसूत्र, जैसे—**'कर्मण्यण्'** (अ० ३।२।१) कर्म-उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो। जैसे—**'कुम्भकारः'**। पश्चात् अपवादसूत्र, जैसे—**'आतोऽनुपसर्गे कः'** (अ० ३।२।३) उपसर्ग-भिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे, अर्थात् जो बहुव्यापक जैसाकि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है। उससे विशेष अर्थात् अल्पविषय उसी पूर्वसूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया। जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवादसूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवादसूत्र के विषय में उत्सर्गसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्त्ती राजा के राज्य में माण्डलिक और [3]भूमिवालों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्त्ती की प्रवृत्ति नहीं होती॥

इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों[4] के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की विद्या

---

१. यहाँ भी 'कारकः' के समान [ण्वुल् के 'ण्' 'ल्' की इत्संज्ञा लोप और 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश] जानना चाहिए।

२. ऊपर जिस प्रकार अष्टाध्यायी के पठन-पाठन का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है, उसके अनुसार स्व० पं० श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अष्टाध्यायीभाष्य (प्रथमावृत्ति) नाम की व्याख्या लिखी है। इसमें सब उदाहरणों की सिद्धि भी विस्तार से दी है। यह ग्रन्थ रा०ला०क०ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ है।

३. अर्थात् जमींदारों।

४. अष्टाध्यायी के सूत्र गद्यरूप हैं। किसी भी गद्यग्रन्थ का परिमाण दर्शाने के लिए प्राचीन परिपाटी है कि उस ग्रन्थ के अक्षरों की गिनती करके अनुष्टुप् छन्द की अक्षर संख्या ३२ से भाग देने पर जो भागफल उपलब्ध होता है, वह उस ग्रन्थ का श्लोकरूप में परिमाण माना जाता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के सहस्र श्लोक अर्थात् लगभग

प्रतिपादित कर दी है। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण[1] के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ाके, पुनः दूसरी बार शङ्का-समाधान[2] वार्तिक[3] कारिका परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की **द्वितीयानुवृत्ति**[4] पढ़ावे। तदनन्तर **महाभाष्य** पढ़ावे, अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी, और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं, किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में करना होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता।

[अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन से हानि]

और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन 'क्षुद्राशय' मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम, और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा[5] ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें। जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना, और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों को पाना।

से युक्त है, जो 'आप्तजनों से माननीय' है, जो पुनरुक्त आदि दोषों से रहित है, जो 'ऋषिकर्तृक' है, जिनका सूत्र, भाष्य और संग्रहक्रम सुप्रणीत है, जिसका आधार उत्तम है, जिसमें सहज और प्रचलित शब्द हैं, जिसके अर्थ पुष्कल हैं, जिसके विषय यथाक्रम हैं, जिसमें अर्थतत्व का यथावत् निश्चय किया है, जो संगतार्थ, भिन्न प्रकरणों से युक्त आशु प्रबोधक हैं तथा जिसकी व्याख्या लक्षण तथा उदाहरणों के साथ की गयी है। यही सत् शास्त्र है। ऐसा ही निर्मल शास्त्र सूर्य की भाँति अज्ञानान्धकार को दूर करके सम्पूर्ण अर्थों को प्रकाशित कर देता है।"

चरकाचार्य ने जो कुछ चिकित्साशास्त्र को लक्ष्य करके कहा है वही सब अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध में कर्त्तव्य है। इसीलिए ग्रन्थकार ने पठन-पाठनविधि के आरम्भ में सत्यासत्य का निश्चय करने में सहायक मुख्य-मुख्य सूत्रों का निर्देश करके तदनुसार ग्रन्थों की परीक्षा करना आवश्यक ठहराया है।

क्षुद्राशय—श्रीहर्ष ने अपने रचे नैषधचरित के अन्त में लिखा है—'**ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि**' अर्थात् मैंने 'जानबूझकर' इसमें कहीं-कहीं ग्रन्थियाँ लगा दी हैं।

३२,००० अक्षर जानने चाहिएँ।

१. अर्थात् उणादिकोष=उणादिसूत्र। ग्रन्थकार ने उणादिकोष की भी अत्यन्त उपयोगी व्याख्या लिखी है।

२. साक्षात् सूत्रस्थ पदों से सम्बद्ध शङ्का-समाधानमात्र।

३. प्रयोगसिद्धि में साक्षात् सहयोगी वार्तिकमात्र।

४. अर्थात् द्वितीयावृत्ति।

५. अर्थात् मन्शा=इच्छा।

[व्याकरण के पश्चात् पठनीय ग्रन्थ]

व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत **निघण्टु**[1] और **निरुक्त** छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें।

तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत **छन्दोग्रन्थ**, जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान नवीन-रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोक की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें।

[पठनीय साहित्य-ग्रन्थ]

तत्पश्चात् **मनुस्मृति**, **वाल्मीक**[2] **रामायण** और **महाभारत** के उद्योगपर्वान्तर्गत **विदुरनीति** आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण, जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता, सभ्यता प्राप्त हो। वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य-विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें, और विद्यार्थी लोग जानते जाएँ। इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ लें।

निघण्टु व निरुक्त—वेदपरिज्ञानार्थ निरुक्त एक अनिवार्य वेदांग है। निरुक्त, निघण्टु का भाष्य है। यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त हो चुके हैं—यह निर्विवाद है। उनमें से १२ निरुक्तकारों को यास्क ने अपने ग्रन्थ में यथास्थान उद्धृत किया है। वे हैं—औपमन्यव, गार्ग्य, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकि, गालव, कात्थक्य, क्रौष्टुकि तथा स्थौलाष्ठीवि। शाकपूणि को यास्क ने २० बार स्मरण किया है। बृहद्देवता में भी १० बार उसका उल्लेख मिलता है। इस सबसे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए निरुक्त की रचना की। यास्कमुनिकृत वर्त्तमान निरुक्त जिस निघण्टु का भाष्य है, वह सम्पूर्ण उपलब्ध है। यह वैदिक कोश अथवा निघण्टु स्वयं भगवान् यास्क की ही रचना है, यह निरुक्त के पहले ही वाक्य से झलकता है। वह वाक्य है—**'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'**। इसका सीधा अर्थ है—(समाम्नायः) वैदिक शब्दसमूह (समाम्नातः) संग्रह किया जा चुका है (सः) वह (व्याख्यातव्यः) अब व्याख्यात किया जाना चाहिए। 'मा' धातु का प्रयोग कथन अर्थ में प्रायः होता है, जैसे—**'समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्र्यन्तावामयः स च'** (माघ २।१०)। अर्थात् साधुजनों ने बढ़ते हुए रोग और शत्रु को समान कहा है। इस प्रकार 'समाम्नायः' का अर्थ हुआ—सम्+आ+म्ना=किन्हीं विशेष शब्दों का किसी विशेष क्रम से संग्रह। संग्रह अर्थ में **'समाम्नाय'** शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, जैसे—**'अधोरामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कृकवाकुः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते'** (निरुक्त १२।१३) तथा **'सोऽयमक्षरसमाम्नायः'** (महाभाष्य १।१।२ आह्निक के अन्त में)।

यास्काचार्य का कथन है कि मैं वेदाध्ययनोपयोगी शब्दसमूह का संग्रह कर चुका हूँ, पर यह शब्दसंग्रह पर्यायसंग्रह नहीं है, उसकी व्याख्या अपेक्षित है। यदि यह निघण्टु यास्क से पूर्व विद्यमान होता तो आचार्य

१. ग्रन्थकार ने स्व-सम्पादित निघण्टु की भूमिका में भी ऐसा ही लिखा है। यास्कीय निरुक्त अ० ७ खं० १३ में निघण्टु के प्रवचन-सम्बन्ध में दो बार 'समामने' उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश होने से निघण्टु का प्रवक्ता यास्क ही है, यह स्पष्ट है।

२. काशकृत्स्न-काशकृत्स्नि के समान वाल्मीक और वाल्मीकि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।

[षड्दर्शन एवं उपनिषद्]

तदनन्तर **पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य** और **वेदान्त** अर्थात् जहाँ तक बन सके वहाँ तक ऋषिकृतव्याख्यासहित[1] अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें, परन्तु वेदान्तसूत्रों के पढ़ने के पूर्व **ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक** इन दश उपनिषदों को पढ़ाके छः शास्त्रों के भाष्यवृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें ।

[ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ वेदों का अध्ययन]

पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् **ऐतरेय, शतपथ, साम**[2] और **गोपथ** ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया-सहित[3] पढ़ाना योग्य है । इसमें प्रमाण—

[अर्थ न जाननेवाले की निन्दा और अर्थज्ञ की प्रशंसा]

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

—यह निरुक्त (१।१८) में मन्त्र है

अर्थः—जो वेद को स्वर और पाठमात्र को पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष डाली-पत्ते-फल-फूल, और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् सर्वानन्द (मोक्ष) को प्राप्त होता है' ॥

लिखते—**'समाम्नायो व्याख्यायते'** अथवा **'समाम्नायो व्याख्यातव्यः'** । निघण्टु को पहले से विद्यमान माना जाए तो बीच में **'समाम्नातः'** और **'सः'** दोनों पद सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं । **'समाम्नातः'** तथा **'सः'** दोनों का सार्थक्य उसके आसन्नभूत में प्रणीत होने में है । यास्कमुनि ने इस पद का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई सामान्य व्यवहार में कहे—लो भाई, इतना काम तो हो गया, अब यह करना रह गया है । यास्कीय निरुक्त अ० ७ खं० १३ में निघण्टु के प्रवचन-सम्बन्ध में दो बार **'समामने'** उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश होने से निघण्टु का प्रवक्ता यास्क ही है, यह स्पष्ट है । ग्रन्थकार ने स्वसम्पादित निघण्टु की भूमिका में भी ऐसा ही लिखा है । प्रस्थानभेद के कर्त्ता महापण्डित मधुसूदन सरस्वती ने भी निघण्टु को यास्कविरचित ही कहा है ।

उत त्वः—जिस प्रकार किसी विशेष समय में पत्नी के समग्र शरीर को देखने का अधिकारी एकमात्र

१. षड्दर्शनों पर ऋषिकृत भाष्यों का परिगणन आगे देखें ।
२. ग्रन्थकार ने स्वीय 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—'सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति ।' ये ब्राह्मण संख्या में आठ हैं ।
३. सम्भवतः यहाँ 'क्रियासहित' पद से कल्पसूत्रोक्त याज्ञिककर्मसहित अध्ययन अभिप्रेत है । इस प्रकार यहाँ कल्पसूत्रों का साक्षात् अध्ययन विहित न होने पर भी कल्पसूत्रों के अध्ययन का विधान ग्रन्थकार ने कर दिया है ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
—ऋ० म० १०। सू० ७१ मं० ४

अर्थः—जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते। अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्यावाणी के रहस्य को नहीं जान सकते, किन्तु जो शब्द-अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है, उसके लिए विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिए अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
—ऋ० म० १। सू० १६४। मं० ३६॥

अर्थः—जिस व्यापक, अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी-सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है ? नहीं-नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़के धर्मात्मा, योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिए जो कुछ पढ़ना-पढ़ाना हो, अर्थज्ञान-सहित होना चाहिए ॥

पति होता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक वेदार्थज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही कोई विद्वान् वेदवाणी के पूर्ण स्वरूप को देख पाता है—उसके अन्तर्निहित रहस्यों को जान सकता है।

ऋचो अक्षरे—प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु वेदप्रतिपाद्य में सब देवता एक महादेव की ओर संकेत करते हैं। निरुक्तकार ७।४ में कहते हैं—**'महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते'** अर्थात् देवता के अत्यन्त भाग्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है ? इसका उत्तर देते हुए निरुक्त के परिशिष्ट में कहा है—**'अथैष महानात्मा सत्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म'** अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। **'अग्निमीळे'** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख किया गया है। वेदाध्ययन का मुख्य प्रयोजन तो अन्ततः ईश्वर की प्राप्ति है। समस्त ऋचाएँ उसी परम सत्ता का अवबोध कराने के लिए हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रतिज्ञाविषय' में कहा है—**'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तत्यागो भवति'**—अर्थात् वेद के एक भी मन्त्र का अर्थ करते समय ईश्वरपरक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमें वेदमन्त्रों के पास इस पवित्र भाव के साथ जाना चाहिए कि वे हमें उस अक्षरब्रह्म के पवित्र चरणों में पहुँचाने में सहायक होंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो वेद का पढ़ना व्यर्थ है। **'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** का यही अभिप्राय है।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थ—**'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'**—किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को ऋषि कहते हैं। साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में निश्चयपूर्वक जानना। वह आप्त-पुरुष होता है। आप्तपद **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका भाव है—पूर्ण जानकारी। ग्रन्थकार ने आप्तपुरुष का लक्षण करते हुए लिखा है—'पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष, जैसा अपनी आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की

[उपवेद]

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के, **आयुर्वेद** अर्थात् जो चरक-सुश्रुत आदि ऋषि-मुनिप्रणीत वैद्यक-शास्त्र है, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्रछेदन-भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुणज्ञानपूर्वक ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें। तदनन्तर **धनुर्वेद**[1] अर्थात् जो राजसम्बन्धी काम करना है, **इसके दो भेद**—एक निज राजपुरुष सम्बन्धी, और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्र-विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास, अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं, जोकि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें। दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें। इस राजविद्या को दो-दो[2] वर्ष में सीखकर, **गान्धर्ववेद** कि जिसको '**गानविद्या**' कहते हैं, उसमें स्वर, राग-रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें, परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और 'नारदसंहिता' आदि जो-जो आर्षग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें, परन्तु भडुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें। **अर्थवेद** कि जिसको '**शिल्पविद्या**' कहते हैं, उसको पदार्थ-गुण-विज्ञान क्रिया -कौशल नानाविधि पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश-पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके, अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है उस विद्या को[3] सीखके—

[ज्योतिश्शास्त्र]

दो वर्ष में **ज्योतिश्शास्त्र** सूर्यसिद्धान्तादि, जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें, परन्तु जितने ग्रह-नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझके कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि जिससे तीस वा इकत्तीस वर्ष के भीतर समग्रविद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से तीस वा इकत्तीस[4] वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रविद् और धर्मात्मा थे[5]। और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं, और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

---

१. विश्वामित्र, जमदग्नि के धनुर्वेदों के कुछ भाग अब भी विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।

२. राजविद्या के दो भाग पूर्व दर्शाये हैं। उन दोनों को दो-दो वर्षों में अर्थात् धनुर्वेद को ४ वर्ष में पढ़ें-पढ़ावें।

३. यहाँ समय का निर्देश सम्भवतः छूट गया है। पूर्व दो उपवेदों का काल ४-४ वर्ष कहा है। तदनुसार यहाँ भी ४ चार वर्ष जानना चाहिए। संस्कारविधि में तीन उपवेदों का ३-३ वर्ष और अर्थवेद का ६ वर्ष लिखा है।

४. 'संस्कारविधि' में कुछ भेद होनेपर भी अध्ययन काल३१ वर्ष लिखा है। कुल योग इस प्रकार जानना चाहिए—व्याकरण ३ वर्ष, निरुक्त ८ मास, पिङ्गल छन्द ४मास, साहित्य १ वर्ष, छः दर्शन २ वर्ष, चारों ब्राह्मणसहित वेद ६ वर्ष, आयुर्वेद ४ वर्ष, राजविद्या २+२=(४) वर्ष, गान्धर्ववेद [४ वर्ष], अर्थवेद [४ वर्ष], ज्योतिष २ वर्ष=३१ वर्ष कुलयोग।

५. किस प्रकार के शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए, इसकी विशद मीमांसा 'चरक' विमानस्थान अ० ८ खं० ३ में विस्तार से की है। उसे अवश्य देखना चाहिए।

[षड्दर्शनों के प्रामाणिक भाष्य]

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतममुनि कृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़ें-पढ़ावें। इत्यादि सूत्रों को कल्प[1] अङ्ग में भी गिनना चाहिए।

[स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण ग्रन्थ]

जैसे ऋग्यजुः, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त छन्द और ज्योतिष् छः वेदों के अङ्ग; मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनियों के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त-स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण, अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद की विशेष व्याख्या **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में देख लीजिए, और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, वही आप्त कहाता है'। ऐसे ही आप्त पुरुषों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ।

स्वतःप्रमाण-परतःप्रमाण—स्वतःप्रमाण शब्द की व्याख्या आचार्यों ने विविध प्रकार से की है। ग्रन्थकार ने यहाँ यौगिक अर्थ लिया है, पारिभाषिक नहीं। वेदों के सन्दर्भ में स्वतःप्रामाण्यविषयक अपने मन्तव्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के अन्तर्गत लिखा है—'वे स्वयं **प्रमाणस्वरूप** हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा **प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक** और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।' 'वेदनित्यत्व' के प्रकरण में उन्होंने कहा है कि वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण को साक्षी के समान समझना चाहिए, क्योंकि वे स्वतःप्रमाण हैं सूर्य के समान। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ संसार के बड़े या छोटे पर्वत आदि से लेकर त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही वेद स्वयं प्रकाशित होकर सब विद्याओं को प्रकाशित करता है। एतद्विषयक अपने मन्तव्य को वहाँ दृढ़तापूर्वक इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—'**तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्यप्रदीपवत्**' अर्थात् वेद के विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। उनके इस विश्वास का कारण है—वेदों का ईश्वरोक्त होना—'**ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो**

---

१. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। कल्प-संज्ञक अङ्ग में आश्वलायन आदि कृत श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों की गणना होती है। यदि 'इत्यादि सूत्रों' से पूर्व-निर्दिष्ट दर्शनशास्त्रों का ग्रहण अभिप्रेत हो, तो यहाँ 'उपाङ्ग' शब्द का निर्देश होना चाहिए। कल्पसूत्रों के अध्ययन-अध्यापन का निर्देश ग्रन्थकार ने ब्राह्मणसहित वेद के अध्यनाध्यापनप्रकरण में 'क्रियासहित' शब्द के द्वारा परोक्षरूप से कर दिया है।

वेदाः स्वतःप्रमाणम्' । 'वेदनित्यत्व' (ऋ०भा०भू०) प्रकरण में भी वैशेषिक तथा न्यायसूत्रों को उद्धृत करके ईश्वरोक्त होने से अथवा आप्तप्रमाण के कारण वेदों को प्रमाण बतलाया गया है। ईश्वरोक्त होने से ही वे निर्भ्रान्त माने गये हैं ।

जगत् का कर्त्ता और वेदों का प्रकाशक एक ही परमात्मा है। जगत् के वास्तविक स्वरूप को वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है। वेद और जगत् में सामंजस्य होने अर्थात् जो कुछ है, जैसा कुछ जगत् है, उसका यथायथ वर्णन वेद में, और केवल वेद में, उपलब्ध होने से यह प्रमाणित होता है कि जो जगत् को पूर्णरूप से जानता है, वही उसका वैसा वर्णन कर सकता है। इस आधार पर वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वरीय होने से उसका स्वतःप्रामाण्य है और इसी कारण उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है ।

प्रश्न यह है कि यदि ईश्वरोक्त अथवा आप्तोक्त होने से ही वेद प्रमाण हैं तो अपने प्रामाण्य के लिए वे ईश्वर पर निर्भर ठहरते हैं। तब उन्हें स्वतःप्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? वैदिक दर्शनों में परस्पर वैमत्य मानकर ऐसा समझा जाता है कि न्याय-वैशेषिक के मत में वेद ईश्वरोक्त होने से प्रमाण हैं तो वे परतःप्रमाण हैं और पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य तथा अपौरुषेय होने से दोषरहित हैं, अतः वे स्वतःप्रमाण हैं। ग्रन्थकार के मत में वैदिक दर्शन परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने सर्वत्र उनमें समन्वय करने का प्रयत्न किया है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में वे आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं और मीमांसा की दृष्टि में अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं, इन दोनों मन्तव्यों में वे कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतः मीमांसकों ने अपौरुषेय होने से वेदों को निर्दोष माना है और निर्दोष होने से उन्हें स्वतःप्रमाण बतलाया है। यहाँ स्वतःप्रामाण्य का अभिप्राय है—जिसके प्रमाण के लिए किसी भावात्मक प्रमाण की आवश्यकता न हो। दोषरहित होना तो भावात्मक नहीं है, अपितु अभावात्मक है, अतः वेदों को स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार ग्रन्थकार के मत में भी भ्रमादि दोष न होने से वेदों को स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है। ईश्वरोक्त होना तो भ्रमादि अभाव में कारण है, वेद के प्रामाण्य में नहीं। यहाँ मीमांसक के मत से इतना ही अन्तर है कि वहाँ ईश्वरोक्त होने से वेदों को दोषरहित माना गया है और यहाँ अपौरुषेय होने से दोषरहित माना गया है। आप्त की कृति होने से वेद प्रमाण हैं अथवा अपौरुषेय होने से, इन दोनों मन्तव्यों में दोषाभाव ही प्रामाण्य का निमित्त है। इस प्रकार यहाँ न्याय तथा मीमांसकों में समन्वय हो जाता है। इस विवेचन का सार यह है कि वेदों के स्वतःप्रमाण होने में हेतु है उनका निर्भ्रान्त होना और उनके निर्भ्रान्त होने में हेतु है उनका ईश्वरोक्त अथवा अपौरुषेय होना ।

सांख्य-मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने सांख्यदर्शन के **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्'** (५।५१) इस सूत्र को उद्धृत करके कहा है—'निज शक्ति से अभिव्यक्त होने से अर्थात् पुरुष के साथ रहनेवाली प्रकृति के सामर्थ्य से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतःप्रामाण्य तथा नित्यत्व स्वीकार किया जाना चाहिए' (वेदनित्यत्वविषयः)। सांख्यप्रवचनभाष्य (५।५१) के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—वेदों की जो यथार्थ बोध कराने की अपनी शक्ति है, जो मन्त्र, आयुर्वेद आदि में अभिव्यक्त होती है, उससे सभी वेदों का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। सांख्यसूत्र के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि उसके कर्त्ता का अभाव है—**'न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्'** (५।४६)। यहाँ अपौरुषेयता में जो युक्ति दी गयी है वह मीमांसा के **'अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वात्'** के समान ही है। वस्तुतः पुरुषपद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है। जब यह कहा जाता है कि वेद अपौरुषेय है तो इसका सीधा अर्थ यह होता है कि वह अस्मदादिसदृश

[पठन-पाठन में परित्याग के योग्य ग्रन्थ]

अब जो **परित्याग के योग्य ग्रन्थ** हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है, अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जाल-ग्रन्थ समझना चाहिए—

व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका[1], मुग्धबोध, कौमुदी[2], शेखर,[3] मनोरमादि[4]। **कोश** में अमरकोशादि; **छन्दोग्रन्थ** में वृत्तरत्नाकरादि। **शिक्षा** में 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा'[5] इत्यादि। **ज्योतिष्** में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि; **काव्य** में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि; **मीमांसा** में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि, **वैशेषिक** में तर्कसंग्रहादि; **न्याय** में जागदीशी आदि; **योग** में हठप्रदीपिकादि; **सांख्य** में सांख्यतत्वकौमुद्यादि; **वेदान्त** में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि; **वैद्यक** में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति। सब तन्त्रग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणीमङ्गलादि और सर्व भाषाग्रन्थ, ये सब कपोलकल्पित, मिथ्याग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है। इससे **'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः'** जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

पुरुषप्रणीत नहीं है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने से सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओं के आदिमूल वेद की रचना करने में असमर्थ है।

इस प्रकार वेद ही स्वतःप्रमाण हैं, वेद से अतिरिक्त शेष सभी ग्रन्थ परतः अर्थात् वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध होने से प्रमाण हैं।

हठयोगप्रदीपिका—इसको वेदनिन्दा के कारण त्याज्य ग्रन्थ माना गया है। उसमें एक श्लोक में कहा गया है—**'वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव। एकैव शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव'** (४।२५६)। अर्थात् वेदशास्त्र और पुराण सामान्य वेश्या के समान हैं, अकेली शाम्भवीमुद्रा सुरक्षित कुलवधू के समान है। अन्य वर्जित ग्रन्थों में भी इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों तथा ऋषि-मुनियों की निन्दा और अवैदिक कृत्यों की प्रशंसा मिलती है।

ब्राह्मणानीति—आनन्दाश्रम से प्रकाशित आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३।१ में यह पाठ है—**'ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति'**—अर्थ में कुछ भेद नहीं है। आगे एकादश समुल्लास में पुराण-विचार-प्रसंग में इस वचन को उद्धृत करके 'यह ब्राह्मणों और सूत्रों का वचन है' ऐसा लिखा है। तैत्तिरीय आरण्यक २।६ में यह वचन उपलब्ध है। आरण्यकग्रन्थों का ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तर्भाव माना जाता है। अन्त में **'इति'** पद उद्धरण का निर्देशक है। इस वचन में **'ब्राह्मणानि'** संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा

---

१. चन्द्रिका=सारस्वतचन्द्रिका।

२. कौमुदी=सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी।

३. शेखर=लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर।

४. मनोरमा=प्रौढमनोरमा।

५. इस श्लोक से प्रारम्भ होनेवाली तथाकथित पाणिनीय शिक्षा।

[इतिहास-पुराण-विचार]

प्रश्न—क्या आप पुराण-इतिहास को नहीं मानते ?

उत्तर—हाँ मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं ?

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है ?

उत्तर—**'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति'** ॥

—यह गृह्यसूत्रादि का वचन है ॥

जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये, उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं । श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं ।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते ?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि-सत्यशास्त्रों का है, और मिथ्या उनके घर का है । वेदादि-सत्यशास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है । जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे । इसलिए **'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति'** असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिए, जैसे विषयुक्त अन्न को।

हैं, अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि पदों से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—**'किं तन्निःश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः—चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरुरवसोः संवादादिः—'उर्वशीहाप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव पुराणम् ।'** इस प्रकार शंकराचार्य ने इतिहास, पुराणादि शब्दों से ब्राह्मणगत विशिष्ट वचनों का निर्देश कर ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहास, पुराण आदि का पर्याय अथवा उनके अन्तर्गत स्वीकार किया है । सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय आरण्यक (२।६) के उक्त वचन की व्याख्या में इतिहास-पुराण आदि शब्दों से ब्राह्मणग्रन्थों का ही निर्देश माना है । **''ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नम्, तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि''** कहकर आरण्यकग्रन्थों से ही इतिहासादि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । इतिहास, पुराण आदि के ये लक्षण ब्राह्मणग्रन्थों में पूरी तरह घटते हैं, अतः श्रीमद्भागवतादि की पुराण संज्ञा नहीं हो सकती ।

'पुराण' शब्द के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अन्यत्र लिखा है—**''पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः''**—जो पुराणा पदार्थ होवे, उसे कहते हैं पुराण, सो सदा विशेषणवाची ही रहता है, तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक सब शब्द हैं तथा इनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं । जो विशेषणवाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्त्तक होते हैं, जैसेकि यह चीज़ पुरानी है तथा यह चीज़ नवीन है । पुराण शब्द जो है सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है । यह पदार्थ पुराना है, अर्थात् नया नहीं, और यह पदार्थ नया है, अर्थात् पुराना नहीं । जहाँ-जहाँ वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं । ऐसा ही अर्थ गौतममुनि-जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यानमुनि का किया भाष्य है, उसमें लिखा है—**'लोकव्यवस्थापनम् इतिहासपुराणस्य'** (४।१।६२)—वहाँ ब्राह्मणपुस्तक जो शतपथादिक, उनों का ही नाम पुराण है । तथा शंकराचार्य ने भी शारीरकभाष्य में और उपनिषद्भाष्य में ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही 'पुराण' शब्द से

[हमारा मत वेद है]

प्रश्न—तुम्हारा क्या मत है ?

उत्तर—वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं । जिसलिए वेद हमको मान्य है, इसलिए हमारा मत वेद है । ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को, विशेषतः आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिए ।

[छः शास्त्रों में अविरोध]

प्रश्न—जैसा सत्याऽसत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है । जैसा सृष्टि-विषय में छः शास्त्रों का विरोध है—मीमांसा कर्म, विशेषिक काल[1], न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है । क्या यह विरोध नहीं है ?

उत्तर—प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध[2] नहीं लिखी । और इनमें विरोध भी नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाऽविरोध का ज्ञान नहीं । मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में, अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

ग्रहण किया है । जो चाहे सो उन शास्त्रों में देख लेवै । वह इस प्रकार से कहा है कि जहाँ-जहाँ प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवै, उसका नाम 'इतिहास' है, और जहाँ-जहाँ वंशकथा होवै ब्राह्मणपुस्तकों में, उसका नाम 'पुराण' है और ऐसे जो कहते हैं कि १८ अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि उस बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में कहीं प्रमाण नहीं है और कथा भी इनों में अयुक्त ही हैं । इनों का नाम कोई पुराण रक्खै तो इनों से पूछना चाहिए कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं ?"

—ऋषि दयानन्द के 'पत्र और विज्ञापन' भाग १, सं० ३, पृ० २१ ।

पौराणिक लोग पुराणों को महर्षि वेदव्यास की रचना मानते हुए कहते हैं—

द्वापरान्ते च भगवान् वेदव्यासः सत्यवतीसुतः ।
तान्येव जनयामास लोकमंगलहेतवे ॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० ख० ४, अ० २५ ।

अर्थात् द्वापर के अन्त में सत्यवती के पुत्र व्यासजी ने लोककल्याण के लिए पुराणों की रचना की ।

श्री वेदव्यास कों पुराणों का कर्त्ता बतलानेवाले उक्त भविष्यपुराण में ही लिखा है—

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फर्वरी ।
षष्टिश्च सिक्स्टी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम् ॥ —भ०पु० प्रतिसर्ग १।५

द्वापर का अन्त हुए ३१०२ ईसापूर्व+१९६०=५०६२ वर्ष हो गये । तब तक तो इस देश में ही नहीं, संसारभर में अंग्रेजी जाननेवाला कोई भी नहीं था । भारत में अंग्रेजी जाननेवाला पहला व्यक्ति जहाँगीर के काल में सन् १७२७ ईसवी में सूरत में पहुँचा था । इस प्रकार वर्त्तमान में पुराण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों (कम-से-कम भविष्यपुराण) की रचना का काल लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ठहरता है ।

---

१. इसी काल को श्वेताश्वतर (उप० १।२) में सृष्टि के कारणों में गिना है । कबीर सम्प्रदाय के साधु सुन्दरदास ने सुन्दरविलास में लिखा है—'और वैशेषिक काल बखाने' । भ०द०

२. अर्थात् प्रकट वा स्पष्टरूप से ।

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको '**विरोध**' कहते हैं। यहाँ भी सृष्टि एक विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो ? एक है। जो एक है, तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों हैं ? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टिविद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुंभार कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म[1] कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में, और निमित्तकारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, ओषधिदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि-प्रकरण में कहेंगे।

इन भागवतादि पुराणों में कितना अनर्गल भरा पड़ा है, इसका विवेचन आगे एकादश समुल्लास में किया है। यहाँ पठन-पाठन का विषय होने से इतना ही बतलाना अपेक्षित था कि अनार्ष, युक्तिविरुद्ध तथा अश्लील होने से पाठ्यक्रम में इन ग्रन्थों को स्थान देना सर्वथा अनुचित है।

कर्त्तव्यकर्म—वेदानुकूल तथा वेदाविरुद्ध विहित कर्म कर्त्तव्य कर्म हैं, किन्तु वेदविरुद्ध कर्म सर्वथा निषिद्ध अर्थात् त्याज्य हैं। इसमें मीमांसा १।३।३ प्रमाण है।

छह शास्त्रों में अविरोध—प्रायः लोगों की यह धारणा है कि अन्यान्य ग्रन्थों की भाँति छह शास्त्रों में भी परस्पर विरोध है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस विषय में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ लिखा है—

"सज्जन लोगों को सत्यशास्त्रों ही का पढ़ना और पढ़ाना उचित है, जालग्रन्थों का कभी नहीं।

पूर्वपक्ष—छह शास्त्रों में भी अन्योन्यविरोध और परस्पर खण्डन देख पड़ता है। एक का दूसरे से, दूसरे का तीसरे से ऐसा ही सर्वत्र है। जैसा जालग्रन्थों में एक शास्त्र के विषय में बहुत-सी परस्पर विरुद्ध टीका और मूलग्रन्थ हैं, वैसा ही विरोध सत्यशास्त्रों में भी देख पड़ता है। जो दोष आपने जालग्रन्थों में दिया वही दोष सत्यशास्त्रों में भी आया। फिर सत्यशास्त्रों का पढ़ना और जालग्रन्थों का न पढ़ना आप कहते हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यह आप लोगों को जालग्रन्थों के पढ़ने और सुनने से भ्रान्ति हो गयी है कि सत्यशास्त्रों में भी विरोध और परस्पर खण्डन है। यह बात आप लोगों की मिथ्या ही है। देखना चाहिए कि आजकल के लोग टीका वा ग्रन्थ रचते हैं सो द्वेषबुद्धि से ही रचते हैं कि अपनी बात मिथ्या भी होय तो भी सत्य

---

१. मीमांसा में कर्मकाण्डीय यज्ञों के क्रियाकलाप का विचार किया है, साक्षात् सृष्टि के कारणरूप कर्म का विचार नहीं है यतः श्रौतयज्ञ मूलतः सृष्टि-यज्ञ के प्रतिकृतिरूप हैं, अतः इन श्रौतयज्ञों के कर्मों के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, वह मूलतः सृष्टि-यज्ञ-सम्बन्धी कर्म के विषय में ही जानना चाहिए। वेद में इन्हीं सृष्टियज्ञों का मुख्यतः व्याख्यान है।

[पढ़ने-पढ़ाने में विघ्नरूप कर्म]

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें। जैसा-कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि-सेवन और वेश्यागमनादि; बाल्यावस्था में विवाह, अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा, माता-माता और विद्वानों का प्रेम वेदादिशास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन अतिजागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; विद्या का लाभ सर्वोपरि न समझना; ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य-धन की वृद्धि न मानना; ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता-पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्ति मानकर सेवा-सत्संग न करना।

वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ 'ऊर्ध्वपुण्ड्र' त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला धारण; एकादशी' त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर

कर देते हैं। तब सब लोग उसको कहते हैं कि वह बड़ा पण्डित है। इस प्रकार के जो धूर्त्त मनुष्य हैं, वे ही टीका वा ग्रन्थ रचते हैं, उनमें इसी प्रकार की धूर्त्तता रखते हैं। उनको जो पढ़ता वा पढ़ाता है उसकी भी बुद्धि वैसी ही भ्रष्ट हो जाती है, सो मिथ्यावाद में प्रवृत्त होता है। . . . . इस दोष के होने से सत्यशास्त्रों का जो यथावत् अभिप्राय है, उसको जानते भी नहीं। इससे वे कहते हैं कि सत्यशास्त्रों में भी विरोध है, परन्तु मैं आप लोगों से कहता हूँ कि छह शास्त्रों में लेशमात्र भी परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि इनका विषय भिन्न-भिन्न है।''

छह दर्शनों में विरोध की बात प्रायः सृष्टिरचना के प्रसङ्ग में आती है, अतः इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे सृष्टिविषयक अष्टम समुल्लास में किया गया है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र—यत्कण्ठे तुलसी नास्ति ते नरा मूढमानसाः। अन्नं विष्ठा जलं मूत्रं पीयूषं रुधिरं भवेत्॥८॥ ततः सर्वेषु कालेषु कार्या तुलसीमालिका। क्षणार्द्धं तद्विहीनोऽपि विष्णुद्रोही भवेन्नरः॥६॥ ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमाला। ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्राः। ये बाहुमूलपरिचिह्नितशंखचक्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥१॥ (रामपटल पृ० १६, १७)। **ओं योऽसौ गोपीचन्दनेन वेणुपत्राकारोर्ध्वपुण्ड्रे नासिकार्द्धकेशपर्यन्तं तिलकं द्वादशं पञ्चमं वा स्वात्मनो निर्धारयति स पुण्यवान् कृष्णस्यानुचरो भवति स लोके पूज्यो भवति॥३॥** (रामपटल पृ० ६)। **ओं ऊर्ध्वपुण्ड्रं मस्तके धारयति स महात्मा॥२॥** (रामपटल पृ० १३)।

ब्रह्मचर्यावस्था में विद्याध्ययन के प्रसंग में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—''जब सोलह वर्ष का पुरुष होय तब से लेके जब तक वृद्धावस्था न आवै तब तक व्यायाम करै। बहुत न करै, किन्तु ४० बैठक करै और ३० वा ४० दण्ड करै। कुछ भीत, खम्भे वा पुरुष से बल करै। फिर लोट करै। उसको भोजन से एक घण्टा पहिले करै। सब अभ्यास जब कर चुके उससे एक घण्टा पीछे भोजन करै, परन्तु दूध जो पीना होय तो अभ्यास के पीछे शीघ्र ही पीवै। उससे शरीर में रोग न होगा। जो कुछ खाया वा पीया सो सब परिपक्व हो जाएगा। सब धातुओं की वृद्धि होती है तथा वीर्य की भी अत्यन्त वृद्धि होती है। शरीर दृढ़ हो जाता है और हड्डियाँ बड़ी पुष्ट हो जाती हैं। जाठराग्नि शुद्ध, प्रदीप्त रहता है और सन्धि-से-सन्धि हाड़ों की मिली रहती है अर्थात् सब अंग सुन्दर रहते हैं, परन्तु अधिक न करना। अधिक

होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना; विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के विना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मनाना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या-व्यवहारों में फँसके ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि, जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा और अपने जाल में फँसाके उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं, और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जाएँगे, तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

[स्त्री-शूद्रों को भी वेदाध्यन का अधिकार]

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है। जैसाकि यह निषेध है—**'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः'** स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो, और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और **सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण** यजुर्वेद छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

अर्थः—परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस

के करने से उतने गुण न होंगे, क्योंकि सब धातु शुष्क और रूक्ष हो जाते हैं। यह बात सुश्रुत में लिखी है। जो देखना चाहै सो देख लेवै।"

'स्त्रीशूद्र का विद्याधिकार—'स्त्रीशूद्रौ'—यह वचन **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'** इस रूप में 'मीमांसा-न्यायप्रकाश' के टीकाकारों ने 'रथकार का अग्न्याधान में अधिकार' प्रकरण के अन्त में उद्धृत किया है। सत्यव्रत सामश्रमी ने ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत **'यथेमां वाचं०'** इस मन्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए स्वरचित 'ऐतरेयालोचन', पृष्ठ १७ पर लिखा है—**"शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन 'यथेमां वाचं ...."** । **'इमं मन्त्रं०**—तुलना करें—**पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि'** (आश्व० श्रौ० १।११); **'यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यमनुब्रूयात्'** (तै०ब्रा० १।६।५।६); **'ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति'** (मीमांसा ३।८।१३) इत्यादि प्रमाणोक्त मन्त्रवाचन पत्नी द्वारा तभी सम्भव है जब वह विदुषी, वेद पढ़ी हुई हो। **'कैकेयी'** कहाती है—**'स्मर राजन् पुरावृत्तं तस्मिन् दैवासुरे रणम् । तत्र त्वां च्यावच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः । जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ' ॥** (वा०रा० अयो० काण्ड, सर्ग ११।१८।१६) । अर्थात् हे राजन् ! देवों तथा असुरों के संघर्ष में पहले हुए रण

को स्मरण करो। उसमें शत्रु ने तुम्हें मार गिराया था। वहाँ भी मैंने तुम्हारी रक्षा की थी। इस प्रयत्न में जागती हुई मुझे तुमने दो वर दिये थे।

जीवात्मा के कल्याण के लिए वेदादि शास्त्रों का उपदेश है, परन्तु उनके पढ़ने और समझने का सामर्थ्य जीवात्मा को मनुष्ययोनि में पहुँचने पर ही प्राप्त होता है। अन्य योनियों में यह सामर्थ्य नहीं रहता, वे केवल भोगयोनियाँ हैं। जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मवित् होकर मोक्षलाभ करना है। यह अवसर भी उसे मनुष्ययोनि में ही मिलता है। तब, इस योनि को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं में से किसी को शास्त्र- ज्ञान से, और वह भी उसके पिता स्वयं भगवान् के वेदज्ञान से वंचित करना कितना बड़ा अन्याय होगा !

जैसे द्विजाति वैसे ही शूद्र और स्त्रियाँ भी परमेश्वर की उत्पादित प्रजा हैं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, अन्न, वनस्पति आदि जितने भी पदार्थ सृष्टि में हैं, उनके उपयोग का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है। इसी प्रकार ईश्वरप्रदत्त ज्ञान वेद का अध्ययन कर तदनुकूल आचरण द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार भी मनुष्यमात्र को है। भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं। ईश्वरीय विधान में अवसर की समानता सबको सुलभ है। उससे लाभ उठाना प्रत्येक जीव के अपने सामर्थ्य पर निर्भर है।

'यथेमां वाचमित्यादि' मन्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त वेदवाणी पर जैसा अधिकार ब्राह्मण का है, वैसा ही अन्य सबका है। मनुष्यों में सर्वोपरि आप्तपुरुष मनु हैं और मनु की दृष्टि में **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**—वेद से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में स्वयं वेद द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा के पश्चात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। इसी के आधार पर ग्रन्थकार ने वेद का शताब्दियों से बन्द पड़ा द्वार सबके लिए खोल दिया। उनकी इस महान् क्रान्ति पर विश्वविख्यात लेखक और विचारक रोम्या रोलां (Roman Rolland) ने लिखा है—

"It was in truth an epoch making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have a right to know the Vedas, who had been previously prohibited by orthodox Brahmanas, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya."

—Life of Ramakrishna by Roman Rolland. Page 59

इसका आशय यह है कि सचमुच भारत के लिए वह एक नवयुग के निर्माण का दिन था जब एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने केवलमात्र यह स्वीकार ही नहीं किया कि मनुष्यमात्र को वेदों को जानने का अधिकार है, जिस अधिकार से उन्हें कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने वंचित कर रखा था, अपितु इस बात पर बल दिया कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना और उनका प्रचार करना प्रत्येक आर्य का धर्म है।

इस प्रकार देववाणी (ईश्वरीय ज्ञान) वेद को जनवाणी बनाने का श्रेय दयानन्द को है।

शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा करके वर्णाधिकार का निश्चय होता है। इसलिए मन्त्रगत ब्राह्मणादि पद यहाँ गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णों के सन्तानपरक हैं। बालक सन्तान, चाहे किसी भी वर्ण के हों, उन्हें गुरु के पास जा अध्ययन करने का समान अधिकार है। मानवसमाज का कोई वर्गविशेष उससे वंचित नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार के मत में मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। अतिमूर्ख को पढ़ाने अथवा वेदाध्ययन का अधिकार देने का क्या लाभ ? यह ऊसर भूमि में बीज डालने के समान है, किन्तु उक्त मन्त्र में ब्राह्मणादि के साथ शूद्रादि पदों का स्पष्ट निर्देश है। ऐसे

स्थलों में यह ध्यान रखना चाहिए कि जब ब्राह्मणादि के लिए वेदादि के अध्ययन का उल्लेख होता है तब ब्राह्मणादि पदों का अर्थ ब्राह्मणादि कुलोत्पन्न बालक सन्तान होता है। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। अवसर मिलने पर भी यदि कोई (भले ही द्विजकुलोत्पन्न हो) उससे लाभ नहीं उठा पाता, अर्थात् पढ़ने-लिखने में असमर्थ रहता है तो उसका वह अधिकार समाप्त होकर वह स्वयं शूद्र अथवा अतिशूद्र की कोटि में आ जाता है।

अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं—स्वत्व और योग्यता। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति में सभी पुत्रों का समानरूप से स्वत्वाधिकार होता है, वैसे ही परमात्मा की वेदज्ञानरूपी सम्पत्ति में उसके सभी पुत्रों—ब्राह्मण से लेकर अतिशूद्र तक—का समान अधिकार स्वतः सिद्ध है, किन्तु जिस प्रकार अपने स्वत्व का सदुपयोग करके योग्य व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को बढ़ा लेता है और अयोग्य व्यक्ति अपने उत्तराधिकार में प्राप्त धन को भी गवाँ बैठता है, उसी प्रकार अपनी योग्यता के कारण शूद्रकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ उठाकर ज्ञानी बन जाता है और ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ न उठाकर मूर्ख रह जाता है।

इस प्रकार **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'**। इसलिए जहाँ-जहाँ शास्त्रों और ग्रन्थकार की रचनाओं में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का प्रतिपादन किया है, वहाँ उसका तात्पर्य स्वत्वपरक है और जहाँ-कहीं निषेध की बात कही गयी है वहाँ उसका तात्पर्य योग्यतापरक है। 'इस संस्था के द्वार सबके लिए खुले हैं' यह घोषणा होने पर भी उसमें प्रवेश पाने के लिए निर्धारित न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता, बौद्धिक स्तर आदि सम्बन्धी शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। जाति, धर्म, लिङ्ग आदि के बाधक न होने पर भी प्रत्येक प्रवेशार्थी को उसकी योग्यता के आधार पर छोटी-बड़ी कक्षा में प्रवेश मिलता है।

अनुभवी शास्त्रकारों ने कतिपय ऐसे दोषों का निर्देश किया है जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं। उन दोषों से रहित बालक विद्याग्रहण के अधिकारी होते हैं। ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, उद्दण्डता, असत्यभाषण आदि इस प्रकार के दोष हैं, जिनके रहते विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। आचार्य अपने अनुभव के आधार पर विद्यार्थी की परीक्षा लेता है और उसकी शैक्षणिक योग्यता तथा चरित्र से आश्वस्त हो जाने पर ही उसे शिष्यरूप में स्वीकार करता है। मनुस्मृति २।११३ में कहा है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाए, पर घोर विपत्ति में भी उसे ऊसर में न बोये, अर्थात् कुपात्र को विद्या न दे। समाज में शूद्र वही है जिसमें प्रयास करने पर भी विद्योपयोगी गुणों का विकास नहीं हो पाता। ऐसे लोगों का वर्ग शारीरिक श्रम के लिए उपयुक्त समझा जाता है। यदि इस वर्ग में कोई विशिष्ट संस्कारी आत्मा किन्हीं निमित्तों से विद्योपयोगी गुणों के उद्भावन में सफल हो जाता है तो वह अभिलषित विद्या के लिए पूर्ण अधिकारी हो जाता है। ब्राह्मण, शूद्र आदि पद गुणवाचक हैं, इनमें जाति अथवा जन्म प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। काठकसंहिता में कहा है—

किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम् ।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः ॥

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) के **'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च'** (१।३।३८) सूत्र से पूर्वोक्त सत्य,

(कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि)उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

यहाँ कोई ऐसा **प्रश्न** करे कि—'**जन**' शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है। स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि। देखो, परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण-क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों॥

कहिए अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह '**नास्तिक**' कहावेगा, क्योंकि '**नास्तिको वेदनिन्दकः**' (मनु० ५।११) वेदों का निन्दक और न माननेवाला '**नास्तिक**' कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं,

---

सरलता, ब्रह्मचर्यादिगुणों के न होने पर उस व्यक्ति के लिए वेदादि के पढ़ने, सुनने और उसके द्वारा अनुष्ठान का निषेध किया है। अन्य के द्वारा पढ़े जाने पर दूसरे व्यक्ति का सुनना 'श्रवण' कहा जाता है। गुरुमुख से स्वयं पढ़ना 'अध्ययन' कहाता है। अधीत के अनुसार यज्ञादिविहित कर्मों का करना 'अर्थ' कहाता है। अध्ययन के अनन्तर वेदादि के मनन से उसके सार एवं रहस्य को समझना भी अर्थ कहाता है। ब्रह्मविद्या के श्रवण आदि का उन व्यक्तियों के लिए निषेध है जिनमें पूर्वोक्त दोष विद्यमान हों। ऐसे व्यक्तियों को विद्या का दान समाज के कल्याण का हेतु न होकर उसके अनर्थ का हेतु हो सकता है। निरुक्त (२।१।४) में उद्धृत एक सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट हो जाता है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या वेदज्ञ के पास आई और बोली—मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी अमूल्य निधि हूँ। असूया करनेवाले, उद्दण्ड एवं असंयमी के लिए मुझे मत देना, जिससे में बलवती हो सकूँ। दुष्टजन विद्या का दुरुपयोग कर समाज को हानि पहुँचाने का कारण बन सकते हैं। इसी भाव को मनुस्मृति में इन शब्दों में कहा है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीरवत्तमा॥

प्रकारान्तर से यही बात गीता (१८।६७) में इस प्रकार कही है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति

वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं। और जहाँ-कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।

[कन्याओं के ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन में प्रमाण]

और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो, वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥

—अथर्व० अ० ३। प्र० २४। का० ११। मं० १८॥[1]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने, अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य्य-सेवन से वेदादि-शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय, विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ॥

प्रश्न—क्या स्त्रीलोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य। देखो, श्रौतसूत्रादि में—**'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादिशास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण[2] और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि-शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं। यह **'शतपथब्राह्मण'**[3] में स्पष्ट लिखा है।

भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी, और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्यप्रति 'देवासुर-संग्राम' घर में मचा रहे, फिर सुख कहां ? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें ? तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य—जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना—इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो, आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं।

आस्थावान् न हो, आचार्य के प्रति सेवाभाव न रखता हो तथा जो परमेश्वर में आस्तिक बुद्धि न रखता हो।

अन्य उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२२) में बताया—**'नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः'**। अध्यात्मशास्त्रों में प्रतिपादित यह रहस्य उसे न देना चाहिए जो शान्त न हो, उद्दण्ड हो, जो आज्ञाकारी न हो, असंयत हो तथा जो श्रद्धा न रखता हो।

१. सरल पता—-काण्ड ११। सूक्त ५। मन्त्र १८॥

२. यज्ञ में जप-मन्त्र, न्यूङ्ख (१६ ओंकार) और सामगान के सस्वर उच्चारण का विधान है। इनसे भिन्न मन्त्र यज्ञ में एकश्रुति स्वर से बोले जाते हैं। द्र०—-'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (अ० १।२।३४) श्रौतसूत्रों में भी ऐसा ही विधान देखा जाता है।

३. द्र० शत० १४।६।६ गार्गी-याज्ञवल्क्य-संवाद।

'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' (वे०१।३।२५) में स्पष्ट 'मनुष्य' शब्द का निर्देश होने से बादरायण के मत में मनुष्यमात्र का वेदाध्ययन में अधिकारी होना सिद्ध है। अन्यथा वहाँ 'मनुष्य' के स्थान पर ब्राह्मणादि पदों में से किसी का निर्देश किया जा सकता था।

इस सूत्र (१।३।३८) को न समझकर पौराणिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला कि उसके कारण वैदिक धर्माभिमानी लोगों को सभ्य मानवसमाज में मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। शूद्रकुल में जन्म लेने के कारण किसी के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का सूत्र में संकेत तक नहीं है। इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि वेदव्यास के साक्षात् शिष्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसाशास्त्र में **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) इस सूत्र के द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार स्पष्ट स्वीकार किया है। गौतम-धर्मसूत्र (२।३।४) में लिख दिया गया—

"अथ हेति वाक्यांलकारे। उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम्। अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां त्रपुजतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे परिपूरितव्ये। उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। स चेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्। तस्य जिह्वा छेद्या धारणे सति यदान्यत्रगतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं शक्नोति ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम्—शूद्र के (अक्षरग्रहण करने की इच्छा से) वेदपाठ सुनने पर पिघलाये गये सीसे और जस्ते से उसके कान भर दिये जाएँ। द्विजातियों के साथ वेद के अक्षरों का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाए तथा वेदमन्त्र धारण करने पर उसका शरीरकाट दिया जाए।" —गौतमधर्मसूत्राणि, हिन्दीव्याख्याविभूषितहरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि। चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, १९६६।

सबसे अधिक आश्चर्य और खेद का विषय यह है कि इस सूत्र के मिथ्या अर्थ के प्रयोजक और प्रचारक-प्रसारक चराचर जगत् (जिसमें द्विजों के साथ शूद्र भी सम्मिलित हैं) को एक ब्रह्म का ही रूप, अंश तथा प्रतिबिम्ब माननेवाले जगद्गुरु आदि शंकराचार्य थे। उक्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है—**"इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः यस्य हि समीपे नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादथ ज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति। 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च।"**

अर्थात् इससे भी शूद्र का वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके श्रवण, अध्ययन और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, अध्ययन और वेदार्थ के ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। इसलिए समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के कानों को पिघले हुए सीसे और लाख से भरदे। शूद्र चलता फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए। वह बिना सुने अध्ययन कैसे कर सकता है ? यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए और यदि वेद को याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ। इसी हेतु से कि शूद्र के लिए अध्ययन एवं अनुष्ठान का निषेध है, ब्राह्मण को चाहिए कि शूद्र को ज्ञान न दे। अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान केवल द्विजों के लिए है।

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, सायणाचार्य आदि सभी पौराणिक आचार्यों ने

वेद के विपरीत शंकराचार्य की अवैदिक विचारधारा का ही अनुसरण किया। आर्षग्रन्थों में कहीं इसका प्रतिपादन नहीं हुआ है। शूद्रों के धर्मान्तरण के लिए बहुत हद तक शंकराचार्य और तदनुयायी आचार्य ज़िम्मेदार हैं।

अथर्ववेद के अन्तर्गत **'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'**० (१९।७१।१) इस मन्त्र में आये **'पावमानी द्विजानाम्'** इस मन्त्रांश को लक्ष्य करके कहा जाता है कि वेदमाता द्विजों को ही पवित्र करनेवाली और उन्हीं को अनेकविध ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली है, शूद्रों के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि द्विजेतर शूद्रादि का वेदाध्ययन में कोई अधिकार नहीं है। इस विषय में यह जानना आवश्यक है कि जिसका दो बार जन्म होता है वही द्विज कहाता है। एक बार माता के गर्भ से प्रत्येक मनुष्य का जन्म होता है। तदनन्तर गुरुकुल में प्रविष्ट कराते समय बालक के माता-पिता आचार्य से प्रार्थना करते हैं—**''आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्''** (यजुः० २।३३)। इस प्रकार आचार्य बालक को अपने गर्भ में धारण करता है। आचार्यकुल में रहते हुए पूर्ण विद्या प्राप्त कर जब वहाँ से स्नातक बनकर निकलता है तो उसका दूसरा जन्म हुआ कहा जाता है। तब उसकी द्विज संज्ञा होती है। इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न द्विजसंज्ञक व्यक्ति को ही उन पदार्थों की प्राप्ति होती है, जिनका उल्लेख उक्त मन्त्र में हुआ है। विद्याप्राप्ति का अवसर पाना प्रत्येक बालक का जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार है, किन्तु अवसर मिलने पर भी जो उससे लाभ नहीं उठाता और विद्या पूर्ण किये बिना ही गुरुकुल से भाग खड़ा होता है वह दूसरा जन्म न होने से शूद्र रह जाता है और इस प्रकार द्विजों को मिलनेवाले पदार्थों से वंचित हो जाता है। **'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'** (तै० सं० ७।१।१।६) इत्यादि प्रसंग भी ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं जो किसी प्रकार विधिवत् वेदाध्ययन नहीं कर पाये। वे मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ हैं, पर यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के अनाप-शनाप उच्चारण का दुस्साहस करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मन्त्रोच्चारयिता के रूप में यज्ञों में भाग लेने का निषेध है। यह निषेध शूद्र के विद्यानधिकार का प्रयोजक नहीं है। विद्याध्ययन के लिए मनुष्यमात्र को अवसर दिया जाना सर्वथा शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत है।

यह कहा जाता है कि मधुच्छन्दा आदि वेदद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में किसी शूद्र ऋषि का सम्भव न होने से स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या एवं वेदाध्ययन आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार शास्त्रसम्मत नहीं है। वस्तुतः 'ब्राह्मण' आदि पद गुणवाचक हैं, किन्हीं विशिष्ट गुणों के वाचक होने से इन पदों का प्रयोग समाज के विभिन्न वर्गों के लिए होता है। तब जो वेदद्रष्टा है उसे शूद्र कैसे कहा जा सकता है और जो शूद्र है वह वेदद्रष्टा कैसे हो सकता है ? जो बालक गुरु या आचार्य के पास जाकर उपनीत हो, वेदादि के अध्ययन में सफल नहीं होता अथवा प्रत्येक प्रयास किये जाने पर भी अपने अध्ययनक्रम को पूरा नहीं कर पाता, वह शूद्र कहाता है। ऐसा व्यक्ति वेदद्रष्टा कैसे हो सकता है ? तथापि इससे वेदादि में उसका अधिकार नष्ट नहीं होता।

यदि शूद्र से अभिप्राय शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति से ही हो तो कवष, ऐलूष आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने शूद्रकुल में जन्म लेकर ऋषित्व को प्राप्त किया। वेद पढ़ने का अधिकार न होता तो वे वेद पढ़ते कैसे और पढ़े बिना मन्त्रार्थ का दर्शन कैसे करते ? ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्याग्रन्थ हैं। ऐतरेयब्राह्मण का रचयिता महीदास दासीपुत्र था। शूद्रकुलोत्पन्न मतङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणपद-प्राप्ति तो इतिहासप्रसिद्ध है और वेदाध्ययन के बिना कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे मिथ्या एवं कल्पित वचनों के आधार पर शूद्रों के साथ-साथ वेदाध्ययन

क्योंकि जो न जानती होतीं, तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं, और युद्ध कर सकतीं[1] ? इसलिए ब्राह्मणी को सब विद्या और क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्याविशेष वैश्या को व्यवहारविद्या, और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए ।

[स्त्री-पुरुषों के न्यूनतम अध्ययनीय विषय]

जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म वैद्यक गणित शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए । क्योंकि इनके सीखे विना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान[2], यथायोग्य सन्तानोत्पति का पालन-वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना-कराना, वैद्यक-विद्या से औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं । जिससे घर में रोग कभी न आवे, और सब लोग सदा आनन्दित रहें ।

शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना; वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना; गणितिविद्या के विना सबका हिसाब समझना-समझाना; वेदादि-शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सकें । इसलिए वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें । जिससे वे सत्तान माता, पिता, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, दूष्ट-मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें ।

[विद्यारूपी अक्षय कोष]

यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करें, उतना ही बढ़ता जाए । अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं, और दायभागी भी निज भाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता[3]; । इस कोश की रक्षा और वृद्धि करनेवाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं ।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।। —मनु० ७।१५२

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य्य में रखके

पर ही नहीं, अध्ययनमात्र पर प्रतिबन्ध लगाने का भी प्रयास किया जाता रहा । वस्तुतः **'यथेमां वाचमित्यादि'** मन्त्र में **'जन'** पद स्त्री-पुरुष दोनों का वाचक है । सामान्यतः शास्त्रों में विधिनिषेधपरक जो भी वचन हैं, वे स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हैं । पाणिनि ने **'पुमान् स्त्रिया'** (१।२।६७)इस सूत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । फिर द्विजपत्नी होने से भी उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त है । पूर्वकाल में स्त्रियों का उपनयनसंस्कार होता था और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन करती थीं । निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ।।

---

१. वा० रामायण दाक्षिणात्य सं०, अयोध्या० ६।११; ११।१८,१६।।

२. अर्थात् वर्तन=वर्ताव करना ।

३. द्र०—''न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एवं नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ।।' प्रसङ्गाभरण ८ । सुभाषितरत्नभाण्डागार में 'विद्याप्रशंसा' में उद्धृत ।

विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य-कुल में रहें। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावे।

[विद्या का दान सर्वश्रेष्ठ]

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —मनु० ४।२३३।

संसार में जितने दान हैं, अर्थात् जल-अन्न-गौ-पृथिवी-वस्त्र-तिल-सुवर्ण और घृतादि, इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है॥

इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गयी। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जाएगी॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये तृतीयः

समुल्लासः सम्पूर्णः॥३॥

प्राचीन काल में गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं। अदिति, लोपामुद्रा, सरस्वती, गायत्री, आपालात्रेयी, यमी वैवस्वती, अदितिर्वा दाक्षायणी, वागाम्भृणी, इन्द्राणी, श्रद्धा-कामायनी आदि के नाम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य के सामने जब विद्वान् परास्त हो गये तो वाचक्नवी गार्गी ने जनक की सभा में कितने आत्मविश्वास और गर्व के साथ कहा था "**ब्राह्मणा भगवन्तो द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमां कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।**" अर्थात् हे ब्राह्मणों! मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी। यदि उन्होंने उत्तर दे दिया तो आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता को न जीत सकेगा।

मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की अध्यक्षता मण्डनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी ने की थी। शंकरदिग्विजय में भारतीदेवी के विषय में लिखा है—

शास्त्राणि सर्वाणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम्।

अर्थात् भारतीदेवी छह शास्त्रों और छह अंगोंसहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों को जानती थी। इतना ही नहीं, '**तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला**'—ऐसा कोई विषय नहीं था, जिसका उसे ज्ञान न हो।

इति श्रीविद्यानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थभास्करे तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः।

अथ चतुर्थ-समुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

[गृहस्थाश्रम का अधिकारी]

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥ —मनु० ३।२

अर्थः— जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य में आचार्य्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥१॥

विवाह से अभिप्राय—'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह प्रापणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उद्' उपसर्ग से इसका पर्यायवाची 'उद्वाह' शब्द बनता है। विवाह का अर्थ 'विशेष विधिपूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके पारस्परिक दायित्व को वहन करना—निभाना' है। यह एक शास्त्र-सम्मत सामाजिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुष सुख-सुविधा हेतु और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और कालान्तर में सन्तानोत्पत्ति के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं।

वेद में विवाह शब्द साक्षात् उपलब्ध नहीं है, किन्तु विवाह के मूल में जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसमें 'हस्तं गृभ्णामि' पद ही विवाह के तात्पर्य के द्योतक हैं। इसका अर्थ है कि पति-पत्नी का हाथ सारी आयु के लिए पकड़ता है और अपने ऊपर पूर्णरूप से उसका दायित्व लेता है। विवाह में 'हस्तं गृभ्णामि' का इतना महत्त्व है कि विवाह का दूसरा नाम 'पाणिग्रहण' प्रसिद्ध है। अन्य जातियों ने यद्यपि वैदिक धर्म को मूलरूप में त्याग दिया है तो भी इनके संस्कारों में कहीं-कहीं वैदिक रीतियों का प्रभाव दिखाई देता है।

पारसियों में विवाहकाल में वर कन्या के हाथ को पकड़ता है। इस विवाह-विधि को वे 'हाथ वरो' कहते हैं। जिसका अर्थ है—हाथ पकड़ना। यह संस्कृत का अपभ्रंश शब्द है। संस्कृत में हाथ (हस्त=हाथ) वरो (वरण=ग्रहण) होता है। इस 'हस्तवरण' या 'हाथ वरो' को ही पंजाबी में 'हथलेवा' कहते हैं। रोमन स्त्री भी विवाह के अवसर पर अपना दायाँ हाथ वर के दायें हाथ पर रखती है। इसका विवरण Encyclopaedia of Religion में 'Marriage' शीर्षक के अन्तर्गत देखा जा सकता है। पारस्करगृह्यसूत्र १।६।३ में भी पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र को विवाह का मूल माना जाता है। ऐसे ही ऋग्वेद १०।८५ के पूरे सूक्त में विवाह का ही वर्णन है।

वेदानधीत्य—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। जिस

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥२॥ —मनु० ३।३

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य्य और शिष्य का धर्म है, उससे युक्त पिता, जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करनेवाला अपने पलंग पर बैठे हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे । वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे ॥२॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥३॥ —मनु० ३।४॥

गुरु की आज्ञा से स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ॥३॥

व्यक्ति ने २४ वर्ष की अवस्था तक गुरुचरणों में बैठकर अध्ययन नहीं किया और अपने शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास नहीं किया उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है । वैदिक आदर्श यह है कि जो कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण प्रस्तुत करे । कन्या के विषय में भी अथर्ववेद (११।५।१८) का वचन है—**'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** । 'अविप्लुतब्रह्मचर्य' का अर्थ है कि जो अपने ब्रह्मचर्य के भंग न होने का प्रमाण प्रस्तुत न कर सके उसके साथ कोई पिता अपने पुत्र या पुत्री का विवाह न करे ।

स्रग्विणम्—कुल्लूकभट्ट ने इसका अर्थ किया है—मालयालंकृतम् । माला आदि अलंकृत करनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है (मनु० २।१५२), किन्तु गृहस्थेच्छुक के लिए समावर्त्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है । प्रतीत होता है कि माला धारण करना गृहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतक परम्परा थी । शायद वही परम्परा वर्तमान में विवाह संस्कार से पूर्व वर-वधू के द्वारा परस्पर माल्यार्पण के रूप में प्रचलित है । इस प्रकार 'स्रग्वि' शब्द का प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ़ हो गया है ।

गुरुणानुमतः—'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक 'वृत् वर्त्तने' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से समावर्त्तन शब्द निष्पन्न होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है—वापस लौटाना । गुरु के समीप रहकर, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वेद=वेदांग की शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल से घर लौटने का नाम समावर्त्तन है । यह एक संस्कार है जिसको 'स्नान' भी कहा जाता है । इसी कारण समावर्त्तन करनेवाले को 'स्नातक' कहा जाता है । स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—

तदाह हारीतः—'त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्त्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदं समावर्ततो स व्रतस्नातकः उभयं समाप्य समावर्त्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः ।'

अर्थात्—स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक—जो ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण किये बिना विद्या को समाप्त करके समावर्त्तन करते हैं ; २. व्रतस्नातक—जो विद्या को पूर्ण किये बिना ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं ; ३. विद्याव्रतस्नातक—जो विद्या तथा ब्रह्मचर्यव्रत दोनों को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं । विद्याव्रतस्नातक स्नातक की स्थिति शिक्षा की दृष्टि से सर्वोपरि थी । विद्याव्रतस्नातक कैसा होता है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—

पाण्डव लोग गुरु द्रोणाचार्य के पास विद्याध्ययन कर रहे थे। एक दिन गुरुजी ने पढ़ाया—**'क्रोधं मा कुरु'** और याद करके अगले दिन सुनाने के लिए कहा। अगले दिन जब गुरुजी ने पाठ सुनाने के लिए कहा तो बारी-बारी सब ने रटा-रटाया पाठ सुना दिया, परन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ। जब कई दिन इसी प्रकार बीत गये तब गुरुजी ने युधिष्ठिर की भर्त्स्ना करते हुए जमकर उसकी पिटाई की। तब युधिष्ठिर ने नम्रतापूर्वक कहा—'गुरुजी' आप मेरे चेहरे को देखिए। यदि उसपर आपको क्रोध के लक्षण न दीखें तो समझ लीजिए कि मुझे पाठ याद हो गया, अन्यथा नहीं। इस कथानक में विद्याव्रतस्नातक का भेद छिपा है। विद्यास्नातक उसे कहते थे जो ग्रन्थों का अभ्यास कर लेता थ। व्रत स्नातक उसे कहते थे जो पढ़ने-लिखने में बहुत निपुण नहीं होता था, परन्तु अपने जीवन को पूरी तरह ब्रह्मचर्य के नियमों के अनुसार ढाल लेता था। विद्याव्रतस्नातक वह कहाता था जो अध्ययन और आचरण दोनों में समान रूप से पूर्णता प्राप्त कर लेता था और इस प्रकार शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप से ढाल लेता था। इसी को लक्ष्य कर डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है—Knowledge is realised experience.

शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा होते समय समावर्त्तन-संस्कार के अवसर पर आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया उपदेश (तै० उप० शिक्षावल्ली, अनु० ११, कं० १-४) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उपदेश ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर घर लौटने के समय दिया जाता है, इसलिए इसका प्रयोजन उन बातों का निर्देश करना है जिनकी उपेक्षा करने पर अगले गृहाश्रम में वह सुखी नहीं रह सकेगा। उपदेश का आरम्भ **'सत्यं वद, धर्मं चर'** से होता है। सत्य और धर्म पर दृढ़ रहने की बात पर बल देने के लिए आचार्य फिर एक बार इन शब्दों में उसे दुहराता है—**'सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्'** ताकि वह यह न समझ बैठे कि ब्रह्मचर्याश्रम की बातें वहीं के लिए होती हैं, परिवार व समाज में काम नहीं देतीं—वहाँ झूठ और पाप के बिना काम नहीं चलता। इसीलिए ग्रन्थकार ने भी यहाँ 'मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म में वर्त्तने' पर बल दिया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विवाहविषय के अन्तर्गत 'सन्तानोत्पत्यादिप्रयोजनसिद्धये' लिखकर ग्रन्थकार ने सन्तानोत्पत्ति को विवाह का मुख्य प्रयोजन बताया है। तैत्तिरीय उपनिषद् के उपर्युक्त दीक्षान्त भाषण में आचार्य स्नातक को सम्बोधित करते समय अन्य बातों के समान यह भी कहता है—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** अर्थात् वंश-परम्परा को मत काट देना। इसीलिए शास्त्र का आदेश है—**'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्;** गृहस्थमाविशेत्' इत्यादि। **गृहशब्दस्य दारवचनत्वात् कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः**। प्राचीन वैदिक आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाहबन्धन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्मा अपने को एक सूत्र में इसीलिए बाँधते हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इस सूत्र में बाँधा जाए। इसलिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श सन्तानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ कहीं भी स्त्री-पुरुष का एक साथ वर्णन आता है, वहाँ सन्तान का उल्लेख अवश्य मिलता है। इसी उद्देश्य से यहाँ **'उद्वहेत द्विजो भार्याम्'** का निर्देश किया गया है।

सवर्णां लक्षणान्विताम्—स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—'ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या तथा शूद्र का शूद्रा से विवाह होना चाहिए, क्योंकि विद्यादिक गुणवाले पुरुष से विद्यादिक गुणवाली स्त्री का विवाह होने से दोनों को अत्यन्त सुख होगा और जो उत्तम पुरुष से मूर्ख स्त्री का या पण्डिता स्त्री से मूर्ख पुरुष का विवाह होगा तो अत्यन्त क्लेश होगा, कभी सुख न होगा।'

[विवाह-योग्य कन्या]

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥४॥ —मनु० ३।५॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो, और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है ॥४॥

यदि माता-पिता के गुण-कर्म-स्वभाव में समानता होगी तो उनसे श्रेष्ठ गुणसम्पन्न सन्तान होगी। इसके विपरीत यदि उनमें से एक भी हीन कुल का अथवा दुष्ट गुण-कर्म-स्वभाववाला होगा तो सन्तान भी वैसी ही होगी। इसका उदाहरण डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'Hindu View of Life (P. 73) में दिया है। वे लिखते हैं—

"An interesting record of one Martin Kallakak appeared in 'Popular Science Siftings'—'Martin Kallakak was a young soldier in the Revloutionary War. His ancestory was excellent. But in the general laxity and abnormal social conditions of war time he forgot his noble blood. He met a physically attractive but feeble-minded girl. The result of the meeting was a feeble-minded boy. This boy grew up and married a woman who was apparently of the same low stock as himself. They produced numerous proginity.The children in turn married other of their kind, and now for six generations this strain has been multiplying. Since that night of dissipation long ago the population has augmented by 480 souls who trace their aneestory back to Martin Kallakak and the nameless girl. Of these 143 have been feeble minded, 33 have been immoral, 36 illegitimate, 3 epileptios, 3 criminals and 8 brothel keepers. The same original Martin, however, after sowing this appaling crop of wild oats, finally married a young quaker girl of splendid talents and noble ancestory. From this union there have been 496 direct descendents. Many of them have been governors, one founder of a great University, doctors, lawyere, judges, educators, land-holders and useful citizens and admirable parents prominent in every phase of social life. The last one in evidence is now a man of wealth and influence."

सारांश-मार्टिन नामक एक व्यक्ति ने दो विवाह किये—पहला एक सुन्दर किन्तु अज्ञात कुलशीला निर्बुद्धि लड़की से और दूसरा एक सुयोग्य कुलीन लड़की से। पहली पत्नी और उससे उत्पन्न सन्तति-अनुसन्तति क्रम में कुल ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए जो प्रायः सभी मूर्ख, चरित्रहीन, रोगी, अपराधी और वेश्यालयों के संचालक निकले। इसके विपरीत दूसरी पत्नी से उत्पन्न सन्तति क्रम में ४९६ बच्चे हुए जिनमें अधिकतर गवर्नर, डॉक्टर, वकील, जज, शिक्षाशास्त्री, उद्योगपति और विश्वविद्यालय के संस्थापक हुए।

इस विषय में मनु ने चेतावनी देते हुए लिखा है—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥३।१४

द्विजाति लोग मोह या काम में फँसकर हीन जाति की स्त्री से विवाह करके सन्तानसहित अपने कुल को ही तेजी से शूद्रत्व की ओर ले-जाते हैं।

असपिण्डा—हिन्दू क़ानून की दो प्रणालियाँ हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। दायभाग प्रणाली के अनुसार पिण्ड का अर्थ है—श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किया जानेवाला चावलों का गोला। जो लोग एक ही पितर को पिण्ड दान कर सकें वे आपस में सपिण्ड कहाते हैं। एक ही पिता-पितामह की सन्तान

इसका यह प्रयोजन है कि—**'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** (शतपथ० १४।६।११।२)। यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं। जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो, तो उसका मन उसी में लगा रहता है। जैसे किसी परोक्ष व्यक्ति की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए।

श्राद्ध के समय पिण्ड अर्पण करते हैं, इसलिए वे सपिण्ड हैं। मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड का अर्थ किया है एक ही पिण्ड या शरीरवाले। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता के शरीर=रक्त से ही पुत्र का शरीर बनता है—**'अङ्गादङ्गात् सम्भवति'**। दादा और परदादा भी सपिण्ड हैं, क्योंकि उनके रक्त से ही पोते-परपोते का शरीर बनता है। इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ है एक ही रक्त के लोग (Consanguineous)। सपिण्ड का एक तीसरा अर्थ विख्यात विधिवेत्ता दफ़्तरी ने किया है। उनका कथन है कि सपिण्ड वे लोग होते हैं जो एक साथ भोजन करते हैं। उदाहरणार्थ—भाई-बहन तो एक साथ भोजन करते हैं, भाई-बहन की सन्तानें नहीं, क्योंकि वे बहुत देर बाद पैदा होती हैं। सपिण्ड में विवाह न करने का विधान भावनात्मक होने के साथ-साथ प्रजननिक (Eugenic) भी है। यह तो सभी जानते हैं कि अति परिचय में प्रेम नहीं रहता। इसलिए भावनात्मक दृष्टि से भाई-बहन में विवाह वर्जित है, परन्तु यह भी ठीक है कि समान रक्त की सन्तानों में उत्कृष्टता नहीं आती। इसलिए हिन्दू विवाह-व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है।

सपिण्ड में कौन-कौन आते हैं ? मिताक्षरा के अनुसार पीढ़ियों को देखते हुए समान-पूर्वज (Common ancestor) को भी इस क्रम में गिनना चाहिए और वर तथा वधू इन दोनों के माता और पिता की पीढ़ियों को देखना चाहिए। पूर्वज को छोड़ दिया जाए तो माता की ओर से पाँच पीढ़ियों में और पूर्व पुरुष को भी इस गणना में सम्मिलित किया जाए तो छह पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता। यदि गणना पिता की ओर से की जाए तो पिता की सातवीं पीढ़ी के बाद विवाह हो सकता है।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥ —मनु० ५।६०

सातवीं पीढ़ी में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुओं के नाम—जन्म स्मरण न रहें तो समानोदकता छूट जाती है।

'समानोदकभाव' मूलार्थ में एक मुहावरा है जिसका अर्थ हैद्रएक स्थान के जल का दूसरे स्थान के जल में मिलकर एक हो जाना। अत्यधिक घनिष्ठता की प्रतीति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। घनिष्ठता रहते हुए ही नाम आदि का ज्ञान बना रहता है। घनिष्ठता न रहने पर वह नहीं रहता।

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।
तेन मातामहादीनामेकपिण्डसम्बन्धेऽपि न सपिण्डता॥

समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुले अमुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्त्तते।—कुल्लूकभट्ट

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।
सपिण्डता ततः पश्चात् समानोदकधर्मतः॥—निर्णयसिन्धु

निकट विवाह में दोष और दूर विवाह करने में गुण ये हैं—

(१) **एक**—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक-दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव वा बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते, और जो नंगे भी एक-दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) **दूसरा**—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे ही एक गोत्र, पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) **तीसरा**—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न-गोत्र मातृ-पितृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

अर्थात् सभी की सपिण्डता गोत्र में सातवीं पीढ़ी तक रहती है। उसके पश्चात् धर्मपुरस्सर समानोदकता होती है।

सन् १९५५ में पारित हिन्दू विवाह अधिनियम (Hindu Marriage Act 1955) के अनुसार सपिण्डता के निषेध की सीमा कम कर दी गयी है। इस सीमा को पिता की ओर से पाँच और माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक सीमित कर दिया गया है।

सगोत्र—भारतीय परम्परा के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप की सन्तान **गोत्र** कही गयी हैं—

विश्वमित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि किसी परिवार का जो आदि प्रवर्त्तक था, जिस महापुरुष से परिवार चला उसका नाम परिवार का गोत्र बन गया और उस परिवार के जो स्त्री-पुरुष थे, वे आपस में भाई-बहन माने गये, क्योंकि भाई-बहन की शादी अनुचित प्रतीत होती है, इसलिए एक गोत्र के लड़के-लड़कियों में परस्पर विवाह वर्जित माना गया।

गोत्र के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य और बोधायन का मत है कि कालान्तर में गोत्रों की संख्या सात न रहकर हज़ारों में हो गयी। तब एक वंश परम्परा में ख़ानदान का जो प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ, चाहे आदिकाल में हुआ, चाहे बीच के काल में हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा—**'परम्पराप्रसिद्धं गोत्रम्'**—याज्ञवल्क्य। गोत्र-सम्बन्धी परम्परा का निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों का आदिपुरुष एक समझा गया, वे आपस में भाई-बहन माने जाने से उनके बीच विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध माना गया। आधुनिक विचारकों की दृष्टि से सपिण्डों में विवाह न करने का तो प्रजनिंक (Eugenic) आधार है, गोत्र, प्रवर आदि में विवाह न होने का भावनात्मक आधार तो हो सकता है, उसका प्रजनिक आधार अत्यन्त शिथिल है।

जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, हिन्दूसमाज में सपिण्ड विवाह होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। उदाहरणार्थ—अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया जिससे उसका पुत्र अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। यह मुमेरे-फुफेरे भाई-बहन (Maternal Cross Cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न का विवाह भी अपने मामा की लड़की रुक्मावती के साथ हुआ था। श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से और परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया

(४) **चौथा**—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूरदेशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) **पाँचवें**—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६)**छठे**—दूर-दूर देश के वर्त्तमान[1] और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने सें सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसीलिए **'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति'** (निरु०३।४।)। कन्या का नाम **'दुहिता'** इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट होने में नहीं।

(७) **सातवें**—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब इसको कुछ-न-कुछ देना ही होगा।

(८) **आठवाँ**—निकट होने से एक-दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड, और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जाएगी। एक-दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है। इत्यादि कारणों से पिता

था। सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का विवाह अपने मामा की लड़की यशोधरा से हुआ था। पृथ्वीराज चौहान ने अपनी मौसी की लड़की संयुक्ता से विवाह किया था। दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह होना आम बात है। वहाँ किसी-किसी जाति (वर्ग) में भांजी और साली की लड़की के साथ विवाह करने का रिवाज है। सम्भव है, दक्षिण में सपिण्ड विवाह होने का कारण मातृसत्तात्मक परिवार (matriarchal family) की प्रथा हो।

परन्तु यह सब महाभारतकाल में हुआ जो आर्यवर्त्त (भारतवर्ष) के सांस्कृतिक तथा नैतिक पतन का काल है। शास्त्रसम्मत न होने से उस काल के कृत्यों को आदर्श नहीं माना जा सकता। वस्तुतः एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह होना हितकर नहीं है—न प्रजननिक (Eugenic) आधार पर और न भावनात्मक (Emotional) आधार पर। इसलिए ग्रन्थकार ने संस्कार-विधि में लिखा है कि जब तक दूरस्थ कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। यह बात प्रजनन-विज्ञान (Science of Eugenices) द्वारा पुष्ट पाई गयी है।

परोक्षप्रिया—यह वचन शतपथ १४।६।१।१ और ऐतरेय उपनिषद् १।३।१४ में मिलता है। **'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः'** यह पाठ गोपथ १।१ में उपलब्ध है। शतपथ ६।१।१।२ तथा १४।१।१।१३ में 'परोक्षकामा हि देवाः' यह पाठ भी है।

यह ठीक है कि शतपथ में यह वचन विवाहप्रकरण में नहीं पढ़ा गया है, परन्तु ग्रन्थकार ने भी इसे विवाहपरक नहीं माना है। उन्होंने यहाँ मनु के वाक्य की पुष्टि में दृष्टान्तरूप में इसे उद्धृत किया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है। तदनुसार यहाँ ब्राह्मणग्रन्थ का केवल इतना अंश अपेक्षित है कि विद्वान् लोग दूरदर्शी होने के कारण परोक्ष को प्यार करते हैं। मनुष्य का दूरस्थ वस्तु के प्रति अधिक आकर्षण होता है, फलतः उसमें उसकी प्रीति अधिक होती है। इस प्रकार दूरस्थों में परस्पर विवाह अधिक प्रीति का कारण होगा।

---

१. अर्थात् वृत्त=समाचार।

है एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं।

[विवाह-सम्बन्ध के अयोग्य कुल]

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥१॥ —मनु० ३।६

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय-अजा, हाथी-घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों, तो भी विवाह सम्बन्ध में **निम्नलिखित दश कुलों का त्याग** कर दे ॥१॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च ॥२॥ —मनु० ३।७

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खाँसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिए, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए ॥२॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥३॥ —मनु० ३।८

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी-चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न

दुहिता—दुर्हिता=दूरे हिता। दुर्हिता—दुहिता। यहाँ दूर अर्थ में 'दुर्' का प्रयोग किया गया है, जैसे—**'सा वा एषा देवता दूर्नाम, दूरं ह्यस्या मृत्युः'** बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।६) के इस वचन में मृत्यु से दूर होने के कारण प्राण का 'दुर्' नाम बताते हुए 'दुर्' को दूरार्थक माना है। इस वचन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह दूर देश में होना चाहिए, समीप में नहीं। अथवा 'दुह्' धातु से 'तन्' प्रत्यय और 'इडागम' (उणादि २।९५)। पुत्री पिता से सदा कुछ-न-कुछ पदार्थ दुहती=लेती रहती है। दूरस्थ देश में विवाह करने के अतिरिक्त गुण का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने स०प्र० के प्रथम संस्करण में लिखा है—'यह बात भी अवश्य होनी चाहिए कि देश-देशान्तर में विवाह होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम देशों में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह के करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तर के व्यवहार भी जाने जाएँगे। बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन व्यवहार भी एक होगा। इससे मनुष्यों में बड़ा सुख होगा। जैसेकि पूर्व देश की कन्या और पश्चिम उत्तर देश में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल-बुद्धि-पराक्रमादिक तुल्य गुण हो जाएँगे। पत्र द्वारा और आने-जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण बढ़ेगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के लोगों को विदित होंगे। परस्पर विरोध जो है सो नष्ट हो जाएगा। इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा।'

इस प्रकार दूरस्थ देशों में विवाह सम्बन्ध होने से जहाँ एक ओर देश की एकता और अखण्डता को बल मिलेगा वहाँ विश्व स्तर पर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** और **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** की भावना जाग्रत् होगी।

नोद्वहेत—'अङ्ग' शब्द का अवयव अर्थ प्रसिद्ध है। 'अङ्गी' शरीर के लिए आता है, जैसे—'येनाङ्गविकारः' (अष्टा० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि मुनि ने 'अङ्गी' अर्थ में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग

लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी, और भूरे नेत्रवाली ॥३॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥४॥ —मनु० ३।६

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्तरी आदि नक्षत्र नामवाली; तुलसिआ, गेंदा, गुलाबा, चम्पा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली; गङ्गा, जमुना आदि नदी नामवाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नामवाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नामवाली; कोकिला, मैना आदि पक्षी नामवाली; नागी, भुजङ्गा आदि सर्प नामवाली; माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली; और भीमकुंअरी, चण्डिका, काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए, क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥४॥

किया है। जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा अङ्गी अर्थात् शरीर का विकार लक्षित हो, उसमें तृतीया विभक्ति आती है। महाभाष्य में पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—'अङ्गी शब्दो समुदायशब्दः' अर्थात् अङ्ग=शरीर अवयव हैं जिस समुदाय में वह शरीर (समुदाय) अङ्गी कहाता है। 'अक्ष्णा काणः'—उदाहरण में आँख शरीरावयव के द्वारा शरीरसमुदाय का काणत्व विकार परिलक्षित होता है। इस सूत्र पर कैयट लिखते हैं—**'अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्थ आदित्वादच् प्रत्ययान्तोऽत्राङ्गशब्दो निर्दिष्टः ।'** तदनुसार ही ग्रन्थकार ने 'अधिकाङ्गी' शब्द के दो अर्थ किये हैं-(१) 'अधिकाङ्गीम्=**अधिकान्यंगानि यस्यास्ताम्** अर्थात् जिसके अधिक अङ्ग हों, जैसे छंगुली आदि (संस्कारविधि)। इस अर्थ में 'अधिक' शब्द विशिष्टवाची तथा 'अङ्ग' शब्द अवयववाची है। (2) 'अधिकाङ्गीम्=**अधिकं अङ्गं शरीरं यस्यास्ताम्'** अर्थात् जिसका शरीर अधिक=लम्बा-चौड़ा हो, उसको इस अर्थ में 'अधिक' अध्यारूढ़=बढ़े हुए अर्थ में 'अङ्ग' शब्द समुदाय-शरीर का बोधक है। अष्टाध्यायी ५।२।७३ सूत्र में (अधिकतम) अध्यारूढ़ शब्द की उत्तरपद लोप और 'कन्' प्रत्यय से सिद्धि की है—**'अधिकमिति निपात्यते । अध्यारूढ शब्दस्योत्तरपदलोपः कन् च प्रत्ययो निपात्यते'** ।

'अधिक' शब्द सापेक्ष है। अधिक के लिए उससे प्रत्यय होना आवश्यक है। जैसे—शताधिकम्, सौ से ऊपर चढ़ा हुआ अर्थात् सौ से अधिक। संस्कारविधि में लिखा है—"वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के कन्धे के तुल्य स्त्री का शरीर होना चाहिए।" सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के अनुसार "जिस कन्या के अंग वर से अधिक होवें, अर्थात् कन्या का शरीर लम्बा-चौड़ा और वर का शरीर छोटा और दुबला-पतला होय उनका परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए अथवा दोनों के शरीर स्थूल अथवा दोनों के कृषित होवें तब विवाह होना चाहिए। स्त्री के शरीर से पुरुष का शरीर लम्बा होना चाहिए। हाथ के कन्धे तक स्त्री का शरीर आवै, उससे अधिक स्त्री का शरीर न होना चाहिए, न्यून होय तो होय। अन्यथा गर्भ स्थिर नहीं होगा।" निरुक्त में 'अधि'शब्द का 'उपरिभाव' अर्थ भी बताया है—**'अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा'** (निरुक्त १।३) अर्थात् 'अधि' शब्द ऊपर होने या ऐश्वर्य को कहता है, जैसे—'यश्चाधितिष्ठति'=परमेश्वर सबसे ऊपर है, अधिपति=सबका स्वामी है।

नर्क्षवृक्ष—बालकों का नाकरण तो जन्म से ११वें या १०१वें दिन तक कर दिया जाता है। ऊटपटांग नाम रखने के दोषी माता-पिता होते हैं। उनके दोष के कारण किसी निर्दोष कन्या को अजीवन अविवाहित रहना पड़े—यह कहाँ का न्याय है? फिर, अन्यथा सर्वथा अनुकूल लड़की को मात्र नाम ठीक न होने के कारण कौन त्याग देगा? किन्तु इन नामों से इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि इस प्रकार के नाम

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनामृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥५॥ —मनु० ३।१०

जिसके सरल-सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो; हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम, केश और दाँतयुक्त; और जिसके सब अङ्ग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए ॥५॥

[विवाह-योग्य वय और उसके भेद]

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है ?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या, और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है। इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करें तो **निकृष्ट**, अठारह-बीस की स्त्री और तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का **मध्यम**, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना **उत्तम** है।

जिस देश में इसी प्रकार विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य्य व विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी, और जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य, विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।

[कल्पित गौरी, रोहिणी आदि संज्ञाओं का खण्डन]

प्रश्न—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

—ये श्लोक लघु पाराशरी ७।६८ और शीघ्रबोध १। या ५४-६५ में लिखे हैं ॥

अर्थ यह है कि—कन्या की आठवें वर्ष में गौरी, नववें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या, और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है ॥१॥

दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या के माता-पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं ॥२॥

रखनेवाले कुल सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नहीं हैं। मनु को उद्धृत करते हुए इस प्रकार का उलेख करने का ग्रन्थकार का तात्पर्य इस बात पर बल देना प्रतीत होता है कि नामकरण के अवसर पर नाम का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि नाम सार्थक हो और कहने-सुनने में भला लगनेवाला हो। यही कारण है कि विवाह के समय अनेक बार लड़कों का नाम बदल दिया जाता है। पौराणिकों में राशि आदि के अक्षर के अनुसार पहले कुछ भी नाम रख दिया जाता है और बाद में व्यवहार के लिए कोई सुन्दर-सा नाम रख लिया जाता है। गुरुकुलों में प्रवेश के समय अवश्यकतानुसार नाम बदलने की परम्परा है। अब प्रायः अच्छे नाम रक्खे जाने लगे हैं, परन्तु ग्रन्थकार के समय प्रायः निरर्थक और ऊटपटांग नाम

उत्तर—ब्रह्मोवाच—

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयं तु रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत् कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वसा ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

—यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है ॥

अर्थः—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को **'क्षण'** कहते हैं। जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या, और चौथे में रजस्वला हो जाती है ॥१॥

उस रजस्वला को देखके उसकी माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥२॥

रक्खे जाने के कारण उन्होंने इसका निर्देश करना आवश्यक समझा।

विवाह का समय—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'—पौराणिकों का इस विषय में कोई निश्चित मत नहीं है, क्योंकि गौरी आदि संज्ञाएँ आठ वर्ष में नियत या निबद्ध नहीं हैं। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ-काण्ड में काश्यप और भविष्यपुराण को उद्धृत करके निम्न श्लोक दिये हैं—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु कन्यका ।
सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते ॥ —काश्यप
अप्राप्तरजसा गौरी प्राप्ते रजसि तु रोहिणी ।
अव्यक्तव्यंजनकुचा कन्या कुचहीना तु कन्यका ॥ —भविष्य

इसी प्रकार एक और श्लोक उद्धृत किया है—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु नग्निका ।
द्वादशे तु भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

द्विक्षणेयम्—प्रायः 'द्विक्षणेयन्तु' परसवर्ण पाठ है। उससे भ्रान्त होकर गोविन्दराम हासानन्द संस्करण ६ में 'द्विक्षणे यन्तु' पदच्छेद कर दिया गया। यहाँ स्पष्टता के लिए 'द्विक्षणा+इयं+तु=द्विक्षणेयं तु' पाठ छापना उचित समझा है।

वस्तुतः विवाहयोग्य आयु का निर्धारण आयुर्वेद का विषय है, क्योंकि इसमें शारीरिक विकास एवं सामर्थ्य के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है।

वर्तमान में प्रचलित विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—बाल-विवाह, किशोर-विवाह तथा युवा-विवाह। बाल-विवाह से अभिप्राय किशोर अवस्था से पहले का विवाह है। बालक में किशोर अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है। बालिका में किशोरी अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसे मासिक धर्म होने लगता है। इस अवस्थ में संयोग होने से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। इस दृष्टि से बाल-विवाह की अवस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र (Biology) के अनुसार प्रजनन नहीं हो सकता। किशोरावस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है, परन्तु उनका शरीर और मानसिक विकास पूर्ण न होने से उनके रज-वीर्य में परिपक्वता न आने के कारण सन्तान के जीवित व हृष्ट-पुष्ट होने की सम्भावना कम होती है, इसलिए आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ सुश्रुत के निर्माता धन्वन्तरि मुनि ने व्यवस्था दी है—

प्रश्न--ये श्लोक प्रमाण नहीं ।

उत्तर--क्यों प्रमाण नहीं ? जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते ।

प्रश्न--वाह-वाह! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते ?

उत्तर--वाहजी वाह! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते ? पराशर, काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर और काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते ।

प्रश्न--तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्र क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है ? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता ।

उत्तर--जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं, क्योंकि आठ, नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्षपर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा, और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं ।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानियात् कुशलो भिषक् ॥
ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ (सुश्रुत, शरीरस्थान १०।४६-४८

बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह दोनों का निषेध करते हुए सुश्रुत ने न्यून-से-न्यून १६ वर्ष वयवाली स्त्री में न्यून-से-न्यून २५ वर्ष की वयवाले पुरुष के द्वारा गर्भाधान का विधान किया है । इस नियम का उल्लंघन करने पर होनेवाली स्थिति का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पूर्णकाल तक गर्भाशय में रहकर भी उत्पन्न नहीं होता है, अथवा उत्पन्न होने पर चिरकाल तक जीवित नहीं रहता है और रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय होता है ।

बाल-विवाह से जहाँ शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहाँ गर्भ तथा सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ हो जाती हैं । जैसे—गर्भ का न ठहरना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु , सन्तान का सतत् रोगी रहना, मस्तिष्क का समुचित विकास न होना आदि ।

विवाह योग्य आयु के सम्बन्ध में 'Times of India के अहमदाबाद संस्करण के ६ फरवरी १६६० के अंक में प्रकाशित यह विवरण द्रष्टव्य है—

Cochin—Dr. Raj Chowdhry, Director of Chitranjan National Cancer Research Institute, Calcutta, delivering the Platinum Jubillee lecture of the medical and veterinary sciences section of the Indian Science Congress, said,"Girls married before the age of 16 were found to develop cancer of cervix more. Also, the mother of six children has twice as much chance of suffering from this cancer than a mother of one."

अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने विवाह योग्य आयु का स्पष्टतः निर्देश नहीं किया, किन्तु स्त्री के

जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वासुदेव की स्त्री थी। उसको तुम पौराणिक लोग मातृ-समान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है ? इसलिए तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं, क्योंकि जैसा हमने **ब्रह्मोवाच** करके श्लोक बना लिये हैं, वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिए इन सबका प्रमाण छोड़के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो[1]। देखो—

विवाह की आयु का संकेत **'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत्'** इस श्लोक में उपलब्ध है। तदनुसार जब कन्या विवाह करना चाहे, तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष को छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे। स्त्री को मासिक धर्म प्रायः १३-१५ वर्ष की आयु में शुरू होता है। तीन वर्ष बीतने पर यह काल १६-१८ की आयु का होता है। इस प्रकार स्त्री के विवाह की आयु कम से कम १६ वर्ष ठहरती है। इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात में विवाह होना चाहिए, क्योंकि शरीर-रचना और सामर्थ्य की दृष्टि से १६ वर्ष की स्त्री २५ वर्ष के बराबर होती है। संस्कारविधि में ग्रन्थकार ने लिखा है-"स्त्री की आयु पुरुष की आयु से न्यून-से-न्यून ड्योढ़ी और अधिक-से-अधिक दूनी होवे।"

रजोदर्शन की आयु पूरी तरह नियत नहीं है। यदि माता-पिता या अभिभावक ध्यान रक्खें तो बालिकाएँ छोटी अवस्था में रजस्वला न हों। यदि उन्हें स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा देखने का अवसर न मिले, एकान्त दर्शन, एकान्त सम्भाषण आदि से उन्हें दूर रखा जा सके, उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करें, सजावट-शृंगार की भावना उत्पन्न न होने पाये, सुन्दरता का गर्व न हो, कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने अथवा उस प्रकार के वातावरण में रहना न मिले तो कन्याएँ देर से रजस्वला होती हैं। वर्तमान में फ़िल्मों के कारण जो वातावरण बन रहा है और दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित होनेवाले परिवार-नियोजन, गर्भनिरोध, गर्भपात आदि से सम्बन्धित विज्ञापनों के देखने से जिस प्रकार की कुत्सित भावनाएँ उभर रही हैं उनसे लड़कियाँ छोटी आयु में रजस्वला होने लगी हैं। बहुधा धनी परिवारों की कन्याएँ जल्दी रजस्वला होती हैं, क्योंकि उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता, भड़कीले वस्त्र पहनती हैं, सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग से उनकी शृंगारिक भावना और तज्जन्य वासना भड़कती है। अश्लील नाच-गानों से भरपूर आधुनिक पार्टियों में आलिंगन-चुम्बन आदि के वातावरण में उनका ब्रह्मचर्य कहाँ टिक सकता है ? नगरों की अपेक्षा गाँवों की लड़कियाँ देर से रजस्वला होती हैं। सभ्यता का अभिमान करनेवाली जातियों की लड़कियाँ जल्दी रजस्वला होती हैं।

यदि माता-पिता आदि अभिभावक किसी कारण विवाह न कर रहे हों तो मनुस्मृति ९।९ के अनुसार कन्या को स्वयं अपने विवाह की व्यवस्था करने का अधिकार है। वहाँ लिखा है—

अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥

ऐसी अवस्था में न कन्या को कोई पाप लगता है और न उसके द्वारा वरण किये गये पति को।

बालविवाह से हानियाँ—बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह से लगभग एक जैसी हानियाँ होती हैं—

१. द्रष्टव्य —एतदुक्तं भवति -**'मन्त्रेणैवानुसृतं कर्म कर्त्तव्यम्'**। स्कन्द, निरुक्त टीका १।२, भाग १, पृष्ठ १६ ॥

१. वर-वधू के स्वास्थ्य का नाश—अधपके लड़के-लड़कियाँ जब मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तो उनके चेहरे युवावस्था में ही बुढ़ापे की झुर्रियों से मुरझा जाते हैं।

२. बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियों का न पूरी तरह शारीरिक विकास हो पाता है, न मानसिक। ऐसे माता-पिता जो अभी स्वयं बच्चे हैं, किस तरह की सन्तान उत्पन्न करेंगे। निश्चय ही वह सन्तान अपने माता-पिता से भी निर्बल होगी।

३. सन्तान उत्पन्न करने का सारा बोझ स्त्री पर होता है। जब बच्चियों के बच्चे होते हैं तो गर्भाशय के पूर्णतया विकसित न होने के कारण वे सन्तान के प्रसव को सहन नहीं कर पातीं और अल्पायु में ही चल बसती हैं।

४. अपरिपक्वावस्था में अनियन्त्रित विषयभोग के कारण पुरुष का शरीर जर्जर हो जाता है और इस कारण वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बाल-विवाह के कारण बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है।

५. बाल-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे को समझ-बूझकर चुनने का अवसर तो होता ही नहीं। माता-पिता ने जिसको जिसके साथ बाँध दिया, सो बाँध दिया। आगे चलकर इन बेमेल जोड़ों का जीवन निरन्तर कलह में बीतता है। इस प्रकार पारिवारिक सुख से वंचित होकर वे जैसे-तैसे दिन काटते हैं। उनकी इस दुरवस्था का प्रभाव उनकी सन्तान पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

६. बाल-विवाह के कारण स्त्री-पुरुष को सन्तान पैदा करने का समय अधिक मिलता है जिसके कारण देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण देश का आर्थिक ढाँचा टूटने लगता है। कुपोषण के कारण जहाँ सन्तान शरीर से निर्बल होती है, वहाँ शिक्षा की समुचित व्यस्था के अभाव में निकम्मी भी होती है।

७. कच्ची उम्र में विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। वे ब्रह्मचर्य काल में संयम का जीवन बिताते हुए शारीरिक और मानसिक विकास करने की बजाय भोग-विलास में लिप्त हो जाते हैं।

८. छोटी आयु में विवाह के कारण लड़का अभी तक अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाता कि परिवार बढ़ने लगता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वह आर्थिक संकट में फँस जाता है और तरह-तरह की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर कभी-कभी मानसिक सन्तुलन तक खो बैठता है।

वैदिक युग में बाल-विवाह नहीं होता था। वेद में स्पष्टतया लिखा है—"**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**" अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य धारण करके युवा पति को प्राप्त करती है। वैदिक काल के बाद मध्य युग आया। यह गृह्यसूत्रों और स्मृतिकारों का युग था। गृह्यसूत्रों में लिखा गया कि नग्निका कन्या का विवाह कर देना चाहिए। 'नग्निका' का अर्थ है—जब तक कन्या नंगी फिरती हो, अर्थात् जब तक उसे अपने नंगे होने का ज्ञान और तज्जन्य लज्जा का अनुभव न हो। मध्य युग के बाद वर्त्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। माताएँ दुधमुँहे बच्चों के फेरे उन्हें गोद में लेकर देने लगीं। इसके विरुद्ध आर्यसमाज ने आवाज़ उठाई। सन् १८९० में बंगाल में फूलमणि नामक लड़की का १० वर्ष की अवस्था में पति से सहवास के कारण प्राणान्त हो गया। इस प्रकार की घटनाओं के कारण बालिका के विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष रखने का प्रस्ताव रखा गया। धर्म में हस्तक्षेप के

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥ —मनु० ६।६०॥

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष-पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे । जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है, तो तीन वर्षों में ३६ बार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं ॥

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ —मनु० ६।८६॥

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिए । इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम, वा असदृशों का विवाह होना योग्य है ॥

नाम पर कट्टरपन्थियों ने इसका विरोध किया, किन्तु विरोध के बावजूद १८६१ में कन्या के लिए विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष कर दी गयी । पर यह नियम कागज़ पर ही लिखा रह गया । सन् १६०१ में बड़ौदा राज्य में एक कानून द्वारा बाल-वावाह का निषेध करके लड़कों की आयु १६ वर्ष और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गयी । सन् १६२६ में स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के मन्त्री दीवान हरविलास शारदा ने केन्द्रीय धारासभा (वर्त्तमान में संसद्) में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम (Child Marriage Restraint Act) प्रस्तुत किया और वे इसे स्वीकृत कराने में सफल रहे जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के और लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः १८ और १४ वर्ष नियत कर दी गयी । प्रस्तावक के नाम पर यह कानून शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ । एक अप्रैल १६३० से कानून सारे देश में लागू हो गया। तदनन्तर समय-समय पर इस अधिनियम में संशोधन होते रहे । अन्ततः लड़के-लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः २१ और १८ वर्ष नियत कर दी गयी, परन्तु अभी तक बाल-विवाह की प्रथा पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी है ।

काममामरणात्—पूना-प्रवचन में ग्रन्थकार ने इस श्लोक को उद्धृत करके कहा था—इसी प्रकार मनुजी कहते हैं कि "कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रक्खो, किन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो ।" पति-पत्नी के गुण-कर्म-स्वभाव में सादृश्य के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक था कि संस्कार विधि में वे मनु के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहते हैं—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृश्याय च ।
अप्राप्तामपि तां कस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ —मनु० ६।८८

अर्थात् माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट, शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि से युक्त वर को ही चाहें । वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को न देना जिससे दोनों प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तान की उत्पत्ति करें । इस सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाले वर को पाने के लिए वे मनु ३।५ में निर्दिष्ट असपिण्डता सम्बन्धी नियम को तोड़ने के लिए तैयार हैं ।

[लड़का-लड़की की प्रसन्नता से विवाह]

[लड़का-लड़की की प्रसन्नता से विवाह]

प्रश्न—विवाह माता-पिता के अधीन होना चाहिए, वा लड़का-लड़की के अधीन रहे।

उत्तर—लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है। जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिए, क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं। अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है। विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख, और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है। और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥ —मनु०३।६०

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द-लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहाँ विरोध-कलह होता है, वहाँ दुःख-दरिद्रता और निन्दा निवास करती है॥

कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ काण्ड में कन्या के अधिकार के विषय में लिखा है—'तत्र नारदः—**यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत्, अनुज्ञया तस्य वरं परीक्ष्य वरयेत्स्वयं सवर्णमनुरूपञ्च कुले रूपवयः श्रुतैः। ....सह धर्मं चरेत्तेन पुत्राश्चोत्पादयेत्ततः'** (१२।२२-२३)। अर्थात् इस (कन्या के स्वयंवर) विषय में नारद का मत है कि यदि पिता आदि कन्यादानाधिकारियों में से कोई न हो तो कन्या राजा के पास जाए और उसकी अनुमति से वर की परीक्षा करके कुल, रूप, आयु एवं ज्ञान के अनुरूप सवर्ण वर का वरण करे। उसकी सहधर्मिणी बने और उससे सन्तान उत्पन्न करे।

पसन्द किसकी—विवाह में लड़का-लड़की की इच्छा सर्वोपरि है। वैदिक साहित्य में इस विषय में निश्चित आदेश पाया जाता है। ऋग्वेद में लिखा है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥

'वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी?' इस प्रश्न को स्वयं उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है—(सुपेशाः) सुन्दररूपवाली वह वधू अच्छी है जो (जनेचित्) अनेक जनों में से (मित्र स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है। सप्तपदी के अन्तिम वाक्य में पति को सखा कहा गया है जो मित्र का पर्यायवाची है। इस मन्त्र में स्त्री को अपने लिए स्वयं पति चुनने का अधिकार दिया है। इसी को स्वयंवर कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से अपने लिए लड़की चुनता है, परन्तु प्राचीन काल में अपना साथी चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है। वर्त्तमान में प्रगतिशील समझे जानेवाले समाज में भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है। राह चलते कहीं-कहीं लड़की से भी सहमति ले ली जाती है, परन्तु प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकर लड़की को प्राप्त था, सहमति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे और लड़की उनमें से किसी एक के गले में वरमाला डाल देती थी। उसी परम्परा के अनुसार सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार अपना-अपना भाग्य आज़माने आये थे। आजकल वर का वधू के घर चलकर जाना और वधू के घर पर ही विवाह संस्कार होना उसी स्वयंवर

[स्वयंवर विवाह की श्रेष्ठता]

इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है । जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए । जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने में सुख होता है ।

का आधुनिक संस्करण है, परन्तु आजकल के स्वयंवर में लड़के का हाथ ऊपर रहता है, अर्थात् लड़का चुनता है, लड़की नहीं । माता-पिता जिसके साथ चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं ।

चुनाव का अधिकार वेद ने लड़के को न देकर लड़की को इसलिए दिया है कि गृहस्थाश्रम की कीली स्त्री है—**गृहिणी गृहमुच्यते** । उसी के गिर्द सारा घर-परिवार घूमता है । सन्तानोत्पत्ति का कष्ट उसी को झेलना पड़ता है । अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पति में खोकर उसे सदा के लिए पति के खूँटे से बँधकर रहना पड़ता है । जब उसपर इतनी बड़ी जिम्मेदारी है तो अपने भागीदार को चुनने का अधिकार उसी का बनता है । स्वयंवर में जो युवक आते हैं, उन्हें लड़की पसन्द है, इसमें तो उनका वहाँ आना ही प्रमाण है । इसलिए ठीक-ठीक चुनाव की जिम्मेदारी पत्नी पर ही पड़ती है ।

उद्धृत मन्त्र में **'मित्रं स्वयं वनुते'** कहा गया है । स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है—ऐसा मित्र जो जीवनभर उसके सुख-दुःख का साथी होगा । विवाह-संस्कार सप्तपदी की क्रिया के साथ सम्पन्न होता है । उस समय **'सखे सप्तपदी भव'** यह पढ़ा जाता है । इस प्रकार विवाह संस्कारविधि का पर्यवसान मैत्री भाव में है—ऐसा मैत्री भाव जिसकी पहचान है दो का एक हो जाना । इसलिए विवाह संस्कार के अन्त में पति-पत्नी दोनों कहते हैं—**'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदेतद् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव'**, क्योंकि यह जीवनभर का साथ है, इसलिए चुनाव के समय पूरी सावधानी वर्त्तना आवश्यक है । अतएव ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में निर्देश किया है—'जब विवाह करने का निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर पुरुषों से कन्या की परोक्ष से परीक्षा करावें, पश्चात् उत्तम विद्वान् पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें ।'

प्रेम विवाह—लड़के-लड़की को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार अवश्य है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग माता-पिता के मार्गदर्शन में होना हितकर है । एक युवक एक साँवली-सलोनी षोडशी को देखकर उसपर मोहित हो जाता है । उससे पहले उनका परस्पर कोई परिचय नहीं है, परन्तु निगाह मिलते ही उसके पीछे पागल हो जाता है । यही स्थिति लड़की की हो जाती है । दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते । ऐसे युवक-युवती माता-पिता की बिल्कुल परवाह नहीं करते । परिवार की, एक-दूसरे की स्थिति की —किसी भी बात की परवाह न करके, सब बन्धनों को तोड़कर चट मँगनी पट ब्याह कर बैठते हैं । प्रेम-विवाह का आधारभूत तत्त्व है—प्रथम दृष्टि में प्रेम (Love at first sight) और प्रेम किसी प्रकार का बन्धन नहीं मानता, परन्तु विवाह के कुछ समय बाद प्रेम का ज्वार उतरने लगता है । जैसे पहले वे समझते थे कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही अब कुछ दिन एक-साथ रहकर वे समझने लगते हैं कि वे एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते । विवाह से पूर्व जितना एक-दूसरे के प्रति आकर्षण था, उतनी ही घृणा हो जाती है । पाश्चात्य आदर्श है Love before marriage (विवाह से पहले प्रेम) और भारतीय आदर्श है Marriage before love (प्रेम से पहले विवाह) । प्रेम-विवाह की जन्मभूमि हैं—नाटक,

[युवावस्था में विवाह करने में प्रमाण]

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ।।१।।
—ऋ० म० ३। सू० ८। मं० ४।।

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।२।।
—ऋ० म० ३। सू ५५मं० १६।।

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ।।३।।
—ऋ० म० १। सू० १७९। मं० १।।

अर्थ—जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य्यसेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ, ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण जवान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में

सिनेमा, उपन्यास आदि। विवाह से पहले प्रेम की स्थिति में युवक-युवती एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं और प्रेम करने लगते हैं। यह प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वे विवाह कर लेते हैं। प्रकृति के नियमानुसार जल जितना ऊँचा चढ़ता है, उतने ही ज़ोर से नीचे गिरता है। चरम सीमा पर पहुँचा प्रेम धीरे-धीरे घटने लगता है और अन्ततः घृणा के रूप में बदल जाता है। प्रेम से पहले विवाह की स्थिति में विवाह के बाद प्रेम शुरू होता है और निरन्तर बढ़ता जाता है।

भावना का जीवन एक नशे का जीवन है। नशा चढ़ता है तो उतरता भी है। प्रेम का नशा जब उतर जाता है तब उसके नशे में बाँधे हुए सपने भी टूट जाते हैं। परिणाम होता है तलाक़ या विवाह-विच्छेद। दाम्पत्य प्रेम (Conjugal love) में एक-साथ रहने से प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इसमें विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम होती है।

लड़के-लड़की को एक-दूसरे को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एतदर्थ उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को जानने, समझने का अवसर मिलना चाहिए, परन्तु यह सब माता-पिता की देख-रेख में होना उचित है। विवाह में शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम को एकमात्र आधार मानकर माता-पिता के अनुभव और समाज की हर बात की अवहेलना करके विवाह करने की प्रवृत्ति पारिवारिक एवं सामाजिक सन्तुलन की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है।

स्त्री की स्थिति—वैदिक परम्परा में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा जाता है। यूरोप में उसे उत्तमार्ध (Better half) कहते हैं, परन्तु उत्तमार्ध होते हुए भी उसकी स्थिति वैदिक अर्धाङ्गिनी से अच्छी नहीं है। यूरोप में कन्या के विवाह की पूरी विधि पिता द्वारा सम्पन्न की जाती है। वह न हो तो कन्या का चाचा इस कार्य को कराने में अधिकृत है, परन्तु वैदिक विवाह की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञवेदी पर बैठकर उसमें भागीदार नहीं होती। वस्तुतः वैदिक मर्यादा का कोई कृत्य तब तक पूर्ण नहीं माना जाता जब तक यजमान और यजमान पत्नी दोनों भाग न लें। परिवार में पत्नी की ऊँची स्थिति के परिचायक अथर्ववेद के ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ।।

(आगात्) आता है, (स उ) वही दूसरे विद्या-जन्म में (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है। (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त, (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्य्य धारण, विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते ॥१॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही नहीं, उन (धेनवः) गौओं के समान (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित, (सबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करनेहारी, (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियाँ (देवानाम्) ब्रह्मचर्य्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के (एकम्) अद्वितीय (महत्) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा-शास्त्रशिक्षायुक्त, प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई, तरुण पतियों को प्राप्त होके (आ धुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। कभी भूलके भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें, क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश, उससे अधिक स्त्री का नाश होता है ॥२॥

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ, पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ, हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक वर्ष आयु को आनन्द से भोगते, और पुत्र-पौत्रादि से संयुक्त रहते रहें, वैसे स्त्री-पुरुष सदा वर्त्तें। जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं, और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त करानेवाली

सम्राज्ञ्योधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वा ॥ —अथर्ववेद १४।१।४३,४४

जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार तू पति के घर में सम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह। तुझे तेरा श्वसुर घर की महारानी समझे और देवर तुझे महारानी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें और तेरी सास तुझे घर की महारानी समझे।

युवा सुवासः—ब्रह्मचर्य आश्रम में जिसने समुचित विद्याध्ययन में श्रम किया है उस युवती कन्या को शक्ति का संचय करनेवाला पुरुष पत्नी के रूप में ग्रहण करके गृहस्थ में प्रवेश करता है। ऐसी पत्नी में वह अपने को नया जन्म देता है और पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। **'तद्धि जायाया जायत्वं यदस्यां जायते पुनः।'** अपने ऋग्वेद भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'कोई भी मनुष्य ब्रह्मचर्य की उत्तम शिक्षा और ब्रह्मचर्य के सेवन के बिना दीर्घायु और योग्य विद्वान् नहीं हो सकता। वह मनुष्य कहीं सत्कार पाने योग्य नहीं है। जिस मनुष्य की धार्मिक विद्वान् प्रशंसा करते हैं, वही विद्वान् है।'

आ धेनवो—अप्रदुग्धाः=अन्यैरभुक्ताः अर्थात् कुमारी कन्याएँ। अशिश्वीः=युवतियाँ। अपने ऋग्वेद-भाष्य में इस मन्त्र के भाष्य के अन्तर्गत भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'जैसे प्रथम अवस्था में वर्त्तमान विद्या पढ़ी हुई बालाभिन्न ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ अपने सदृश पतियों को प्राप्त कर आनन्दित होती हैं, वैसे ही सर्ववाणियों को प्राप्त कर विद्वान् लोग सुखी होते हैं,

पूर्वीरहं—इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—जैसे बाल्यावस्था से लेकर विदुषी स्त्रियों ने

(उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को (दोषाः) रात्रि और (वस्तोः) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को (मिनाति) दूर कर देता है, वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त होके ही विवाह करूँ। इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥३॥

जब तक इसी प्रकार ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा, आर्य्य लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के ही स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।

[वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभावानुसार]

प्रश्न—जिसके माता-पिता ब्राह्मणी-ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मण होता है। जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ?

उत्तर—हाँ। बहुत-से हो गये, होते हैं, और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रियवर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या-स्वभाववाला है, वही 'ब्राह्मण' के योग्य, और मूर्ख 'शूद्र' के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा ॥

प्रतिदिन प्रभात समय से घर के कार्य और पति की सेवा आदि कार्य किये हैं, वैसे किया है ब्रह्मचर्य जिन्होंने, उन स्त्री-पुरुषों को समस्त कार्यों का अनुष्ठान करना चाहिए।

वर्णपरिवर्तन—जाबाल ऋषि—छान्दोग्योपनिषद् (४।४।२-५) में प्रसंग है—**'सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे, ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि, किं गोत्रोऽहस्मीति। सा हैनमुवाच—नाहमेतद् वेद तात यद् गोत्रस्त्वमसि, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति। स हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति। तं होवाच—किं गोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच—नाहमेतद् वेद भो यद् गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीत् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि, जाबाला तु नामहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मीति। तं होवाच—नैतदब्रह्मणो विवक्तुमर्हति; समिधं सोम्याहर उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगा इति ॥४॥'** अर्थात् सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता जबाला से परामर्श किया—माता! मैं ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ। तू बता मेरा गोत्र क्या है ? उसने कहा, हे तात! मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है ? मैंने इधर-उधर घूमते बहुतों की सेवा करते हुए तुझे प्राप्त किया है, इसलिए मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। मैं तो बस इतना जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। सो तू आचार्य को अपना नाम सत्यकाम जाबाल बता देना। वह सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर बोला—मैं श्रीमानों के पास ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूँ। उस (आचार्य) ने कहा—सोम्य, तेरा गोत्र क्या है ? उसने उत्तर दिया—महाराज मैं नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है, मैंने माता से पूछा तो

माता ने कहा ..... । अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ । आचार्य ने कहा—ऐसी बात अब्राह्मण नहीं कह सकता । सोम्य ! समिधा लाओ, मैं तेरा उपनयन करूँगा । तू सत्य से विचलित नहीं हुआ ।''

काठक संहिता में लिखा है—

किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम् ।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः ॥

ब्राह्मण से क्यों पूछते हो कि तुम्हारे माता-पिता कौन हैं ? यदि उसमें ज्ञान और सत्य हैं तो वही उसके पिता और पितामह हैं ।

विश्वामित्र—वाल्मीकि रामायण में लिखा है—**'ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिकः'** (बालकाण्ड १५।६०) । अर्थात् उग्र तप के द्वारा कौशिक (विश्वमित्र) ब्राह्मण हो गये । महाभारत में लिखा है—

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ।
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ॥

हे महाराज ! भृगु के वचनमात्र से (क्षत्रिय राजा) वीतहव्य ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मवादी हो गया । वीतहव्य का शत्रु राजा प्रतर्दन इस बात से प्रसन्न था कि उसने अपने विरोधी क्षत्रिय राजा को पनी जाति का परित्याग करके ब्राह्मण बनने को विवश कर दिया—**'स एव राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया'** (महा० अनु० पर्व ३०।५५-५७) । इसी अध्याय के आरम्भ में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से कहा—**'विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमिति'** अर्थात् पुराने समय में विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था । यह कहा जा सकता है कि विश्वामित्र ने किसी जन्मान्तर में ब्राह्मणत्व प्राप्त किया होगा, क्योंकि वर्त्तमान क्षत्रिय शरीर के रहते तो वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता । इसका स्पष्टीकरण यहाँ अनुशासनपर्व के अन्तर्गत इस वार्तालाप से हो जाता है—युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से पूछा—

कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ।
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ —अनु० ३।१,२।१७

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि विश्वामित्र उसी शरीर के रहते क्षत्रिय से ब्राह्मण हे गये थे । इस बात की पुष्टि निम्न श्लोक से भी होती है—

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपः ।
क्षत्रियः सोप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ —अनु० ४।४८

अर्थात्—महातपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो ब्राह्मणवंश का प्रवर्त्तक हुआ।

मातङ्ग ऋषि—

द्विजाते कस्यचित्तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत् ।
मातङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ —महा० अनु० २७।८

अर्थात् किसी द्विज का समान वर्णवाला सर्वगुण-सम्पन्न मातंग नामक था ।

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वमन्तायां नापितेन च जातस्त्वमसि चाण्डालः (महा० अनु० २७।१७) । **चाण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्** (महा० अनु० ३।१६) । अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ ! यह उचित ही है कि मतङ्ग ने चाण्डाल कुल में पैदा होकर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ।

[ब्राह्मण-शरीर बनाने के साधन]

प्रश्न—भला जो रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता। किन्तु —

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ —मनु० २।२८

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं। अब यहाँ भी संक्षेप से कहते हैं—(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने, (जपैः) विचार करने-कराने (होमैः) नानाविध होम के अनुष्ठान, (त्रैविद्येन) सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ-सम्बन्ध स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने, (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैश्च) 'पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म, और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के, दुष्टाचार छोड़, श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है ॥

क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते ? मानते हैं। फिर क्यों रज-वीर्य्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो ? मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

वर्णपरिवर्त्तन के दो अतिरिक्त प्रमाण ग्रन्थकार ने स०प्र० के प्रथम संस्करण में दिये हैं—

"वत्स क्षत्रिय से ब्राह्मण भया और श्रवण, श्रवण का पिता श्रवण की माता वैश्य और शूद्रवर्ण से महर्षि भये।" (पृष्ठ ६६)

कुल परिवर्त्तन—सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य के द्वितीय मण्डल के आरम्भ में लिखा है—**'मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः, स च पूर्वं अंङ्गिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः यज्ञकाले असुरैर्गृहीतः इन्द्रेण मोचितः। पश्चात्तद्-वचनेनैव भृगुकुले शुनकपुत्रो गृत्समदनामा अभूत्। तथा चानुक्रमणिका—'ये आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभूत्। स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्।' तथा तस्यैव शौनकस्य ऋष्यनुक्रमणे—'त्वमग्न इति गृत्समदः शौनको भृगुता गतः शौनहोत्रः प्रकृत्या तु य आंङ्गिरस उच्यते।'**

मण्डल का द्रष्टा गृत्समद है। वह पहले आंङ्गिरस कुल में शुनहोत्र का पुत्र हुआ। यज्ञकाल में असुरों से पकड़ा गया। इन्द्र ने उसे छुड़ाया। पश्चात् उस इन्द्र के वचन से ही वह भृगुकुल में शुनक का गृत्समद नाम का पुत्र हुआ। वैसा ही अनुक्रमणिका में भी कहा है—जो आंङ्गिरस शौनहोत्र होकर भार्गव शौनक हुआ। उसी शौनक का ऋष्यनुक्रमणिका में वचन है कि 'त्वमग्ने' इससे आरम्भ होनेवाले मण्डल को भृगुता को प्राप्त हुए शुनकपुत्र गृत्समद ने देखा जो मूल में आंङ्गिरस शौनहोत्र कहा जाता है।

ऋग्वेदानुक्रमणिका का प्रणेता कात्यायन कहा जाता है और ऋष्यनुक्रमणिका शौनक प्रणीत कही जाती है। सायण ने दोनों के प्रमाण दिये हैं।

स्वाध्यायेन—रज-वीर्य के योग से किसी भी प्राणी के पाञ्चभौतिक शरीर का निर्माण होता है, किन्तु मात्र इस शरीर का नाम ब्राह्मण नहीं है। ब्रह्म पद परमेश्वर तथा वेद दोनों का वाचक है। तदनुसार वेद के अध्ययन और परमेश्वर की उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है। अध्यापन का ब्राह्मण के कर्त्तव्यों में उल्लेख है, किन्तु अध्यापक माता-पिता के रज-वीर्य से बने व्यक्ति को ब्राह्मण मानकर कोई भी अपनी सन्तान को उससे पढ़वाने के लिए तैयार नहीं होगा, यदि

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ?

उत्तर—नहीं ! परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके खण्डन भी करते हैं ।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज-पर्यन्त की परम्परा मानते हैं । देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट, और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट, तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं, इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो । देखो, मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ —मनु० ४।१७८

जिस मार्ग से इसके पिता-पितामह चले हों, उस मार्ग में सन्तान भी चलें, परन्तु 'सताम्'=जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता-पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चलें, क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता ।

इसको तुम मानते हो वा नहीं ? हाँ-हाँ मानते हैं । और देखो, जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही **सनातन**, और जो उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती । ऐसा ही सब लोगों को

उसने किसी विद्यालय में विद्याध्ययन करके अध्यापक के लिए अपेक्षित योग्यता प्राप्त नहीं की है । इसी प्रकार ब्राह्मण माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न किन्तु कर्मकाण्ड से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति को ब्राह्मण मानकर कोई व्यक्ति उससे विवाह-संस्कार नहीं कराएगा । इसके विपरीत वैश्य माता-पिता से उत्पन्न किन्तु किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त व्यक्ति को किसी गुरुकुल या कालेज का प्रधानाचार्य बनाया जा सकता है और किसी सैनिक स्कूल में शिक्षित अथवा सेना में प्रशिक्षित ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति को सेनापति नियुक्त किया जा सकता है । इससे स्पष्ट है कि वर्ण का निश्चायक रज-वीर्य न होकर व्यक्ति की अर्जित योग्यता है ।

सन् १८८० में काशी में वर्ण-व्यवस्था को रज-वीर्य के संयोग पर आधारित माननेवाले एक मनुष्य ने जातिभेद का प्रसंग उठाया । ग्रन्थकार ने कहा कि 'ब्राह्मणादि वर्ण जन्मगत नहीं हो सकते । यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों में से एक ईसाई और एक मुसलमान हो जाए तो क्या वे फिर भी ब्राह्मण माने जाएँगे ? यदि नहीं तो जन्म ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? इससे सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कार्य करते हैं वे ही ब्राह्मणादि होते हैं और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना चाहिए ।'

येनास्य—तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत गुरुकुल से समावर्त्तन के अवसर पर दिये जानेवाले दीक्षान्त भाषण में आचार्य अपने शिष्य को बड़े स्पष्ट शब्दों में निर्देश करता है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ॥

अर्थात् जो हमारे सुचरित हैं उन्हीं के अनुसार आचरण करना, अन्यों का नहीं । जो हमारे अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन=अनुकरण करना, अन्यों का नहीं । वैदिक मर्यादा के अनुसार **'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः'** (महा० शा०प० १०८।१७) । परन्तु महाभारत में ही यह भी लिखा है—

मानना चाहिए वा नहीं ? अवश्य चाहिए । जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आँखों को फोड़ लेवे ? जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे ? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों[1] के उत्तम कर्म हों उनका सेवन, और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको अत्यावश्यक है ।

[जन्म से वर्णव्यवस्था में दोष]

जो कोई रज-वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने, और गुण-कर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिए कि—'जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ?' यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे, तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए ।

['ब्राह्मणोऽस्य-' मन्त्र का अर्थ]

प्रश्न— **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रोऽ अजायत ॥

—यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है ॥

इसका यह अर्थ है कि—ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू, और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है । इसलिए जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥

यदि कोई गुरु (अपने से बड़ा=पूज्य) कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार न करे और सीधी राह पर न चले तो उसे अनुशासित करना चाहिए ।

उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों पर पाया जाता है—आ० १४२।५२, उ० १७४।२४, शा० व० ५७।७, १४०।४८ । इनमें से पहले स्थान पर वही पाठ है जो हमने ऊपर दिया है, अन्यत्र चौथे चरण में **'दण्डो भवति शाश्वतः'** अथवा **'परित्यागो विधीयते'** पाठान्तर है, परन्तु वाल्मीकि रामायण (अ० २१।१३) में वैसा ही पाठ है जैसा ऊपर दिया है । इस श्लोक में जिस तत्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्मपितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध किया था । इसी कारण जब प्रह्लाद ने देखा कि उसके गुरु उसे नास्तिकता का उपदेश दे रहे हैं तो इसी मर्यादा के अनुसार उसने अपने गुरु और पिता दोनों के विरुद्ध सत्याग्रह किया । शान्तिपर्व में स्वयं भीष्मपितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं—

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ते समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित् ॥ —५५।१६

अर्थात् जो मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार का उल्लंघन करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें

---

१. अर्थात् पूर्व पुरूषों=पुरखों ।

क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं ॥

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ **'पुरुष'** अर्थात् निराकार, व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते। जो मुखादि अङ्गवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा-धर्त्ता-प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता।

इसलिए इसका **अर्थ** यह है कि—'जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य=उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) **'ब्राह्मण'**। (बाहू) **'बाहुर्वै बलम्, बाहुर्वै वीर्यम्'** शतपथब्राह्मण। बल-वीर्य्य का **नाम बाहु** है, वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्यः) **'क्षत्रिय'**। (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम **ऊरू** है, जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे वह (वैश्यः) **'वैश्य'** और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह **'शूद्र'** है ॥

अन्यत्र 'शतपथब्राह्मणादि' में भी इस मन्त्र का ऐसा ही **अर्थ** किया है। जैसे—**'यस्मादेते**

युद्ध में मारनेवाला क्षत्रिय ही धर्मवित् कहाता है। तदनुसार ही ग्रन्थकार ने कुमार्गगामी पिता-पितामह आदि की लीक को छोड़कर बुद्धिपूर्वक वेदमार्ग का अनुसरण करने का निर्देश किया है।

ब्राह्मणोऽस्य—यह ऋग्वेद के अन्तर्गत पुरुषसूक्त का ११वाँ तथा यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है। पुरुषसूक्त संहिताओं में तथा उनकी शाखाओं में विभिन्न संख्याओं में उपलब्ध होता है। संहिताओं के आधार पर ऋग्वेद १०।९० में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से लेकर 'साध्या सन्ति देवाः' तक पुरुषसूक्त षोडशृचात्मक है, यजुर्वेद अध्याय ३१ में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से आरम्भ होकर 'सर्वलोकं म इषाण' तक २२ ऋचात्मक है। परन्तु दोनों में ही प्रथम १६ मन्त्रों का देवता 'पुरुष' है, इसलिए 'सहस्रशीर्षा' से 'साध्या सन्ति देवाः' तक के मन्त्रों को ही पुरुषसूक्त के नाम से जाना जाता है। यजुर्वेद के २२ मन्त्रों में १६ वही हैं जो ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में हैं, अन्तिम ६ मन्त्र ऋग्वेद में नहीं हैं। अथर्ववेद शौनकीय शाखा १९।६ में तथा पैप्पलाद शाखा ५।१ में 'सहस्रबाहुः पुरुषः' से 'जातस्य पुरुषादधि' तक षोडश ऋचात्मक है। इस प्रकार संहिताओं और उनकी शाखाओं में पुरुषसूक्त ईषद् भेद के साथ विभिन्न संख्यात्मक उपलब्ध होता है। संख्या की दृष्टि से जहाँ ऋग्वेदीय सूक्त अथर्ववेदीय सूक्त से साम्य रखता है, वहीं क्रम की दृष्टि से वह यजुर्वेदीय सूक्तानुवाक के समान है। चारों संहिताओं में उपलब्ध पुरुषसूक्त की आनुपूर्वी में भी भेद मिलता है। ऋक् संहिता में कुल १४ बार 'पुरुष' पद का प्रयोग हुआ है, जिसमें दस बार अकेले।

इस (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) मन्त्र से पहला मन्त्र इस प्रकार है—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

एकाकी विचरनेवाले के लिए किसी प्रकार का विधान अपेक्षित नहीं होता, परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है—बहुतों के साथ रहनेवाला। जिसमें अनेक व्यक्ति मिलकर गति करते हैं, वह समाज कहाता है। वह गति मर्यादित और क्रमबद्ध होती है। **'समं अजन्ति जना यस्मिन् स समाजः'**—सम्यक् गति करनेवाले मानवसमुदाय का नाम 'समाज' है। समाज में उसके प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित

मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त'[1] इत्यादि। जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है, अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम '**ब्राह्मण**' कहाता है।

रहते हैं। इसी का नाम समाज-व्यवस्था है। उपर्युक्त मन्त्रद्वय की प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार मानवशरीर के धर्म, उसकी स्थिति और समस्त क्रियाएँ मुख आदि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती और चलती हैं, इसी प्रकार समाज-शरीर के धर्म, उसकी स्थिति, समस्त क्रियाएँ इन्हीं मुखादि के प्रतिनिधिभूत ब्राह्मणादि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती हैं और चलती हैं। इस विभाजन में प्रत्येक अंग की सीमा स्वतः निर्धारित है जिससे सबका शक्ति-सन्तुलन बना रहता है। किसी एक अंग में समूची शक्ति केन्द्रित हो जाने से समाज के कार्य में बाधा उपस्थित हो जाती है। अंगचतुष्टय की सार्थकता के कारण महर्षि वेदव्यास ने समाज-पुरुष को वर्णात्मा की संज्ञा से अभिहित किया है—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः॥ —महा० शा० ४७।६८

प्रथम मन्त्र में पूछा गया था कि इस समाजरूप पुरुष का मुख क्या हुआ, बाहू कौन बनाये गये, उसके ऊरू कौन हुए और कौन उसके पाद कहे जाते हैं? प्रश्न के इस प्रवाह में उत्तर दिया गया कि ब्राह्मण उसका मुख हुआ, क्षत्रिय उसके बाहु हुए, वैश्य उसका ऊरू हुआ और शूद्र उसके पैर हुए।

यहाँ मुख आदि से किसी के उत्पन्न होने का कोई प्रसंग नहीं है। न तो पहले मन्त्र में प्रश्न ही इस प्रकार का पूछा गया कि किससे कौन उत्पन्न हुआ और न ही दूसरे मन्त्र नें इस प्रकार का उत्तर दिया गया। अर्थज्ञान में भ्रमोत्पादक चतुर्थ चरण के अन्तिम दो पद हैं—'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'। डॉक्टर सुधीर कुमार गुप्त तथा डॉ० निरूपण विद्यालंकार के मत में यहाँ प्रथम मन्त्र के शब्दों को दृष्टि में रखते हुए 'उच्यते' का प्रयोग भाव अर्थ में हुआ है, परन्तु उस अवस्था में 'पद्भ्यां' को पञ्चम्यन्त न मानकर तृतीयान्त मानना होगा। डॉ० रघुवीर द्वारा परिष्कृत अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा के पाठान्तर में 'अजायत' क्रियापद के स्थान में 'अस्तु' पद मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उक्त मन्त्र में 'अजायत' पद 'अस', 'वृतु' इत्यादि धातुओं की विवक्षा में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त यदि 'अजायत' क्रियापद पर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि वेद में कई स्थानों पर 'अजायत' क्रिया '**भू' की वाचिका** है। यथा-सायण स्वयं अथर्ववेदभाष्य में एक स्थान पर 'अजायत' किया का अर्थ '**निवृत्ता भवति**' करते हैं —'होतारमद्य धीरजायत'। 'धीः कर्मनामैतत्। अग्निष्टोमादिलक्षणं कर्म अजायत— जायते.... निवृत्ता भवति।' अथर्व० सायणभाष्य १८।१।२२

परन्तु ग्रन्थकार ने दोनों मन्त्रों में यत्र-तत्र-सर्वत्र 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्तते' आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। इस प्रसंग में मन्त्रगत 'व्यकल्पयन्' तथा 'उच्येते' शब्द विचारणीय हैं। रामानुज ने 'व्यकल्पयन्' का अर्थ 'कल्पना कृतवन्तः' किया है। 'उच्येते' का अर्थ सहज ग्राह्य है। इन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि यहाँ साक्षात् ब्रह्म के शरीरांगों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति की बात नहीं कही गयी है। उत्तररूप मन्त्र के भाष्य में भी ग्रन्थकार ने ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए 'मुखाद् उत्पन्नः' न कहकर 'अस्य पुरुषस्य ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्योपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति

---

१. तुलना करो—तै० सं० ७।१।१।४ 'तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'।

जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं, तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है, जैसाकि बन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादानकारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसा मुख का आकार गोलमोल है, वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमोल मुखाकृति के समान होना चाहिए। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य, और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होने चाहिएँ, किन्तु ऐसा नहीं होता।

तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवति' कहा है। यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं—(१) ब्राह्मणादि की उत्पत्ति उस पुरुष के देहांगों से नहीं, अपितु उसके तत्तद् गुणों से हुई है। (२) भाष्य में 'आसीत्' के पर्यायरूप में 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नमासीत्' इत्यादि क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। 'आसीत्', 'अजायत' आदि क्रियापदों का अर्थ 'छन्दसि लुङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इस सूत्र को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

स्वामी भगवदाचार्य ने ठीक लिखा है—''यद्यदोत्तरवाक्ये विभक्तिः परिणामः क्रियते प्रश्नवाक्येपि तथा कर्त्तव्यः स्याद् अस्य मुखात् किमुत्पन्नमिति ? उच्येते इति क्रियापदस्य तत्सन्निहितद्विवचनप्रत्ययस्य च वैयर्थ्यं घोषितं स्यात्। किं च पुरुषं कतिधा व्यकल्पयन्निति समस्तमेव वाक्यं नैरर्थक्यमीयात्। मुखात् किमुत्पन्नमिति प्रश्न एवासमञ्जसो भवेद्यावधि तस्य मुखाद्यवायवनामश्रवणात्।''

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्त्तते' इत्यादि शब्दों का 'आसीत्' से पूरी तरह सामंजस्य हो जाता है। धातुपाठ के अनुसार 'अस भुवि' और 'भू सत्तायाम्' होने से 'आसीत्' का 'उत्पन्नमासीत्' या 'उत्पन्नो भवति' अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है। इस ऋचा के भाष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में मुख, बाहु, ऊरू तथा पादस्थानीय हैं, ऐसी व्याख्या की गयी है। पद्भ्याम् शब्द को तृतीया विभक्ति का द्विवचन माना है। तृतीया विभक्ति के कारण 'तुल्य' पद के अध्याहार की संभावना है ही —'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (पा० २।३।७२) एवं च 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' मन्त्रांश का 'पद्भ्यां तुल्यः शूद्रोऽजायत्'—'पाँवों के समान सेवादिपरायण शूद्र उत्पन्न हुआ' यह अर्थ सर्वथा संगत है। इस प्रकार की व्याख्या की पुष्टि इस ऋचा के शेष तीन चरणों के पदों विभक्ति-विनिवेश से भी होती है। तीनों चरणों में ब्राह्मण आदि वर्णवाची तथा मुखादि तथाकथित शरीरांगवाची सभी शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण मुख हुआ' आदि अर्थ संभव है और इन तीनों चरणों के प्रकाश में ही चतुर्थ चरण का अर्थ किया जाना ही तर्क संगत है। इस प्रकार के अर्थप्रकाश में व्याकरण शास्त्रीय व्यवस्था भी सहायक है। इस ऋचा में प्रथमोक्त ऋचा में किये गये किन्हीं प्रश्नों के उत्तरों का संकलन है, अतः उत्तरात्मक ऋचा की व्याख्या या उसके अर्थप्रपकाश में प्रश्नात्मक ऋचा की शैली का ध्यान रखना भी आवश्यक है इस लिए शास्त्र में प्रकरणशः निर्वचन का निर्देश किया गया है—**'न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः'** —निरुक्त १३।१२

फिर परमेश्वर का तो कोई शरीर ही नहीं है—**'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** (यजुः० ४०।८)। जिसका शरीर ही नहीं उसके शरीरांगों से किसी की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है।

'वृञ् वरणे' धातु से वरण शब्द सिद्ध होता है—**'वृणोति व्रियते वा स वर्णः'** (उणादि० ३।१०)। जिसका स्वेच्छा से वरण=चुनाव किया जाता है उसे वरण कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं चुने—अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं निर्धारित करे और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस स्वयं वरण के कारण ही यास्काचार्य ने लिखा है—'वर्णो वृणोते' (निरुक्त २।१।४)। ब्राह्मणादि वर्ण इसलिए कहाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए उसका निश्चय करता है और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके

और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं, क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो, तो तुमसे कुछ भी उत्तर न बन पड़ेगा, इसलिए तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है, वह सच्चा है।

गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार शासकीय अथवा सामाजिक व्यवस्था से अधिकार तथा अवसर प्रदान करता है। वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना व व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि ये शब्द गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। स्वयं नामों से ही वर्णों के कर्त्तव्यों का और कर्त्तव्यों से उनके वाचक नामों का बोध होता है। 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (पा० ४।२।५६) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से ब्राह्मण शब्द बनता है। ब्रह्म शब्द परमेश्वर और वेद दोनों का वाचक है। यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने **'ब्राह्मणमद्य विदेयम्'** इत्यादि (७।४६) मन्त्र में 'ब्राह्मणम्' का अर्थ 'वेदेश्वरविदम्'=वेद और ईश्वर को जाननेवाला किया है। इसकी व्युत्पत्ति है—**'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासने च सह वर्त्तमानो उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः'** अर्थात् वेद और परमेश्वर के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्यादि उत्तम गुणों को धारण करनेवाला ब्राह्मण कहाता है। वेद ने चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम् । —यजुः०

अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करने तथा उसका प्रचार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा के लिए क्षत्रिय को, प्राणपोषण के लिए वैश्य को और विशेष परिश्रम के लिए शूद्र को जानो।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी वर्णों के कर्त्तव्यों का संकेत मिलता हैं।

ब्राह्मण—ब्राह्मणो व्रतभृत् (तै० सं० १।६।७।२) ; आग्नयो ब्राह्मणः (ता० १५।४।८) ; आग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ० २९।१०) ; गायत्रो वै ब्राह्मणः (एते० १।२८) ; गायत्रो वै बृहस्पतिः (ता० ५।१।१५)।

क्षत्रिय—'क्षणु' हिंसा अर्थवाली धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में 'त्रैङ्' पालन करने अर्थवाली धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० ३।२।१०१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय पूर्वपदान्त्याकार लोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इयः' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य अपत्यमिति क्षत्रियः। 'क्षदति रक्षति जनान् स क्षत्रियः' जो लोगों की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। ब्राह्मणग्रन्थों में—'क्षत्रं राजन्यः' (ऐत० ३।४, ८।२) ; 'क्षत्रस्य वा एतद्रूपम् यद् राजन्यः' (शत० १३।१।५।३) क्षत्रिय क्षत्र का ही एक रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

वैश्य—'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से वैश्य शब्द बना—'यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स क्षत्रियः' 'व्यवहारविद्या कुशलः जनो वा' जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल रहता है, वह वैश्य कहाता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार **'एतद्वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः'** (ता० १८।४।६) तस्माद् बहुपशुर्वैश्यदेवो हि जगतो वैश्यः' (ता० ६।१।१०) पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य होता है।

शूद्र—'शुच्' शोकार्थक धातु से शुचेर्दक्षश्च' (उणादि २।१९)सूत्र से 'रक्' प्रत्यय के योग से 'उकार' को दीर्घ और 'च' को 'द' होकर शूद्र शब्द सिद्ध होता है। शूद्रः=शोचनीयां शोच्याः स्थितिमापन्नो वा सेवायां साधुरविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा'। शूद्र वह व्यक्ति बनता है जो अपनी विद्या में पिछड़ जाने से किसी

प्रकार की उन्नत स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका और इस कारण अपनी निम्न स्थिति से चिन्तित व दुःखी रहता है, किन्तु सेवाकार्य में दक्ष होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—'असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः' (तै० ३।२।३।६) असतः —अविद्यातः। अज्ञान के कारण जिसकी निम्न स्थिति रहती है और जो केवल सेवाकार्य ही कर सकता है, वह शूद्र है। द्विज प्रयत्नपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, द्विज बनने से जो रह जाता है, वह शूद्र कहाता है। शूद्र को न पढ़ने पर एक जाति कहा जाता है।

मनुस्मृति में अनेक स्थलों में ऐसे वर्णन उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण गुण-कर्म-स्वभाव से मानते हैं, जन्म से नहीं। किसी भी बालक के माता-पिता उसे अपने या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु अन्ततः वर्ण का निश्चय शैक्षिक काल की समाप्ति पर उसके गुण-कर्म-स्वभाव, संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है। बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्त्तन हो सकता है।

सृष्टि के आदि में अनेक मनुष्य पैदा हुए। जन्म के समय तो सभी एक-जैसे थे। फिर जैसे-जैसे उनके गुण-कर्म-स्वभाव का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे वर्ण विशेष में प्रतिष्ठित किया जाता रहा।

महाभारत के अन्तर्गत यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मणः केन भवति एतद् ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

अन्यत्र कहा है—

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।
तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं तत्त्वदर्शनः विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥

—महा० पूना, ३।१७७।२६

भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह सम्बन्ध होने पर उनसे उत्पन्न सन्तान के वर्ण का निश्चय कैसे हो? इसका समाधान करते हुए युधिष्ठिर ने बताया—उसके शील=चरित्र के अनुसार ही उसका वर्ण निर्धारित होगा।

भगवद्गीता के निम्न श्लोक में तो बड़े स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त की घोषणा की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। —गीता ४।१३

डॉ० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—"The emphasis is on guna (aptitude) and karma (function) and not on birth. The Varna or order, to which we belong, is independent of sex, birth or breeding. A class determined by temperament and vocation is not a caste determined by birth and heredity."

'चातुर्वर्ण्यम्'—यहाँ मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव पर बल दिया है, न कि जन्म या जाति पर। हमारे वर्ण का लिंग, जन्म या पैतृक परम्परा के आधार पर निर्धारण नहीं किया जा सकता।'

इस सन्दर्भ में कुछ मूढ़मति यह कल्पना करते हैं कि यदि कोई शूद्र इस जन्म में ब्राह्मणादि के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त कर लेता है तो उसका अगला जन्म तत्तद् गुण-कर्म-स्वभावयुक्त कुल में होगा और तब वह ब्राह्मणादि को प्राप्त अधिकारों का उपभोग करेगा। गीता के उपर्युक्त श्लोक का यही अभिप्राय है कि भगवान् इस जन्म के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अगला जन्म देता है। यह कल्पना उपहासास्पद होने के साथ-साथ अत्यन्त मूर्खतापूर्ण भी है। यह ऐसा ही है, जैसे शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति के एम०ए० कर लेने पर यह कहा जाए कि कालिज में अध्यापक पद पर नियुक्ति के लिए तुम्हारे प्रार्थनापत्र पर अगले जन्म में विचार होगा। फिर, यदि शूद्र होने के कारण किसी को इस जन्म में पढ़ने का अधिकार नहीं मिलेगा तो वह अगले जन्म में उच्चवर्णस्थ कुल में जन्म लेने के लिए अपेक्षित गुण-कर्म-स्वभाव कैसे अर्जित करेगा? एक बात और है—इस कल्पना के अनुसार वर्त्तमान में जो भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य हैं, निश्चय ही वे अपने पूर्वजन्म में ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त जीवात्माएँ हैं, परन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान में उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है और लोगों के घरों में 'महाराज' कहलाकर चूल्हा झोंक रहे हैं। कहाँ गयी उनकी पूर्वजन्म में संचित ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव की पूँजी जिसके आधार पर उन्हें वर्त्तमान में ब्राह्मणकुल में जन्म मिला? पूर्वोद्धृत विश्वामित्र, वसिष्ठ, मातंग, कवष ऐलूष आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुण-कर्म-स्वभाव के बदलने पर इसी जन्म में न केवल वर्ण बदल जाता है, अपितु ऋषित्व तक प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मण की पहचान क्या है? महाभारतकार बताते हैं—

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ —महा० शा० १८८।४।८

जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप दिखाई दें वह ब्राह्मण कहाता है। यदि ये गुण शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न मिलें तो न ऐसा शूद्र शूद्र है और न ऐसा ब्राह्मण ब्राह्मण है। कितनी स्पष्ट घोषणा है वर्णव्यवस्था के गुण-कर्म-स्वभावाश्रित होने की।

यदि मन्वादि ऋषि और आचार्य किसी वर्ण को श्रेष्ठ और किसी को हीन मानते तो उन्हें वर्णों के कर्तव्य निश्चय करने की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधर पर ही श्रेष्ठ या हीन माना जा रहा है, वह तो वैसा ही रहेगा, चाहे वह कर्म करे या न करे, सत्कर्म करे या दुष्कर्म करे। यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए निर्धारित कर्म नहीं करता, अपितु बहुत बार विरोधी कर्म भी कर बैठता है। जब उस अवस्था में भी उसे जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की मूर्त्ति माना जा रहा है तो बाद में कर्मों के न करने या अन्यथा करने पर भी उसका ब्राह्मणत्व नहीं नष्ट होना चाहिए, परन्तु मनुस्मृति में के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए निर्धारित कर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और व्यवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था मानते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो मनुस्मृति तथा अन्यान्य शास्त्रों द्वारा अनुमोदित सम्पूर्ण कर्मविधान ही नष्ट हो जाएगा।

[वर्ण-परिवर्तन में प्रमाण]

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च ॥ —मनु० १०।६५

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए। वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो, और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाए। वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे ॥

वैदिक धर्म से निःसृत बौद्ध तथा जैन मतों में भी वर्णव्यवस्था को इसी रूप में स्वीकार किया गया है। तद्यथा—

न जच्चा (जन्मना) वुसलो (वृषलो) होति न जच्चा होति ब्राह्मणः ।
कम्मना (कर्मणा) वुसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणः ॥ —धम्मपद
कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होई खुद्दो होई कम्मुणा ॥ —महावीर स्वामी

यस्मादेते—आजकल शतपथ ब्राह्मण में यह पाठ उपलब्ध है—**'तस्मात्पुरुषात्पूर्वं ब्रह्मैवासृज्यत तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत'**। भाव दोनों का एक है। शतपथ ३।६।१।१४ में पाठ इस प्रकार है—**'अस्यैवैतत्सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्'**, अर्थात् यतः ब्रह्म=ज्ञान-विज्ञान को इस समस्त संसार का मुख बनाया है, अतएव ब्राह्मण इस समस्त जगत् का मुख है। ताण्ड्यब्राह्मण ६।१।६ में इस आशय के ये शब्द मिलते हैं—**'ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखं तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः'**—अर्थात् ब्राह्मण मनुष्यों में मुख्य है, अतएव ब्राह्मण मुख से शक्तिप्रदर्शन करता है। इसीलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ। आग्निवेश्यगृह्यसूत्र (त्रिवांकुर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ १ पर टिप्पणी में सम्पादक ने श्रुति के नाम से पाठ दिया है—**'गायत्री छन्दो रथन्तरं साम ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'**।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति—मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ में यह श्लोक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक के अनुसार श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के आधार पर शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् ब्राह्मणोचित्त गुण-कर्मों के अनुरूप कोई ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण रहता है और यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रकुलोत्पन्न भी यदि मूर्ख है तो वह मूर्ख बना रहता है, किन्तु यदि वह ब्राह्मणादि के लिए अपेक्षित गुणों को धारण कर लेता है तो वह यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण परिवर्तन समझना चाहिए। मनु के मत में अपने लिए विहित कर्मों का पालन न करनेवाला कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है। इसमें प्रमाण हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ —मनु० २।१६८

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥
—ये आपस्तम्ब २।५।११।१०,११ के सूत्र हैं ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ —मनु० २।१०३
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ —महा०
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लायते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ —मनु० ११।९७
गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामतिः ।
तपसो ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥
जातो व्यासश्च कैवर्त्याः श्वपाक्यास्तु पराशरः ।
बहवो अन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः ॥

नियत आयु तक उपवीत न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति व्रात्यसंज्ञक शूद्र कहाता है (मनु० २।३७-४०) । अन्यत्र (४।२४५) मनु कहते हैं—

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनाँश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥

अर्थात् उत्तमोत्तम व्यक्तियों से सम्बन्ध बढ़ाते हुए और निकृष्ट व्यक्तियों से सम्बन्ध तोड़ते हुए ब्राह्मण और अधिक श्रेष्ठता को प्राप्त करता है । इसके विपरीत व्यवहार करने से वह शूद्रत्व को प्राप्त होता है । इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

ग्रन्थकार के जीवन की एक घटना इस प्रकार है—'एक दिन पं० गंगाप्रसादजी ने स्वामीजी के चरणों में निवेदन किया —'महाराज मैंने बहुत बड़ी संख्या को जनेऊ धारण कराये हैं ।' स्वामीजी ने उसके इस कार्य की आशीर्वादसहित स्तुति करते हुए कहा—'यज्ञोपवीत देते ही जाते हो या किसी के उतरवाते भी हो' ? उसने विनय की 'हे भगवन् ! कभी जनेऊ उतारा भी जाता है ?' स्वामीजी ने कहा—'हाँ, जो जन धर्म-कर्म हीन हो जाएँ उनके यज्ञोपवीत उतार देने चाहिएँ' । भले ही कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ हो, पर अब शूद्र हो गया है । उसे यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नहीं है ।

इसके साथ ही शूद्रत्व को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण को प्राप्त कर लेता है । मनु ने यह मान्यता व्रात्यसंज्ञक शूद्रों के लिए और अपने वर्ण की मर्यादा के विरुद्ध कार्य करने के कारण ब्राह्मण वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में व्यक्त की है (मनु० ११।१९१-१९६) । इससे भी प्रकारान्तर से वर्णावस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है ।

धर्मचर्यया—'ऐतरेयब्राह्मण २।१९ में कवष एलूष नामक व्यक्ति की घटना वर्णित है जो वर्णपरिवर्तन तथा प्रत्यावर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है । **''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । ते ऋषय कवष ऐलूषं सोमादनयन्, दासीपुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । .... स बहिधन्वोदूढ ह पिपासया दित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'अदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु इति''** ।

अर्थ—धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिसके योग्य होवे ॥१॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचेवाले वर्ण को प्राप्त होता है । और वह उसी वर्ण में गिना जावे ॥२॥

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी वर्णव्यवस्था समझनी चाहिए । इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे । और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं, अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी । इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी ।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए, तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा ? और वंशच्छेदन भी हो जाएगा । इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए ?

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग, और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी ॥

अर्थात्—ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वंचित कर दिया, यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट आचरणवाला अब्राह्मण किस प्रकार हमारे बीच दीक्षित हो गया है । यज्ञ से बाहर निकाल दिये जाने पर वह कवष ऐलूष पिपासा से सन्तप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया । वहाँ उसने 'अपोनप्त्र' देवतावाले सूक्त का अर्थदर्शन किया । तब ऋषियों ने उसे वेदार्थद्रष्टा होने के कारण पुनः अपने पास बुलाकर यज्ञ में दीक्षित किया ।

१६ अप्रैल १८८१ को चौबे कन्हैयालालजी को एक पत्र में महर्षि ने लिखा— "मुसलमान आदि अन्य-मत वाले वैदिक धर्म में आवें तो वे जिस गुण और कर्मयुक्त हों उसी वर्ण में रह सकते हैं । विवाह और खान-पान आदि व्यवहार भी अपने समान वर्ण के साथ करें । इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती"।

—पत्र और विज्ञापन, पृ० २८७

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णाश्रमविषय के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण कहाते हैं । वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु । इसमें यह प्रमाण है—**'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'** तथा **'उत शूद्र उतार्ये'** । इस मन्त्र से भी आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अनार्य अनाड़ी जोकि शूद्र कहाते हैं, ये दो भाग जाने गये हैं । **'असुर्या नाम ते लोकाः'** इत्यादि मन्त्र (यजुः० ४०।३) से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये ही दो भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर-संग्राम कहते हैं ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण-कर्म-स्वभाव से किये गये हैं । इस संदर्भ को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों को दो भागों में बाँटा गया है—(१) आर्य और (२) दस्यु । ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की गणना 'आर्य' के अन्तर्गत की गयी है और शूद्र को 'अनार्य' कहा गया है । आगे इन्हीं की 'देव' और 'असुर' संज्ञा कही गयी है । इससे अनार्य, दस्यु, शूद्र और असुर एकार्थक सिद्ध होते हैं, परन्तु वेद तथा मनुस्मृति आदि प्रामाणिक ग्रन्थ ऐसा नहीं मानते । दस्यु, दास,

[वर्णनिश्चय का समय]

यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या, और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

असुर तथा अनार्य तो एकार्थक हो सकते हैं, किन्तु शूद्र को उनके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। 'दस्यु' शब्द 'दसु उपक्षये' धातु से निष्पन्न होता है। दस्यु समाज का निर्माता नहीं विघातक होता है। उसे चोर, लुटेरा, डाकू, लम्पट आदि शब्दों से पुकारा जा सकता है। दस्युओं को समाज में अपराधी तथा दण्डनीय माना जाता है। **'वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन'** (ऋ० १।३३।४) इस वेदमन्त्र के नुसार धनवान् दस्यु को भी मार डालने का विधान है। इससे अगले मन्त्र में दस्यु को 'अयज्वा'=याज्ञिकों से ईर्ष्या करनेवाला और 'अव्रती' अर्थात् धार्मिक, सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन करनेवाला कहा गया है। **'अवादहो दिव आ दस्युम्'** (ऋ० १।३३।७) इस मन्त्र में दस्यु को जला डालने का आदेश दिया गया है। **'विजनीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासदव्रतान्'** (ऋ० १।५१।८)—यहाँ दस्युओं को नष्ट करने और वश में लाने का विधान है। **'दस्युं वकुरेणाधमन्ता'** (ऋ० १।११७।२१) इस मन्त्र में भी दस्यु को शास्त्रास्त्र से मारने का विधान है। अन्यत्र—

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत् ।—ऋ० ३।३४।९
यथा वशं नयति दासमार्यः ।—ऋ० ५।३४।६
विशोऽव तारीर्दासीः ।—ऋ० ६।२५।२
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।—ऋ० २।१२।४
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् ।—ऋ० ६।२६।५

इत्यादि अनेक मन्त्रों में दास या दस्यु के लिए अत्यन्त घृणित शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें वश में करने और अनेक प्रकार से दण्डित करने का विधान है, क्योंकि ये समाज के शत्रु हैं। दस्यु भी असुर कहाते हैं। ऋग्वेद १।५१।५ में दस्युओं के लिए **'अधि शुप्तावजिह्वत'** विशेषण का प्रयोग हुआ है। यही भाव कौषीतकिब्राह्मण में व्यक्त हुआ है—**'असुरा वा आत्मन्यजुहवुः'** अर्थात् असुर आदि यज्ञादि परोपकार के कार्य न करके केवल अपना ही पेट पालने में प्रवृत्त रहते हैं। ग्रन्थकार ने भी अपने यजुर्भाष्य (४०।३) में असुर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'असुर्या=असुराणामिमे असुर्याः=असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः'— अर्थात् जिन्हें हर समय अपने प्राणों—शरीर के पालन-पोषण की चिन्ता रहती है, वे असुर कहाते हैं।

इसके विपरीत जब हम शूद्र शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पता चलता है कि वेदादि शास्त्रों की दृष्टि में शूद्र एक सत्पुरुष है जो दस्यु से सर्वथा भिन्न है। यजुर्वेद ३०।५ में कहा है—**'तपसे शूद्रम्'** अर्थात् शूद्र वह है जो परिश्रमी, साहसी तथा तपस्वी है। वेद में उसे सर्वत्र अन्य वर्णों की भाँति ही सम्मान की दृष्टि से देखा गया है, जैसाकि इन मन्त्रों से स्पष्ट है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ —यजुः० १८।४८

[चारों वर्णों के कर्म और गुण]

इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म और गुण ये हैं।

ब्राह्मण—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥ —मनु० १।८८
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ —भ० गी० १८।४२

ब्राह्मण के पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, ये **छः कर्म** हैं, परन्तु **'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'** (मनु० १०।१०९), अर्थात् प्रतिग्रह = लेना नीच कर्म है ॥१॥

(शम) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी, और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना। (दम) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना। (तप) सदा ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना। **(शौच)**—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ —मनु० ५।१०९

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा, और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं:.....तस्यावयजनमसि । —यजु:० २०।१७
प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । —अथर्व० १९।३२।८

मनुस्मृति के एक श्लोक में कहा है—

मुखबाहूरुपज्जानां या जातयो लोके बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ —१०।४५

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों से जो भिन्न हैं, वे सब दस्यु हैं। इस प्रकार स्पष्टतः यहाँ शूद्र को दस्यु से भिन्न बताया है। वह आर्यसमाज का ही अंग है जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने से शारीरिक श्रम के द्वारा समाजसेवा में प्रवृत्त रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में वह श्रमिकों की श्रेणी (Labour Class) के अन्तर्गत है। अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से हीन होने पर भी उसे नितान्त निर्बुद्धि या हीन नहीं कहा जा सकता। **'उत शूद्र उतार्ये'** (अथर्व० १९।६२।१) इस मन्त्रांश को देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ शूद्र और आर्य में भेद किया गया है, परन्तु पूरे मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस भ्रान्ति का निवारण हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

भ्रान्ति का कारण 'उतार्ये' को 'उत+अर्ये' न मानकर 'उत+आर्ये' समझ लेना है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों ठीक हैं। परन्तु 'प्रकरणशः एव निर्वक्तव्याः' प्रकरण के अनुसार ही वेदमन्त्रों का अर्थ करना

भीतर के रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्याऽसत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है। (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि में हर्ष-शोक छोड़के धर्म में दृढ़निश्चय रहना। (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरलस्वभाव, रखना; कुटिलतादि दोष छोड़ देना। (ज्ञान) सब वेदादिशास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़ने-पढ़ाने का सामर्थ्य, **'विवेक'** सत्य का निर्णय=जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानना और मानना। (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना। (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-पर-जन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता-पिता-आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना, और निन्दा कभी न करना। ये **पन्द्रह[1] कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिएँ ॥२॥**

चाहिए। यहाँ प्रार्थयिता सम्पूर्ण समाज में प्रिय बनने की कामना कर रहा है। समाज चार भागों=वर्णों में विभक्त है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मन्त्रगत देवेषु, राजसु तथा शूद्रे पद क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के वाचक हैं। तब यहाँ चौथे वर्ण वैश्य का भी उल्लेख होना चाहिए। वही मन्त्र में 'अर्य' पद वाच्य है। अर्य शब्द ईश्वर और वैश्य दोनों का वाचक है, किन्तु प्रकरण में परिशेषन्याय से उससे वैश्य का ही ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान में न्यूनाधिक्य की दृष्टि से भी समाज के दो भाग हो सकते हैं—विशेषरूप से पढ़े-लिखे और सामान्यरूप से पठित या अपठित। इस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को विशिष्ट ज्ञानवान् होने से आर्य कहा जा सकता है और शूद्र को अनाड़ी। बोलचाल की भाषा में अनाड़ी शब्द से अपढ़, सीधा-सादा व्यक्ति अभिप्रेत है, दस्यु या दुष्ट नहीं।'

संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के प्रसंग में गृह्यसूत्रों से उद्धृत वचनों की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार के काल का निर्देश किया गया है। उसके आधार पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि वहाँ ब्राह्मण आदि का निर्देश होने से वर्णव्यवस्था का जन्म पर आधारित होना सिद्ध होता है। वस्तुतस्तु वहाँ ब्राह्मणादि पद ब्राह्मणादि से उत्पन्न बालक को जातादि सम्बन्धरूप लक्षणा से कहते हैं। अतएव वहाँ पर मनु के 'ब्रह्मवर्चसकामस्य' इत्यादि श्लोक (२।३७) को उद्धृत करके लिखा है—'जिसकी शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का .... क्षत्रिय के लड़के का .... वैश्य के लड़के का।" इससे वहाँ स्पष्टतः ब्राह्मणादि के लड़कों का निर्देश किया है। इतना ही नहीं, यदि मनु के उक्त श्लोक में विप्र, राजा और वैश्य शब्द उनके बालक के लिए लक्षणा से प्रयुक्त न मानें तो क्या ५, ६ वा ८ वर्ष का बालक स्वयं ब्रह्मवर्चस, बल और व्यवहार की कामना कर सकता है ? मनु का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को अपने बालक को वर्चस्वी, बलवान् या व्यावहार-कुशल बनाने की इच्छा हो, वह अपने पुत्रों का यज्ञोपवीत ५, ६ या ८ वर्ष की अवस्था में करे।

इसी प्रकार **'पयोव्रतो ब्राह्मणः'** आदि वचनों की व्याख्या में भी ब्राह्मण का लड़का, क्षत्रिय का लड़का, वैश्य का लड़का शब्दों का व्यवहार किया है।

यदि किसी को उक्त स्पष्टीकरण से सन्तोष न हो तो उसके लिए दूसरा समाधान भी है। वह है 'भावी

---

१. मनुस्मृत्युक्त ६ कर्म, और गीतोक्त ६ गुण-कर्म मिलाकर पन्द्रह गुण-कर्म कहे हैं।

क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥१॥ —मनु० १।८६
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥२॥ —भ० गीता १८।४३

(प्रजा०) न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन । (दान) विद्या-धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना । (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना । (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना और (विषयेष्व०) विषयों में न फँसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना ॥१॥

(शौर्य) सैकड़ों-सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना । (तेज) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनता-रहित, प्रगल्भ, दृढ़ रहना । (धृति) धैर्यवान् होना । (दाक्ष्यं) राजा और प्रजा-सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अतिचतुर होना । (युद्धे०) युद्ध में भी दृढ़, निःशङ्क रहके उससे कभी न हटना न भागना, अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे । जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना । (दान) दानशीलता रखना । (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचारके देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भङ्ग होने न देना । **ये ग्यारह[1] क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं ॥२॥**

संज्ञा' का । छोटे बछड़े को बिल्वाद (बेल का फल खानेवाला) कहते हैं । उस समय वह बिल्वफल खाने में सर्वथा असमर्थ होता है, क्योंकि उसके पूरे दाँत नहीं होते । मुर्गे के बच्चे को भी 'लम्बचूड़' (लम्बी कलगीवाला) कहते हैं, जबकि उस समय उसके कलगी होती ही नहीं । इसलिए यास्काचार्य कहते हैं—**'पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम् यथा बिल्वादो लम्बचूड़कः'** (निरुक्त १।१४) । अर्थात् इस लोक में हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न वस्तु का उत्तरकाल में होनेवाले भाव से किन्हीं को नामधेय की प्राप्ति होती है, किन्हीं को नहीं, जैसे—बिल्वाद, लम्बचूड़क ।

महाभाष्यकार ने इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'कश्चित् कंचित् तन्तुवायमाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इति । स पश्यति—यदि शाटको न वातव्यः अथ वातव्यो न शाटकः । शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति ।'

अर्थात् कोई किसी जुलाहे को कहता है—इस सूत की धोती बुन दे । जुलाहा सोचता है—यदि यह धोती है तो बुनने योग्य नहीं, यदि बुनने योग्य है तो धोती नहीं । धोती और बुनने योग्य, ये दोनों विरोधी हैं । इस कहनेवाले को भाविनी (बुनने के बाद काम में आनेवाली) संज्ञा अभिप्रेत है, अतः इसे इस प्रकार बुनना चाहिए जिससे बुन जाने पर इसकी संज्ञा धोती हो ।

इसी प्रकार प्रकृत में भी 'उस बालक का आठवें, दसवें, बाहरवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए' जो अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहावे । महाभाष्य २।२।६ में लिखा है—

---

१. मनुस्मृत्युक्त ५ कर्म, तथा गीतोक्त, गुण-कर्म मिलाकर दोनों में १२ होते हैं, परन्तु 'दान' शब्द दोनों में समान है अतः दोनों श्लोकों में निर्दिष्ट गुण-कर्म ११ ही होते हैं ।

वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥३॥ —मनु० १।९०

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, (दान) विद्या-धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिए धनादि का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना, (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज, और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना, (कृषि) खेती करना, **—ये सात वैश्य के गुण-कर्म हैं ॥३॥**

शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥४॥ —मनु० १।९१

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करना। **यही एक शूद्र का कर्म-गुण है ॥४॥**

[गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था से लाभ]

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उसे उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एष सः ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द गुणसमुदाय में प्रयुक्त होते हैं। तप, श्रुत और योनि (जन्म) ये ब्राह्मण को बनानेवाले हैं। तप और श्रुत से हीन व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण जन्म से ब्राह्मण है।

कुल विशेष में जन्म पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मिलता है और ब्राह्मणादि कुलविशेष में जन्म उस बालक को उस कुल के अनुरूप बनाने में सहायक होता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने योनिविशेष को भी ब्राह्मणत्व निष्पत्ति में निमित्त कहा है। गीता के अनुसार—

तत्र तं बुद्धियोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ —६।४३

इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन ! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक बुद्धि पाने का प्रयत्न करता है।

वर्णव्यवस्था—प्रकरण का समापन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।' इससे पूर्व स०प्र० के प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा है—"पुरुषों और कन्याओं का ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाए तब जो देश का राजा

[किस वर्ण को क्या अधिकार देना]

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित, मूर्ख होने से विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।

विवाह के लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ —मनु० ३।२१

विवाह आठ प्रकार का होता है—एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवाँ आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवाँ पैशाच ॥

होय और अन्य जितने विद्वान् लोग हों वे सब उसकी परीक्षा यथावत् करें। जिस पुरुष वा कन्या में श्रेष्ठ गुण, जितेन्द्रियता, सत्यवचन, निरभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्णविद्या, मधुरवाणी, कृतज्ञता, विद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति, जिसमें काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-शोक, कृतघ्नता, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेषादिक दोष न होवें, पूर्ण कृपा से सब लोगों का कल्याण चाहें, उसको ब्राह्मण का अधिकार देवें। और यथोक्त पूर्वोक्त गुण जिसमें होय, परन्तु विद्या कुछ न्यून होय, शूरवीरता, बल, पराक्रम ये तीन गुणवाला, जो ब्राह्मण भया उससे अधिक होय, उसको क्षत्रिय करें और थोड़ी-सी विद्या होवै, परन्तु व्यापारादिक व्यवहारों में, नाना प्रकार के शिल्पों में, देश-देशान्तर से पदार्थों को ले-आने और ले-जाने में चतुर होवै, परन्तु अत्यन्त भीरू होवै, उसको वैश्य करना चाहिए। और जो पढ़ने लगा, जिसको शिक्षा भी भई, परन्तु कुछ भी विद्या नहीं आई, उसको शूद्र बनाना चाहिए। इसी प्रकार कन्याओं की भी व्यवस्था करनी चाहिए।'' (पृ० ६४)

आठ प्रकार के विवाह—मनु के अतिरिक्त नारद और याज्ञवल्क्यस्मृति में भी इन विवाहों का उल्लेख है। इनमें से पहले चार उत्तम विवाह माने गये हैं, इन्हें धर्मविवाह माना गया है। अन्तिम चार को अधम और निकृष्ट माना गया है।

ब्राह्म विवाह—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ —मनु० ३।२७

तदनुसार कन्या का पिता योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को खोजकर उसे अपने घर पर आमन्त्रित करता है और धार्मिक संस्कार करके कन्या को उस वर के प्रति अर्पित करता है। इस विवाह में आवश्यक तत्त्व हैं—माता-पिता की स्वीकृति, यथाविधि विवाह-संस्कार करना तथा दहेज न देना। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्म विवाह में केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके कन्या देने का अभिप्राय यही हो सकता है कि आजकल की तरह लेने-देने का आडम्बर न किया जाए। वेदों में पारंगत विद्वानों से अनुमोदित होने के कारण इसका नाम ब्राह्म है।

इन विवाहों की यह व्यवस्था[1] है कि—वर-कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना **'ब्राह्म'** कहाता है। विस्तृत यज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कार-युक्त कन्या का देना **'दैव'**। वर से कुछ लेके वर-कन्या का विवाह होना **'आर्ष'**। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना **'प्राजापत्य'**। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना **'आसुर'**। अनियम, असमय किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना **'गान्धर्व'**। लड़ाई करके, बलात्कार अर्थात् छीन-झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना **'राक्षस'**। शयन वा मद्यादि पी हुई=पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना **'पैशाच'**।

इन सब विवाहों में 'ब्राह्म' विवाह **सर्वोत्कृष्ट**, 'दैव' और 'प्राजापत्य' **मध्यम**, 'आर्ष', 'आसुर' और 'गान्धर्व' **निकृष्ट**, 'राक्षस' **अधम**, और 'पैशाच' **महाभ्रष्ट** है। इसलिए यही निश्चय रखना चाहिए कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए, क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है।

दैव विवाह—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवधर्मं प्रचक्षते ॥ —मनु० ३।२८

विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को आमन्त्रित कर उसमें कर्म करानेवाले विद्वान् को वस्त्रालंकार से सुशोभित कन्या के देने को धर्मयुक्त दैव विवाह कहते हैं।

श्री अलतेकर का कहना है कि प्राचीन काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर बड़े-बड़े यज्ञ करवाया करते थे। इन अवसरों पर अनेक पुरोहित यज्ञ करवाने के लिए आमन्त्रित किये जाते थे। सम्भव है कि यज्ञ करानेवाले यजमान को इन पुरोहितों में से कोई युवक पसन्द आ जाता हो और वह अपनी लड़की का उससे विवाह कर देता हो, क्योंकि ऐसा विवाह देवताओं की पूजा के अवसर पर होता था, इसलिए इसे दैव विवाह कहते थे।

श्री अलतेकर का यह विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यद्यपि प्रचलित टीकाओं के अनुसार 'ऋत्विक्' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ यज्ञ करानेवाला ब्राह्मण विद्वान् ग्रहण करके उसी को कन्यादान करना 'दैव विवाह' बतलाया है, तथापि यह अर्थ मनुवचन के विरुद्ध तो है ही, प्रसंगानुकूल भी नहीं है। इससे दैव-विवाह, विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में यज्ञीय क्रियाओं को सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मणों तक सीमित हो जाता है, परन्तु मनु ने ऐसा कोई विधान नहीं किया है जिससे दैव विवाह केवल कर्मकाण्डी ब्राह्मणों तक में सीमित रहता हो। वस्तुतस्तु मनु ने सब प्रकार के विवाह सभी वर्णों के लिए विहित माने हैं। आठ प्रकार के विवाहों में से क़िसी भी प्रकार का विवाह किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारित नहीं किया है।

देव सात्त्विक वृत्ति के विद्वान् को कहते हैं—**देवत्वं सात्त्विका यन्ति** (मनु० १२।४०)। तदनुसार एक विद्वान् पुरुष का किसी विदुषी स्त्री से विवाह दैव विवाह है। ऋत्विक् शब्द सामान्तः यज्ञ करानेवाले विद्वान् ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। निरुक्त में ऋत्विक् की एक व्युत्पत्ति यह भी है—'ऋतुयाजी भवतीति वा'

---

१. इस व्यवस्था के बोधक मनुस्मृति के श्लोकों को ग्रन्थकार ने 'संस्कारविधि' में उद्धृत करके उनका व्याख्यान किया है।

(३।४।१६) ऋतौ विशेषे, अवसर-विशेषे याझी=यजनशीलः याजनशीलो वा । इससे अवसर-विशेष या उद्देश्य-विशेष के लिए यज्ञ करनेवाला भी ऋत्विक् कहलाता है । इस प्रकार विवाह-प्रसंग में ऋत्विक् शब्द का अर्थ हुआ— विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में विवाह के निमित्त यजन करानेवाला अर्थात् क्रियाओं का सम्पादन करनेवाला विद्वान् जिसका विवाहार्थ वरण किया जाता है ।

आर्ष विवाह—वर से कुछ लेके विवाह करना 'आर्ष विवाह' कहाता है । संस्कार-विधि में ग्रन्थकार ने लिखा है—"एक गाय-बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह आर्ष विवाह है ।" इसका आधार मनुस्मृति का यह श्लोक है—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ —मनु० ३।२९

इसपर संस्कारविधि में टिप्पणी में लिखा है—'यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्ति के विरुद्ध भी है । इसलिए कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष विवाह' है । द० स० (दयानन्द सरस्वती) ।

निश्चय ही प्रक्षिप्त होने से इस श्लोक को प्रमाण कोटि में नहीं रखा जा सकता । आगे आर्ष-विवाह में गोयुगल का निषेध करते हुए लिखा है—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ —मनु० ३।५३

अर्थात् कुछ लोगों ने आर्ष विवाह में बैलों के एक जोड़े का शुल्करूप में लेने का कथन किया है, वह मिथ्या ही है, क्योंकि थोड़ा हो या अधिक, धनादिक लेकर, विवाह करना कन्या को बेचना ही है ।

इससे पहले मनु०३।५१ में कह चुके हैं—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

समझदार पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में शुल्करूप तनिक-सा भी धन न ले । लोभ के कारण शुल्क लेने पर वह सन्तान को बेचनेवाला ही माना जाएगा ।

पुनः अगले श्लोक में कहते हैं—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ —मनु० ३।५४

अर्थात् कन्या के माता-पिता या सम्बन्धी जिन कन्याओं के विवाह के लिए वरपक्ष से कुछ नहीं लेते, इस प्रकार का विवाह कन्या को बेचना नहीं कहाता । ऐसा विवाह वास्तव में कन्याओं का पूजा-सत्कार करना और उनके प्रति दया और स्नेह प्रदर्शित करना है ।

३।२९ में जो गोयुगल लेने का विधान होने तथा ३।५३ में स्पष्टतः निषेध होने से स्वभावतः यह जिज्ञासा होगी कि आखिर मनु की दृष्टि में आर्ष-विवाह का लक्षण क्या है ? मनु० ३।५३ में 'केचिदाहुः' (कुछ लोग ऐसा कहते हैं) शब्दों से स्पष्ट है कि यह मनु का अपना मत नहीं है । साथ ही 'मृषैव तत्' (यह मिथ्या है) कहने से यह भी स्पष्ट है कि वह 'कुछ लोगों के इस मत' से सहमत भी नहीं हैं । वह इसे कन्या को बेचने जैसा मानते हैं । तत्काल इसी से लगता दूसरा प्रश्न उठता है कि फिर आर्ष=विवाह का लक्षण

क्या बनता है ? मनु ने इसे स्पष्ट नहीं किया। कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करने का प्रयास किया है। उनका विचार है—**'अस्माभिरित्थं व्याख्यायते—आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति। मनोस्तु मतं नेदम्, शास्त्रनियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपं। शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्वेऽनुपयोगिनि विक्रय एव तदा स्यात्। किन्त्वार्षविवाहसंपत्यै आवश्यकर्त्तव्ययागादिसिद्धये वादातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अतएवार्षलक्षणश्लोके वरादादाय धर्मत इति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थः भोगलोभे न तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम्।'**

अर्थात् कुल्लूकभट्ट के विचार में इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित होने का अभिप्राय है कि विवाह में दान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल लेना चाहिए, लालचवश नहीं। मनु० ने ३।५१-५४ में लोभवश लेने का निषेध किया है, शास्त्रनिर्दिष्ट विधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं।

यह समाधान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता—लीपापोती लगती है। मनु की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए निश्चय ही यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इसलिए हमारे मत में ग्रन्थकार द्वारा संस्कारविधि में किया गया लक्षण ही निर्दोष है अर्थात्—'कुछ भी न ले-देकर'दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष=विवाह' है।

प्राजापत्य विवाह—मनु० ३०।१६ में प्राजापत्य विवाह का लक्षण इस प्रकार किया है—

सहोभौ चरतः धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिस्मृतः॥

यज्ञशाला में विधिपूर्वक कन्या और वर को सबके सामने 'तुम दोनों मिलके गृहस्थ धर्म का पालन करो' कहकर कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहाता है। इस श्लोक के पहले चरण से यह व्यंजित होता है कि यह विवाह वर-वधू दोनों के माता-पिता के स्तर पर खोज करके किया जाता है। इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती है। इसीलिए इसे प्राजापत्य विवाह के नाम से अभिहित किया गया है। निघण्टु २।२ के अनुसार 'प्रजा अपत्य नाम' सन्तान को प्रजा कहते हैं और 'प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा' सन्तान का पालक व रक्षक होने से पिता का नाम प्रजापति है। ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह में इतनी समानता है कि कई विद्वानों के अनुसार ये दो न होकर एक ही हैं। मनुस्मृति में तो इनका अलग-अलग उल्लेख किया है, परन्तु वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब में प्राजापत्य का उल्लेख नहीं मिलता।

आसुर विवाह—मनुस्मृति ३।३१ के अनुसार—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥

वर के सम्बन्धियों तथा कन्या को यथाशक्ति धन देकर यथाविधि विवाह का सम्पादन करना आसुर विवाह कहाता है। 'स्वाच्छन्द्यात्' शब्द का यह तात्पर्य हो सकता है कि इस विवाह में माता-पिता की इच्छा प्रधान तथा वर-कन्या की इच्छा गौण होती है। देवता निःस्वार्थ, निर्वैर, परोपकारप्रिय, तप, त्याग, सहिष्णुता आदि गुणों से भरपूर होते हैं। इसके विपरीत जो अपने ही स्वार्थ व सुविधा के लिए येन-केन प्रकरेण धन बटोरने में प्रवृत्त रहते हैं वे असुर कहाते हैं। ऐसे लोगों के विवाह को आसुर विवाह कहा जाता है।

गान्धर्व विवाह—मनुस्मृति ३।३२ में कहा है—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥

विवाह-संस्कार के बिना अपने को पति-पत्नी मानकर स्त्री और पुरुष का एक-दुसरे की इच्छा से कामभावना से संयोग करने को गान्धर्व विवाह कहते हैं। आजकल के प्रेम-विवाह (Love Marriages) बीते दिनों के गान्धर्व विवाह ही हैं। इस प्रकार के विवाह में माता-पिता तथा सम्बन्धियों का कोई स्थान नहीं होता। कामसूत्र में गान्धर्व विवाह को आदर्श विवाह माना गया है। प्राचीन काल में गाने-बजाने में निष्णात गान्धर्व नाम की एक विशिष्ट जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उनके लिए कहा गया है—'स्त्रीकामा वै गान्धर्वाः'—स्त्री की कामना गान्धर्वों की विशेषता है। सामाजिक दृष्टि से यह अनाचार या व्यभिचार का दूसरा नाम है। वर्त्तमान में इसे प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए समाज ने इसे प्रेम-विवाह के नाम से मान्यता प्रदान कर दी है। कामवासना पर आधारित इस यौनाचार को प्राचीन स्मृतिकारों ने गान्धर्व विवाह का नाम दे दिया।

राक्षस विवाह—निरुक्त ४।१८ में राक्षस शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं—**'रक्षः रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा।** अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े; जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुँचाता और रात्रि में लूटमार चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे राक्षस कहाते हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करनेवाले, दूसरों को पीड़ित करनेवाले अन्यायी, अत्याचारी, बलात्कारी स्वभाववाले, मांस-मदिरा आदि के सेवन में आनन्द लेनेवाले व्यक्ति राक्षस होते हैं। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित विवाह राक्षस विवाह कहाते हैं। मनुस्मृति में राक्षस विवाह के सम्बन्ध में लिखा है

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ —मनु० ३।३३

किसी लड़की को जबरदस्ती पकड़ लाना, या रोती-बिलखती लड़की को बलात् उठा लाना राक्षस विवाह कहाता है। युद्ध आदि में जीतकर ले-आना और लड़की की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह रच लेना अथवा पत्नी मान लेना भी राक्षस विवाह है।

पैशाच विवाह—सोती हुई या नशे में उन्मत्त लड़की को दूषित करना पैशाच विवाह है। एकान्त पाकर उससे बलात्कार करना भी पैशाच विवाह के अन्तर्गत है। मनु ने ऐसे विवाह की निन्दा करते हुए इसे पापिष्ठ कहा है —

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचाष्टमोऽधमः ॥ —मनु० ३।३४

'पिश् अवयवे' धातु से प्रत्यय होने से पिश शब्द बना। 'पिश्' उपपद से 'आङ्' पूर्वकं 'चमु अदने' धातु से 'ड्' प्रत्ययपूर्वक पैशाच शब्द बनता है। अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, इत् का लोप, मकार को चकार होकर पैशाच बनता है—**'ये पिशितं अवयवीभूतं पेशितं वा मांस रुधिरादिकं आचमन्ति भक्षयन्ति ते पैशाचाः'** । प्राणियों का कच्चा मांस खाने व रक्त पीनेवाले हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, तमोगुणी अत्यन्त निम्न और घृणित व्यक्ति पिशाच कहाते हैं।

वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह की विवाहों में गिनती नहीं की है। मनु का इस प्रकार के बलात्कार को भी विवाह की संज्ञा प्रदान करने का यह प्रयोजन प्रतीत होता है कि बलात्कार की शिकार निर्दोष स्त्री को भी समाज में स्थान मिलना चाहिए। इस विषय में डा० राधाकृष्णन ने लिखा है—

"Paishacha—Eight different kinds of marriages are recognised in the Hindu Law Books. But Manu did not shut his eyes to the practices of his contemporaries ...... Paishacha is a very low kind of marriage, but admitted as valid with the laudable motive of giving the injured woman the status of wife and their offspring legitimacy ." —Hindu View of Life, P. 61

हिताहित विवाहों का निर्देश करते हुए मनु कहते हैं—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितम् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ —३।२०

चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के परलोक में और इहलोक में हित करनेवाले तथा अहित करनेवाले इन आठ प्रकार के विवाहों को जानो। इनमें से प्रथम चार विवाहों को ही मनु ने हितकारी, उत्तम और धर्मानुकूल माना है—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥ —३।३९

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादि विद्या से तेजस्वी और आप्त पुरुषों की संगति से अत्युत्तम होते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ —मनु० ३।४०

वे पुत्र-पुत्री सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्धबुद्धि आदि उत्तम गुणों से युक्त, धनवान्, पुण्यकीर्तिमान्, पूर्णभोग के भोक्ता और धर्मात्मा होकर सौ वर्ष तक जीते हैं।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥

शेष चार विवाहों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच से उत्पन्न सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेद-धर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव के होते हैं।

अनिन्दितैः स्त्री विवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान और निन्दित विवाहों से निन्दनीय कार्य करनेवाली सन्तान होती है। इसलिए निन्दित विवाह नहीं होने चाहिएँ।

अन्तिम चार विवाहों को मनु ने 'दुर्विवाह' के नाम से अभिहित किया है।

संस्कारविधि में इस विषय का विवेचन करने के बाद ग्रन्थकार ने लिखा है—'इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनको किया करें।'

मनुस्मृति में उल्लिखित आठ विवाहों का विधान मनु द्वारा किया गया नहीं माना जाना चाहिए।

[विवाह से पूर्व का कार्य]

परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको **'फोटोग्राफ'** कहते हैं, अथवा प्रतिकृति उतारके कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें।

जिस-जिस का रूप मिल जाए, उस-उसके इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का जो पुस्तक हो, उसको अध्यापक लोग मँगवाके देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों, तब जिस-जिसके साथ जिस-जिसका विवाह होना योग्य समझें, उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना।

गान्धर्व विवाह कामवासना से प्रेरित हैं जिसमें उचितानुचित, धर्माधर्म विवेक के लिए कोई स्थान नहीं। राक्षस विवाह में कन्या का अपहरण किया जाता है। पैशाच विवाह बलात्कार द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने का नाम है। जिन अपराधों के लिए मनु ने बड़े कठोर दण्ड का विधान किया है। उन्हें वह अपने शास्त्र में कैसे स्थान दे सकते थे ? आर्ष विवाह में निर्दिष्ट गाय-बैल का जोड़ा लिए जाने को उन्होंने कन्या विक्रय जैसा मानकर उसका निषेध किया है।

वस्तुतः मनु तथा तदनुयायी ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में उन विवाहों का उल्लेख कर दिया है जो किसी-न-किसी रूप में उस समय प्रचलित थे। ३।२८ में **'प्रेत्य चेह हिताहितम्'** (परलोक में और इस लोक में हित करनेवाले और अहित करनेवाले) शब्दों से अपने तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। किसी भी अहितकर कर्म को लोक और परलोक में धर्म के अनुरूप नहीं माना जा सकता। वैसे निन्दित विवाह अनार्यों में प्रचलित रहे होंगे। उनका उल्लेख करके मनु ने उन्हें अधर्म घोषित कर दिया। इससे मूलभूत भावनाओं के साथ कोई असामंजस्य उपपन्न नहीं होता।

फोटो—पति-पत्नी के शारीरिक गठन और गुण-कर्म-स्वभाव में जितना अधिक सादृश्य होगा, उतना ही परस्पर अधिक प्रेम होगा। सादृश्य का निश्चय करने के लिए देशकालानुसार अपेक्षित तथा उपलब्ध साधनों को अपनाया जा सकता है। परस्पर मिल-बैठकर बातचीत करने से भी एक-दूसरे की योग्यता तथा स्वभाव आदि के जानने में सहायता मिलती है। फ़ोटो से बाह्य अंगों की तुल्यता तथा जीवन-चरित से दोनों की बौद्धिक क्षमता, गुण-कर्म-स्वभाव, रुचि, प्रवृत्तिविशेष आदि का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में स्वयंवर भी परस्पर सादृश्य का निश्चय करने का एक उपाय था।

भागवतपुराण के दशम स्कन्ध के ६२वें अध्याय में वर्णित 'उषा-परिणय' कथा के अनुसार उषा की सखी चन्द्रलेखा ने कुछ चित्र बनाकर उषा को दिखाये—

> मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् ।
> व्यलिखत् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥
> अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
> सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महापते ॥ २१-२२

अर्थात् चित्रलेखा ने मनुष्यों में से वृष्णिवंशियों के आनक, दुन्दुभि, शूर, राम (बलराम), कृष्ण के चित्र

[विवाह कहाँ पर होवे]

जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाए, तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें, सो भी सभा में लिखके एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाए, तब से उनके खान-पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए, कि जिससे उनका शरीर, जो पूर्व ब्रह्मचर्य्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़के पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाए।

[विवाह एवं गर्भाधान]

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो, तब वेदी और मण्डप रचके, अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन **'संस्कार-विधि'** पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें।

बनाये। प्रद्युम्न का चित्र देखकर उषा लज्जित हुई। अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण के पौत्र व प्रद्युम्न के पुत्र) का चित्र देखकर उषा लज्जा से मुख नीचा करके बोली—हाँ यह वही है।

स्पष्टतः यहाँ चित्र बनाने और विवाहोत्सुका उषा को दिखाने का वर्णन है। पौराणिक स्मृतियों में वर-कन्या के परस्पर मिलने और एक-दूसरे को देखने का भी उल्लेख मिलता है। वीरमित्रोदय (संस्कारप्रकाश) में आश्वालयिनी टीका दी गयी है—

स्नातालंकृतकन्यायाः प्राङ्मुख्या प्रत्यगाननः।
ईक्षते तण्डुलस्थायाः वरस्तस्य मुखं च सा॥

अर्थात् स्नान करके अलंकृत तण्डुलस्थ प्रत्यक्ष मुख की हुई कन्या का मुख उसके सम्मुखवाला वर देखे और वह कन्या वर का मुख देखे।

स०प्र० प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—

'विवाह में बहुत धन का व्यय करना अनुचित है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य नष्ट हो गये, और वैश्य लोगों का भी विवाह में धनव्यय से दिवाला निकल जाता है।'

ऋतुदान—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में लिखा है—**'एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते ; न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया उच्यत इति।'** इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, प्रायः प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यताओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही लिखा है। तथापि अपने स्वल्पज्ञान के कारण हमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी मिलती हैं जो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारा मार्गदर्शन महर्षि जैमिनि ने किया है। प्राचीन कल्पशास्त्र (श्रौत्र-स्मार्त-गृह्यसूत्र) के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में उन्होंने लिखा है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।१।३)

अर्थात् कल्पशास्त्र की जो विधियाँ वेदवचन के विरुद्ध हैं उनकी उपेक्षा करनी चाहिए=उन्हें प्रमाण नहीं मानना चाहिए, किन्तु जिन विधियों के विरुद्ध वेदवचन उपलब्ध न हों, वहाँ अनुमान करना चाहिए कि उन्होंने उक्त विधियाँ किन वेदवचनों के आधार पर लिखी हैं।' इस न्याय के अनुसार अनुपलभ्यमान प्रमाणमूलक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थकार के वचनों के सम्बन्ध में यह मानकर कि उक्त बातें भी किसी आधार पर लिखी हैं, उस आधार की खोज करनी चाहिए। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी दयानन्द भी उसी कोटि के आप्तपुरुष हैं जिस कोटि के गृह्यसूत्रकार। दोनों में यदि विरोध दृष्टिगत हो तो उसपर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना चाहिए। वह शास्त्रीय पद्धति क्या है ? इसका उत्तर महाभाष्यकार पतंजलि देते हैं—**'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (महाभाष्य १।१, ऋलृक् भाष्य) , अर्थात् वहाँ पक्षान्तर मानकर परिहार (समाधान) करना चाहिए।

यहाँ एक पक्ष है—विवाह (पाणिग्रहण) की रात्रि में ही श्वसुरगृह (कन्या के पितृगृह में गर्भाधान करना और दूसरा पक्ष है—तीन रात्रि व्रतस्थ रहकर स्वगृह पर आकर चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान करना। ग्रन्थकार ने यहाँ द्वितीय पक्ष को पक्षान्तररूप में स्वीकार किया है। पक्षान्तर स्वीकार करने पर भी एक शंका तदवस्थ ही रहती है, वह है 'चतुर्थी कर्मसंज्ञा'। विवाह-रात्रि में ही सहवास मानने पर चतुर्थी कर्मसंज्ञा कैसे होगी ? तीन दिन व्रतस्थ रहकर सहवास करने पर ही 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा उपपन्न हो सकती है।

इसका समाधान यह है कि चतुर्थी कर्म वास्तव में गर्भाधान का ही अपर नाम है। लौगाक्षीगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल विवाहकर्म के अनन्तर ब्रह्मचर्य-विधायक सूत्र 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यम्' की उत्थानिका में लिखता है—'अथ गर्भाधानम्' (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३)। पारस्करगृह्यसूत्र में गर्भाधान का निर्देश विवाह के पश्चात् 'चतुर्थ्यामपररात्रे' (१।११।१) सूत्र में 'चतुर्थी' निर्देश करके किया है।

रजस्वला होने के पश्चात् रजोदर्शन की निवृत्ति होने पर चौथी रात्रि गर्भाधान का काल माना गया है, अतः 'चतुर्थी कर्म' संज्ञा लक्षणा से गर्भाधान को ही कहती है। यदि ऐसा न माना जाए तो दूसरे मत में भी दोष आता है। जिन ग्रन्थों में चतुर्थी कर्म का उल्लेख है, उनमें भी कहा है-

'अक्षारलवणाशनौ ब्रह्मचारिणवलं कुर्वाणावधः शयिनौ स्यातम्।
अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं, द्वादशरात्रं संवत्सरं चैके ऋषिर्जायते।'
'त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्यातामधः शयताम्।
संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्, द्वादशरात्रं त्रिरात्रमन्ततः।' पर० गृह्य० १।८।२१

दोनों का भाव यही है कि विवाह के पीछे तीन रात्रि तक व्रतस्थ रहें। संवत्सर पर्यन्त सहवास न करें, अथवा १२ रात्रि तक, अथवा छह रात्रि तक, कम से कम ३ रात्रि तक। इन वचनों के अनुसार षड्रात्र, द्वादश रात्र और संवत्सर के पश्चात् सहवास करने पर चतुर्थी कर्म संज्ञा कैसे उपपन्न होगी। अन्ततः इन पक्षों को लक्षणा का आश्रय लेना होगा। इतना ही नहीं, काठकगृह्यसूत्र (३०।१, पृष्ठ १२७) तथा लौगाक्षीगृह्यसूत्र (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३) में न्यूनातिन्यूनपक्ष 'एकां वा' भी लिखा है। पर 'एकां वा' पक्ष में तो चतुर्थी कर्म संज्ञा लक्षणा से भी उपपन्न नहीं होगी, अतः स्पष्ट है कि चतुर्थी कर्म को गर्भाधान मानना ही युक्त है।

काठक और लौगाक्षि के 'एकां वा' पक्ष में और ग्रन्थकार के 'सद्य' पक्ष में बहुत स्वल्प अन्तर है।

सद्य पक्ष में प्रमाण—जो लोग ग्रन्थकार को आप्त पुरुष नहीं मानते, वे कह सकते हैं कि हम गृह्यसूत्रों के विपरीत स्वामी दयानन्द के कथनमात्र से सद्यः पक्ष को प्रमाण नहीं मानते। उनके लिए इस विषय में

पुरुष-वीर्य्यस्थापन और स्त्री-वीर्याकर्षण की जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें। जहाँ तक बने वहाँ तक ब्रह्मचर्य्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें क्योंकि उस वीर्य्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित रहें, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े, और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति के समय अपानवायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोचकर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।[1]

हम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आश्वलायन के टीकाकार गार्ग्यनारायण १।७।२ की टीका में लिखते हैं—

'वैदेहेषु सद्य एव व्यवायो दृष्टः। गृह्ये ब्रह्मचारिणौ ब्रह्मचर्यं विहितम्'—१।७।२, पृष्ठ २१

अर्थात् विदेह निवासियों में सद्यः (विवाहरात्रि में ही) सहवास देखा जाता है, परन्तु गृह्यसूत्रों में तीन रात्रि-प्रर्यन्त ब्रह्मचर्य का विधान किया है।

महाभारत में द्रौपदी का पाँच पाण्डवों के साथ विवाह का वर्णन मिलता है (आदिपर्व, अ० १९८, श्लोक १३, १४)। इस प्रकरण को प्रक्षिप्त मानने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि जब यह प्रक्षेप हुआ, उस समय सद्यः सहवास की प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि इस प्रकरण में प्रथम रात्रि में ही सहवास का उल्लेख हुआ है। महाभारत मीमांसा ग्रन्थ के लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—

'पहले दिन द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर का विवाह हुआ, तब उसी रात को समागम हुआ।' धर्मशास्त्रों में भी कई स्थानों पर आता है कि 'विवाह के दिन ही पति-पत्नी का सहवास हो।' (पृष्ठ २२३, कालम १)

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का सद्यः सहवासपक्ष उनकी अपनी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। इसीलिए हम पक्षान्तर कल्पना द्वारा समाधान करना युक्त मानते हैं।

गर्भाधान की स्थिति—गृहस्थों के लिए गर्भाधान की विधि का निर्देश करना नितान्त आवश्यक था। इसे न जानने के कारण अनेक स्त्रियाँ सन्तान-सुख से वंचित रहती हैं। युवावस्था में कामासक्त दम्पती मैथुन के समय क्या-क्या उलट-पुलट क्रियाएँ करते हैं, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए सब विद्याओं का बीजरूप से उपदेश देनेवाले जगन्नियन्ता परमात्मा ने गृहस्थों का मार्गदर्शन करने के लिए साक्षात् वेद में गर्भाधान की विधि का संकेत कर दिया। कालान्तर में इस विद्या में निष्णात आचार्यों ने उसका विकास और विशदीकरण किया। इसी शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान करने से अविकलांग, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो लोग ग्रन्थकार के इस लेख पर उपहास करते हैं वे अपनी शास्त्रानभिज्ञता का परिचय देते हैं। एद्विषयक कतिपय प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. **तां पुरुषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।**
या न ऊरु उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपः॥ —अथर्व. १४।२।३८

अर्थ—हे (पूषन्) पुष्टिकारक पुरुष! (यस्यां) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरु) ऊरू को (विश्रयाति) विशेषरूप से आश्रय देती है, (यस्याम्) जिसमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का

---

१. यह बात रहस्य की है। इसलिए इतने ही से समग्र बातें समझ लेनी चाहिएँ। विशेष लिखना उचित नहीं। द०स०

गर्भस्थित होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इसका निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सबको हो जाता है । सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालममिश्री डालके गर्म करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है, उसको यथारुचि दोनों पीके अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें । यही विधि जब-जब गर्भाधान क्रिया करें, तब-तब करना उचित है ।

जब महीनेभर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाए, तब से एक वर्षपर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से सन्तान उत्तम, और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है । अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती, और अनेक प्रकार के रोग होते हैं, परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार दोनों को अवश्य रखना चाहिए ॥

[गर्भकाल के कर्त्तव्य]

पुरुष वीर्य्य की स्थिति, और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य्य स्वप्न में भी नष्ट न हो; और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप-लावण्य-पुष्टि-बल-पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे । विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिए । कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूक्ष, मादक, द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे किन्तु घी-दूध-उत्तम चावल-गेहूँ-मूँग-उर्द आदि अन्नपान, और देशकाल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे । गर्भकाल में दो संस्कार, एक चौथे महीने में **'पुंसवन'**, और दूसरा आठवें महीने में **'सीमन्तोन्नयन'** विधि के अनुकूल करे ।

(प्रहराम) प्रहरण करते हैं (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिए (एरयस्व) प्रेरणा कर । —संस्कारविधि, पृष्ठ १७१

यही मन्त्र किंचिद् भेद से ऋग्वेद (१०।८५।३७) में विद्यमान हैं । सायण ने भी वहाँ इसका यही अर्थ किया है ।

२. **मुखँ्सदस्य शिर इत्सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती ।**
चप्यं पायुर्भिषगस्य बालो बस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥

—यजुः० १९।८८

अर्थ—(मुखं) मुख को (अस्य) इस पुरुष का (शिरः) सिर (इत्) ही (सतेन) सुन्दरावयव व सिर के साथ (जिह्वा) जिससे रस ग्रहण किया जाता है (पवित्रं) पवित्र (अश्विना) स्त्री और पुरुष दोनों (आरुन्) मख में (सरस्वती) ज्ञानयुक्त स्त्री (चप्यम्) शान्ति करने के (न) समान (पायुः) रक्षक (भिषक्) वैद्य (अस्य) इस रोग से (बालः) बालक के (बस्तिः) वास करने का हेतु पुरुष (न) समान (शेपः) उपस्थेन्द्रिय को (हरसा) बल से (तरस्वी) करनेहारा होता है ।

भावार्थ—स्त्री-पुरुष गर्भाधान करते समय परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर मुख-के-साथ मुख, आँख-के-साथ आँख, मन-के-साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें जिससे वक्रांग सन्तान न होवे ।—ग्रन्थकारकृत यजुर्भाष्य

३. शतपथ ब्राह्मण में वेद के इस विधान को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखं सन्धायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ।**

—शतपथ १४।६।४।१०

[जातकर्म और पश्चात् के कर्त्तव्य]

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे, अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्य-शुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जोकि

इस श्रुति का भी यही आशय है कि गर्भाधानकर्ता दम्पती मुख के साथ मुखादि अंग को संयुक्त करके गर्भाधान करें। गर्भाधान की यही रीति बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१) में लिखी हुई है।

४. पारस्करगृह्यसूत्र में चतुर्थी कर्म (गर्भाधान) के विषय में एक मन्त्र है—'प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति।' —पार० गृह्य०१।१

हे स्त्री ! तेरे प्राणों के साथ प्राणों को जोड़ता हूँ। अस्थियों के साथ अस्थियों को, मांसों के साथ मांसों को और त्वचा के साथ त्वचा को जोड़ता हूँ।

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक में भी यही लिखा है कि गर्भाधान के समय स्त्री को अपना शरीर सीधा रखना चाहिए—

'न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपि दधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्या पीडितं विदहति रक्तशुक्रं तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात्। तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। —चरकसंहिता, शरीरस्थान ८।८

अर्थ—कुबड़ी हुई या करवट के साथ लेटी हुई स्त्री से संग न करे, क्योंकि कुबड़ी होकर शयन कर रही से संग करे तो वायु कुपित होकर योनि को पीड़ित करता है। दाहिनी ओर करवट से सोयी स्त्री से संग करने में उसका कफ़ गिरकर गर्भाशय को ढक लेता है। बाँई करवट से सोई हुई स्त्री से संग करने पर उसका पित्त पीड़ित होकर रुधिर और वीर्य को दूषित कर देता है। इसलिए सीधी लेटी हुई स्त्री वीर्य को ग्रहण करे, क्योंकि ऐसा करने से वात, पित्त और कफ़ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र तथा आयुर्वेद के अध्ययन से समागम की वही विधि ठीक सिद्ध होती है, जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने यहाँ किया है।

स्नान—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'जो स्नान न करेंगे तो उनके शरीर में रोग हो जाएँगे, क्योंकि उससे काफ़ी उष्णता होती है। इसलिए स्नान करने से वह विकार न होगा और वीर्य-तेज भी बढ़ेगा। इससे इस समय स्नान अवश्य करना चाहिए।

गर्भाधान व्यर्थ होने पर—गर्भाधान से एक महीने के पश्चात् रजस्वला न हो तो निश्चित मानना चाहिए कि गर्भ स्थित हो गया है। (अन्यथा) यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जाएँ अर्थात् दो महीनों में दो बार गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाए, गर्भ स्थित न हो, तो तीसरे महीने में ऋतुकाल का समय जब आवे तब पुरुष नक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम ऋतुकाल उपस्थित हो, तब प्रथम प्रसूता गाय की दही दो मासा और यव के दाणों को सेकके पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके, पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे —किं पिबसि ? इस प्रकार तीन बार पूछे और स्त्री भी अपने पति को 'पुंसवनम्' इस वाक्य को तीन बार बोलके उत्तर देवे और उसका प्राशन करे। इस रीति से पुनः-पुनः तीन बार विधि करना तत्पश्चात् श्वेत फूलवाली सिंही (कंडारी) औषधि को जल में महीन पीसके उसका रस कपड़े में छानके पति-पत्नी की नाक के दाहिने छिद्र में सिंचन करे और पति—

किंचित उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे, और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन =बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बाँध चार अङ्गुल छोड़के ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बाँधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे।

पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके, उसके द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता **'वेदोऽसीति'** अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर घी और सहत[1] को लेके सोने की शलाका से जीभ पर 'ओ३म्' अक्षर लिखकर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे। पश्चात् उसकी माता को दे देवे। जो दूध पीना चाहे, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो, तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे। दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहाँ का वायु शुद्ध हो, उस स्थान में सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायङ्काल किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे।

ओ३म् इयं ओषधी यात्रमाणा सहमाना सहस्वती ।
अस्याँ अहं बृहत्याः पुत्र पितुरिव नाम जग्रभमिति ॥ —पार० गृह्य० १।१३।१

इस मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे। यह सूत्रकार का मत है।—संस्कारविधि

नाड़ीछेदन—मधु-घृत चटाने से पूर्व नाड़ी छेदन करे। सुश्रुत (शरीरस्थान १०।६) में लिखा है—**'अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात् । ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत् ।'** अर्थात् इसके पश्चात् उत्पन्न बालक की जेर और मुख को लवण-मिश्रित घृत से शुद्ध करे और घृत में भिगोई रूई उसके तालु पर रक्खे। तत्पश्चात् नाभि-नाड़ी अर्थात् नाल को आठ अङ्गुल प्रमाण खींचकर धागे से बाँधकर काट दे। तदनन्तर घृत-मधु चटाने का विधान है। **'अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्यानामिकया लेहयेत् ।'** अर्थात्—इसके पश्चात् बालक को शीत-जल से स्नान कराके मधु-घृत को अनन्ता-ब्राह्मी के रस के साथ सुवर्ण-चूर्ण को अनामिका अंगुली से चटाये। सुवर्ण-चूर्ण से अभिप्राय सुवर्ण शलाका ही है।

वेदोऽसि—पिता द्वारा बालक के कान में **'वेदोऽसि'** कहने का प्रयोजन बालक के मन में यह विचार संक्रमित करना कि तू ज्ञानवाला प्राणी है, अज्ञानी नहीं है। कान में कहने का अभिप्राय यह है कि कही हुई बात को सुननेवाला अपने पास सँभालकर रक्खे। गुप्तरूप से कही हुई बात अधिक प्रभावशाली होती है। मुसलमानों में भी बच्चे के पैदा होते ही उसके दोनों कानों में अज़ान पढ़ी जाती है। उसके कानों में चार बार 'अल्ला हो अकबर' का नाद सुनाया जाता है। दोनों का अभिप्राय अपनी-अपनी भावना और परम्परा के अनुसार बालक के मन में अध्यात्मिकता का भाव जाग्रत् करना है।

पिता जब बालक की जिह्वा पर 'ओम्' लिखता है तो वह अपने ऊपर इस बात की ज़िम्मेदारी लेता है कि वह बालक का पालन-पोषण और उसकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस प्रकार करेगा कि वह भोगवाद में लिप्त न होकर अध्यात्म के मार्ग का पथिक बनेगा। बच्चे को भी जब बड़ा होने पर इस बात का पता चलेगा तो वह भी अपने माता-पिता और समाज की आशाओं को पूरा करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रयत्न में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में किया गया माता-पिता का पुरुषार्थ सबसे अधिक सहायक होगा।

---

१. सहत=शहद।

छः दिन तक माता का दूध पिये और स्त्री भी अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे, और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकले, और सन्तान के दूध पीने के लिए कोई धायी रक्खे। उसको खान-पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे, और पालन भी करे, परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रक्खे। किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् 'नामकरणादि' संस्कार '**संस्कारविधि**' की रीति से यथाकाल करता जाए। जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।

ओम्—बालक को घृत, मधु और सुवर्ण का अवलेह बनाकर चटाने का विधान आयुर्वेदशास्त्र में किया है। संस्कारविधि में ग्रन्थकार ने घृत और मधु को 'बरोबर' मिलाने का निर्देश किया है। कहा जाता है कि आयुर्वेद के अनुसार घृत और मधु को समभाग में मिलाने से वह विष हो जाता है, इसलिए यह प्रयोग करना ठीक नहीं है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ग्रन्थकार ने मूलतः यहाँ 'बरोबर' शब्द लिखा है 'बराबर' नहीं। 'बरोबर' गुजराती का शब्द है जिसका अर्थ है—यथायोग्य, ठीक-ठीक या उचित अथवा नियत परिमाण या मात्रा में। यथोचित मात्रा १ तोला मधु और आधा तोला घृत अथवा घृत से तिगुना मधु हो सकता है। घी और शहद चटाने का एक और लाभ है। बच्चा जब माँ के पेट में होता है तब उसकी आँतों में एक प्रकार का मल जमा हो जाता है जिसे मेकोनियम (Meconium) कहते हैं। आजकल डाक्टर लोग इस मल को निकालने के लिए अरण्डी का तेल (Castor Oil) देते हैं, परन्तु इससे आँतें उद्वेलित हो जाती हैं। अरण्डी के तेल की तुलना में घृत और मधु का अवलेह अत्युत्तम पदार्थ है जिसे बच्चा आसानी से चाट लेता है। सुश्रुत १०।१० में लिखा है—दो तीन बूँद घी और ५-७ बूँद शहद में किंचित् स्वर्णभस्म मिलाकर अथवा सोने का वर्क घिसकर देना उपयोगी है। घी सदा गाय का ही होना चाहिए। मेकोनियम को निकालने के लिए प्रकृति ने व्यवस्था कर रक्खी है। सन्तान के उत्पन्न होते ही उसके भोजन के लिए माँ के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। यह पहला दूध जिसे कोलोस्ट्रम (Colostrum) कहते हैं, बच्चे के पोषण में तो बहुत सहायता नहीं देता, किन्तु घृत, मधु और सुवर्ण के साथ मिलकर आँतों को साफ़ करने में सहायक होता है।

धायी—'जो (बालक की) माता के दूध न हो तो किसी स्त्री की परीक्षा करके दूध पिलावे' यहाँ इस प्रकार की विशेष स्थिति में धायी का विधान किया है। मनु १६८-१७४ में दत्तक, कृत्रिम, अपविद्ध तथा क्रीतक इन चार प्रकार के पुत्रों का उल्लेख मिलता है। इन चारों का अपनी जननी=माता के दूध से पालन नहीं होता, अपितु पुत्र बनानेवाली माता के प्रबन्ध में धायी अथवा गाय, बकरी आदि के दूध का प्रबन्ध करना पड़ता है। वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७) के अनुसार राम के लिए धायी की जरूरत पड़ी थी। इस विषय में द्वितीय समुल्लास में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है।

ऋतुकालाभिगामी—यहाँ पर उद्धृत दोनों (मनु ३।४५ व ३।५०) श्लोक अधूरे हैं। ३।४५ का यह पूर्वार्ध है। इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।

'ब्रह्मचार्य्येव' यह ३।५० का उत्तरार्ध है। इसका पूर्वार्ध इस प्रकार है—

[गृहस्थी होते हुए भी ब्रह्मचारी]

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ —मनु० ३।४५,५०

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है ॥

[स्त्री-पुरुष परस्पर प्रसन्न रहें]

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥१॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥२॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥३॥ —मनु ३।६०-६२

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।

विवाह के कारण पत्नी के साथ समागम की अनियन्त्रित छूट नहीं मिल जाती है। मनु के स्वर में स्वर मिलाकर याज्ञवल्क्य कहते है—

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥

ऋतुकाल में सन्तानोत्पत्ति के निमित्त स्त्री से समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ में रहता हुआ भी मानो ब्रह्मचारी है। शास्त्र का आदेश है—

ब्रह्मचर्यं समाप्याथ गृहधर्मं समाचरेत् ।
ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं धर्मणोत्पादयेत् प्रजाम् ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देव, पितृ तथा ऋषिऋण से मुक्त होने के लिए मनुष्य शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करते हुए सन्तानोत्पत्ति करे। रेतःसंयम के बिना न सौ वर्ष की आयु हो सकती है और न सन्तान बलिष्ठ, मेधावी व चरित्रवान् बन सकती है।

पुरुष सदा ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और पर-स्त्री से समागम का विचार भी मन में न आने दे। वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदा पृथक् रहे। जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी स्त्री से ही सदा प्रसन्न रहता है, जैसेकि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान करना हो, तब ऋतुदान के १६ दिनों में आनेवाले पर्वों को छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष कभी रतिक्रिया न करें (मनु० २।४५)। जो निन्दित (निषिद्ध) रात्रियों में और भिन्न शेष दस रात्रियों में से किन्हीं आठ रात्रियों में समागम नहीं करता वह गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है (मनु० २।५०)।

पर-स्त्री के साथ मैथुन करना तो सदा निषिद्ध है ही, अपनी स्त्री के साथ भी आठ प्रकार के मैथुनों

सौभाग्य और ऐश्वर्य्य निवास करते हैं। जहाँ कलह होता है, वहाँ दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है ॥१॥

जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती, तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥२॥

जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता, उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है ॥३॥

से यथासम्भव बचना चाहिए। प्रत्यक्ष सहवास से अतिरिक्त मैथुनों में वीर्य स्खलित होकर अण्डकोषों में आकर ठहर जाता है जिससे धातुदौर्बल्य, स्वप्नदोष, प्रमेह, यक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं।

सन्तुष्टो भार्यया—जीवात्मा के नानात्व तथा परस्पर भिन्न होने का विचार सर्वमान्य है। एक शरीर में रहनेवाले जीव की स्थिति दूसरे शरीर में रहनेवाले जीव से मेल नहीं खाती। सबका सामर्थ्य एक जैसा नहीं। **'भिन्न रुचिर्हि लोकः सर्वमेकमेव न रोचते'** सबकी अपनी-अपनी पसन्द है। परमेश्वर के सिवा पूर्ण कोई नहीं। अपने आपको अधूरा समझकर विवाह के माध्यम से अपने-आपको पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारणं इसमें पूरी सफलता मिलना अत्यन्त कठिन है। इसलिए एक-दूसरे की त्रुटियों को पचाकर ही स्त्री-पुरुष सुखी रह सकते हैं। पूर्ण सन्तोष नाम की चीज़ संसार में दुर्लभ है।

वैदिक विवाह में व्यक्तियों के साथ-साथ सामाजिक पक्ष पर भी बल दिया जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ० राधाकृष्णन का निम्न कथन बहुत ठीक है—

"The Hindu ideal emphasises the individual and the social aspects of the institution of marriage. Man is not a tyrant, nor is woman a slave, but both are servants of a higher ideal to which their individual inclinations are to be subordinated. Except in the pages of fiction we do not have a pair agreeing with each other in everything—tastes and temper, ideals and interests. Irreducible peculiarities there will always be, and the task of the institution of marriage is to use these differences to promote a harmonious life. Instincts and passions are the raw material which are to be worked up into an ideal whole. Though there is some choice with regard to our mates, there is a large element of chance in the best of marriages. Carve as we will that mysterious block of which our life is made, the black vein of destiny or chance, whatever we may call it, appears again and again in it. That marriage is successful which transforms a chance mate into a life compaion. Marriage is not the end of struggle, it is but the beginning of a strenuous life where we attempt to realise a large ideal by subordinating our private interests and inclinations. Service of a common ideal can bind together the most unlike individuals. Love demands its sacrifices. By restraint and endurance, we raise love to the likeness of the divine. In an ideal marriage the genuine interests of the two members are perfectly reconciled."

—The Hindu View of Life, P.60

सारांश—वैदिक विवाह में व्यक्तियों के साथ सामाजिक पक्ष पर भी बल दिया जाता है। न पुरुष को अत्याचारी कहा जा सकता है, न स्त्री को उसकी दासी माना जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में कोई भी दम्पती ऐसे नहीं मिलेंगे जो प्रत्येक दृष्टि से एक-दूसरे से मेल खाते हों। भेद के होते हुए भी एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए समन्वय और सामंजस्य के द्वारा ही दाम्पत्य जीवन सुखी हो सकता है। एक सामान्य लक्ष्य ही दोनों को जोड़े रह सकता है। प्रेम बलिदान माँगता है। संयम तथा सहिष्णुता के बिना काम नहीं चल सकता।

[नारी सत्कार के योग्य है]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥१॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥२॥

विवाह के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक ठेका है जिसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए मानो एक सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेका टूटने का भाव जुड़ा रहता है। जाने-अनजाने ठेके की किसी शर्त का उल्लंघन होते ही ठेका टूट जाता है और स्त्री-पुरुष विवाह के बन्धन से छूट जाते हैं। दूसरे (वैदिक) दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। एक बार सम्बन्ध हो गया तो हो गया। उसे जीवनभर निभाना होता है। जीवन-पर्यन्त एक-दूसरे के सुख-दुख में भागीदार होना पड़ता है। वह भी किसी विवशता के कारण नहीं, अपितु कर्त्तव्य भावना से प्रसन्नतापूर्वक। **'इहैव स्तम्'** (अ० १४।१।२२) विवाहयज्ञ में विनियुक्त यह मन्त्र विवाह के उच्चादर्श को दर्शाता है और पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद का सर्वथा निषेध करता है। इस मन्त्र का अभिप्राय है—"एक-दूसरे की भली प्रकार परीक्षा करके स्वेच्छापूर्वक दाम्पत्य प्रेम में आबद्ध रहने की तुमने प्रतिज्ञा की है, उसमें जीवनभर आबद्ध रहना, क्षणिक आवेश में आकर कभी एक-दूसरे का त्याग न कर बैठना। अपने घर में रहते हुए, नाती-पोतों के साथ हँसते-खेलते, प्रमुदित मन से पूर्ण आयु को प्राप्त करना।" पाणिग्रहण के प्रथम मन्त्र (**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः**) का उच्चारण करते हुए वर-वधू दोनों इस बात की घोषणा करते हैं कि—

१. हम दोनों का यह सम्बन्ध बनाने, हमें एक-दूसरे को सौंपने में सकल ऐश्वर्य से युक्त, न्यायकारी, सब जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता और सब जगत् को धारण करनेवाले परमेश्वर का हाथ है।

२. सभामण्डप में उपस्थित विद्वान् लोग इस सम्बन्ध के साक्षी हैं।

३. हम दोनों स्वेच्छा से वृद्धावस्था तक एक-दूसरे का साथ निभाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

इतने पवित्र बन्धन को तोड़ना तो दूर, मन से वैसा सोचना भी पाप है। इस आचारसंहिता की अवहेलना करके कोई समाज सुखी नहीं रह सकता। वर्त्तमान में ऐसा हो रहा है। परिणामतः परिवार टूट रहे हैं और संन्तान माता-पिता के होते हुए भी अनाथ हो रही है। पति-पत्नी में मतभेद सदा रहे हैं, किन्तु आजकल की तरह तलाक़ इतना आसान नहीं था। इसका श्रेय मुख्यतः स्त्रीजाति को जाता है। परिवार की वह धुरी है। इस समय उसकी स्थिति के बारे में डॉ० राधाकृष्णन का कहना है—

"We have had sin with us from the beginning of our history, but we have recently begun to worship it. It is not very modern for a man or woman who is sick of his or her partner to take to another, but what is really modern is the new philosoply in justification of it. The woman who gives up her husband for another is idealised as a heroine who has had the courage to give up the hypocritical moral codes and false sentiments, while she who clings to her husband is a cowardly victim of conventions."

—Hindu View of Life, P. 63

अर्थात्—पाप तो हमारे साथ सदा से लगा है, किन्तु कुछ दिनों से हम उसकी पूजा करने लगे हैं। परस्पर विवाह होने पर पति-पत्नी कभी-कभी एक-दूसरे से पृथक् भी होते रहे हैं, परन्तु वर्त्तमान में उसे

उचित ठहराने की बात नई है। आजकल पति को तलाक देकर पुनर्विवाह करनेवाली स्त्री के साहस की सराहना करते हुए उसे वीरांगना माना जाने लगा है, जबकि पतिव्रता को रुढ़िग्रस्त मानकर उसे कायर समझा जाता है।

यत्र नार्यस्तु—पूजा का अर्थ यहाँ आदर-सम्मान है। अभिप्राय यह है कि जिस घर में स्त्रियों का समुचित आदर-सम्मान होता है वहाँ उनके प्रसन्न रहने से सारे घर का वातारवरण सुख-शान्तिमय होता है। परिवार की नाभि होने से घर की सुख-शान्ति उसी पर निर्भर करती है। माता के रूप में वह निर्मात्री है। मनुस्मृति ६।२७-२८ के अनुसार—

उत्पादमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥

हो पुरुषो ! सन्तानों की उत्पत्ति, प्रत्यक्ष उनका पालन-पोषण आदि लोक-व्यवहार का निबन्धन करनेवाली स्त्री होती है। सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपने और परिवार के बड़ों का जितना सुख है, वह सब स्त्री के अधीन होता है। इस दायित्व को वही निभाती है। वास्तव में—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ —मनु० ६।८

वीर्यरूप में पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भ बनकर सन्तानरूप में जन्म लेता है। स्त्री का यही जायात्व है जो इस स्त्री में सन्तानरूप में पति पुनः उत्पन्न होता है।

इस प्रसंग में निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं—

'पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥ ऐतरेयब्रा० ७।१३

आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। —गोपथ ब्रा० पू० १।२

निरुक्त में भी प्रकारान्तर से पुत्र को पति का आत्मरूप बताया है—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि सं जीव शरदः शतम् ॥ —निरुक्त ३।१।४

नारी के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भगवान् मनु ने यह निर्देश किया है कि उसका सदा आदर किया करें और उसके प्रतीकरूप समय-समय पर वस्त्राभूषण से प्रसन्न किया करें।

मनु न तो स्त्री-पुरुष में कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं और न स्त्री को पुरुष की दासी मानते हैं। वे दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। इतना ही नहीं, वे दोनों को एक-दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करनेवाली बात कहते हुए भी जितना बल स्त्रियों की पूजा किये जाने पर देते हैं, उतना पुरुषों की पूजा किये जाने पर नहीं। स्त्रियों के प्रति उनके आदर का पलड़ा भारी है। उन्हें बन्धन में डालकर रखने की व्यर्थता का उल्लेख करते हुए वे स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से काम लेने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥४॥ —मनु० ३।५५-५७,५९

पिता भाई और देवर इनको[1] सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें। जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो, वे ऐसे करें ॥१॥

जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देव संज्ञा धराके आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रिया निष्फल हो जाती है ॥२॥

जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग आनन्द से, उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥३॥

इसलिए ऐश्वर्य्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण, वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥४॥

['पूजा' शब्द का अर्थ]

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि **'पूजा'** शब्द का अर्थ सत्कार है और दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक **'नमस्ते'** एक-दूसरे से करें।

[गृहिणी के कर्त्तव्य]

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ —मनु० ५।१५०

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त, सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार न रहे, अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे, जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो, उसका हिसाब यथावत्

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । —६।१०
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मनामास्तु रक्षे युक्ताः सुरक्षिताः ॥ —६।१२

कोई भी व्यक्ति जोर-जबरदस्ती से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता। विश्वसनीय माता-पिता, पति आदि पुरुषों द्वारा घर में रोककर अर्थात् निगरानी में रक्खी हुई स्त्रियाँ भी असुरक्षित हैं—बुराईयों से नहीं बच पातीं। जो अपनी रक्षा अपने-आप करती हैं, वस्तुतः वे ही सुरक्षित हैं।

स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति जिन निन्दात्मक वचनों का उल्लेख यत्र-तत्र मनुस्मृति में मिलता है, वे सब समय-समय पर किये गये प्रक्षेपों के कारण हैं। उन्हें मनु के ऊपर आरोपित करना उनके प्रति घोर अन्याय है।

---

१. अर्थात् स्त्रियों को।

रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे॥

[ये ७ पदार्थ सब स्थानों से प्राप्त करे]

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ —मनु० २।२४०

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठ भाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे॥

स्त्रियो रत्नान्यथो—इस विचार की पुष्टि मनुस्मृति में अनेकत्र की गयी है। उदाहरणार्थ—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित् समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः॥ —२।१९८

यदि स्वाश्रित स्त्री अथवा शूद्र भी कोई श्रेष्ठ कार्य करे तो उससे शिक्षा लेकर उसपर आचरण करना चाहिए अथवा जिस शास्त्रोक्त कर्म में मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे। यहाँ निम्न स्तर के व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करने का निर्देश किया है। इसी विचार को आगे पुष्ट करते हुए अर्थवाद के रूप में कहा है—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥२।२३८

उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ मनुष्य अपने से न्यून से भी विद्या प्राप्त करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म को ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी उत्तम स्त्री को स्वीकार करले, यह नीति है

—संस्कारविधि।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ —२।२१४

विष से भी अमृत को ग्रहण कर लेना चाहिए और बालक से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए तथा अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या वैसी मूल्यावान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए।

यही भाव हिन्दी के निम्नलिखित दोहे का है—

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय॥

इस मान्यता का मूल यजुर्वेद के निम्न मन्त्र (२५।१४) में उपलब्ध है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासः।

अर्थात् कल्याणकारी विचार हमें सब ओर से निर्बाध आएँ।'**यद्भद्रं तन्न आसुव**'।

ग्रन्थकार जर्मनी आदि देशों में शिल्पविद्या सीखने के लिए अपने देश के लोगों को भेजना चाहते थे— द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द के पत्र तथा विज्ञापन।

भद्रमिति—सामान्य नियम है '**नापृष्टः ब्रूयात्**' अर्थात् जब तक कोई पूछे नहीं तब तक किसी से कुछ न कहे, किन्तु जिसका हित अभीष्ट हो उसके हित की बात पूछे जाने के बिना भी कह दे—

[लोक में व्यवहार ऐसा करे]

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥ —मनु० ४।१३८,१३९

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले । अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले । अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ॥१॥

सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे । शुष्क वैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे ॥२॥

[हितकारी वचन अप्रिय होने पर भी अवश्य कहे]

जो-जो दूसरे का हितकारक हो, और चाहे वह बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहे—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ —उद्योगपर्व विदुरनीति०

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलनेवाले, प्रशंसक लोग बहुत हैं, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो, और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है ॥

क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, किन्तु परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना । जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता, वा कहनेवाला नहीं कहता, तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता ।

[निन्दा-स्तुति का लक्षण]

कभी किसी की निन्दा न करे । जैसे—**'गुणेषु दोषारोपणमसूया'** अर्थात् **'दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया'**; **'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'** जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह **'निन्दा'** और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना **'स्तुति'** कहाती है, अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम **'निन्दा'** और सत्यभाषण का नाम **'स्तुति'** है ।

'**ब्रुवन्वाब्रुवन्नपि यस्य नेच्छेत् पराभवम्** ।' अन्धा नहीं जानता कि उसके आगे गढ़ा है, ऐसी अवस्था में बिना पूछे भी सही राह बता दे ।

पुरुषो बहवो—वास्तव में ऐसी बात जो सुनने में भी अच्छी लगे और हितकारी भी हो, मुश्किल से ही मिलती है—**'हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः'**।

उचित यही है कि जिसमें किसी का हित जाने उसे वह बात बेखटके कह देनी चाहिए । रोग को दूर करने के लिए कड़वी दवाई पिलाने या इंजेक्शन की सुई चुभोने या आवश्यकता पड़ने पर ऑपरेशन द्वारा शरीर के किसी अंग को काटकर फेंक देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए ।

[वेद और शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करना]

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२॥ —मनु० ४।१९,२०

जो शीघ्र बुद्धि धन और हित की वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं, उनको नित्य सुनें और सुनावें। जो ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों, उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें ॥१॥

क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है, वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, और उसी में रुचि बढ़ती रहती है ॥२॥

निन्दास्तुति—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**' इत्यादि श्लोक सामान्य धर्म का प्रतिपादक है, पर **प्रियं च नानृतं चैव**' असत्यभाषण पर रोक लगाता है। यथार्थ यह है कि '**शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि**'—शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा और गुरु के भी दोषों का कथन करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत—जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वाध्याय न छूटे, इसका उपदेश आचार्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर समावर्तन-संस्कार के माध्यम से करता है— '**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**'। मनुष्य कभी भी पूर्ण ज्ञानी नहीं होता। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से उसके ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, इसपर बल देने के लिए भगवान् मनु अन्यत्र कहते हैं—

वेदमेसवभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ —६।१४७-१४८

जितना भी अधिक समय लगा सके उसके अनुसार द्विज आलस्यरहित होकर वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि वेदाभ्यास को इस (द्विज) का सर्वोत्तम धर्म (कर्त्तव्य) कहा है, अन्य सब कर्म गौण हैं। निरन्तर वेद का अभ्यास करने से शारीरिक व आत्मिक पवित्रता से तथा तपस्या से और प्राणियों के प्रति अद्रोह या अहिंसा की भावना रखते हुए मनुष्य पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण कर लेता है।

यहाँ मनु ने वेदाभ्यासादि के माध्यम से पूर्वजन्मों एवं जन्म-कारणों का बोध होना कहा है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन (२।३९) में अपरिग्रह की सिद्धि होने पर इस उपलब्धि का उल्लेख किया है— '**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः**'—इतना ही नहीं, मनु आगे कहते हैं—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्ते सुखमश्नुते ॥

—मनु० ४।१४९

पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण करते हुए फिर भी यदि वेद के अभ्यास में लगा रहे तो निरन्तर वेद का अभ्यास करने से अनन्तसुख मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार गृहस्थधर्म का पालन करनेवाला व्यक्ति भी स्वाध्याय के सहारे मनुष्य-जीवन के अन्तिम

[दैनिक पञ्चमहायज्ञ]

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१॥ —मनु० ४।२१
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥२॥ —मनु० ३।७०
स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३॥ —मनु० ३।८१

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य्य में लिख आये वे अर्थात् एक **ऋषियज्ञ**—वेदादिशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, दूसरा **देवयज्ञ**—विद्वानों का संग सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति और अग्निहोत्र करना है । ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं ।

ध्येय ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है । मनु कहते हैं —

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ —मनु ०१२।१०२

वेद-शास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी वर्तमान में ब्रह्म-प्राप्ति में समर्थ हो जाता है ।

वेदाभ्यास के प्रसंग में यह जानना चाहिए कि पठनमात्र से लक्ष्य की प्राप्त सम्भव नहीं, जब तक मनष्यु तदनुकूल आचरण न करे । इसलिए मनु का कथन है—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ —१२।१०३

(अज्ञेभ्यः) अनपढ़ों से (ग्रन्थों के) पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं । (ग्रन्थिभ्यः) ग्रन्थ पढ़नेवालों में (धारिणः श्रेष्ठाः) ग्रन्थों का स्मरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं । (धारिणः) ग्रन्थों को स्महण करनेवालों से (ज्ञानिनः श्रेष्ठाः) अर्थों के जाननेवाले श्रेष्ठ हैं और (ज्ञानिनः) ज्ञानियों से (व्यवसायिनः श्रेष्ठः) पढ़े और समझे हुए को आचरण में लानेवाले श्रेष्ठ हैं ।

पञ्चमहायज्ञ

मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है । अहिंसा के प्रति उनका आग्रह प्रबल है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थों के लिए जो नैत्यिक महायज्ञों का विधान किया है उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही काम कर रही है ।

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः ।
कुण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥

अर्थात् गृहस्थ के यहाँ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, जल का घड़ा ये पाँच हिंसा के स्थान हैं । इनको व्यवहार में लाता हुआ मनुष्य हिंसा के पाप से बँध जाता है । जाने-अनजाने में होनेवाले इन पापों से बचने के लिए मनु ने पंचमहायज्ञों का विधान किया है—

[सन्ध्या अग्निहोत्र का काल]

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥२॥
—अ० का० १६ । अनु० ७ । मं० ३,४ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञा प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ —मनु० ३।६६

सभी प्रकार के लोग गृहस्थों पर निर्भर होने के कारण उन्हीं से सहायता की आशा करते हैं। इस प्रसंग में मनु कहते हैं —

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः ॥ —मनु० ३।८०

ऋषि-मुनि, माता-पिता , विद्वान् एवं अग्नि आदि देवता, भृत्य तथा अतिथि आदि लोग गृहस्थों से ही आशा रखते हैं। इसलिए अपने गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को समझनेवाले लोगों को चाहिए कि वे इन सबकी सहायता करें।

ऋषियज्ञ—इत्यादि तीन श्लोकों का अर्थ छूट गया है। वह इस प्रकार है—

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूत (बलि) यज्ञ, नृ (अतिथि) यज्ञ तथा पितृयज्ञ सदा किया करें, यथाशक्ति कभी भी इनका परित्याग न करें ॥१॥

अध्ययन अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है; तर्पण (माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा और हर प्रकार से उन्हें तृप्त= प्रसन्न रखना) पितृयज्ञ है, होम (सायं-प्रातः हवन) करना देवयज्ञ है, पशु-पक्षियों को भोजन देना भूत (बलिवैश्वदेव) यज्ञ है और अतिथियों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है ॥२॥ स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्रद्धापूर्वक गुरुजनों की सेवा से पितृपूजन, अन्नदान से मनुष्यों का तथा बलिकर्म से प्राणियों का पालन-पोषण तथा समुचित सत्कार करे।

महर्षि मनु कहते हैं—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ —मनु०३।७१

अर्थात् जो यथाशक्ति इन पाँच यज्ञों को नहीं छोड़ता वह सदा घर में रहता हुआ भी सूना आदि दोषों से लिप्त नहीं होता।

देवयज्ञ में यहाँ पौर्णमास एवं आमावास्या के पाक्षिक यज्ञों का भी अन्तर्भाव है। इस विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ —मनु० ४।४५

अर्थात् गृहस्थ प्रतिदिन दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् सायं=प्रातः सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करे और आधेमास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावास्या का यज्ञ करे तथा इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे।

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत ।
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥३॥ —ब्राह्मणे
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥४॥ —मनु० २।१०३

जो सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥१॥

जो अग्नि में प्रातः-प्रातः काल में होम किया जाता है, वह-वह हुतद्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल-बुद्धि और आरोग्यकारक होता है ॥२॥

इसीलिए दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ॥३॥

और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ॥४॥

सायं सायं—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ —अथर्व०१६।५५।३

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी राजा (सायंसायं) प्रत्येक सायंकाल (नः) हमारे (गृहपतिः) गृह आदि सम्पत्तियों की रक्षा करनेवाला हो और (प्रातःप्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला हो। हे अग्रणि (वसोर्वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः एधि) देनेवाले आप हूजिए। (वयं) हम प्रजाजन (त्वां) आपको (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए आपकी कीर्ति को बढ़ाते हुए (तन्वम्) आपको तथा आपकी तनू को (पुषेम) परिपुष्ट करें।

भावार्थ—सायंसायं=सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक और प्रातःप्रातः = प्रातःकाल से सायं काल तक। यह मन्त्र सायंकाल के अग्निहोत्र और उपासना का सूचक है। मन्त्रों के विविधि अर्थ हो सकते हैं —आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तन्वम्=राजा की तनू के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र भी प्रकाश डालता है—

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरुऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ —यजुः० २०।८

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"हे प्रजाजनो ! मेरा राष्ट्र मेरी पीठ के समान है; पेट, स्कन्ध, कण्ठप्रदेश, कटिप्रदेश, जंघा , भुजाओं का मध्यप्रदेश गोड़ के मध्यप्रदेश तथा सब ओर के मेरे अंग प्रजाजन हैं।"

भावार्थ—जो अंग के तुल्य प्रजा को जाने वही राजा सर्वदा बढ़ता रहता है, अर्थात् राष्ट्र और प्रजाजन ही राजा की तनू है।

प्रातःप्रातः —यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सांयसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥ —अथर्व ०१६।५५।४

(अग्निः) अग्रणी राजा (प्रातःप्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (नः) हमारे (गृहपति) घर आदि सम्पत्तियों का

प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना ?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने, वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे ? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर घड़ी-घड़ी पल-पल और क्षण-क्षण की भी सन्धि होती हैं, उनमें सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी करना चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं, इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं और जो तीनकाल होते हैं, वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं, सन्ध्योपासन के भेद से नहीं।

रक्षक है और (सायंसायं) प्रत्येक सायंकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला है। हे अग्रणी राजन् ! (वसोः वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः) दाता आप हूजिए। (त्वा) आपको (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए, आपकी कीर्ति को बढ़ाते हुए हम (शतं हिमाः) सौ हेमन्त ऋतुओं तक (ऋधेम) बढ़ते रहें।

भावार्थ —प्रति प्रातःकाल से प्रति सायंकाल तक हमारी सम्पत्तियाँ सुरक्षित रहें और प्रति सांयकाल से प्रति प्रातःकाल तक हम प्रसन्नचित रहकर सौ वर्षों तक बढ़ते रहें। यह मन्त्र प्रातःकाल के अग्निहोत्र और उपासना का सूचक है।

ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पञ्चमहायज्ञविषय के अन्तर्गत इन मन्त्रों के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ करते हुए लिखा है—

"(सायंसायं) प्रतिदिन प्रातःसायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त (गृहपतिः) यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक (अग्निः) भौतिक अग्नि और परमेश्वर (सौमनसस्य) आरोग्य, आनन्द और (वसोर्वसोः) वसु अर्थात् धन का (दाता) देनेवाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर ! आप हमारे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित (एधि) रहो। यहाँ भौतिक अग्नि अर्थ भी ग्रहण करने योग्य है। हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से (वयम्) हम (त्वा) आपको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए परिपुष्टि हों। 'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो इत्यादि मन्त्र का अर्थ भी पूर्वमन्त्र के तुल्य जानो, परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और परमेश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतंहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत होजाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्षों तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों।

तस्मादहो— इत्यादि मन्त्र क्रमशः षड्विंश ब्राह्मण ४।५ तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।२) के हैं। यतः आरण्यक ग्रन्थों की गणना ब्राह्मणों में होती है, अतः ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से 'ब्राह्मणों' लिख दिया है। पञ्चमहायज्ञविधि प्रथम संस्करण (संवत् १६३४) में भी 'यान्तम्' पाठ है, किन्तु मूल ग्रन्थ में 'यन्तम्' पाठ मिलता है।

न तिष्ठति—मनुस्मृति के उपलब्ध संस्करणों में प्रायः 'यस्तु पश्चिमाम्' के स्थान में 'यश्च पश्चिमाम्' तथा 'साधुभिः' के स्थान में 'शूद्रवद्' पाठ मिलता है। इस श्लोक से भी वर्णव्यवस्था का गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित होना तथा शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करने पर पतित होना सिद्ध है।

त्रिकाल सन्ध्या निषिद्ध—मर्यादा के विरुद्ध आचरण करना कदापि श्रेयस्कर नहीं। अग्निहोत्र तथा

तीसरा **'पितृयज्ञ'**—अर्थात् जिसमें **देव** जो विद्वान्, **ऋषि** जो पढ़ने-पढ़ानेहारे, **पितर** जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी। **'पितृयज्ञ' के दो भेद हैं**—एक **श्राद्ध** और दूसरा **तर्पण**। श्राद्ध अर्थात् **'श्रत्'** सत्य का नाम है, **"श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा 'श्रद्धा', श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्"** जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसको **'श्रद्धा'**, और जो श्रद्धा से कर्म किया जाए उसका नाम **'श्राद्ध'** है और **'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्'** जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जाएँ, उसका नाम **'तर्पण'** है, परन्तु यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं।

[अथ देवतर्पणम्]

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ।
ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति देव तर्पणम्

सन्ध्योपासन सायं-प्रातः की सन्धिवेला में दो समय करना ही विहित है। इस विषय का विस्तृत विवेचन तृतीय समुल्लास में हो चुका है।

पितृयज्ञ—वस्तुतः पितृयज्ञ का प्रयोजन देव, माता-पिता, गुरुजन तथा ऋषि-मुनियों की सेवा करना है। पितृयज्ञ के दो रूप हैं—तर्पण व श्राद्ध **'येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति वा तत्तर्पणम्'**—जिस कार्य से विद्वान्‌रूप देव, ऋषि, माता-पिता आदि को सुख मिलता है वह उनका तर्पण है। इन्हीं लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना उनका श्राद्ध करना है— **'यत्तेषां श्रद्धया सेवा क्रियते तच्छ्राद्धम्'।**

पञ्चमहायज्ञविधि में बताया है— **'श्रद्धया तर्पणं क्रियते विद्यमानानाम्। श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्। तृप्त्यर्थं यत्क्रियते तत्तर्पणम्।'** जो पितर विद्यमान हों, अर्थात् जो जीवित होय उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना तर्पण और श्रद्धा से प्रीतिपूर्वक सेवा करना है वह श्राद्ध कहाता है। जो सत्यविज्ञान-दान से जनों का पालन करते हैं वे पितर कहाते हैं। स० प्र० के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—"यथार्थ ज्ञानियों की पितृसंज्ञा है। उनको निमन्त्रण देना, तब उनसे बात भी करेगा, प्रश्न भी करेगा, उससे उनको ज्ञान का लाभ होगा।" यह श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म, उनका आमन्त्रित होकर अपना और वार्त्तालाप द्वारा उनसे ज्ञान लाभ करना आदि सब जीवितों में ही घट सकता है दिवंगतों में नहीं। इसी से उनकी सेवा आदि भी नहीं हो सकती। बाप-दादा के नाम पर कुछ दान-पुण्य करना भी व्यर्थ है। जिनके निमित्त ब्राह्मणों के माध्यम से यह किया जाता है वह सब ब्राह्मणों के पास ही रहता है, यह प्रत्यक्ष है। बाप-दादा को वे पदार्थ इसलिए भी नहीं पहुँच सकते, क्योंकि भेजने या पहुँचानेवालों को पानेवाले का ठौर-ठिकाना ही नहीं मालूम होता। एक बात यह भी जाननी चाहिए कि कर्म करनेवाले को ही उसके फल की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं। इसलिए सन्तान के द्वारा किये दान-पुण्य का फल भी उन्हीं को मिलता है, बाप-दादा को कदापि नहीं।'

ब्रह्मादयो०—सम्भवतः ये वचन आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४ तथा पारस्करगृह्यसूत्र परिशिष्ट के आधार पर ऊहित हैं। भिन्न-भिन्न काल में देवादि शब्दों की विभिन्न परिभाषाएँ की जाती रही हैं। वस्तुतः वे

'विद्वांसो हि देवाः' यह शतपथब्राह्मण ३।७।३।१० का वचन है। जो विद्वान् हैं उन्हीं को **'देव'** कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जाननेवाले हों, उनका नाम **'ब्रह्मा'**। और जो उनसे न्यून पढ़े हों, उनका भी नाम **'देव'** अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी स्त्री उनकी **'ब्रह्माणी'** और **'देवी'**, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य, तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी सेवा करना है, उसका नाम **'श्राद्ध'** और **'तर्पण'** है ॥

[अथर्षि-तर्पणम्]

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् । मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ।
मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम् । मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति ऋषि तर्पणम्

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें, और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियाँ कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों, उनका सेवन-सत्कार करना **'ऋषि-तर्पण'** है ॥

एक-दूसरे की पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। निष्कर्ष सबका एक-सा ही है, उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय परिभाषा दी जा रही हैं —

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः। एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः । अङ्गाध्याय्यनूचानः । कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः । सूत्रवचनाध्यायी भ्रूणः । चतुर्वेदादृषिः । अत ऊर्ध्वं देवः।

—बोधायनगृह्यसूत्र २।६

अर्थात् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ हो, ऐसा ब्रह्मचर्यव्रतधारी वेदों का कुछ भाग पढ़ने से ब्राह्मण। एक सम्पूर्ण शाखा को पढ़ने से श्रोत्रिय। अङ्गों को पढ़नेवाला अनूचान। कल्प को पढ़नेवाला ऋषिकल्प। भाष्यों को पढ़नेवाला भ्रूण। चारों वेदों को जाननेवाला ऋषि। इससे आगे देव। इस प्रकार परम विद्वान् की 'देव' संज्ञा है।

ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य (७।४६) में 'वेदेश्वरवित्' को ब्राह्मण बताया है। मनस्मृति के अनुसार **'वेदाभ्यासात् ततः विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'** तथा पाणिनिसूत्र 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५६) के अनुसार वेद के ज्ञाता को ब्राह्मण कहते हैं। दोनों को मिलाकर ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'वेदेश्वरवित्' निष्पन्न हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१।१)में लिखा है—**'तस्य ह जनकस्य विदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम** इति' अर्थात् विदेह जनक ने जानना चाहा कि सभा में उपस्थित ब्राह्मणों में 'अनूचानतम' कौन है? उत्तर में कहा गया—**'अतिशयेन अनूचानोऽनूचानतमः;'**। **'अतिशायने तमविष्ठनौ'** (पा० ५।३।५५)। यहाँ अतिशय अनूचान को 'अनूचानतमः'= सबसे बड़ा विद्वान् कहा है। पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ के अनुसार "आचार्यमुखान्निःसृतानि वचनानि योऽनुब्रवीतीति पश्चात् ब्रवीति सोऽनूचानः । वेदस्यानुवचनं कृतवानित्यर्थः— 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (पा० ३।२।१०६)। यद्यपि **'सर्व एव ब्राह्मणा अनूचानाः सन्ति तथापि तारतम्यं भवत्येव ।'**

पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यो प्रमातामहेभ्यो वृद्धमातामहेभ्यश्च स्वधा (पार० परि० ३)। देवतास्तर्पयति प्रजापतिर्ब्रह्मा वेदा देवा ऋषयः (आश्व० गृ०सू०३।४।१)। इसपर नारायणवृत्ति

—प्रजापतिरित्यारभ्य एकोनविंशद्वाक्येषु तृप्यतु तृप्यतां तृप्यन्त्विति यथार्थमुक्त्वा तर्पयेत्, अर्थात् प्रजापति से लेकर १६ वाक्यों में हर एक के साथ तृप्यतु, तृप्यतां, तृप्यन्तु आदि अर्थ के अनुसार लगा दें।

निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है —**'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता'** (निरुक्त ७।१५), अर्थात् दान देने से —प्रकाश करने से, प्रकाशित होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव'कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देनेवाले, दिव्य गुण एवं उत्तम आचरणवाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। विद्वान् पुरुषों को देव कहते हैं, इसके प्रतिपादक अनेक वचन हैं—

विद्वांसो हि देवाः । —शत० ३।७।६।१०
ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्या देवाः । —शत० २।४।३।१४
मन्त्रसंहिता वै देवाः । —ऐत० ब्रा० १।१६
सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति
—शत० १।१।१५

मनुस्मृति में भी ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। उदाहरणार्थ—

ते तमर्थमनुपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ —मनु ० २।१५२

ऋषि—मरीच्यादयः—मरीचिः— प्रथम मनु से उत्पन्न दस मूलपुरुषों में से एक या ब्रह्मा के दस पुत्रों में से एक, यह कश्यप का पिता था। एक स्मृतिकार—आप्टे।

'ऋषि गतौ' धातु से 'इन' प्रत्यय के योग से ऋषि शब्द निष्पन्न होता है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति'—गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन, और प्राप्ति। ऋषि सबसे उच्च स्तर का विद्वान् व्यक्ति, होता है। वेदमन्त्रों के अर्थ का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करनेवाला आप्तपुरुष ऋषि कहलाता है। वही धर्मोपदेष्टा होता है। निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है —**'ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः' (निरुक्त २।११)। अर्थात्—ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्य को प्रत्यक्ष करने-करानेवाला** होता है। औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है।

इसी प्रकार **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'** अर्थात् ऋषि साक्षात्कृतधर्मा होते हैं (निरुक्त १।२०)। अथवा किसी अभाव को दूर करने के कारण विप्रलोग, अथवा किसी अनुद्घाटित सत्य को अपनी दूरदृष्टि से देख लेने के कारण विचक्षण, नृचक्षस लोग ही ऋषि बन जाते हैं। ऋषि बनाने में दूसरों को सुख पहुँचाने की इच्छा तथा दूसरों को सुख पहुँचाने के कार्य सहायक होते हैं। संक्षेप में जो मानवमात्र का हित चाहता और करता है, वह ऋषि कहाता है —

'ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सुखः' (ऋ० १०।२६।५) **भद्रमिच्छन्त ऋषयः** (अथर्व० १६।४१।१), **'ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजान्'** (ऋ० १०।१५४।५) **'तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः यः प्रथमो दक्षिणया रराध'** (ऋ० १०।१०७।६)।

अध्यापनमात्र ऋषि बनने का प्रयोजक नहीं। अध्यापकमात्र को आर्षेय नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति में बिना वृत्ति की आकांक्षा के पढ़ानेवाले की उपाध्याय संज्ञा है। यद्यपि पढ़ाना सामान्य कर्म है और हर पढ़ानेवाला अध्यापक (Teacher) कहलाता है, तथापि उत्तरोत्तर योग्यता और क्षमता के आधार पर वर्तमान में प्रचलित तारतम्य से प्राध्यापक (Lecturer), उपाचार्य (Reader) तथा आचार्य (Professor) संज्ञाएँ

[अथ पितृ-तर्पणम्]

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् । अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् । बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् । सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् । यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि । प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि । मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि । प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि । स्वपत्न्यै स्वाधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि ॥

इति पितृ-तर्पण ॥

नियत हैं । जिस प्रकार हर पढ़ानेवाला प्रोफ़ेसर नहीं होता , उसी प्रकार ऋषिकर्म (अध्यापन) में प्रवृत्त प्रत्येक 'आर्षेय' नहीं होता । उपर्युक्त लक्षणों से युक्त ऋषिसंज्ञक मनुष्य जब अपने ज्ञान का दूसरों में संक्रमण करता है, तभी वह 'आर्षेय' कहलाता है ।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी ऋषि की यही विशेषताएँ बताई हैं—**'यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः'** (शत० ४।३।४।१६) । **'एते वै विप्रा यदृषयः'** (शत० १।४।२।७) ।

'अथ यदेवानुब्रवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः' (शत० १।७।२।३)। **'अथार्षेयं प्रावृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापादिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते'** (शत० १।४।५।३)।

महर्षि मनु ने भी इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ —मनु०२।१२६
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ —मनु०१।६४

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पितर, देव, ऋषि स्तरविशेष पर आधारित या विशेष गुणों के आधार पर रक्खी गयी संज्ञाएँ हैं । संक्षेप में विद्या के प्रत्यक्ष दर्शन में प्रमुख गुणवाले ऋषि, आचरण में दिव्य गुणों की प्रधानता के गुणवाले विद्वान् देव और पालक व रक्षक गुणवाले वयोवृद्ध विद्वान् या पिता आदि पितरसंज्ञक हैं ।

पितृ-तर्पण—**'पालयन्ति रक्षन्ति वा ते पितरः'**—पालन-पोषण और रक्षण करनेवाले पितर कहाते हैं । गोपथब्राह्मण में लिखा है—**'देवा वा एते पितरः, स्विष्टकृतो वै पितरः'** (गो० उ० १।२४, २५) —अर्थात् सुख=सुविधाओं द्वारा पालन, पोषण करनेवाले और हितसम्पादन करनेवाले विद्वोन् लोग पितर कहाते हैं । शतपथब्राह्मण (२।१।३।४) के अनुसार **'मर्त्याः पितरः'** मनुष्य ही पितर हैं । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि दिवंगत लोगों को पितर कहना या मानना शास्त्रविरुद्ध है । वस्तुतः माता-पिता, पितामह-आचार्य आदि ही पितर-संज्ञक हैं । मनस्मृति में जगह-जगह इन्हीं को पितर कहा है । मनु ४।२५७ में लिखा है—

महर्षिपितृदेवानां गत्वा ऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्मध्यस्थमाश्रितः ॥

शास्त्र द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार व्यक्ति (ब्रह्मचर्य-पालन एवं अध्ययन-अध्यापन से) ऋषि-ऋण

'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः' जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों, वे **'सोमसद्'** । **'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों, वे **'अग्निष्वात्त'** । **'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः'** जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों, वे **'बर्हिषद्'** । **'ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः'** जो ऐश्वर्य के रक्षक, और महौषधि-रस का पान करने से रोगरहित, और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों, वे **'सोमपाः'** । **'ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः'** जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों, वे **'हविर्भुज्'** । **'य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः'** जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक, और घृत-दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे **'आज्यपाः'** । **'शोभनः कालो विद्यते येषां ते सुकालिनः'** जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो, वे **'सुकालिन्'** । **'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः'** जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों, वे **'यम'** ।

को, (सन्तानोत्पत्ति तथा माता-पिता की सश्रद्ध सेवा से) पितृ-ऋण को तथा (यज्ञादि के अनुष्ठान से) देव-ऋण को चुकाकर, घर की सारी ज़िम्मेदारी पुत्र को सौंपकर (वानप्रस्थ की दीक्षा लेने से पूर्व) तटस्थ भाव से रहे अर्थात् सांसारिक व्यवहार के प्रति विरक्त होकर घर में निवास करे। यह आनृण्य की बात जीवितों के प्रसंग में ही संगत हो सकती है। मरणोपरान्त तो समस्त व्यवहार स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

यजुर्वेद २।३४ का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने भावार्थ में लिखा है—"ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देके कहना चाहिए कि तुमको हमारे माता-पिता आदि वा विद्या देनेवाले गुरुजन प्रीति से सेवा करने योग्य हैं। जैसे उन्होंने बाल्यावस्था में तथा विद्यादान के समय में हम और तुम पाले हैं, वैसे हम लोगों को भी वे सब काल में सत्कार करने योग्य हैं जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी प्राप्त न हों" 'तर्पयत मे पितॄन्—मेरे पितरों (पिता-पितामह आदि) को तुम तृप्त=प्रसन्न करो। जिन पदार्थों से उनको तृप्त करो, वे पदार्थ हैं—(अमृतम्) अनेकविधरस, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) उत्तम रीति से सम्पन्न तथा रोगनाशक अन्न तथा (परिस्रुतम्) रसभरे फल। इन सब पदार्थों से पितरों की सेवा करनी चाहिए। बृहत् पाराशरस्मृति में पितरों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

> **सोमसदोऽग्निष्वात्ता तथा बर्हिषदोऽपि वा ।**
> **सोमपाश्च तथा विद्वांस्तथैव च हविर्भुजः ॥**
> **आज्यपाश्च तथा वत्स तथा ह्यन्ये सुकालिनः ।**
> **एते चान्ये च पितरः पूज्याः सर्वे द्विजातिभिः** ॥७।१६७-१६८

यहाँ १२ प्रकार के पितर गिनाये गये हैं—

(१) सोमसदः (२) अग्निष्वात्ताः (३) बर्हिषदः (४) सोमपाः (५) हविर्भुजः (६) आज्यपाः (७) सुकालिनः (८) यमराजः (६) पितृ-पितामह-प्रतितामहाः (१०) मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः (११) सगोत्राः (१२) आचार्यादिसम्बन्धिनः ।

सोमसदः— **'सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति सोमगुणाश्च ते सोमसदः'** —जो सोमयाग में निपुण, ईश्वर में लीन और शान्ति आदि गुणवाले हैं, वे 'सोमसद' कहाते हैं।

अग्निष्वात्ताः—'**अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी= जलव्योम-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते अग्निष्वात्ता**' अग्नि जो ईश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुण ज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, वे 'अग्निष्वात्त' कहाते हैं।

बर्हिषदः—'**बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे' ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते बर्हिषदः**' = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य आदि उत्तम गुणों से वर्त्तमान हैं, उनको बर्हिषद् कहते हैं।

सोमपाः—'**यज्ञेन-उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा ते सोमपाः**' = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के रस का पान करने-करानेवाले हैं तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

हविर्भुजः—'**यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते हविर्भुजः**'—जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि करके खाने-पीनेवाले हैं, उनकी संज्ञा हविर्भुज' है।

आज्यपाः— '**आज्यं घृतं यद्वा 'अज् गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानं तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति वा रक्षयन्ति वा विद्वांसः ते आज्यपाः**'= घृत स्निग्ध पदार्थ और विज्ञान को कहते हैं, जो उनके दान से रक्षा करनेवाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते हैं

सुकालिनः—'**ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनो कालो येषां ते । यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदा कालो येषां ते 'सुकालिनः**'= मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान हैं, उनको 'सुकालिनः' कहते हैं।

यमराजाः—'**ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति ते यमराजाः**'—जो पक्षपातरहित होकर सदा सत्य-न्यायव्यवस्था करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे 'यमराज कहाते हैं।

पितृपितामहप्रपितामहाः—(पितृ) **ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तः तत्र वसन्तश्च अनन्त-धनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति ते पितरः वसवः विज्ञेयाः, ईश्वरोऽपि वा**'। अर्थात् जो उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्षपयन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या पढ़े, उसका नाम पिता या वसु है। (पितामह) '**ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण कृतविद्याभ्यासाः ते रुद्राः स्वे पितामहाश्च ग्राह्याः तथा रुद्र ईश्वरोऽपि ।**' अर्थात् जो पिता का पिता हो और चवालीसवर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलानेवाला हो वह रुद्र है। (प्रपितामह) **आदित्यवत् उत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसो अष्टचत्वारिंशत् वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्या सम्पन्नाः सूर्यवत् विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्याः तथा आदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते**' जो पितामह का पिता हो और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक, अड़तालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो उसको प्रपितामह अथवा आदित्य कहते हैं।

मातृपितामहीप्रपितामह्यः—'**पित्रादि मात्रादयः सेव्याः**'=पित्रादिकों के समान विद्यास्वभाववाली स्त्रियों की भी सेवा करनी चाहिए—माता, दादी, परदादी आदि।

सगोत्राः—'**स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः**'= जो समीपवर्ती स्वज्ञाति के वृद्ध पुरुष हैं, वे भी सेवा करने योग्य हैं।

आचार्यादिसम्बन्धिनः—'**ये गुर्वादिसख्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः**'=जो पूर्णविद्या के पढ़ानेवाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्रियाँ हैं, उनकी भी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।
—ग्रन्थकारकृत पञ्चमहायज्ञविधि के अन्तर्गत पितृयज्ञ के आधार पर

इस प्रकार उपर्युक्त गुणोंवाले जीवित व्यक्तियों को ही पितर कहा जाता है। उन्हीं की सेवा करना पितृयज्ञ है। मृत पितरों की कल्पना मात्र भ्रान्ति है।

इस विषय में ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञीविधि में वेद से प्रमाण उद्धृत करके अपने मन्तव्य की पुष्टि की है—

'**ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः**' (यजुः०१९।५, ऋग्० १०।१५।८) इत्यादि मन्त्र सोमसदादि पितरों में प्रमाण हैं। '**ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये** (यजुः० १९।४६) इत्यादि मन्त्र यमराजों में, 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' (यजुः० १९।३६) इत्यादि मन्त्र पिता-पितामह-प्रपितामहादि में तथा '**नमो वः पितरो रसाय**' (यजुः० २।३२) इत्यादि मन्त्र पितरों के सेवा-सत्कार में प्रमाण हैं। ये यजुर्वेदादि के वचन हैं। इसी आशय के वचन मनुस्मृति में उपलब्ध हैं। तद्यथा—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पिता महान्।
प्रपितामहांचादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥ —मनु ३।२८४

अर्थात्—पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र तथा प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं।

ब्रह्मादयो—ये वचन आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४ व पारस्करगृहसूत्र परिशिष्ट ३ के आधार पर ऊहित प्रतीत होते हैं—

ब्रह्मणि—कई संस्करणों में 'सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके' पाठ मिलता है। यह पाठ ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध है। 'उनकी विदुषी स्त्री' पाठ में सामान्यार्थ की बाधा होकर भार्यारूप विशेष की ब्राह्मणी और देवी संज्ञा बोधित होती है। ग्रन्थकार को मन्त्रस्थ 'पत्नी' शब्द का 'पालयित्री' सामान्य अर्थ विवक्षित है। ग्रन्थकार ने संवत् १९३१ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' में इन मन्त्रों को उद्धृत करके लिखा है—'चतुर्वेदविद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यस्तत्स्त्रीभ्यस्तादृशीभ्य ....।' इस लेख के अनुसार चतुर्वेदविद् ब्रह्मा, दिव्यगुणसम्पन्न देवों की पत्नियाँ तथा उनके सदृश अन्य स्त्रियों का ग्रहण किया है।

'ब्रह्मन्' का स्त्रीलिङ्ग 'अन्नेभ्योः ङीप्' (पा० ४।१।५) के नियम से 'ब्रह्माणी' बनता है, परन्तु कोशकार प्रचलित प्रयोगों के आधार पर 'ब्राह्मणी' रूप दर्शाते हैं। सम्भव है, हस्तलेख में 'ब्रह्माणी' पाठ रहा हो, किन्तु लिपिकर अथवा मुद्रक ने उसे न समझकर 'ब्राह्मणी' बना दिया हो। स्वयं हमारी एक पुस्तक में 'आर्ष' शब्द से अनभिज्ञ होने के कारण मुद्रक ने उसके स्थान पर सुपरिचित सामान्य शब्द 'आर्य' बना दिया था और हमारी भूल ? को ठीक करके गर्व अनुभव किया था।

ओं सोमसदः—देव, ऋषि, पितृ-तर्पण के इन मन्त्रों को स० प्र० के प्रथम संस्करण में तीसरे समुल्लास में पृष्ठ ४२ पर उद्धृत किया है, परन्तु लेखक (लिपिकर) ने वहाँ पितृतर्पण के अन्त के दो मन्त्रों में 'मृत' पद बढ़ाकर लिख दिया—'ओं सम्बन्धिभ्यो'मृतेभ्यः' स्वधा नमः सगोत्रान् मृतांस्तर्पयामि।' इसके आगे यह भी लिख दिया—'पित्रादिकों में जों कोई जीता होय उसका तर्पण न करै और जितने मर गये होंय उनका तो अवश्य करै।' पाठ में यह गड़बड़ लिपिकर ने की है, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के साथ ही संवत् १९३१ में लिखी गई संस्कारविधि में ऐसा कुछ नहीं है। वहाँ 'मृत' शब्द वा मृतकश्राद्ध का बिलकुल वर्णन

नहीं है। इसके सर्वथा विपरीत वहाँ जीवित पितरों के श्राद्ध का स्पष्ट विधान किया है— अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान् विदुषः'।

अग्निष्वात्त—पौराणिकमतावलम्बी इस शब्द का अर्थ करते हैं—अग्नि ने जिन्हें अच्छी तरह से भक्षण कर लिया हो अर्थात् मर जाने पर जिनका दाहसंसकार हो गया हो। इस प्रकार वे इन मन्त्रों में मृत-पितरों का निर्देश होने से मृतकश्राद्ध को वेदसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु यदि यही अर्थ किया जाए तो व्याकरण की दृष्टि से 'अग्निष्वात्त' शब्द नहीं बन सकता। व्याकरणानुसार 'अद् भक्षणे' धातु के पीछे जब 'क्त' प्रत्यय आता है तब 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (पा० २।४।३६) इस अष्टाध्यायीसूत्र से 'जग्ध' रूप होता है। तब 'अग्निष्वात्ता' के स्थान पर 'अग्निसुजग्धाः' प्रयोग होना चाहिए था। इस दोष को जानकर कुछ लोग इस 'अग्निष्वात्ताः' शब्द का यह अर्थ करते हैं—'अग्निना स्वात्ताः स्वादिता, अग्नि ने जिनका स्वाद ले लिया हो अर्थात् खा लिया हो। उनके मत में इस अर्थ से भी यहाँ मृतक पितरों का निर्देश सिद्ध है। इस प्रयोग में 'स्वाद आस्वादने' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'स्वात्ताः' रूप निष्पन्न करते हैं, परन्तु 'स्वाद' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'स्वादिताः' रूप बनता है, 'स्वात्ताः' नहीं। 'परिणामतः' ग्रन्थकार द्वारा किया अर्थ ही युक्तियुक्त ठहरता है। ग्रन्थकार ने 'अग्निष्वात्ता' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की है— 'अग्नि+सु+आत्ताः'। 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'दा' प्रत्यय किया गया है। 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु ग्रहण करने के अर्थ में आती है, न कि देने के अर्थ में, अतः इसका अर्थ हुआ—'सुष्टु आत्तो गृहीतोऽग्निर्यैस्त अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिन्होंने अग्नि अर्थात् परमात्मा या भौतिकाग्निविद्या को अच्छी तरह प्राप्त किया है, वे 'अग्निष्वात्ताः' हैं।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विग्रह के अनुसार तो 'स्वात्ताग्नयः' यह रूप होना चाहिए, 'अग्निष्वात्ताः' नहीं। वस्तुतः 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा० २।२।३७) इस सूत्र से 'क्तान्त' को पर-निपात होने पर 'अग्निष्वात्ताः' रूप ठीक है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः' में 'स्वादिताः' के स्थान में 'स्वात्ताः' आर्ष प्रयोग है, इसलिए 'अग्नि ने जिसका स्वाद लिया हो, अर्थात् 'मृतक पितर' यह अर्थ सर्वथा उपयुक्त है। इसका उत्तर यह है कि जब अन्य प्रकार से रूप की सिद्धि सम्भव हो तब उसे आर्ष प्रयोग कहकर टालना ठीक नहीं। तथापि, यदि 'दुर्जनतोषन्याय' से यह मान भी लिया जाए कि यह आर्ष प्रयोग है तब भी हमारे सिद्धान्त की हानि नहीं होती, परन्तु उस अवस्था में इसका यह अर्थ होगा कि जो व्यक्ति नित्य अग्निहोत्रादि, अग्निविद्यासम्बन्धी कार्य में संलग्न है, उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि तत्सहचरितोपाधि से अग्नि उसका स्वाद ले रही है। इस लाक्षणिक अर्थ से भी ग्रन्थकार के ही सिद्धान्त की पुष्टि होती है। मन्त्रगत 'अधिब्रुवन्तु' शब्द से पितरों से बोलकर उपदेश देने की प्रार्थना की गयी है। जीवित पितर ही बोलकर उपदेश दे सकते हैं।

मनु ने 'अग्निष्वात्तादि' पितरों को मरीचि की सन्तान तथा देवों के पितर कहा है, वह भी इसी अभिप्राय से कि वे पितर जीवित हैं—'अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः' (मनु० ३।१९५)। इसपर कुल्लूकभट्ट की टीका है—'अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याताः देवानां पितरः'। मनु ने आगे कहा है—**'अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्'** (३।१९६)। अर्थात् अग्निष्वात्त और सोम्य नाम के पितृगण ब्राह्मणों के पितर हैं। जब अग्निविद्या में निष्णात 'अग्निष्वात्त' हैं तो अग्निविद्या से भिन्न तत्सदृश वायु-जल भूगर्भादि विद्या में निष्णात 'अनग्निष्वात्ता' हैं। 'अग्निष्वात्त' पितरों से सम्बन्धित यजुर्वेद का यह मन्त्र है—

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वं कल्पयाति ॥ —१६।६०

वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—जो पितर अग्निविद्या और अग्निविद्या से भिन्न जल आदि की विद्या के जाननेवाले है, अथवा जो दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, उनके हितार्थ स्वराट् अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूप जो परमेश्वर है, वह प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिए हम प्रार्थना ,करते हैं कि हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपासे उनके शरीर को सदा सुखी, तेजस्वी और रोग-रहित रखिए, जिससे उनके द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता रहे।

इन मन्त्रों में पितरों के शरीर को नीरोग रखने की प्रार्थना से स्पष्ट है कि यहाँ जीवित पितरों का ही प्रसंग है, मृतकों का नहीं। प्रायः इसी आशय का एक मन्त्र अथर्ववेद में आया है, जो इस प्रकार है—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥ —१८।२।३५

भावार्थ—जो अग्निहोत्र वा शिल्पविद्या सम्बन्धी अग्निविद्या में चतुर तथा जो अग्निविद्या से भिन्न विद्याओं में निष्णात्त हैं और जो विज्ञानी लोग दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में रहते हैं, हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! यदि तू इनको अपनावे तो वे अन्न, जल व आनन्द को प्राप्त होते हुए इस यज्ञ का सेवन करें।

महाभारत में उपलब्ध निम्न श्लोक से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है —

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ॥ —वनपर्व २४।१४।१५

अर्थात् अग्निहोत्र से युक्त तथा अग्नि से रहित ब्राह्मणों ने वहाँ वन में युधिष्ठर को घेर लिया।

अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वातांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ —मनु० ३।१९६

उपर्युक्त श्लोक में अग्निष्वात्तादि सभी को ब्राह्मणों का पितर कहा है। यदि जले हुओं का नाम ही पितर है तो वे केवल ब्राह्मणों के ही पितर क्यों हैं, सबके क्यों नहीं ? फिर, अग्नि में शरीर ही जलते हैं, जीव नहीं और जले हुओं के प्रसन्न-अप्रसन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहाँ हम दो अन्य मन्त्रों को उद्धृत करते हैं, जिन्हें प्रायः मृतकश्राद्ध की पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितृन् हविषे अत्तवे ॥ —अथर्व० १८।२।३४

पौराणिकों के मत में यह मन्त्र गाड़े, फूँके, पड़े पितरों के बुलाये जाने से सम्बन्धित है, परन्तु ऐसा अर्थ सर्वथा अशुद्ध तथा युक्तिशून्य है। यह गाड़ना, फूँकना आदि शब्दों का प्रयोग जीवों के प्रसंग में तो किया नहीं जा सकता क्योंकि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ —गीता २।२३

अब रह गये शरीर, सो नष्ट हो गये। इसलिए उनका खाने के लिए आना असम्भव है। फिर, गाड़ा

प्रायः छोटे बच्चों को जाता है। वे किसी के पितर नहीं होते। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

(ये) जो (निखातः) खनिज विद्या में निष्णात, (ये) जो (परोप्ताः) बीजे बोने अर्थात् कृषिविद्या में निष्णात, (ये) जो (दग्धाः) विदग्ध अर्तात् मेधावी (च ये) और जो (उद्धिताः) सबका हित करनेवाले (पितॄन्) पितर है (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को—(अग्ने) हे विद्वन् ! तू (आवह) इस पितृयज्ञ में आमन्त्रित कर (हविषे अत्तवे) ताकि वे हविष्यान्न को ग्रहण करें।

इस प्रकरण में दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ —यजुः० १९।५८

भावार्थ—जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के समान शान्त, शमदमादिगुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थ-विद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं (ते) वे (देवयानैः) आप्त पुरूषों के आने-जाने योग्य (पथिभिः) धर्मयुक्त मार्गों से (आयन्तु) आवें तथा (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हम लोगों को (अधिब्रुवन्तु) अधिष्ठित होकर उपदेश करें और इस प्रकार हमारी रक्षा करें।

मृतक पितरों का यज्ञ में आना, भोजन करके प्रसन्न होना, यजमान को उपदेश करना और उसकी रक्षा करना सम्भव नहीं है। ये सब काम जीवित पितर ही कर सकते हैं।

पितृयज्ञ का विधान पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत है। श्राद्ध दैनिक कर्म है। मनुस्मृति का आदेश है—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ —३।८२

अर्थात् गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि माता-पिता आदि पूज्य महानुभावों का अन्नादि भोज्य पदार्थों से तथा जल, दूध और कन्द-मूल-फलादि से प्रतिदिन श्राद्ध करें परन्तु प्रचलित अर्थों में तो केवल आश्विन मास के पन्द्रह दिनों में और इन दिनों में भी एक पितर के लिए एक दिन ही श्राद्ध करते हैं। शेष ३६४ दिन वे भूखे-प्यारो पड़े रहते हैं। भला ! एक वर्ष में एक दिन के श्राद्ध से पितरों की क्या तृप्ति हो सकती है ? हाँ, दीर्घकाल तक सन्तुष्टि के उपाय महाभारत में अवश्य लिखे हैं जैसे—

द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य च ।
त्रीन् मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह ॥
आजेन मासान् प्रीयन्ते पञ्चैव पितरो नृप ।
वराहेण तु षन्मासान् सप्त वै शाकुनेन तु ॥
मासानेकादश प्रीतिः पितृणां माहिषेण तु ।
गव्येन दत्ते श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते ॥
आनन्त्याय भवेद्दत्तं खड्गमांसं पितृक्षये ।
कालशाकं च लौहं चाप्यानन्त्यं छाग उच्यते ॥

—अनुशासनपर्व, अध्याय ८८

अर्थ—मछली के मांस से पितर दो मास तक तृप्त रहते हैं, भेड़ के मांस से तीन मास तक और खरगोश के मांस से चार मास तक। बकरे के मांस से पितरगण पांच मास तक तृप्त रहते हैं, सुअर के

मांस से छह मास तक और पक्षियों के मांस से सात मास तक तृप्त रहते हैं, भैंसे के मांस से पितरों की तृप्ति ग्यारह मास तक और गौ के मांस से बारह मास तक होती है। गैंडे तथा लाल बकरे के मांस से अनन्त काल तक पितर तृप्त रहते हैं।

एतदनुसार अनुष्ठान करने से सदा के लिए श्राद्ध कर्म से मुक्ति मिल सकती है, किन्तु इससे तथा-कथित ब्राह्मणों के व्यवसाय की हानि अवश्यम्भावी है। शायद उन्हीं के कहने से गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत से उपर्युक्त श्लोक निकाल दिये गये हैं।

मृतकश्राद्ध के प्रसंग में भविष्योत्तरपुराण (अध्याय ६८) में उपलब्ध ऋषिपञ्चमी कथा द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है—

विदर्भ देश में श्येनजित् नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में सुमित्र नाम का एक ब्राह्मण रहता था उसकी स्त्री का नाम जयश्री था। वह स्त्री ऋतुकाल में बर्तनों को छूती रहती थी। कुछ दिनों के पीछे वे दोनों मर गये। ऋतु-सम्पर्क दोष के कारण सुमित्र का जन्म बैल के रूप में और जयश्री का कुतिया के रूप में हुआ। सुमित्र के बेटे का नाम सुमति तथा पुत्रवधू का नाम चन्द्रवती था। संयोगवश वे बैल तथा कुतिया अपने बेटे के घर में ही रहते थे। एक दिन सुमति ने पिता का श्राद्ध किया। सुमति बैल को लेकर खेत में हल जोतने चला गया। चन्द्रावती ने खीर बनाई। एक साँप आया और खीर में जहर डालकर चला गया। कुतिया ने यह देख लिया। उसने यह सोचकर कि इसे खाकर ब्राह्मण मर जाएँगे अपनी पुत्रवधु को दिखाकर खीर में मुँह डाल दिया। खीर को जूठी कर देने के कारण चन्द्रावती ने कुतिया को जलती लकड़ी से इतना मारा कि उसकी कमर टूट गई। खीर फिर बनाई गई। ब्राह्मणों को भरपेट भोजन खिलाया गया, किन्तु कुतिया को जूठन तक न मिली। आधी रात को कुतिया बैल के पास गई और अपनी रामकहानी सुनाकर बोली कि मैं भूख से मरी जा रही हूँ। आज तो जूठा टुकड़ा भी नहीं मिला। यह सुनकर बैल ने कहा कि यह सब पूर्वकर्मों का फल है। तेरी भूल या पाप के कारण मेरी कैसी दुर्गति हुई—

> **किं करोमि अशक्तोऽहं भारवाहत्वमागतः ।**
> **अद्याहमात्मनः क्षेत्रे वाहितः सकलं दिनम् ॥४०॥**
> **मारितश्चात्मजेनाहं मुखं बद्ध्वा बुभुक्षितः ।**
> **वृथा श्राद्धं कृतं तेन जाताऽद्य मम कष्टता ॥४१॥**

भावार्थ—मैं क्या करूँ, बेबस हूँ। मैं बोझ-ढोनेवाला बैल बन गया। आज सारा दिन अपने ही खेत में हल वहाता रहा और मेरे अपने पुत्र ने मेरा मुख बाँधकर खूब मारा। मैं भी बहुत भूखा हूँ। इसने व्यर्थ ही श्राद्ध किया। यही कथा हूबहू पद्मपुराण (उत्तर खण्ड ६, अध्याय ७८) में मिलती है। इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाया गया भोजन पितरों को नहीं पहुँचता। भोजन करने से पहले और फिर भोजन करने के पश्चात् श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मण को तोलना चाहिए। यदि दोनों बार का उसका वजन एक-सा हो तो समझ लेना चाहिए कि भोजन पितरों के पास चला गया। यदि बाद का वज़न अधिक निकले तो स्पष्ट है कि वह ब्राह्मण देवता के पेट में जमा है। यदि वह भेजना चाहे तो भी नहीं भेज सकता, क्योंकि ब्राह्मण देवता को यजमान के पितर का पता मालूम नहीं होता। यदि किसी तरह चला ही जाए तो अगले जन्म में हाथी बन गया पितर ब्राह्मण द्वारा खाये गये भोजन को पाकर भी भूखा रह जाएगा और चींटी बना हुआ उसमें डूब मरेगा। यदि किसी के पिता को अफ़ीम खाने की आदत हो

तो उसे अफ़ीम खाये बिना भोजनमात्र से तृप्ति नहीं होगी। उस अवस्था में पितरों को पहुँचानेवाले ब्राह्मण को अफ़ीम खिलानी पड़ेगी। यदि किसी के चार पुत्र हों और दूर-दूर शहरों में रहते हों। तब यदि चारों ही श्राद्ध करें तो पिताजी एक समय में चारों के यहाँ कैसे पहुँचेंगे? सशरीर आएँ तो दीखने चाहिएँ, किन्तु आज तक किसी ने अपने पितरों को आते-जाते नहीं देखा। यदि शरीर को छोड़कर आत्मा आये तो मृत जानकर सगे सम्बन्धी उसे श्मशान में ले-जाकर भस्म कर देंगे। लौटकर कहाँ रहेगा? फिर भोजन तो शरीर करता है, आत्मा नहीं, इसलिए आकर करेगा भी क्या? पहले श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण भोजन करेगा या पितर। यदि ब्राह्मण करेगा तो पितर जूठा खाएगा और यदि पितर पहले करेगा तो ब्राह्मण को जूठा खिलाने का पाप लगेगा। इस प्रकार के अनेक छोटे-बड़े प्रश्न हैं जिनका समाधान अपेक्षित है, किन्तु समाधान मिलेगा नहीं, क्योंकि श्राद्ध की बात अपने-आपमें बिल्कुल निराधार है। यह स्वार्थी पोपों द्वारा भोले लोगों को ठगने की विद्या से अधिक कुछ नहीं। यदि एक का खाया दूसरे के पेट में पहुँचाया जा सके तो यात्रा पर जानेवाले व्यक्ति को अपने साथ पाथेय ले-जाने की आवश्यकता न रहे। वाल्मीकि रामायण में इस उपाय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ —अयो०१०८।१५

अर्थात् यदि दूसरे का खाया हुआ दूसरे के शरीर में चला जाए तो प्रवास में जानेवालों का भी श्राद्ध कर देना चाहिए। उसे मार्ग में भोजन की क्या आवश्यकता है? यदि यह कहा जाए कि भोजन पितरों को भले ही न पहुँचे, उनकी सन्तान द्वारा उनके नाम पर ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुण्यफल तो उनको मिलेगा ही, तो यह भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सबको अपने ही किये कर्मों का फल मिलता है, अन्यों के किये का नहीं—

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥
यत्करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम् ।
तत्कर्त्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥

—महा० शान्ति० अ० १५३।३८, ४१

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥ —महा० शान्ति० आ० १८१, १५

अर्थ—पिता के कर्म से पुत्र तथा पुत्र के कर्म से पिता नहीं, अपितु अपने किये पाप-पुण्यों से बँधे हुए इस मार्ग से जाते हैं। जो शुभ कर्म करता है अथवा पाप कर्म करता है, उनको करनेवाला ही भोगता है, इसमें रिश्तेदारों का कुछ लेना-देना नहीं होता। बालक, जवान, बूढ़ा जो भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उस-उस अवस्था में उसका फल भोगता है।

वैशेषिक दर्शन में कहा है—

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् । —६।१।५

अर्थात् अन्य आत्मा के गुणों का अन्य आत्मा में कारण न होने से, एक आत्मा के द्वारा अनुष्ठित कर्म का फल दूसरे आत्मा को नहीं मिल सकता।

इस सूत्र का अभिप्राय यही है कि केवल कर्त्ता को स्वकृत कर्म का फल मिलता है। ऐसा न होने

'यः पाति स पिता' जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो, वह **'पिता'** । **'पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः'** जो पिता का पिता हो वह **'पितामह'**; और जो पितामह का पिता हो, वह **'प्रपितामह'** । **'या मानयति सा माता'** जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह **'माता'** । **'या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही'** जो पिता की माता हो वह **'पितामही,'** और जो पितामह की माता हो, वह **'प्रपितामही'** ।

अपनी स्त्री तथा भगिनि, सम्बन्धी, और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर, यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनकी आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह **श्राद्ध** और **तर्पण** कहाता है ॥

पर कृतहानि (किये कर्म का फल न मिलना) और अकृताभ्यागम (बिना किये कर्म का फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी अतः अन्य योनियों में गये हुए जीवों को कुछ भी पहुँचाने की प्रार्थना या उसके लिए प्रयत्न करना ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण करना है ।

वस्तुतः चारों वेदों में न तो श्राद्ध शब्द है और न ऐसा कोई मन्त्र है जिसमें मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से उनकी तृप्ति का उल्लेख किया हो । हाँ, जीवित पितरों अर्थात् माता-पिता, ज्ञानी, महात्मा आदि की सेवा का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र अवश्य मिलते हैं ।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण और मृतक-श्राद्ध

पौराणिक पण्डितों की मान्यता है कि स्वामी दयानन्द ने संवत् १९३२ में (सन् १८७५) प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में मृतक-श्राद्ध का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाजियों द्वारा लिखित तथा संवत् १९४१ (सन् १८८४) में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में उसका खण्डन समाविष्ट कर दिया । सनातन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् पं० कालूराम शास्त्री ने अपनी कुख्यात पुस्तक 'आर्यसमांज की मौत' में पृष्ठ १४७ पर स्वयं लिखा है कि—

"स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश की प्रथमावृत्ति (संवत् १९३२) में मृतकों का श्राद्ध अपने आप लिखा । संवत् १९३४ में कलकत्ता में उन्होंने आशु चटर्जी से कह दिया कि वह मेरा लेख नहीं, मेरे पास रहनेवाले पण्डितों ने लिख दिया ।"

पं० कालूराम के उपर्युक्त लेख से इतना तो स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के दो वर्ष पश्चात् और मृत्यु से छह वर्ष पहले कलकत्ता में सार्वजनिक रूप से कह दिया था कि प्रथम संस्करण में उपलब्ध मृतक-श्राद्ध का प्रतिपादक लेख उनका अपना न होकर दूसरे पण्डितों द्वारा प्रक्षिप्त है । तब उसे स्वामीजी का मन्तव्य बताते जाना बौद्धिक बलात्कार नहीं तो क्या है? सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का प्रकाशन संवत् १९३२ में हुआ । उसमें उपलब्ध मृतक-श्राद्ध विषयक लेख उनका अभिमत नहीं हो सकता, यह इस बात से सिद्ध है कि वे संवत् १९३२ से बहुत पहले संवत् १९२४ से मृतक-श्राद्ध का खण्डन और जीवित पितरों के श्राद्ध का उपदेश करते आ रहे थे । उदाहरणार्थ--

(१) महर्षि के जीवन-चरित में कार्तिक संवत् १९२४ की एक घटना इस प्रकार लिखी है—

"काशी में स्वामीजी ने शफ़ीपुर में मायाराम जाट से कहा कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध किया करो, और इसकी पद्धति बनाकर वे पण्डित ज्वालाप्रसाद को दे गये थे।

—पृष्ठ १०८

(२) कार्तिक कृष्णपक्ष संवत् १९२६ में भागलपुर में भी ऋषि दयानन्द ने जीवित पितरों के श्राद्ध का मण्डन और मृत पितरों के श्राद्ध का खण्डन किया था।

—पृष्ठ २२०

(३) 'वेदतत्त्व-प्रकाश' नाम से प्रकाशित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के सम्पादक प्रो० सुखदेव ने स्वीय सम्पादकीय वक्तव्य के पृष्ठ २-३ में लिखा है—

"लिखने का कार्य दूसरे पण्डितों के हाथ में होने के कारण प्रमादवश पण्डितों ने महर्षि के ग्रन्थों में अक्षम अशुद्धियाँ भी कर दीं, परिणामतः सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में पण्डितों ने स्वेच्छानुसार मृतक-श्राद्ध एवं मांस-भक्षण का विधान कर दिया। उसी संस्करण को पढ़कर ठाकुर मुकुन्दसिंह रईस छलेसर ज़िला अलीगढ़ निवासी ने महर्षि से निवेदन किया— 'मैं पार्वण श्राद्ध कराना चाहता हूँ, उसके लिए एक बकरा भी तैयार है। आप इस श्राद्ध को कराइए।' इस पत्र को पढ़कर महर्षि के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और उन्होंने बनारस से उत्तर दिया—

'यह संस्करण राजा जयकृष्णदास द्वारा मुद्रित हुआ है। इसमें बहुत अशुद्धियाँ हो गयी हैं। शाके १८९६ मैं मैंने जो 'पञ्चमहायज्ञविधि' प्रकाशित कराई थी, जोकि राजाजी के सत्यार्थप्रकाश से एक वर्ष पूर्व छपी थी, जब उसमें मृतक-श्राद्ध आदि का खण्डन है, तो फिर सत्यार्थप्रकाश में उसका मण्डन कैसे हो सकता है ? अतः श्राद्ध विषय में जो मृतक-श्राद्ध और मांस-विधान का वर्णन है, वह वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।'

इस उत्तर को पाकर ठाकुर साहब ने अपना विचार छोड़ दिया। इसके पश्चात महर्षि के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे एक विज्ञापन के द्वारा अपनी स्थिति को स्पष्ट करें, और वैसा ही उन्होंने किया भी।"

ऋषि दयानन्द का यह महत्त्वपूर्ण पत्र किसी 'पत्र-व्यवहार' में प्रकाशित नहीं हुआ। इसीलिए श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने श्री प्रो० सुखदेवजी को पत्र लिखकर पूछा कि आपने ऋषि के इस पत्र का उद्धरण कहाँ से लिया तो उत्तर में उन्होंने अपने २३।१०।४८ के पत्र में लिखा। "मुकुन्दसिंहजी छलेसर निवासी के पत्र का उत्तर जो ऋषि दयानन्द ने दिया था, उसे आप वैदिक सिद्धान्त-ग्रन्थमाला' पितृयज्ञसमीक्षा पृष्ठ २८ तथा कुछ अन्य पृष्ठों पर भी देख सकते हैं। यह भास्कर प्रेस मेरठ से संवत् १९७४ वि० में प्रकाशित हुई थी।"

सत्यार्थप्रकाश में प्रक्षेप के कारण उत्पन्न भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभष्य के प्रथम तथा द्वितीय अंक, जो श्रावण तथा भाद्रपद संवत् १९३५ में छपे थे, के मुखपृष्ठ की पीठ पर छपवाया था। उसमें मृतक-श्राद्ध विषयक प्रक्षिप्त अंश के सन्दर्भ में लिखा था—

"..........और जो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४२ पंक्ति २ में 'पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो, उनका तर्पण न करें, और जितने मर गये हों , उनका तो अवश्य करें'। तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ 'मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करना है' इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है, सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि—'जीवितों की

चौथा **'वैश्वदेव'**—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न

श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना, यह पुत्रादि का परम धर्म है। और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता है, और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये गये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य का नहीं।' इस विषय में वेदमन्त्रादिकों के प्रमाण भूमिका के ११ अङ्क के पृष्ठ २५१ से लेके १२ अङ्क के पृष्ठ २६७ तक छपा है, वहाँ देख लेना।"

—पत्र व्यवहार' पृष्ठ ६४

महिर्षि के अनन्य भक्त तथा जीवनीकार पं० देवेन्द्रनाथ ने सत्यार्थप्रकाश में पूर्वोक्त प्रक्षेप के विषय में राजा जयकृष्णदास से भी पूछा था। राजाजी ने पण्डित देवेन्द्रनाथजी से कहा था—

"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामीजी का लिखा गया, या जो कुछ पीछे से परिवर्तित हुआ, उसके लिए स्वामीजी इतने उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ़ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले-पहल स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक या मुद्रक द्वारा यह सब सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मत पीछे से परिवर्त्तित हो गया है।"—देवेन्द्रनाथ सम्पादित जीवनचरित्र, पृष्ठ २७३

जीवन-चरित्र पृष्ठ ६१६ से विदित होता है कि 'किन्हीं का ऐसा भी विचार है कि 'मृत पितरों का श्राद्ध और यज्ञ में मांसादि का विधान राजा जयकृष्णदास ने लिखवा दिया था'। इस विषय में श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कहना है कि हमें इस विचार में कुछ सत्यता प्रतीत होती है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

महर्षि ने संवत् १६३१ में 'पञ्चमहायज्ञविधि' का प्रथम संस्करण स्वयं छपवाया था। उसके पितृतर्पण प्रकरण में लिखा है—

१. भाष्य—'गुर्वादिसख्यन्तेभ्यः। ऐषां सोमसदादीनां श्रद्धया तर्पणं कार्यं विद्यमानानाम्। श्रद्धया यत् क्रियते तत् श्राद्धम्। तृप्त्यर्थं यत् क्रियते तत् तर्पणम्।—पृष्ठ २०-२१

२. क्रोधेन........ (मनु के श्लोक उद्धृत करके) भा०—अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान् विदुषः श्रद्धया सत्याचारेण तृप्तान् कुर्यादित्यभिप्रायः श्रद्धया देवान् द्विजोत्तमान् इत्युक्वात्।—पृष्ठ २१

इसमें स्पष्ट रूप से जीवितों के श्राद्ध का विधान किया है। इस पुस्तक का लेखनकाल ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार छपा है—

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे त्वाश्विनस्य सिते दले।
प्रतिपद् रविवारे च भाष्यं वै पूर्तिमगमत् ॥

अर्थात् यह ग्रन्थ आश्विन शुक्ला १ प्रतिपद् रविवार संवत् १६३१ में पूर्ण हुआ। सत्यार्थप्रकाश का लेखन आषाढ़ बदि ११ संवत् १६३१ से प्रारम्भ हुआ था। उसके लगभग ३ मास पीछे सत्यार्थप्रकाश के लेखन की समाप्ति के लगभग साथ ही 'पञ्चमहायज्ञविधि का लेखन समाप्त हुआ था। इससे स्पष्ट है कि जिस समय सत्यार्थप्रकाश लिखा जा रहा था, उस समय ऋषि दयानन्द मृत-पितरों का श्राद्ध नहीं मानते थे। निश्चय ही सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेख में यह प्रकरण पीछे से मुद्रणकाल में मिलाया गया है और इसके लिए आगे-पीछे के कुछ पृष्ठ (जिनपर ऋषि दयानन्द के संशोधन नहीं हैं) पुनः लिखवाये गये हैं। इस दुष्कर्म में राजाजी का हाथ होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

और क्षार को छोड़के घृतमिष्टयुक्त अन्न लेकर, चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्य्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ —मनु० ३।८४

जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका दिव्यगुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे ॥

होम करने के मन्त्र—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ सोमाय स्वाहा ॥ अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ धन्वन्तरये स्वाहा ॥ कुह्वै स्वाहा ॥ अनुमत्यै स्वाहा ॥ प्रजापतये स्वाहा ॥ सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ स्विष्टकृते[1] स्वाहा ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक बार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े । पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रखके पूर्वदिशादि क्रमानुसार यथाक्रम **इन मन्त्रों से भाग रक्खे—**

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ सानुगाय यमाय नमः ॥ सानुगाय वरुणाय नमः ॥ सानुगाय सोमाय नमः ॥ मरुद्भ्यो नमः ॥ अद्भ्यो नमः ॥ वनस्पतिभ्यो नमः ॥ श्रियै नमः ॥ भद्रकाल्यै नमः ॥ ब्रह्मपतये नमः ॥ वास्तुपतये नमः ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ सर्वात्मभूतये नमः ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥

बलिवैश्वदेवयज्ञ—बलिवैश्वदेवयज्ञ गृहस्थ द्वारा प्राणिमात्र के जीवन की रक्षार्थ किये जानेवाले प्रयत्न का प्रतीक है । जिस प्रकार बड़े-से-बड़े अपराधी के लिए भी जेल में रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था रहती है, उसी प्रकार अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त जीवों के जीवन की रक्षार्थ प्रयत्न करना सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य का कर्त्तव्य है । वाचस्पत्यं कोश के अनुसार—

गोक्षीरं गोघृतं चैव धान्यमुद्गस्तिला यवाः ।
सामुद्रं सैन्धवं चैवाक्षारलवणं स्मृतम् ॥

नमकीन मट्टी (ऊषर या कल्लर) से बनाया हुआ नमक क्षार कहलाता है और कृत्रिम सैन्धवादि को लवण कहते हैं । अन्यत्र 'क्षार' शब्द को पारिभाषिक मानते हुए लिखा है—

हैडम्बिका राजमाषा माषा मुद्गामसूरिका ।
लङ्क्याढकयाश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः ॥

—आश्व० गृ० गार्ग्यनारायण टीका १।८।१०

ये आहुतियाँ पाकाग्नि में (चूल्हे से अग्नि को अलग करके) देनी चाहिएँ । देवयज्ञ (होम) की अग्नि में बलिवैश्वदेवयज्ञ की आहुतियाँ नहीं देनी चाहिएँ ।

जिन मन्त्रों से यहाँ आहुति देने का निर्देश किया है, वे वेदोक्त मन्त्र नहीं हैं । मन्त्रसदृश वाक्यों को ही उपचार से मन्त्र कहा है । प्राचीन ऋषि कर्मकाण्ड के लिए मन्त्रों के पदों में परिवर्तन कर लिया

---

१. मनु० ३।८६ में केवल 'स्विष्टकृते' पद हैं, तथापि वह अग्नि का विशेषणरूप से प्रसिद्ध होने से विशेष्य का आक्षेप करके 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा मन्त्र होना चाहिए ।

करते थे। ऐसे परिवर्तनयुक्त मन्त्र 'ऊह' कहलाते हैं। कर्मकाण्ड के निमित्त कुछ वाक्य परिकल्पित भी कर लिया करते थे। श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों आदि कर्मकाण्डविषयक ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य हैं। प्रायः वे वेदमूलक हैं। 'ऊह' के सम्बन्ध में महाभाष्यकार ने लिखा है **"ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिता ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण विपरिणमयितव्याः ' (१।१।१।१)। अर्थात् ऊह भी वेद में सब लिङ्गों तथा सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े गये। यज्ञ करानेवाला यज्ञ के समय उनमें आवश्यकतानुसार** परिवर्तन कर ले अर्थात् पुल्लिग के स्थान में स्त्रीलिंग करले। इसी प्रकार विभक्ति भी बदली जा सकती है। 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मनुस्मृति के निम्न श्लोकों के आधार पर ऊहित हैं—

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्च समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ —मनु० ३।८५—८६

अर्थात् पहले अग्नि, सोम, फिर उन दोनों को मिलाकर अग्निषोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति, सह द्यावापृथिवी तथा स्विष्टकृत् का होम करे। होम करने के लिए अन्त में 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है, और जिसके साथ स्वाहा बोला जाता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाई जाती है। इसलिए ग्रन्थकार ने 'अग्नये स्वाहा' आदि लिखा है। इस सम्बन्ध में ८६वें श्लोक पर कुल्लूकभट्ट की टीका द्रष्टव्य है—

"कुह्वै...अनुमत्यै ...अग्नये...स्विष्टकृते इत्येवं स्वाहाकारान्तात् होमान्कुर्यात्। श्रुत्यन्तरेष्वग्नि विशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात् केवलं स्विष्टकृन्निर्देशेऽपि अग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः।" अर्थात् कुह्वै, अनुमत्यै....इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्त बनाकर 'स्वाहा' अन्त में लगाकर होम करे। दूसरी श्रुतियों में 'स्विष्टकृत्' अग्नि का विशेषण है, अतः अकेले 'स्विष्टकृत्' पद का प्रयोग भी, अग्नि का विशेषण मानना चाहिए। 'सह द्यावापृथिविभ्यां' में प्रयुक्त 'सह' पद पञ्चमहायज्ञविधि के दोनों संस्करणों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि के उत्तरवर्ती संस्करणों, में मिलता है। संस्कारविधि के संस्करण २, ३, ४ में 'सह' पद नहीं है। मनुस्मृति ३।८६ में 'सह द्यावापृथिव्योश्च' पाठ है, परन्तु वह समुच्चयार्थ है, मन्त्रावयव नहीं है।

अग्नये—प्रकाशस्वरूप परमात्मा की प्रसन्नता, उसकी आज्ञा पालन करते हुए जगत् के उपकार और भौतिक अग्नि के लिए यह आहुति सुहुत हो।

सोमाय—सब जगत् के पदार्थों को उत्पन्न करके सबको सुख देनेवाले परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए संसार के उपकार हेतु तथा परमेश्वर के रचे चन्द्रमा, जल और सोमलता आदि के लिए यह आहुति समर्पित है।

अग्निषोम—प्राणियों के जीवनहेतु, दुःनाशक परमेश्वर की प्रसन्नता, प्राण-अपानवायुओं की शुद्धि एवं पुष्टि के लिए यह आहुति समर्पित है।

विश्वेभ्यो—संसार को प्रकाशित करनेवाले ईश्वर के दिव्य गुणों, पृथिवी आदि पाँच तत्त्वों, समस्त विद्वानों और अन्यान्य प्राणियों के लिए यह आहुति देता हूँ।

धन्वन्तरये—मरण के दुःखों का नाश करनेवाले परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हुए जगत् के उपकार के लिए, रोगों से छुटकारा दिलानेवाले आयुर्विज्ञान, विद्युत्, मेघ और वर्षा के लिए यह आहुति सुहुत हो।

कुह्वै—परब्रह्म परमात्मा की संहारिणीशक्ति को स्मरण करते हुए **उसकी आज्ञानुसार जगत् के** उपकार के लिए चन्द्रमा और पूर्णमासी के लिए यह आहुति समर्पित है।

अनुमत्यै—परमात्मा की पालयित्री शक्ति अथवा उसकी कृपादृष्टि पाने और संसार का उपकार करने के लिए चन्द्रमा एवं पूर्णमासी के लिए यह आहुति देता हूँ।

प्रजापतये—सबके पालनहार परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए, सन्तानों की उत्तमरीति से रक्षा करने हेतु तथा पिता-पितामह आदि की प्रसन्नता के लिए यह आहुति सुहुत हो।

द्यावापृथिवी—द्युलोक और पृथिवीलोक के पदार्थों को रचने के साथ सब जीवों को सुख देनेवाले परमेश्वर की आज्ञानुसार द्यौ और पृथिवी अर्थात् लौकिक व पारलौकिक दोनों प्रकार का सुख पाने के लिए और तदर्थ अग्नि और भूमि से अपेक्षित लाभ लेने के लिए यह आहुति समर्पित है।

स्विष्कृते—अभीष्ट की प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर की आज्ञा-पालन और परमेश्वर के रचे सृष्टिक्रमरूप यज्ञ के हेतु कार्यों में सहायता देनेवाले मित्रों के लिए यह आहुति देता हूँ।

इन मन्त्रों से पूर्वादि दिशाओं में यथाक्रम भाग रखें—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः—इत्यादि मन्त्र (वाक्य) मनुस्मृति के ३।८७-९१ श्लोकों के आधार पर ऊहित हैं—

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७॥
मरुद्भ्य इति द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥
उच्छीर्षके श्रियं कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः ।
वास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चरिभ्य एव च ॥९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥९१॥

इन्हीं श्लोकों के आधार पर 'सानुगायेन्द्राय नमः' आदि मन्त्र (वाक्य) बनाये गये हैं। ग्रन्थकार ने 'ब्रह्मपतये नमः तथा 'वास्तुपतये नमः' दो वाक्य बनाये हैं। यह कहा जा सकता है कि जैसे ऊपर 'द्यावापृथिविभ्यां स्वाहा' बनाया है, वैसे ही यहाँ भी 'ब्रह्मवास्तुपतिभ्यां नमः' वाक्य बनाया जाना चाहिए था। इस श्लोक पर अपनी टीका में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कुल्लूकभट्ट ने लिखा है, "द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम्। यत्र द्वन्द्वं मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति, यथा सहद्यावापृथिव्योश्चेति"—अर्थात् 'ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां' पद में द्वन्द्व समास होने पर भी यह एक देवता नहीं है, किन्तु दो पृथक् देवता हैं। जहाँ द्वन्द्व के द्वारा देवता बनाना होता है, वहाँ 'सह' आदि किसी शब्द को लगाते हैं जैसे 'सह द्यावापृथिवी'।

बलिप्रदानविधिक्रम

सानुगायेन्द्राय—सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुणों के प्रति आदर से नमन करते हैं। राजा के

अनुगामी मन्त्री से लेकर साधारण कर्मचारी तक के हम ऋणी हैं, अतः उसके निमित्त का भाग निकालते हैं ।— इससे पूर्व

सानुगाय यमाय—पक्षपातरहित, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य-न्याय करनेवालों का हम श्रद्धा से आदर करते हैं । न्यायाधीश और उसके अधीनस्थ अथवा प्रतिनिधिरूप पञ्चों आदि का सत्कार करते हैं । मृत्यु और उसके अनुचार रोग आदि के लिए वज्र प्रहार अर्थात् उनका निवारण कर दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।—इससे दक्षिण

सानुगाय वरुणाय—विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त, सबसे उत्तम परमात्मा और उसके भक्तजनों के प्रति हम नमन करते हैं । राजसभा में धर्माध्यक्ष और उसके सहायकों का हम आदर करते हैं । आकाश, समुद्र आदि भौतिक देवों के लिए हवि प्रदान करते हैं । नीर-क्षीर-विवेकी, सत्य को ग्रहण और असत्य के परित्याग में प्रवृत्त सज्जनों के लिए अन्नादि की व्यवस्था करते हैं ।—इससे पश्चिम

सानुगाय सोमाय—पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाले परमात्मा तथा पुण्यात्माओं के प्रति हम श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं । शान्ति स्थापित करनेवाले सेनापति और उसके सहायक सैनिकों आदि के लिए भोजनादि की व्यवस्था तथा चन्द्रमा एवं वनस्पति आदि के लिए हवि (होम) करते हैं जिससे अन्तरिक्ष की शुद्धि होकर अमृतमय जल और सुखद वायु की प्राप्ति हो ।—इससे उत्तर

मरुद्भ्यो—महाप्राण ईश्वर के लिए नमस्कार और ईश्वर के आधार से सकल विश्व को धारण करने और गति देनेवाले प्राण (जिसके रहने से जीवन और निकलने से मृत्यु होती है) की रक्षा के लिए सदा प्रयत्न करते हैं । यम-नियमों का पालन करनेवाले तपस्वियों, वानप्रस्थ मुनियों आदि को भोजन आदि प्रदान करने तथा अन्तरिक्षस्थ वायु को सुगन्धित करने का प्रयत्न करते हैं ।—इससे द्वार

अद्भ्यो—जल के समान शान्तिदायक तथा सर्वव्यापक परमेश्वर के लिए नमस्कार और नहर आदि बनानेवालों तथा जल में रहनेवाले प्राणियों के लिए भोजन देते हैं ।—इससे जल

वनस्पतिभ्यो—सब लोकों के पालक परमेश्वर और उसके गुणों के प्रति नमन करते हैं । जो वर्षा में सहायक हैं और जिनसे प्राप्त फल आदि से जगत् का उपकार होता है, उन वनों का संरक्षण करते हैं ।—इससे मूसल-ऊखल

श्रियै—जो परमेश्वर सबका उपास्य तथा जिसने जगत् को शोभा प्रदान की है, उसे हम श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं । उस परमेश्वर की उपासना से राज्यश्री की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते और शिल्पियों के लिए अन्नभाग निकालते हैं ।—इससे ईशान

भद्रकाल्यै—इहलौकिक और पारलौकिक सुख=मोक्ष प्रदान करनेवाले परमात्मा का आश्रय लेते हैं । जीवों को सुलाकर उनका कल्याण करनेवाली रात्रि का आश्रय लेते हैं ।—इससे नैर्ऋत्य

ब्रह्मपतये—सर्वविद्यावित् तथा अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर की भक्ति और विद्याप्रचार के लिए प्रयत्न करना आवश्यक कर्त्तव्य है । वेदज्ञों और योगियों के योगक्षेम की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए । संसार के स्वामी को नमस्कार हो ।

वास्तुपतये—वास्तुविद्याविशारदों, मन्त्रकारों , अभियन्ताओं आदि के प्रति हम नमन करते हैं ।

दिवाचरेभ्यः, नक्तञ्चारिभ्यः —दिन और रात्रि में विचरण करनेवाले समस्त प्राणियों को हम नमन करते हैं । दो प्रकार के जीव होते हैं —एक मनुष्य के लिए हितकर और दूसरे उसके अहितकर । नमः

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे, अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल-भात-शाक-रोटी आदि लेकर **छः भाग भूमि में धरे**। इसमें प्रमाण—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ —मनु० ॥३।९२

इस प्रकार **'श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपग्भ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः'** धरकर, पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे*। यहाँ **'नमः'** शब्द का अर्थ **अन्न** अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना॥ यह मनुस्मृति आदि की विधि है।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि—पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना, और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।

अब पाँचवीं **'अतिथि-सेवा'**—**'अतिथि'** उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे, तो उसको प्रथम **पाद्य, अर्घ** और **आचमनीय** तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न

शब्द के भी दो अर्थ होंगे—एक अन्नप्रदान करना और दूसरा दूरीकरण। लाभ पहुँचानेवालों को अन्न प्रदान करने और हानि पहुँचानेवालों को दूर रखने की व्यवस्था करनी चाहिए।

सर्वात्मभूतये—चराचर जगत् में व्याप्त, सबके आत्मभूत परमेश्वर के लिए हमारा सश्रद्ध नमस्कार हो।

अतिथियज्ञ—'अतिथीनामदृष्टपूर्वाणां गृहागतानां सपर्यणमतिथियज्ञः'—अकस्मात् घर पर आ जानेवालों का सेवा-सत्कार अतिथियज्ञ कहाता है। मनुस्मृति के अनुसार **'अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते'** (मनु० ३।१०२)। अथर्ववेद में कहा है **'एष वा अतिथिर्यच्छोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्'** (६।६।३)—अतिथि वेदविद् ब्राह्मण के तुल्य होता है, इसलिए उससे पहले गृहस्थ को भोजन नहीं करना चाहिए।

अतिथिसत्कार के सन्दर्भ में मनु का आदेश है—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३।९९,१०१

आये हुए अतिथि के लिए यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक दे। (अन्न न हो तो) तृणासन, विश्राम के लिए स्थान, जल और मीठा बोल—इन चार बातों की कमी तो सत्पुरुषों के घर में कभी नहीं होती।

कठोपनिषद् में अतिथि-सत्कार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यमाचार्य की पत्नी उनसे कहती है—

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।

करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि, जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे।

समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं, परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ —मनु० ४।३०

अर्थः—'पाषण्डी'=अर्थात् देवनिन्दक, वेदविरुद्ध, आचरण करनेहारे, 'विकर्मस्थ'=जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादि युक्त, 'वैडालवृत्तिक'=जैसे विडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, 'शठ'=अर्थात् हठी दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं औरों का कहा मानें नहीं, 'हैतुक'=कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले, जैसेकि आजकल के वेदान्ती बकते हैं कि 'हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं' इत्यादि गपोड़ा हाँकनेवाले, 'बकवृत्ति'=जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी, दुराग्रही, वेद-विरोधी हैं। ऐसों का सत्कार वाणिमात्र से भी न करना चाहिए, क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं॥

[पञ्चमहायज्ञों का फल]

इन 'पाँच महायज्ञों का फल' यह है कि **'ब्रह्मयज्ञ'** के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि। **'अग्निहोत्र'** से वायु, वृष्टि-जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास-स्पर्श, खान-पान से आरोग्य, बुद्धि-बल-पराक्रम बढ़के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना। इसीलिए इसको **'देवयज्ञ'** कहते हैं।

'पितृयज्ञ' से जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्याऽसत्य का निर्णय कर, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा—कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है, उसका बदला देना उचित ही है।

'बलिवैश्वदेव' का भी फल जो पूर्व कह आये, वही है। **'अतिथियज्ञ'** जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

घर आये अथिति का समुचित सत्कार न होने पर मनुष्य की आशा (अज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना) प्रतीक्षा (ज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना), संगतम् (सत्संगति से प्राप्त होनेवाला फल) सूनृता (प्रिय वचन बोलने का फल), इष्ट (यज्ञ का फल) आपूर्त्त (समाज के कल्याणार्थ किये कर्मों का फल), सन्तान और पशु सभी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर यमाचार्य ने अपने घर पर तीन दिन तक भूखा रहनेवाले ब्राह्मण-अतिथि नचिकेता को प्रसन्न करने के लिए तीन वर माँगने के लिए कहा—

में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती। सन्देह-निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। दृढ़ निश्चय के विना सुख कहाँ ?

[गृहस्थ के सामान्य कर्त्तव्य]

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥१॥ —मनु० ४।९२

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ —१।१।९

इसपर नचिकेता ने यमाचार्य से पितृतोष, स्वर्ग-सुख की साधना तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति—इन तीन वरों की याचना की।

'बिठालकर'—यह मारवाड़ी का शब्द है जिसका अर्थ है 'बिठाकर'।

'समय पाके'—पारस्करगृह्यसूत्र (१।३।१) का वचन है—'षडर्घ्या भवन्ति—आचार्य ऋत्विग्, वैवाह्यो, राजा, प्रियः, स्नातकः। प्रतिसंवत्सरान् अर्हयेयुः।'

अर्थात् आचार्य आदि का एक वर्ष के पश्चात् आने पर अर्थ से सत्कार करे।

'पाषण्डी'—लोक में प्रचलित 'पाखण्डी शब्द इसी का अपभ्रंश है। पाखण्डी के लक्षणों का विस्तार आगे उद्धृत 'धर्मध्वजी' इत्यादि श्लोकों (मनु ४।१९५,१९६) में किया है।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते—इस प्रसंग में इससे आगे के दो श्लोक इसके पूरक हैं—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥

उठकर शौचादि दिनचर्या के आवश्यक कार्य सम्पन्न करके एकाग्रचित्त होकर प्रातःकालीन सन्ध्योपासन के लिए देर तक बैठे और उपयुक्त समय पर सायंकालीन सन्ध्या में भी उपासना करे।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४॥

मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने देर तक सन्ध्योपासना करने के कारण लम्बी आयु, बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है।

गायत्री आदि मन्त्रों का जाप सन्ध्या है, जैसा कि मनु० २।१०४ में बताया है—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥

यह नैत्यिक यज्ञों एवं स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय से आयु, बल-तेज आदि की प्राप्ति मनु० २।८२ में वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है —

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं नियितं विधिना शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥

अर्थात् जो व्यक्ति (अब्दं स्वाध्यायम्) जल-वर्षक मेघस्वरूप स्वाध्याय (वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे । आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान, और परमात्मा का ध्यान करे । कभी अधर्म का आचरण न करे ॥१॥ क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥२॥ —मनु० ४।१७२

किया हुआ अधर्म कभी निष्फल नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी

जप, यज्ञ उपासना आदि) को स्वच्छपवित्र होकर विधिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर करता है, उसके लिए यह स्वाध्याय सदा दूध, दही, घी और मधु की वर्षा करता है—प्रचुर मात्रा में प्रदान करता है ।

यहाँ मनु ने निम्न वेदमन्त्र का भाव ज्यों-का-त्यों अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ —ऋ० ६।६७।३२

'स्वाध्याय' शब्द से मनु का अभिप्राय निरन्तर वेदों का सांगोपांग अध्ययन, सन्ध्योपासन और अग्निहोत्रादि से है, जैसा कि मनु ने स्वयं २।१०४-१०६ श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है । इसके अतिरिक्त २।१६५-१६८ तथा ४।१४७-१४६ तथा ११।२४५ में भी स्पष्टतः वेदाध्ययन आदि को 'स्वाध्याय' नाम से अभिहित किया है ।

प्रस्तुत श्लोक (यः स्वाध्यायमधीते०) में आलंकारिक वर्णन हुआ है । यहाँ घी, दूध और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है । आयुर्वेद के अनुसार दूध का मुख्य गुण तृप्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का आयु व बल को बढ़ाना (घृतं वै आयुः, घृतं वै बलम्) तथा मधु का शरीर-दोषों को दूर करना है । इस प्रकार वेद के अनुसार स्वाध्याय से मनुष्य को शान्ति, गुण, ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है । कुछ टीकाकार 'पयो दधि घृतं मधु' से प्रतीकरूप में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ग्रहण करते हैं ।

इस श्लोक में 'अब्दम्' शब्द का यौगिक प्रयोग (अपो ददाति इति अब्दम् मेघस्वरूपम्) और तदनुसार उसका अर्थ 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' सर्वथा उपयुक्त एवं संगत है । 'अब्दम्' का 'वर्ष' अर्थ करने पर उसका श्लोक में आये 'नित्यम्'से विरोध होगा । यदि यह माना जाए कि मात्र एक वर्ष के स्वाध्याय से ये सब लाभ सदा उपलब्ध रहते हैं तो एक वर्ष से अधिक स्वाध्याय की क्या आवश्यकता है । फिर द्विजमात्र अथवा मनुष्यमात्र के लिए स्वाध्याय का नित्य (दैनिक) कर्त्तव्यों में विधान किया गया है । तब उसे एक वर्ष में सीमित कैसे किया जा सकता है ? 'अब्द' का 'मेघ' अर्थ करने पर उसकी 'क्षरति' क्रिया-पद से भी संगति बैठ जाती है ।

नाधर्मश्चरितो—इस श्लोक का अर्थ संस्कारविधि (पृष्ठ १८०) में अधिक स्पष्ट है, जो इस प्रकार है—

मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में (गौरिव) जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि तत्काल प्राप्त नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है (मूलानि कृन्तति) । पश्चात् अधर्मी दुःख-ही-दुःख भोगता है ।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्यक्ष वर्त्तमान को देखते हुए भी परोक्ष (भविष्य) की चिन्ता करता है— **परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः।** कुछ वृक्ष (पौधे) छह महीने में फल देते हैं, जैसे गेहूँ, चना आदि । कुछ वर्ष-

नहीं होता, इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है ॥२॥

इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥३॥ —मनु० ४।१७४॥

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बाँध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है। पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र-आभूषण यान-स्थान मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है। पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है। जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है ॥३॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्याँश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥४॥ —मनु० ४।१७५

जो विद्वान् वेदोक्त सत्यधर्म अर्थात् पक्षपात-रहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि, आर्य-वृत्त अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे ॥४॥

[ऋत्विजादि के साथ कभी झगड़ा न करे]

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥१॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥२॥ —मनु० ४।१७९,१८०॥

'ऋत्विक्'=यज्ञ का करनेहारा, 'पुरोहित'=सदा उत्तम चालचलन की शिक्षा कारक, 'आचार्य'=विद्या पढ़ानेहारा, 'मातुल'=मामा, 'अतिथि'=अर्थात् जिसकी कोई आने-जाने की निश्चित तिथि न हो, 'संश्रित'=अपने आश्रित, 'बाल'=बालक, 'वृद्ध'=बुड्ढा, 'आतुर'=पीड़ित,

'वैद्य'=आयर्वेद का ज्ञाता, 'ज्ञाति'=स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, 'सम्बन्धी'=श्वसुर आदि, 'बान्धव'= मित्र ॥१॥

'माता'= माता, पिता=पिता 'यामी'=बहिन, 'भ्राता'=भाई, 'भार्या'=स्त्री, 'दुहिता'=पुत्री, और 'दासवर्ग'=सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे ॥२॥

भर में फलते हैं जैसे केला आदि और कुछ ३-४ वर्ष बाद फल देते हैं, जैसे आम, अमरूद आदि। इसी प्रकार खाये हुए पदार्थ कभी तत्काल पीड़ा का कारण बन जाते हैं और कभी उसके कारण रोग शरीर में धीरे-धीरे जड़ जमाता रहता है और कालान्तर में भयंकर रूप में प्रकट होकर मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी प्रकार कुछ कर्मों का फल तत्काल मिल जाता है और कुछ का ईश्वरीय व्यवस्थानुसार कालान्तर अथवा जन्मान्तर में, पर मिलता अवश्य है।

अतपास्त्वनधीयानः—यहाँ 'अनधीयानः' तथा ४।१६२ में 'अवेदवित्' का अर्थ सामान्यतः अविद्वान् या अनपढ़ नहीं है, अपितु वे व्यक्ति अभिप्रेत हैं जो वेद का निरन्तर अध्ययन-चिन्तन नहीं करते। मनु ने ब्राह्मणों

[दान के अयोग्य]

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥१॥

—मनु० ४।१९०

एक 'अतपाः'=ब्रह्मचर्य्य-सत्यभाषणादि तपरहित, **दूसरा** 'अनधीयानः'=विना पढ़ा हुआ, **तीसरा** 'प्रतिग्रहरुचिः'=अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को भी साथ डुबा लेते हैं ॥१॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥२॥ —मनु० ४।१९३

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है, वह दान दाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है ॥२॥ जो वे ऐसे हों, तो क्या हो—

के लिए वेदों का निन्तर अध्ययन करते रहने का निर्देश ही नहीं, उसकी अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है—

अनभ्यासेन वेदानां आचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ —मनु० ५।४

वेदों का अभ्यास छोड़ देने से, सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन करने से आलस्य और अन्नदोष के कारण ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है। श्लोकगत 'प्रतिग्रहरुचिः' से 'प्रतिग्रहेच्छुः' अर्थात् लोभी अभिप्रेत है। अयोध्या के ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि लिखते हैं—'दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे' (बाल० ६।१३) अयोध्या के ब्राह्मण देने में उदार, किन्तु लेने में संकोची थे।

प्रतिग्रह की लालसा की निन्दा करते हुए मनु में लिखा है—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मतेजः प्रशाम्यति ॥ ४।१८६

ब्राह्मण दान लेने का अधिकारी होते हुए भी दान प्राप्ति में आसक्तिभाव को छोड़ देवे, क्योंकि दान लेने की लालसा से उसका ब्राह्मतेज शीघ्र नष्ट हो जाता है।

निम्न श्लोक में मनु ने तीन प्रकार क व्यक्तियों को सम्माननीय घोषित किया है—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ —४।१९२

अर्थात् धर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वैडालव्रतिक (बिल्ली जैसे स्वभाववाले ४।१९५) को, बकव्रतिक (बगुले जैसी प्रवृत्तिवाले ४।१९६) को तथा अवेदविद् विप्र (वेद न जाननेवाला ब्राह्मण) को जल भी न दे।

इस श्लोक में १९० में वर्णित व्यक्तियों को सादृश्यमूलक दूसरी संज्ञाओं से वर्णित किया है, जैसे—

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥३॥ —मनु० ४।१९४

जैसे पत्थर की नौका में बैठके जल में तरनेवाला डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥३॥

पाखण्डियों के लक्षण

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥२॥ —मनु० ४।१९५,१९६

'धर्मध्वजी'=जो धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, 'सदालुब्ध'=सर्वदा लोभ से युक्त, 'छाद्मिकः'=कपटी, 'लोकदम्भकः'=संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, 'हिंस्रः'=प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, 'सर्वाभिसन्धकः'=सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे, उसको 'वैडालव्रतिकः' अर्थात् विडाल के समान धूर्त और नीच समझो ॥१॥

'अधोदृष्टिः'=कीर्ति के लिए नीचे दृष्टि रक्खे, 'नैष्कृतिकः'=ईर्ष्यक=किसी ने उसका पैसा-भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे, 'स्वार्थसाधन०'=चाहे कपट, अधर्म विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, 'शठः'=चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े, 'मिथ्याविनीतः=झूठमूठ ऊपर से शील-सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको 'बकव्रत०'=बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षणोंवाले पाखण्डी होते हैं। उनका विश्वास वा सेवा कभी न करे ॥२॥

[धर्मसंचय का प्रकार और धर्म का फल]

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१॥ —मनु० ४।२३८
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२॥ —मनु० ४।२३९
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥३॥ —मनु० ४।२४१॥

अनधीयानः=अवेदवित्, अतपाः= ढोंगी बकव्रतिक तथा प्रतिग्रहरुचिः=वैडालव्रतिक (लालची)। ये गुणों के आधार पर पर्यायवाची संज्ञाएँ हैं।

त्रिष्वपि—इस श्लोक में कुपात्र को दान देनेवाले को दान लेनेवाले की अपेक्षा अधिक पापी कहा है।

यथा प्लवेन—प्लवेनौपलेन=पत्थर की नौका से, दातृप्रतीच्छकौ=दाता और ग्रहीता दोनों, अधस्तात् निमज्जतः=अधोगति को प्राप्त होते हैं।

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४॥ —महा० उद्योग ३३।४७॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥५॥ —मनु० ४।२४०

स्त्री और पुरुष को चाहिए कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बाँबी को शनैः-शनैः बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करें ॥१॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है ॥२॥

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥३॥

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है ॥४॥

शनैः शनैः—यहाँ धीरे-धीरे से अभिप्राय सावधानी पूर्वक धर्मपालन करने से है। जैसे दीमक अपनी बाँबी को बनाते समय सावधानी बरतती है—उसे गिरने नहीं देती, इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि किसी भी अवस्था में अपने को धर्म से न गिरने दे। उपनिषद् के शब्दों में धर्म का मार्ग **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'** (कठ० २।१४)—धर्म (कर्त्तव्य) मार्ग पर चलना छुरे की तीक्षण धारा पर चलने के समान है। **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'** तनिक-सी असावधानी होते ही इसपर चलनेवाला गिर जाता है।

नामुत्र—'पक्वः पक्तारं पुनराविशाति' (अथर्व०१२।३।४८)। जो जैसा पकाता है उसी को वह भोगता है। परलोक में कहीं से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, वहाँ केवल धर्म ही सहायक होता है। इसलिए—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ —भर्तृहरि, नीतिशतक ८४

चाहे कोई स्तुति करे या निन्दा, धनैश्वर्य आये या जाए, आज मृत्यु आनेवाली हो या कालान्तर में धीर पुरुष कभी भी धर्म—न्याय के पक्ष से विचलित नहीं होते।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितिस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ —महा० उद्योग, ४०।१२-१३

अर्थ—कामना से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि जीवन के लिए भी धर्म का परित्याग न करे, क्योंकि धर्म नित्य है, जबकि सुख-दुःख अनित्य है। जीव नित्य है। अनित्य सुख की खातिर नित्य जीव और धर्म

का परित्याग करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ! 'What shall it profit a man if he gains the whole world but loses his self'. —The Bible

नीति के अनुसार **'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम् ।'** थोड़ा खोकर भी अधिक की रक्षा करे ।

मृतं शरीरम्—इसका पूरक एक श्लोक मनुस्मृति में इस प्रकार है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ —मनु० ८।१७

इस संसार में एक धर्म ही मित्र है जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ जाता है और सब (पदार्थ या बन्धु-बान्धव) शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् यहीं रह जाते हैं ।

ऐसी स्थिति में राह चलते साथ लग जाने और कुछ दूर तक साथ चलनेवाले की ख़ातिर सदा साथ देनेवाले और अन्त तक साथ चलनेवाले की अवहेलना करना कदापि उचित नहीं । इसलिए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इस प्रकरण में लिखा है—

"सब मनुष्यों को उचित है कि अपना पालन और माता-पितादिकों का पालन धर्म से ही जितना धनादिक मिले उतने से ही व्यवहार और पालन करें, अधर्म से कभी नहीं", क्योंकि—

एकः पापानि—यहाँ ग्रन्थकार ने अपराधकर्म की दृष्टि से कर्त्ता को ही दोषी माना है । दोषभागी होने के कारण वही उस अपराध में दण्डनीय होता है । कुटुम्ब आश्रित होता है, उसे पापकर्म से लाई कमाई का कभी ज्ञान होता है और कभी नहीं भी होता । इसलिए भोक्ता होते हुए भी कर्त्ता न होने होने के कारण परिवार को उस अपराधकर्म के लिए दोषी नहीं माना गया है । प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—"जो अधर्म करेगा उसका फल वही भोगेगा और माता-पितादिक सुख का भोग करनेवाले तो हो जाएँगे, परन्तु दुःख जो पाप का फल उसमें कोई भाग न लेगा, किन्तु जिसने पाप किया वही पाप का फल भोगेगा, और कोई नहीं ।" प्रकारान्तर से **'नामुत्र हि सहायार्थं'** तथा **'मृतं शरीरं'** तथा आगे **'तस्माद्धर्मं सहायार्थं'** इन श्लोकों में भी इस बात का संकेत किया है ।

एकः प्रजायते—इस श्लोक में भी सुकृत-दुष्कृत करने पर उनके फल का भोक्ता कर्त्ता को ही माना गया है, किन्तु यदि उसके साथ अधर्म में और अधर्म से प्राप्त उसके भोगों में अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं तो उस अधर्म का फल उनको भी प्राप्त होता है । मनु ने यह बात निम्न श्लोक में कही है—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ —४।१७३

अर्थात् "अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, यदि पुत्रों के समय में न हो तो पौत्रों के समय में अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ।" इन शब्दों में इसका समर्थन ग्रन्थकार ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में किया है । इस प्रकार यहाँ कर्त्ता के न रहने पर उसके उत्तराधिकारियों को उसके दुष्कर्मों का भोक्ता माना गया हैं । इसमें अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति होती है । महाभारत में कहा है—

स्वयं कृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ —शान्ति० अ० २९८

देखिए, अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है। एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का जो दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥५॥

[धर्माचरण से मुक्ति की प्राप्ति]

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥१॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२॥ —मनु० ४।२४२, २४३॥

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और इस जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाए, क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःख-सागर को जीव तर सकता है ॥१॥

किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ —शान्ति० अ० २९०
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ —अनु० अ०७

पैदा हुआ प्राणी स्वकृत कर्मों को प्राप्त होता है। बिना किये कोई कुछ भी प्रिय-अप्रिय को प्राप्त नहीं होता। यह जीव दूसरे के पुण्य और पाप का सेवन नहीं करता। जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है। जैसे हज़ारों गौवों में से बछड़ा अपनी माता को खोज लेता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता को जा पकड़ता है।

वस्तुतस्तु जहाँ दुष्कर्म को करनेवाला कर्त्ता के नाते अपराधी है, वहाँ अधर्म से प्राप्त भोगों के सेवन में जो-जो भी पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक जन सम्मिलित होते हैं, वे भी जिस हद तक उस अधर्म में भागीदार होते हैं, उस हद तक उन्हें भी पाप का फल भोगना पड़ता है। पाप से प्राप्त भोग को भोगना भी तो दुष्कर्म है—विशेषतः तब जबकि भोक्ता को उसके पाप से प्राप्त होने का ज्ञान हो, किन्तु इसका कर्त्ता के निजी स्तर पर किये गये कर्म के भोगने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सब अपने-अपने फलभोक्ता स्वयं होते हैं।

इस प्रसंग में हिंसा के विषय में मनु का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५।५१

अर्थात् पशु को मारने की अनुमति देनेवाला, मांस को काटनेवाला, पशु को मारनेवाला, खरीदने व बेचनेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सब पापी कहलाते हैं। तदनुसार जैसे हिंसा के पाप में आठ प्रकार के अपराधी होते हैं वैसे ही अन्य अधर्म के कार्यों में भी वे सब पापी होते हैं जो किसी भी रूप में उससे सम्बद्ध होते हैं, इसलिए उन सभी को फल भी मिलता है। इसी न्याय से, यद्यपि सुष्कृत-दुष्कृत का भोक्ता मुख्यतः कर्त्ता होता है, उसका फल पुत्रों-पौत्रों तक को प्राप्त होना कहा गया है।

अधर्मप्रधानम् —खशरीरिणम्—आकाश जिसका शरीर है, अथवा आकाश की तरह सर्वव्यापक। प्रथम संस्करण में 'भास्वन्तं खशरीरिणम्' का अर्थ इस प्रकार किया है —'वह किस प्रकार का शरीरवाला होता

उसको, प्रकाश-स्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥२॥ इसलिए—

[सदाचार का फल]

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥१॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥३॥ —मनु० ४।२४६, २५६, १५६॥

सदा दृढ़कारी, कोमल-स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक-क्रूर-दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥१॥

परन्तु यह भी ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उनका मूल, और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है ॥२॥

इसलिए मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, और धर्माचार से उत्तम प्रजा, तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है, उसके आचरण को सदा किया करे ॥३॥ क्योंकि—

[दुराचार का फल]

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१॥ —मनु० ४।१५७

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, दुःखभागी और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है ॥१॥ इसलिए ऐसा प्रयत्न करे—

[सुख-दुःख का लक्षण]

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत् सेवेत यत्नतः ॥१॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥२॥ —मनु० ४।१५९, १६०॥

है —भास्वन्त अर्थात् तेजोयम व ज्ञानयुक्त और आकाशवत् अदृष्ट, अच्छेद्य, काटने वा दाह करने में न आवै, ऐसा उसका शरीर होता है, जैसा योगियों का।'

दृढकारी—प्रथम संस्करण में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'जो कुछ धर्मकार्य अथवा धर्मयुक्त व्यवहार को करै, सो दृढ़ ही निश्चय से करै और मृदु अर्थात् अभिमानादिक दोष से रहित होय। दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय होय और क्रूराचार अर्थात् जितने दुष्ट हैं उनका साथ कभी न करै, किन्तु

जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न से त्याग, और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥१॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख। यही संक्षेप से **सुख** और **दुःख का लक्षण** जानना चाहिए ॥२॥

[पति-पत्नी सब कार्य सहयोग से करें]

परन्तु जो एक-दूसरे के अधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिए। जैसाकि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के अधीन व्यवहार, अर्थात् स्त्री-पुरुष का और पुरुष-स्त्री का परस्पर प्रियाचरण, अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री, और बाहर के काम पुरुष के अधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फँसने से एक-दूसरे को रोकना, अर्थात् यही निश्चय जानना कि जब विवाह होवे, तब स्त्री के हाथ पुरुष और पुरुष के हाथ स्त्री बिक चुकी, अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के हाव-भाव नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं, वह वीर्य्यादि एक-दूसरे के अधीन हो जाता है। स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इनमें बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुषगमनादि काम हैं। इनको छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

[ब्राह्मण-ब्राह्मणी के कर्त्तव्य]

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविधि उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। स्त्री का पूजनीय देव पति, और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है। जब तक गुरुकुल में रहें, तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

[पण्डित का लक्षण]

पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहिएँ -

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥२॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे,
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥३॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥४॥

श्रेष्ठ पुरुषों का करै। दम अर्थात् जिसका मन वशीभूत होय, दान अर्थात् वेदविद्या का नित्य दान करना और अहिंस्र अर्थात् किसी से वैरबुद्धि नहीं—ऐसे ही लक्ष्यवाला पुरुष स्वर्ग—सुख को प्राप्त होता है, अन्य नहीं।'

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥६॥

—ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३।२०,२१,२७,२८,३३,३४ के श्लोक हैं ॥

अर्थः—जिसको आत्मज्ञान, सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा, आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय-सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही **'पण्डित'** कहाता है ॥१॥

सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा, ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही **'पण्डित'** का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कर्म है ॥२॥

जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े-सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान **'पण्डित'** को होना चाहिए ॥३॥

जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् **'पण्डित'** है ॥४॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण, शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो, वही **'पण्डित'** कहाता है ॥५॥

जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल, और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो । जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही **'पण्डित'** संज्ञा को प्राप्त होवे ॥६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे स्त्री-पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं, वहाँ विद्या, धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है ।

[मूढ़ के लक्षण]

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण—

अश्रुतश्च समुन्नद्ध दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥२॥

—ये श्लोक भी भारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ०३३।३५,४१ के हैं ॥

अर्थः—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना, और जो अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग **'मूढ़'** कहते हैं ॥१॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो उच्च आसन पर बैठना चाहै, विना पूछे सभा में बहुत-सा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही **'मूढ़'** और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है ॥२॥

जहाँ ऐसे पुरुष अध्यापक उपदेशक गुरु और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ जाता है।

[विद्यार्थियों के आठ दोष]

अब विद्यार्थियों के दोष—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै अष्ट दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥१॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥२॥

—ये भी विदुरप्रजागर अ० ४०।५,६ के श्लोक हैं ॥

अर्थः—आलस्य=शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह=किसी वस्तु में फँसावट, चपलता, और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना, पढ़ते-पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना, ये **आठ दोष** विद्यार्थियों में होते हैं ॥१॥

जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती। सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहाँ ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहाँ ? क्योंकि विषय-सुखार्थी विद्या को, और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे ॥२॥

[विद्या किसे प्राप्त होती है ?]

ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती। और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ —महा० अनु० ७५।३७

अर्थः— जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय, और जिनका वीर्य्य अधःस्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य्य सच्चा और वे ही विद्वान् होते हैं ॥

नाप्राप्यम्—अप्राप्यम्=प्राप्ति के अयोग्य अर्थात् दुर्लभ।

प्रवृत्तवाक्=धाराप्रवाह

अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के गुण-दोषों का विवेचन द्वितीय तथा तृतीय समुल्लासों के अन्तर्गत हो चुका है। विद्यार्थियों से सम्बन्धित मनुस्मृति का एक श्लोक यहाँ विशेषतः उद्धृत किया जाता है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ —२।११४

विद्या ने ब्राह्मण के पास जाकर कहा—मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर। असूया करनेवाले को मुझे मत दे। मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है।

इसी भाव को किंचित् भिन्न शब्दों में निरुक्त (२।१।४) में इस प्रकार कहा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

[अध्यापक और विद्यार्थियों के कर्त्तव्य]

इसलिए शुभलक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिए। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें, जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त, शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़ाके समग्र वेदादिशास्त्रों में विद्वान् हों। सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़ानेहारों में प्रेम विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाए। इत्यादि **ब्राह्मण वर्णस्थों के काम हैं।**

[क्षत्रिय और वैश्य के कर्म]

क्षत्रियों का कर्म राजधर्म में कहेंगे। **जो वैश्य हों वे** ब्रह्मचर्य्यादि से वेदादिविद्या पढ़, विवाह करके नाना देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना बेचना-खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तर में जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

[शूद्र के कर्म]

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा, और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र ,स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब-कुछ देवें, अथवा मासिक कर देवें।

[चारों वर्णों के पारस्परिक कर्त्तव्य]

चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख, हानि-लाभ में ऐक्यमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन-मन-धन का व्यय करते रहें।

[स्त्री-पुरुष चिरकाल तक दूर-दूर न रहें]

स्त्री और पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिए, क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥ —मनु० ६।१३॥

यही बात गीता में कही है

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ —१८।६७

उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है कि अपात्र को विद्या नहीं देनी चाहिए। अध्येता अथवा जिज्ञासु में अपेक्षित गुणों का होना इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इनके न होने की अवस्था में मनुस्मृति में निर्देश किया है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥

अर्थः—मद्य, भाँग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेली जहाँ-तहाँ व्यर्थ पाखण्डी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, और पराये घर में जाके शयन करना वा वास, ये **छः स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं** और ये पुरुषों के भी हैं ॥

पति और स्त्री का **वियोग दो प्रकार का** होता है—**प्रथम** कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना, और **दूसरा** मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे, तो स्त्री को भी साथ रक्खे। इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिए।

[बहु-विवाह-सम्बन्धी विचार]

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का बहु-विवाह होना **योग्य है, वा** नहीं ?

उत्तर—युगपत् न। अर्थात् एक समय में नहीं।

पानं दुर्जनसंसर्गः—

स्त्री पुरुषों के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में **स० प्र० प्रथम संस्करम** में इतना विशेष लिखा है -

"और पुरुषों के वास्ते भी ऐसे बहुत से **दूषण हैं** —

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता, बहन, दुहिता नाम कन्या इनके साथ भी एकान्त में कभी निवास न करै और अत्यन्त सम्भाषण भी न करै और नेत्र से उनके स्वरूप और उनकी चेष्टा न देखे। जो कुछ उनको कहना वा सुनना होय सो नीचे दृष्टि करके कहै वा सुनै। इससे क्या आया कि जितनी व्यभिचारिणी स्त्री वा वेश्या और जितने वेश्यागामी वा परस्त्रीगामी पुरूष हैं उनसे प्रीति वा सम्भाषण अथवा उनका संग कभी न करै। इस प्रकार के दूषणों से ही पुरुष भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि यह जो इन्द्रियग्राम अर्थात् मन और इन्द्रियाँ हैं वे बड़े प्रबल हैं। जो कोई विद्वान् अथवा जितेन्द्रिय वा योगी हों वे भी इस प्रकार के संगों से भ्रष्ट हो जाते हैं तो साधारण जो गृहस्थ वा मूर्ख अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। इस वास्ते स्त्री वा पुरुष सदा इन संगों से बचे रहें। और जो स्त्रियों को अत्यन्त बन्धन में रखते हैं यह भी बड़ा भ्रष्ट काम है, क्योंकि स्त्रियों को बड़ा दुःख होता है। श्रेष्ठ पुरुषों का तो दर्शन भी नहीं होता और नीच पुरुषों से भ्रष्ट हो जाती हैं। देखना चाहिए कि ईश्वर ने तो सब जीव स्वतन्त्र रचे हैं और उनको मनुष्य लोग बिना अपराध से परतन्त्र अर्थात् बन्धन में रख देते हैं। वे बड़ा पाप करते हैं। सो इस बात को सज्जन लोग कभी न करैं। यह बात मुसलमानों के राज्य में प्रवृत्त भई है, आगे न थी। कुन्ती, गान्धारी और द्रौपद्यादिक स्त्रियाँ राजसभा में जहाँ राजा लोगों की सभा होती थी वार्त्ता सम्भाषण करती थीं और अपने पति की पंखा और जलादिकों से सेवा करती थीं और गार्गी, मैत्रेयी आदि ऋषि लोगों की स्त्रियाँ भी सभा में शास्त्रार्थ करती थीं। यह बात महाभारत और बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखी है। इसको अवश्य करना चाहिए। मुसलमान लोगों का जब राज्य था तब जिस किसी की कन्या वा स्त्री को पकड़ लेते और भ्रष्ट कर देते थे। उसी दिन से श्रेष्ठ आर्यावर्त्त देशवासी लोग स्त्रियों को घर में रखने लगे और स्त्री लोग भी मुख के ऊपर वस्त्र रखने लगीं। सो इस बात को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इस व्यवहार में सिवाय दुःख के सुख कुछ नहीं। जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं वैसे ही पहले भी था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता। सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, इससे इस प्रकार के वंस्त्र धारण करना उचित है।

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होना चाहिए ?

उत्तर—हाँ। जैसे—

> **या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा ।**
> **पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥** —मनु० ६।१७६॥

अर्थः—जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो, और संयोग न हुआ हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य्य पुरुष हों, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए ॥

[पुनर्विवाह में दोष और उससे बचने के उपाय]

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है ?

उत्तर—पहला—स्त्री-पुरुष में प्रेम न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध करले।

स्त्री लोगों को पति की सेवा, और तीर्थ के स्थान में सास, श्वसुर इन तीनों की सेवा उत्तम कर्म है।

पौनर्भवेन भर्त्रा— पौनर्भव का अर्थ है पुनर्भू का पति या पुत्र। पुनर्भू के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है—'अक्षता वा सता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः' (याज्ञ० स्मृति १।६७) अर्थात् स्त्री चाहे अक्षतयोनि हो और चाहे क्षतयोनि (=पति से संभोग कर चुकी) पुनः विवाह संस्कार कराके 'पुनर्भूः' कहलाती है। मनु के प्रस्तुत श्लोक में 'भर्त्रा' पद का प्रयोग होने से 'पौनर्भ' शब्द का अर्थ 'पुनर्भूः' स्त्री का पति बनता है। मनुस्मृति का टीकाकार कुल्लूकभट्ट 'पुनः संस्कारमर्हति' का अर्थ 'पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति' अर्थात् 'पुनर्विवाह नामक संस्कार के योग्य' करता है।

गतप्रत्यागता— भाषा में इस पद का अर्थ होने से रह गया है। पौराणिक टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं —'गतप्रत्यागता स्त्री वह है जिसका विवाह किसी पुरुष से हो चुका है, किन्तु वह उसका परित्याग करके किसी अन्य पुरुष से विवाह कर लेती हैं। फिर उसे भी त्याग पुनः पूर्वपति के पास आ गयी है। यदि उसने दूसरे पति से संभोग नहीं किया है तो उसका पूर्व पति से पुनर्विवाह किया जाएगा।

पुनर्विवाह—युवावस्था में विवाह होने पर किसी स्त्री का अक्षतयोनि और पुरुष का अक्षतवीर्य रहना कठिन ही नहीं, असंभव-सा है। फिर इसी समुल्लास में विवाह के प्रसंग में कहा गया है—"जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन 'संस्कारविधि' पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दस बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विधि को पूरी करके एकान्त सेवन करें। पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें।" इस प्रकार ग्रन्थकार ने वहाँ कन्या के गृह पर ही विवाह संस्कार के तुरन्त बाद गर्भाधान का विधान किया है। ऐसी स्थिति में किसी स्त्री के अक्षतयोनि और पुरुष के अक्षतवीर्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सबसे ग्रन्थकार का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि किसी भी अवस्था में पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए।

ग्रन्थकार का यह भी मन्तव्य है कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।' अर्थापत्ति से इसका अर्थ यह है कि शूद्रों में ऐसे स्त्री-पुरुषों का विवाह हो सकता है। पुनर्विवाह के प्रसंग में सवर्णों और शूद्रों में यह भेदभाव विचारणीय है। समाज में लगभग एक चौथाई संख्या उपर्युक्त शूद्रों की होती है। पुनर्विवाह के भयंकर परिणामों को देखते हुए तो किसी को

दूसरा—जब स्त्री वा पुरुष पति वा स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें, तब प्रथम स्त्री के वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना, और उनके कुटुम्बवालों का उनसे झगड़ा करना।

तीसरा—बहुत-से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रहकर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना।

चौथा—पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना— इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिए।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाए, तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिए पुनर्विवाह होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य्य में स्थित रहना चाहें, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, तो उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा और जो ब्रह्मचर्य्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।

[पुनर्विवाह और नियोग में भेद]

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है ?

उत्तर—पहला—जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है, और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर रहती है।

दूसरा—उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं और विधवा स्त्री के

भी पुर्विवाह की इजाज़त नहीं होनी चाहिए। समाज के इतने बड़े वर्ग को विधवा विवाह की छूट देने का अर्थ करोड़ों लोगों का जीवन संकट में डाल देना होगा। शूद्र भी आर्य लोगों के अन्तर्गत आते हैं— आर्यों की वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत होने से **'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'** के अनुसार जो आर्य नहीं, वे दस्यु हैं, पर शूद्रों को दस्यु नहीं माना जा सकता। तब यदि 'आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है तो वह सभी के लिए अच्छा होना चाहिए। सम्भवतः इन्हीं बातों पर विचार करके ग्रन्थकार ने अपने पूना प्रवचनों में प्रकारान्तर से सभी के लिए विधवा विवाह की छूट देकर इस विषय में द्विज और शूद्र के बीच भेदभाव को निरस्त कर दिया। अपने द्वादश उपदेश में उन्होंने कहा था—

"प्राचीन आर्यलोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे। बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था। विधवा विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विज़ों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में नियोग का प्रचार था। विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है, पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह की आज्ञा दे दी जावे तो स्त्रियों को पुनर्विवाह से क्यों रोका जावे ? प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी सन्तान अनार्य हो गई। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे स्त्रियाँ कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?"

आज देश के सामान्य जन यही जानते और मानते हैं कि महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने विधवा विवाह का प्रचार करके करोड़ों अभागी नारियों को नारकीय जीवन से मुक्ति दिला कर समाज और देश का महान् उपकार किया है।

लड़के वीर्य्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता, किन्तु वे मृत पति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी के घर में रहते हैं।

तीसरा—विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

चौथा—विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता, और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्य्य के पश्चात् छूट जाता है।

पाँचवाँ—विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते, और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

नियोग

प्राणिमात्र में आत्मरक्षा के साथ-साथ अत्मविस्तार की भी स्वाभाविक वृत्ति होती है। यह विस्तार सन्तान के द्वारा होता है। सन्तान शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से निष्पन्न है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' में सन्तान के माध्यम से अपने विस्तार की भावना विद्यमान है। पुत्र के शरीर में जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु उसके शरीर की रचना में पितृशरीर के अंशों का उपयोग होता है। इसी आधार पर पुत्र-पिता में अंशाशिभाव की कल्पना की जाती है और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' सार्थक होता है। इसमें प्रमाण हैं —

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ —मनु० ६।८

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरं। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा
दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः॥
—एतरेय ब्राह्मण३३।१

आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया
अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते॥ —गोपथ पू० १।२

अंगादंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ —निरुक्त ३।१।४

विद्याध्ययन की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा करने के अवसर पर आचार्य अपने अन्तेवासी को यह कहना नहीं भूलता—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** (तै० उप० शिक्षावल्ली अनु०११) अर्थात् अपनी वंश-परम्परा को मत काट देना। विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है। सप्तपदी विवाह संस्कार का अनिवार्य अंग है। उसके बिना विवाह सम्पन्न हुआ नहीं माना जाता। इस विधि के द्वारा दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते समय वर-वधू दोनों मिलकर सन्तानोत्पत्ति के लिए वचनबद्ध होते हैं—**'प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव'**। तदनुसार—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥ —मनु० ६।३३

[विवाह और नियोग के नियमों में भेद]

प्रश्न—विवाह और नियोग के नियम एक से हैं, वा पृथक्-पृथक् ?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है। जितने पूर्व कह आये, और यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान तक उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते, अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है, वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं का नियोग होता है, कुमार-कुमारी का नहीं।

जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं, किन्तु विना ऋतुदान के समय के एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिए नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहे उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाए और जो पुरुष अपने लिए करे, तो भी दूसरा गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाए, परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिए, और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न कर सकती है और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिये, और दो-दो अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है।

[दश सन्तानोत्पत्ति तक की वेद में आज्ञा]

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥

—ऋ० म० १० । सू० ८५ । मं० ४५

अर्थः—हे 'मीढ्व इन्द्र'=वीर्य-सींचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर, और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री ! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर, और ग्यारहवें पति को समझ ॥

इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः । —मनु० ९।९६

वंशपरम्परा को चालू रखने के लिए यह आवश्यक है, परन्तु विवाहोपरान्त कभी-कभी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि चाहते हुए भी वे उसमें सफल नहीं हो पाते। ऐसी असाधारण परिस्थिति में सन्तान प्राप्ति के लिए शास्त्रों ने नियोग का विधान किया है। शास्त्रसम्मत होने के साथ-साथ वह परम्परा द्वारा भी समर्थित एवं प्रतिष्ठित है।

इमा त्वमिन्द्र— इस मन्त्र के भाष्य में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"किसी आपत्कालीन अवस्था के प्राप्त होने पर एक-एक के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिए दसवें पुरुषपर्यन्त नियोग करले तथा पुरुष भी विवाहित स्त्री के मरने पर सन्तान के अभाव में दसवीं पर्यन्त विधवा के साथ नियोग करे। यदि इच्छा न हो तो न करे।"

[नियोग व्यभिचार के समान नहीं ?]

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे विना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे विना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होनेपर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्तविधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप-लज्जा नहीं होती, वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार वा पाप-लज्जा न मानना चाहिए।

प्रश्न—है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष का कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिए। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होते हैं, वे विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं ?

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो, तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग के रोकने में है, क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान्, पूर्ण विद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और मृत-स्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं, तब तक मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को किसी राज्यव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं।

इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को सन्ताप, और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं। इसलिए नियोग करना चाहिए।

[नियोग के नियम]

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

अथर्ववेद ने अपनी शैली में विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति संकेतित करते हुए कहा है—

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत स एवं पतिरेकधा ॥ —५।१७।८

अर्थात् स्त्री के यदि दस अब्राह्मण (सन्तानोत्पादन में असमर्थ) दश भी पहले पति हों तो (उस अवस्था में) यदि ब्रह्मा=प्रजापति (सन्तानोत्पादन में समर्थ पुरुष) उसका हाथ पकड़े अर्थात् विवाह करे तो वही अकेला उसका पति है। पति के लिए सन्तानोत्पत्ति में समर्थ होना आवश्यक है। ब्रह्मा और प्रजापति

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति, और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी, अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने प्रकट करें कि हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें, तो पापी और जाति वा राज के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे। गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त पृथक् रहेंगे।

प्रश्न—नियोग अपने वर्ण में होना चाहिए, वा अन्य वर्णों के साथ भी।

उत्तर—अपने वर्ण में वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ, अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का होना चाहिए, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।

[नियोग की क्या आवश्यकता है ?]

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा।

उत्तर—हम लिख आये हैं कि द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय, और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक पुरुष के विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष विवाह नहीं किया चाहता, वैसे ही विवाहित स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जब विवाह किये पुरुष को कोई कुमारी कन्या, और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिए।

एकार्थक हैं। इस मन्त्र में 'पतयो दश' शब्द विशेषतः द्रष्टव्य है। ये पद ग्रन्थलेखक के किये अर्थ के पोषक हैं।

जो चाहें उनके लिए निषेध नहीं है। अथर्ववेद (६।५।२७-२८) में कहा है —

या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ॥

जो स्त्री पहले पति को प्राप्त करके पुनः उससे भिन्न पति को प्राप्त करती है, पुनः पत्नी वाली पत्नी के साथ वह दूसरा पति एक ही गृहस्थलोक में वास करने वाला हो जाता है।

ग्रन्थकार ने आगे लिखा है—"इस वेद की आज्ञा (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेका दशं कृधि) से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्वल और निर्बुद्ध, अल्पायु होती है।" यहाँ शूद्रों को दस से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की छूट दे दी गई है। क्या उनकी सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि अल्पायु नहीं होगी ?

अथर्ववेद से उद्धृत मन्त्र में 'वित्वा' शब्द 'विद्लृ लाभे' से सिद्ध है, 'विद् ज्ञाने' से नहीं। इसलिए

[नियोग में प्रमाण]

प्रश्न—जैसा विवाह में वेदादिशास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं ?

उत्तर—इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। देखो और सुनो—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥१॥

—ऋ० म० १० । सू० ४० । मं० २

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ॥
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥२॥

—ऋ० म० १० । सू० १८ । मं० ८

अर्थः—हे (अश्विना) स्त्री-पुरुषो ! जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यं न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सधस्थे) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को (आकृणुतें) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री-पुरुष (कुहस्विद्दोषा) कहाँ रात्रि और (कुह वस्तः) कहाँ दिन में वसे थे ? (कुहाभिपित्वम्) कहाँ पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की ? और (कुहोषतुः) किस समय कहाँ वास करते थे ? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयन-स्थान कहाँ है ? तथा कौन वा किस देश के रहनेवाले हो ? ॥१॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-विदेश में स्त्री पुरुष-सङ्ग ही में रहें और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।

वहाँ इसका अर्थ 'पति को प्राप्त करके' बनता है, 'पति को जानकर नहीं।

कुह स्विद्दोषा०— मन्त्रगत 'देवर' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं —**'देवरः कस्माद् द्वितायो वर उच्यते'** । देवर को देवर क्यों कहते हैं ? इसलिए कि वह विधवा का दूसरा वर होता है। सायणाचार्य ने भी ग्रन्थकार के अर्थ की पुष्टि करते हुए निरुक्त के इस वचन को उद्धृत किया है। निरुक्त के प्रमुख टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी 'विधवेव देवरम्' तथा 'मर्यं न योषा' की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के सिद्धान्त की पुष्टि की है—

सायणभाष्य—हे अश्विना, अश्विनौ कुहस्वित् क्वाचित् दोषा रात्रौ भवथ इति शेषः । कुह वस्तोः क्व वा दिवा भवथः । कुह क्व वा अभिपित्वं अभिप्राप्तिं कुरुथः । कुह क्व वा ऊषतुः वसथः । किञ्च युवां वां क्व यजमानः सधस्थे सहस्थाने वेद्याख्ये आकृणुते आकुरुते । परिचारणार्थमात्मानमभिमुखी करोति । तत्र दृष्टान्तौ दर्शयति । शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरमभिमुखी करोति । मर्यं न यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकालेऽभिमुखीं करोति तद्वदित्यर्थः । तथा च यास्कः क्वस्विद्रात्रौ भवथः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः । को वां शयने विधवेव देवरम् । देवर कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते । विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधवनाद्वेति चर्मशिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा । देवरो दीव्यति कर्मा । मर्या मनुष्यो मरणधर्मा । योषा यौते । आकुरुते सहस्थाने (निरुक्त ३।१५) इति ।

दुर्गाचार्य— शयुत्रे शयने किं विधवा इव देवरं यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, सह परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यंतरो भवतीति यत्नेनोपचर्यत न तथा निजो भर्त्ता । तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ । यथा मर्यं मनुष्यं देवरं सैवमृतभर्तृका योषा आकृणुत आभिमुख्येन कुरुते । को

['देवर' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—यदि किसी का छोटा भाई ही न हो, तो विधवा नियोग किसके साथ करे ?

उत्तर—देवर के साथ, परन्तु **'देवर'** शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो, वैसा नहीं । देखो निरुक्त में—**'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'** (निरु० अ० ३ । खं० १५ ॥) **'देवर'** उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है । चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्णवाला हो, जिससे नियोग करे, उसी का नाम **'देवर'** है ।

वाम् एवम् आभिमुख्येन सधस्थे सहस्थाने समाने सहयोगिनावात्मना कृत्वा परिचचार ।

भाषार्थ—हे अश्विनो! तुम दोनों रात्रि में कहाँ होते हो, दिन में कहाँ होते हो और कहाँ प्राप्ति करते हो । तुम दोनों को कौन यजमान वेदी में सेवा करने के लिए सन्मुख होता है ? यहाँ दो दृष्टान्त दिये जाते हैं । जैसे सोने के स्थान में विधवा स्त्री पति के भाई को अभिमुख करती है और जैसे सब मनुष्यों को स्त्रियाँ सम्मुख करती हैं, उसी प्रकार, इत्यादि ।—सायणभाष्य

जैसे कोई विधवा स्त्री सेज पर एकान्त स्थान में यत्नपूर्वक देवर को प्रसन्न करती है, वह दूसरी स्त्री का पति होने से विधवा स्त्री को प्रसन्न करना बहुत कठिन होता है, इसलिए यत्न से प्रसन्न करती है, वैसे अपने पति को नहीं । इसलिए उससे अश्विनीकुमारों की उपमा दी है और मनुष्य देवर को वही विधवा स्त्री सम्मुख करती है, इत्यादि ।—दुर्गाचार्य

'विधवेव देवरम्' यह उपमा नियोगपरक है । वर्णाश्रमधर्म में द्विजों में पुनर्विवाह वर्जित है । वह नियोग धर्म का पालन कर सकती है । इस उपमा का नियोगपरक अर्थ आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा टीका में किया है । ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है । अंग्रेज़ी Widow शब्द विधवा का अपभ्रंश है । परन्तु Widower शब्द को Widow शब्द से er प्रत्यय लगा कर बना नहीं माना जाना चाहिए । यदि Widow के साथ er प्रत्यय लगा होता तो Widower का अर्थ Widow (विधवा) करनेवाला होता । इसलिए Widower शब्द 'विधुर' का अपभ्रंश हो सकता है ।

'गत रात्रि आप कहाँ थे ? कल दिन में कहाँ रहे ? इत्यादि प्रश्नों का विधान शुक्रनीति (१।२६१) में पाया जाता है । वहाँ लिखा है कि राजा प्रति दो ग्रामों में एक पान्थशाला (वर्त्तमान में धर्मशाला या सराय) बनवाए और शाला का व्यवस्थापक प्रत्येक पान्थ (यात्री) से प्रश्न करे— तुम कहाँ से आये, क्यों आये, कहाँ जाना है, तुम्हारी जाति और कुल क्या है, तुम कहाँ के रहने वाले हो ? इत्यादि । 'शत्रुया' शयने, शयनवाची शत्रु से सप्तम्यर्थ में 'त्रा' (या०५।४।५६) ।

'विधवा' (क) विधातृका— विधवा अर्थात् पतिविहीना । (ख) 'वि' पूर्वक 'धूञ्' कम्पने धातु से 'अप्' प्रत्यय और टाप । निराश्रित होने से विधवा सदा कम्पायमान रहती है । (ग) चर्मशिरा आचार्य कहता है कि 'वि' पूर्वक गत्यर्थक 'धावु' धातु से विधवा शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि परिस्थितिवश विधवा चलायमान चित्तवाली रहती है । (घ) अथवा 'धव' शब्द मनुष्य-वाची है । उस स्वकीय मनुष्य के वियोग से वह विधवा कहलाती है । देवर-स्तुत्यर्थक 'दिव्' धातु से 'अर' प्रत्यय (उणादि ३।१३२) । पति का छोटा भाई भावज का आदर करता है, अतः उसे देवर कहा गया । इस 'देवरम्' पद का सम्बन्ध 'विधवा' और 'योषा' दोनों के साथ है, अतः यास्क ने अपने-अपने स्थान् पर 'देवर' के दो निर्वचन करते हुए इसके भिन्न अर्थ ज्ञापित किये हैं । 'विधवा' के, 'योषा' के वाह से यहाँ 'योषा' का अर्थ सुहागिन या अक्षतयोनि स्त्री है,

एवं 'मर्य' शब्द ऐसे पुरुष के लिए विवक्षित है जिसकी विवाहिता स्त्री जीवित हो। 'योषा' के साथ 'देवर' तथा 'मर्यम्' दोनों का सम्बन्ध है।

आज कल देवर शब्द केवल पति के छोटे भाई के लिए रूढ़ हो गया है। इसका कारण कदाचित यह है कि स्त्री के विधवा हो आने पर अधिकतर मृत भाई के छोटे भाई से विवाह सम्बन्ध कर दिया जाता है। मनु ने इसका विधान इस रूप में भी किया है—

यस्य म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पति।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ —६।६६

अर्थात् सगाई करने के बाद (और विवाह से पूर्व) जिसका पति (वस्तुतः उसकी संज्ञा वर है) मर जाए तो उस कन्या को पति का छोटा भाई उसे (विवाह विधान से) प्राप्त कर ले।

इस श्लोक से ग्रन्थकार के "जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाए तो पति का निजी छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है" इस मन्तव्य की भी पुष्टि होती है।

श्रेष्ठोपमाएँ तो संस्कृत साहित्य में भी बहुत अधिक पाई जाती हैं, पर जहाँ छोटे से बड़े को उपमाएँ दी हों, ऐसी हीनोपमाएँ संस्कृत साहित्य में उपयुक्त नहीं होतीं। वेद में उनका प्रयोग बहुत पाया जाता है। जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तब उसे लौकिक व्यवहार और संस्कृत से प्रभावित होने के कारण ऐसी हीनोपमाएँ बहुत खटकती हैं। उसके मन में यह बात जमी होती है कि उपमाएँ सदा उच्च ही होनी चाहिएँ। इसलिए वेदाध्ययन करते समय जब उससे विपरीत हीनोपमाएँ दीख पड़ती हैं तो वे उसे असंगत जान पड़ती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी वस्तु के गुण को किसी दूसरी वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। यह स्पष्टता जहाँ भी हो सके, की जा सकती है— चाहे वह हीनोपमा हो, चाहे श्रेष्ठोपमा। प्रस्तुत मन्त्र पर चिन्तन करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

नियोग का प्रयोजन पूरा हो जाने पर नियुक्त स्त्री-पुरूष के परस्पर संयोग का निषेध करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥ —६।६३

अर्थात् विधवा स्त्री में नियोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर नियुक्त स्त्री तथा नियुक्त पुरुष एक दूसरे के साथ गुरु तथा वधू के समान बर्तें।

उदीर्ष्वनारि— इस वेदमन्त्र के अर्थ में 'इस' (एतम्) शब्द से वह मृत पति अभिप्रेत है जिसको मरे कुछ समय व्यतीत हो चुका है। जीवात्मयुक्त शरीर का नाम पुरुष है। उसी से हमारा सम्बन्ध होता है। शरीर से जीवात्मा के विमुक्त होते ही वह समाप्त हो जाता है। पति के मरने के कुछ काल पश्चात् परिवार-समाज के वृद्ध विवेकी जन (पंचायत) पतिविहीना (विधवा) स्त्री को सान्त्वना देने के साथ-साथ भविष्य के लिए कर्त्तव्य-बोध कराते हुए उसे कहते हैं— "इस मृत पति को पुनर्जीवित करना या इससे सम्बन्ध बनाये रखना तेरे वश में नहीं है। इसलिए अब इसकी आशा छोड़कर अपने भविष्य की चिन्ता कर।"

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ —१८।३।३

अर्थ— (नीयमानाम्) शव-यात्रा में ले जाई जाती हुई, और (मृतेभ्यः) मृतकों से (परि) पृथक् कर (नीयमानाम्) वापस लाई हुई (जीवां युवतिम्) जीवित युवती को (अपश्यम्) मैंने देखा है। (यत्) जोकि पहले पति की मृत्यु के कारण (अन्धेन तमसा) गहरे शोकान्धकार से (प्रावृता आसीत्) घिरी हुई थी। (तत्) इसलिए (एनाम्) इस विधवा को (प्राक्तः) शव-यात्रा में आगे बढ़ने से (अपाचीम्) पीछे की ओर (अनयम्) मैं लाया हूँ।

मन्त्र में प्रसंग 'दिधिषोः पत्युः' (१८।३।२) का है। 'परिणीयमानाम्'=परि (वर्जने)+नीयमानाम्, 'अपपरी वर्जने' (पा० १।४।८७)। 'परिणीयमानाम्' में श्लेषविधना 'नियोग विधि द्वारा पुनर्विवाहित होती हुई' भी हो सकता है। ग्रन्थकार द्वारा पुनर्विवाह अनुमोदित है, किन्तु अक्षतवीर्य पुरुष और अक्षतयोनि स्त्री का। अन्यथा उन्होंने पुनर्विवाह को शूद्रविवाह कहा है।

'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद् वा' (पा०३।३।१३१)—वर्त्तमान के समीप— (भूत अथवा भविष्यत्)-वाले समय का वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग किया जाता है, व्याकरण के इस नियम के अनुसार भूतकाल के वाचक 'इस' शब्द का वर्त्तमान की भाँति प्रयोग हुआ है। इससे मृत पति के शव की विद्यमानता में बोलने या स्त्री से पूछने का भाव व्यक्त नहीं होता। कुछ समय पश्चात् ही विधवा स्त्री की इच्छा जानने के लिए पूछा जाता है कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या किसी रूप में दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है?

सायणाचार्य ने भी बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता द्वारा सन् १८७२ (स्वामी दयानन्द से पूर्व) में प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में इस मन्त्र का यही भाष्य किया है—

हे नारि ! त्वं गतासुं गतप्राणं एतं पतिं उपशेषे उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व समीपादुत्तिष्ठ जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य एहि आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य पाणिं ग्राहवतोः दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतत् जनित्वं जायात्वं अभिसम्भूय आभिमुख्येन प्राप्नुहि।

— प्रपाठक ६, अनुवाक् १, मन्त्र १४

अर्थ— हे नारि ! तू इस मरे हुए पति के पास सोई (लेटी हुई) है। इसके पास से उठ, इस जीवित समूह को देख और पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले, पारिणग्रहण करनेवाले पुरुष के जायात्व (पत्नीत्व) तथा जनित्व (सन्तान उत्पन्न करने) के लिए इसको प्राप्त हो— इसके-साथ संबद्ध हो।

सायणाचार्य ने यहाँ 'दिधिषोः' का अर्थ 'पुनर्विवाहेच्छोः' किया है। मनुस्मृति (३।१७३) में कहा है—

भ्रातुर्मृतस्य-भार्यायां यो ऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूः पतिः॥

अर्थात् नियोग धर्म के अनुसार नियुक्त होकर भी जो मरे हुए भाई की पत्नी से काम के वशीभूत होकर संयोग करता है, वह दिधिषूपति कहाता है।

इसी प्रकार अमरकोश (काण्ड २, मनुष्यवर्ग, श्लोक २३) में लिखा है—

'पुनर्भू दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः अर्थात् पहले एक की स्त्री होकर फिर किसी अन्य की भार्या होती है, उस दो बार ब्याही स्त्री के पति को 'दिधिषू' कहते हैं।

शौनककृत ऋग्विधान में इस मन्त्र का नियोग में विनियोग इस प्रकार किया—

भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ।
देवरोऽन्वारुक्षन्तीम् उदीर्ष्वेतिनिवर्तयेत्॥

अर्थः—हे (नारी) विधवे ! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभिजीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो । और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले **नियुक्त पति** के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा, तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिए नियोग करेगी, तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा । ऐसे निश्चययुक्त (अभि संबभूथ) हो । और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे ॥२॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥३॥

—अथर्व० का० १४। अनु० २। मंत्र १८॥ (१४।२।१८)

अर्थः—हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देनेवाली स्त्री ! तू (इह) इस गृहाश्रम में (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (शिवा) कल्याण करनेहारी, (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म-नियम में चलनेवाली (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्र-विद्यायुक्त, (प्रजावती) उत्तम पुत्र-पौत्रादि से सहित, (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जननेवाली (देवृकामा) देवर की कामना करनेवाली (स्योना) और सुख देनेहारी, पति वा देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निहोत्र को (सपर्य) सेवन किया कर ॥३॥

'तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' ॥ —मनु० ६।६१

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते घृताभ्यक्तोऽथ वाग्यतः ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चनः ॥

—वर्लिन (जर्मनी) तथा मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर द्वारा प्रकाशित

अर्थ— भाई के मर जाने पर उसकी स्त्री को देवर रोने आदि से रोके और 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्र को बोलकर उठाये और ऋतुकाल आने पर उसमें एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कदापि नहीं ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र, अध्याय ४, कण्डिका २, सूत्र १८ में कहा है—

तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमिति ।

इसपर नारायणीवृत्ति—

अथ पत्नीमुत्थापयेत् । कः ? देवरः परस्थानीयः स पतिस्थानीय इत्युच्यते । अनेन ज्ञायते पतिकर्तृकं कर्म (गर्भाधानं) पुंसवनादि देवरः कुर्यादिति ।

— सरस्वती यन्त्रालय कलकत्ता से श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित, १८६३ ई०

नियोग कर्म में प्रवृत्त होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है । इस (उदीर्ष्व०) मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो, नहीं तो ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थिर होकर स्त्रियों और कन्याओं को पढ़ाया कर ।" कुछ ऐसा ही संकेत पराशरस्मृति के इस श्लोक में किया गया है—

मृते भर्त्तरी या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥४।३१

अर्थात् पति के मरने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रहती है, वह मरने पर ब्रह्मचारिणी की भाँति स्वर्गसुख को प्राप्त करती है।

अदेवृघ्नि— सामान्य दृष्टि से स्वर शास्त्रानुसार मन्त्रस्थ 'अदेवृघ्नी अपतिघ्नी' पद प्रथमान्त हैं। पदकार ने भी इन्हें प्रथमान्त ही दर्शाया है। ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यहाँ के समान सम्बोधनान्त मानकर ही व्याख्यान किया है। यहाँ दोनों पदों के समान कोटिवाले होने से अर्थात् समानाधिकरण होने पर भी पूर्व पद के सामान्य वचन न होने से 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत' इस सामान्य नियम से 'अदेवृघ्नि' के अविद्यमानवत् होने पर 'अपतिघ्नि' में भी आमन्त्रिताद्युदात्तत्व सम्भव है, अतः ग्रन्थकार का इन्हें आमन्त्रित पद मानना भी स्वर शास्त्रानुकूल है, ऐसा जानना चाहिए।

इस मन्त्र में आये 'देवृकामा' का अर्थ 'देवर की कामना करनेवाली' है। कोई-कोई यहाँ 'देवृकामा' के स्थान पर 'देवकामा' पाठ की कल्पना करते हैं, परन्तु वैदिक मन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित संस्करण में ही नहीं, सनातनधर्म यन्त्रालय, ओंकार यन्त्रालय प्रयाग तथा जर्मनी में वेबर द्वारा प्रकाशित संस्करणों में सर्वत्र 'देवृकामा' पाठ ही मिलता है। फिर, दाम्पत्य या गृहस्थ के प्रसंग में देवों की कामना करने की बात सोचना सर्वथा असंगत है।

नियोग के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक अन्य मन्त्र की भी साक्षी प्रस्तुत की है। वह मन्त्र है—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

—अथर्व० का०१८, अनु०-३ व० ३ मं०१

अर्थ— जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो वह पति के मरने पर दूसरे पति को प्राप्त हो। इस मन्त्र में परमेश्वर स्त्री और पुरुष को आज्ञा देता है कि हे पुरुष ! जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उससे सन्तानोत्पत्ति के लिए धर्म से वीर्य दान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे। तथा स्त्री के लिए भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाए और सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे। इसलिए मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी न करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो।

धर्माधर्म का निश्चय करने के लिए श्रुति (वेद) का प्रामाण्य सर्वोपरि हैं—

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु० २।१३)। वेद के पश्चात् मनुस्मृति का प्रामाण्य है। वहाँ लिखा है—

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातो पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥
धनं यो बिभ्रयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ —मनु० ६॥१२०, १४५,१४६, १६२

यदि छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री में पुत्र पैदा करे तो समान विभाग होगा, धर्म की यही व्यवस्था है। नियोग करनेवाली में पैदा हुआ पुत्र औरस पुत्र के समान दायभागी है, वह खेतवाले का ही बीज गिना जाएगा और धर्म की सन्तान माना जाएगा। यदि कोई मनुष्य मरे हुए के धन और स्त्री को धारण करे तो भाई के लिए सन्तान पैदा करके उस भाई का धन उस सन्तान को दे दे। यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक ही जायदाद के उत्तराधिकारी हो जाएँ तो जो जिसके पिता का धन है, वही उसे ग्रहण करे, दूसरा नहीं।

अन्यत्र (मनु ६।१६१) लिखा है—

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तस्य गृह्णीत नेतरः ॥

अर्थात् एक स्त्री से दो पुरुषों द्वारा उत्पन्न बालकों में यदि धन-विषयक विवाद हो तो जिसका जो पैतृक धन है, उसे वही ले, दूसरा नहीं। इससे नियोगज सन्तान का धनाधिकार स्पष्टतः विहित है।

नियुक्तावप्यनापदि— ग्रन्थकार ने 'नियुक्तौ' और 'अनापदि' को स्वतन्त्र पद मानकर मनु के श्लोक के दो अर्थ दर्शाये है— (१) आपत्काल=सन्तान की इच्छा न होने पर अर्थात् आवश्यकता न होने पर नियोग करने से पतित हो जाते हैं। (२) नियुक्त होने पर=सन्तान हो जाने अर्थात् आवश्यकता पूरी हो जाने पर भी परस्पर समागम करते हैं, तो भी पतित हो जाते हैं, क्योंकि नियोग का प्रयोजन केवल सन्तान प्राप्ति है। प्रथम पक्ष में सन्तान की इच्छा न होने से नियोग की आवश्यकता नहीं। द्वितीय पक्ष में सन्तान हो जाने से पुनः समागम की आवश्यकता नहीं रह जाती।

नियोग का विधान करते हुए महाभारत में लिखा है —

उत्तमाद्देवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि ॥३४॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥३५॥
—महा० आदि० अ० १२०

अर्थात् आपत्तिकाल में लोग उत्तम देवर से पुत्र की इच्छा करते हैं। हे कुन्ती! स्वायम्भुव मनु का कथन है कि अपने वीर्य से पैदा हुए पुत्र से भी अधिक श्रेष्ठ फलदायक पुत्र को मनुष्य नियोगविधि से प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत ऋग्वेद ७।४।७ में 'अन्यजातम्' तथा ७।४।८ में 'अन्योदर्यः' अर्थात् अन्य के वीर्य से उत्पन्न तथा अन्य क्षेत्र में उत्पन्न सन्तान के सम्बन्ध में कहा है कि 'न मनसा उग्रभाय मन्तवै' उसे अपनाने की बात मन से भी नहीं सोचनी चाहिए। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

कौन पुत्र मानने योग्य है, इस विषय में अगले मन्त्र में कहा है—

न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाड् तु नव्यः ॥ —७।४।८

इसपर ग्रन्थकार का भाष्य—हे मनुष्यो! जो (अरणः)रमण न करता हुआ (सुशेवः) सुन्दर मुख से युक्त (अन्योदर्य्यः) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (मनसा) अन्तःकरण से (ग्रभाय) ग्रहण के

लिए (नि हि) नहीं (मन्तवै) मानने योग्य है। (चित् उ पुनः इत्) और फिर ही वह (औकः) घर को नहीं (एति) प्राप्त होता । (अध) इसके अनन्तर जो (नव्यः) नवीन (अभीषाड्) अच्छी सहनशील (वाजी) विज्ञानवाला (नः) हमको (आएतु) प्राप्त हो ।

भावार्थ— हे मनुष्यो! अन्य गोत्र में उत्पन्न हुए बालक को पुत्र करने के लिए ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह घर आदि का दायभागी नहीं हो सकता किन्तु जो अपने शरीर से उत्पन्न वा अपने गोत्र से लिया हुआ हो वही पुत्र वा पुत्र का प्रतिनिधि होवे ।

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्य जातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥ —७।४।७

इसपर यास्काचार्य का भाष्य—(अरणस्य रेक्णः परिषद्यं हि) बेगाने की सन्तान त्यक्तव्य ही है अर्थात् दूसरे की सन्तान को अपनी नहीं समझना चाहिए । (नित्यस्य रायः पतयः स्याम) इसलिए हम निश्चित स्थिर सन्तान के स्वामी हों । (अग्ने अन्यजातं शेषः न अस्ति) हे परमेश्वर ! दूसरे से उत्पन्न सन्तान हमारी नहीं होगी । अतः हे अग्ने ! (पथः मा विदुक्षः) इस धर्मपथ से हमें च्युत मत करो, हमें औरस पुत्र प्रदान करो ।— निरुक्त ३।१।३

६।४।८ पर निरुक्त भाष्य— (अरणः न हि ग्रभाय) बेगाना पुत्र कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए । (सुशेवः उ अन्योदर्यः मनसा मन्तवै) और अत्यन्त सुखकारी होने पर भी दूसरे की स्त्री के पेट से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी नहीं सोचना चाहिए कि यह मेरा पुत्र है। (अध पुनः इत् ओकः चित् एति) क्योंकि ऐसा पुत्र फिर भी अपने उसी स्थान को चला जाता है जहाँ से कि होता है ।

इसपर दुर्गाचार्य— अचेतनस्य प्रमत्तस्य परितोषमात्रं भवति—'ममेदमपत्यमिति' ।

अन्योदर्यः=अन्येनोदीरितात्प्रेतसो जातः, अन्यजातोदरसम्भूतो स 'मनसापि न मन्तव्यो ममायमिति' किं पुनः पुत्रत्वेन परिकल्पयितव्य इति ।

जयदेव— (अन्योदर्यः) दूसरे के पेट से उत्पन्न सन्तान (मनसा उ ग्रभाय मन्तवै न हि) मन से भी अपनाने की नहीं सोचनी चाहिए । परक्षेत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र चाहे कितना ही सुन्दर हो उसे चित्त से कभी अपना न मानना चाहिए ।

उपर्युक्त मन्त्रों से नियोग के द्वारा सन्तान करने का निषेध किया गया प्रतीत होता है, परन्तु निरुक्त में इन मन्त्रों का विनियोग दायभाग के प्रकरण में किया गया है । ग्रन्थकार के भाष्य में भी 'क्योंकि वह घर आदि का दायभागी नहीं हो सकता' शब्दों से यही संकेत मिलता है । यास्क ने शंका व्यक्त की है कि ऐसा पुत्र 'अध पुनः इत् ओकः चित् एति' फिर अपने उसी स्थान को चला जाता है जहाँ से वह आया होता है । इस प्रकार यहाँ दूसरे कुल में उत्पन्न बालक के गोद लिए जाने के सम्बन्ध में कथन किया गया है। गोद लेने की अवस्था में पहले से उत्पन्न (अन्यजातम्/ अन्योदर्यः) बालक को कालान्तर में अपनाया जाता है, जबकि नियोग की अवस्था में संकल्पपूर्वक अपने लिए ही उस बालक को उत्पन्न किया जाता है । दोनों अवस्थाओं में स्पष्ट भेद है ।

पति के मर जाने पर उसके सती होने की प्रथा का अनुमोदन करनेवाले प्रायः ऋग्वेद के इस मन्त्र को अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ —ऋ० १०।१८।७

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाए, तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है ॥

[नियोग की सीमा]

प्रश्न—एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं ? और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है ?

उत्तर— सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

—ऋ० मं० १०। सू० ८५। मं० ४०॥

अर्थः— हे स्त्रि ! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहला विवाहित (पतिः) पति तुझको (विविदे) प्राप्त होता है, उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादिगुणयुक्त होने से **'सोम'**, जो दूसरा नियोग से (विविदे) प्राप्त होता है वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से सम्भोग करने से **'गन्धर्व'**, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से 'अग्नि' संज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं, वे (मनुष्यजाः) **'मनुष्य'** नाम से कहाते हैं ॥

जैसा **(इमां त्वमिन्द्र०)** इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है ।

प्रश्न—'एकादश' शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों न गिनें ?

उत्तर—जो ऐसा अर्थ करोगे, तो **'विधवेव देवरम्'**; **'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'**; **'अदेवृघ्नि'** और **'गन्धर्वो विविद उत्तरः'** इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा, क्योंकि तुम्हारे अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता तृतीय, चतुर्थ का तो क्या कहना !

भाषार्थ— (इमाः) ये (अविधवाः) पति से युक्त (नारी) स्त्रियाँ (सुपत्नीः) पतिव्रता बनकर (आञ्जनेन सर्पिषा) घृतादि सुगन्धित पदार्थों से सुशोभित होकर (सं विशन्तु) स्वगृह में प्रवेश करें । वे (अनश्रवः) अश्रुरहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (सुरत्नाः) सुन्दर आभूषणादि तथा रम्य गुणोंवाली (जनयः) सन्तानों को जन्म देने में समर्थ स्त्रियाँ (अग्रे) आदरपूर्वक पहले (योनिम्)घर में (आ रोहन्तु) प्रवेश करें ।

इस मन्त्र में किसी ने जाने-अनजाने 'अग्रे' को 'अग्ने' बनाकर विधवा के पति के शव के साथ जल मरने की प्रथा को चालू किया और 'सती' नाम से उसे महिमामण्डित किया, परन्तु मन्त्रगत 'अविधवा नारीः' शब्दों से सर्वथा विस्पष्ट है कि यहाँ जो कुछ कहा गया है वह 'सधवा' (पति से युक्त) नारियों के विषय में कहा गया है । 'अग्ने' पाठ मानने पर मन्त्रगत अन्य सभी शब्द निरर्थक एवं असंगत हो जाते हैं । मैक्समूलर ने इसपर अपनी टिप्पणी में कहा है—

This is perhaps the most flagrant instance of what can be done by an unscrupulous priesthood. Here have the lives of thousands been sacrificed and financial rebellion been threatened on the authority of a passage which was mangled, mistranslated and misapplied.

अर्थात् विवेकहीन धर्म के ठेकेदार क्या कुछ कर सकते हैं, शायद यह उसका अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण है । एक सन्दर्भ को तोड़-मरोड़ कर उसके अशुद्ध अर्थ करके और उसका मिथ्या विनियोग करके हज़ारों की हत्या करदी गयी ।

अथर्ववेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र में शवयात्रा में जाती हुई विधवा को मृतक के पास से हटाकर वापस लाने

[नियोग आपद्धर्म है]

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥१॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥२॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव० ॥३॥ —मनु० ६।५६,५८,१५६

इत्यादि मनुजी ने लिखा है कि 'सपिण्ड' अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए, परन्तु जो वह मृतस्त्रीक पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो, तब नियोग होवे ॥१॥

जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में, तथा बड़े भाई की स्त्री से छोटे का, और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जानेपर भी पुनः वे नियुक्त —आपस में समागम करें, तो पतित हो जाएँ, अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है। इसके पश्चात् समागम न करें ॥२॥

का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। वसिष्ठस्मृति में तो यहाँ तक लिखा है—

उर्ध्वं षड्भ्यो मासेभ्यः स्नात्वा श्राद्धं च पत्ये दत्त्वा विद्याकर्म गुरुयोनि-सम्बन्धान् संनिपात्य पिता भ्राता वा नियोगं कारयेत्। —वसिष्ठस्मृति, अध्याय १७

अर्थात् (विधवा होने के) छहमास पश्चात् स्नान करके पति का श्राद्ध करके, विद्या=सम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी, योनिसम्बन्धी गुरुजनों को एकत्र कर पिता अथवा भ्राता नियोग की व्यवस्था करें। पराशरस्मृति में पति के मरने पर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने अथवा विवाह करने का विधान किया है, किन्तु सती होने का नहीं।

इन सब प्रमाणों में पति के मरने पर विधवा स्त्री के जीवित रहकर सामान्य जीवन व्यतीत करने तथा आवश्यकतानुसार नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करने का निर्देश है। ऐसी अवस्था में विधवा स्त्री के मृतपति के शव के साथ जलकर सती हो जाना सर्वथा अशास्त्रीय एवं अमानुषिक कृत्य है।

अपने पूना प्रवचन १२ में ग्रन्थकार ने बताया था—"पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गयी थी। सती होने की आज्ञा वेद में नहीं है, किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली।" ग्रन्थकार के अनुसार महाभारत काल से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त का पतन आरम्भ हो गया था।

सोमः प्रथमो—कतिपय पौराणिक विद्वान् इस मन्त्र का नियोग या विधवा-विवाहपरक अर्थ करना ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि ये मनुष्य नहीं, देवता हैं। पहले ये तीनों कन्या को भोगते हैं, पश्चात् उसका विवाह मनुष्य के साथ होता है। उनका यहाँ तक कहना है कि 'अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते' अर्थात् सोमादि द्वारा न भोगी हुई कन्या विवाह के लिए उत्तम नहीं होती। नियोग तो मानवी का मानव से होता है, देव से नहीं।

वास्तव में सोम आदि मनुष्यों की संज्ञाएँ हैं। अथर्ववेद (१४।१।६) में कहा है—

और जो दोनों के लिए नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से **दश सन्तान** तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री-पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, तो कामी और निन्दित होते हैं, अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् काम-क्रीड़ा के लिए नहीं।

[पति के जीवित रहते भी नियोग हो सकता है]

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है, वा जीते पति के भी ?

उत्तर—जीते भी होता है।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ॥

—ऋ० मं० १०॥ सू० १०। मं० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि—हे (सुभगे) सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री ! तू (मत्) मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे, परन्तु उस विवाहित महाशय [पति] की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि—'हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए' ॥

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्या यत्पत्ये शंसन्ती मनसा सवितादादात् ॥

अर्थ— जब सोम अर्थात् वीर्यवान् पुरुष वधू की कामना से युक्त हो तो स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे का वरण करनेवाले हों। यहाँ स्पष्ट ही पुरुष सोम संज्ञक है। मन्त्रगत 'मनुष्यजाः' शब्द बहुवचनान्त है। यदि पहले तीनों—सोम, गन्धर्व और अग्नि देव होते और अन्तिम चौथा मनुष्य होता तो उसे 'मनुष्यजः' कहा गया होता, 'मनुष्यजाः' नहीं। 'मनुष्यजाः' के बहुवचनान्त होने से स्पष्ट है कि यह शब्द सोमादि चारों का परामर्शक है। इस प्रकार चारों पति मनुष्य हैं। यदि वादीतोषन्याय से सोमादि को देवसंज्ञक ही मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि देवों में नियोग और पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है। फिर, मनुष्य इसका अपवाद क्यों होने लगे ?

अन्यमिच्छस्व—यह मन्त्रांश ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम सूक्त (=यम-यमी सूक्त) से उद्धृत है। यह प्रकरण थोड़े से परिवर्तन के साथ अथर्ववेद (१८।१।१-१६) में भी पाया जाता है। इस सूक्त के चार मन्त्र यास्काचार्य ने निरुक्त में दिये हैं। ग्रन्थकार ने इस सूक्त का नियोगपरक विनियोग किया है। यम-यमी सूक्त के नियोग पक्ष में यह विदित होता है कि यमी का पति जीवित है, परन्तु उससे कोई सन्तान नहीं है। प्रथम मन्त्र में यमी कह रही है— 'पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः' अर्थात् पितृवंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता (पति) पृथिवीस्थानीय मुझ स्त्री में प्रकृष्ट सन्तान को धारण करे। सातवें मन्त्र में यमी कहती है—

'वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा' हम पति-पत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर प्रयत्न करें। सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पति अपनी पत्नी यमी को निर्देश करता है— 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'—मुझसे भिन्न दूसरे पति का वरण करके नियोग द्वारा उससे सन्तान लाभ कर। गर्भधारण के प्रयोजन से सहवास

[नियोग में इतिहास की साक्षी]

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया। और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु, और दासी में विदुर की उत्पत्ति की इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

की कामना करती हुई यमी नियुक्त पति से कहती है—

"स्वयंवर— नियोग आप्त सिद्धान्त है, तदनुसार ही मैंने सन्तानोत्पत्ति के निमित्त तेरा वरण किया है। इसलिए 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम' (मन्त्र ७) जैसे मैं अपने पति के लिए जायाभाव से अपने शरीर को फैलाती हूँ वैसे ही अब तेरे लिए अपने शरीर को फैलाऊँ—अर्पित कर दूँ।

नियोग में इतिहास की साक्षी

महाभारत के अनुसार चित्रांगद अविवाहित मर गया था। विचित्रवीर्य का विवाह अम्बिका और अम्बालिका से हुआ था (आदिपर्व १०२।६५) विचित्रवीर्य की ही स्त्रियों से नियोग हुआ था, अतः 'उन अपने भाइयों की स्त्रियों से' के स्थान पर 'अपने भाई विचित्रवीर्य की स्त्रियों से' होना चाहिए। महाभारत अनु० अ० ८।२२ में लिखा है—

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम् ।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥

आदिपर्व अध्याय १०६ के अनुसार सत्यवतीसुत कृष्णद्वैपायन व्यास ने विचित्रवीर्य की पत्नियों में नियोग द्वारा पाण्डु और धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया था। मातृपक्ष से व्यास विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ भ्राता थे और वर्ण के अनुसार ब्राह्मण होने से उत्तम वर्णस्थ थे पुनरपि अध्याय १०६, श्लोक २ में सत्यवती ने अपनी पुत्रवधू से कहा—"कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।" यहाँ व्यास के ज्येष्ठ होने पर भी उनके लिए देवर शब्द का प्रयोग किये जाने से 'देवर' शब्द के द्वितीय वर का वाचक होने की पुष्टि होती है।

महाभारत काल में कौरववंश में तो नियोगज सन्तानों की भरमार है—

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ —महा० आदि १०२।६५
ततो अम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ॥४॥
सम्बभूव तया सार्द्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ॥५॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।
अम्बालिकामथाभ्यगादृषिं दृष्ट्वा स चापि तम् ॥१५॥ —महा० आदि १०६

अर्थ— भीष्म ने विधिपूर्वक अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए अम्बिका व अम्बालिका दो पत्नियाँ दी। तत्पश्चात् व्यासमुनि ने माता को प्रसन्न करने की इच्छा से विधिवत् नियुक्त होकर पहले अम्बिका से और फिर अम्बालिका से समागम किया।

पुनः अध्याय १२३ में लिखा है—

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ॥५॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ॥६॥
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमवाजुहाव सा ॥११॥
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥१४॥
एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥३४॥

अर्थात् कुन्ती ने धर्म, वायु तथा इन्द्र नामक पुरुषों से नियोग करके क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को जन्म दिया। और यह सब उसने अपने विवाहित पति पाण्डु की अनुमति से किया। यह 'तथोक्ता भर्त्रा' शब्दों से स्पष्ट है।

पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री ने भी नियोग द्वारा ही नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया था। अध्याय १२४ में लिखा है —

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ॥
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥१६॥

हनुमान् जैसा वीर पुरुष भी नियोगज सन्तान था। जाम्बवान् हनुमान् से कहते हैं—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥ —वाल्मीकि रामायण, कि० का० सर्ग ६६

हे हनुमान् ! भयंकर बलवाला तू केसरी का क्षेत्रज पुत्र है और पवन का औरस पुत्र है। तेज में तू उसके समान है।

इस प्रकार हनुमान् केसरी और उसकी पत्नी अंजना का नियोगज पुत्र था।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' के अनुसार केसरी की इच्छा से उसकी पत्नी अंजना में पवन द्वारा उत्पन्न था। इसलिए हनुमान् को पवनसुत कहा जाता है। बल-पराक्रम में पवन के समान होने से उसका यह नाम अधिक प्रसिद्ध है। महाभारत आदिपर्व, अध्याय १०४ में बताया है —

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥४॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
उत्पादितान्यापत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥५॥
पाणिग्राहस्य तनयं इति वेदेषु निश्चितम् ।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणास्ता समभ्ययुः ॥६॥

परशुराम ने २१ बार पृथिवी को क्षत्रियरहित किया। तब वेदों के पारगामी विद्वान् ब्राह्मणों ने नियोग करके सन्तान उत्पन्न की। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की स्त्रियों में उत्पन्न किये हुए से सब क्षत्रिय हुए, क्योंकि वेद में कहा है कि जिसका क्षेत्र हो, उसी का पुत्र माना जाता है।

यहाँ छठे श्लोक में 'पाणिग्राहस्य तनयं इति वेदेषु निश्चितम्' कहा है, अर्थात् जिससे पाणिग्रहण =विवाह हुआ हो, उसी का पुत्र माना जाता है। 'उदीर्ष्व नारी' इत्यादि मन्त्र में 'हस्तग्राभस्य' पाठ है। हस्त

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥१॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥२॥ —मनु० ९।७६,८१

विवाहित स्त्री, जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छः, और धनादि-कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले। जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पति छूट जावे ॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिए भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहे), सन्तान होकर मर जाएँ तो दशवें, जब-जब हों तब-तब कन्या ही होवें पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलनेवाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥२॥

और पाणि पर्यावाची हैं इससे स्पष्ट है कि 'इति वेदेषु निश्चितम्' कहकर भीष्मजी ने 'उदीर्ष्व नारीः' इस वेद मन्त्र का प्रमाणरूप में संकेत किया है।

अन्यत्र महाभारत में नियोगज सन्तानों की उत्पत्ति का एकत्र उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्च महाबलः ॥
धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥
पाण्डोश्च जज्ञिरे पञ्चपुत्राः देवसमा पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥
धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद् धनञ्जयः श्रीमान् सर्वशास्त्रभृतां वरः ॥
जज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥

—आदिपर्व अध्याय ६,११३-११७

अर्थात् विचित्रवीर्य के क्षेत्र (पत्नी) में द्वैपायन (व्यास) से राजा धृतराष्ट्र तथा महाबली पाण्डु उत्पन्न हुए। धर्म और अर्थ में कुशल बुद्धिमान् मेधावी, दोषरहित विदुर भी द्वैपायन से शूद्रयोनि में उत्पन्न हुए। पाण्डु की दो स्त्रियों में पृथक् देवतुल्य पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उन सबमें गुणों के कारण युधिष्ठिर सर्वश्रेष्ठ था। धर्म से युधिष्ठिर, मारुत से वृकोदर (भीम), इन्द्र से सब योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीमान् धनञ्जय (अर्जुन) उत्पन्न हुए। और अश्वियों (अश्विनीकुमारों) से सुन्दर जोड़े नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए जो बड़े भाईयों की सेवा में लगे रहते थे।

वन्ध्याष्टमे —धर्मसिन्धु में इसे इन शब्दों में लिखा है—

अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत् ।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥ —पृष्ठ २२०

वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो, तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दायभागी सन्तान कर लेवे।

इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करे। जैसा **'औरस'** अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही **'क्षेत्रज'** अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृत पिता के दायभागी होते हैं।

[रज-वीर्य को अमूल्य समझें]

अब इसपर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिए कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को पर-स्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में खोते हैं, वे महामूर्ख होते हैं, क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र बीज नहीं बोते। जबकि साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर-रूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है, क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता। और—

'आत्मा वै जायते पुत्रः' ॥ यह ब्राह्मण-ग्रन्थों का वचन है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥

—यह सामवेद ब्राह्मण का वचन है।

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिए तू मेरा आत्मा है। मुझसे पूर्व मत मरे, किन्तु सौ वर्ष तक जी।

जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं, उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्ट बीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना महापाप का काम है।

स्मृतिचन्द्रिका में लिखा है—'अप्रियवादिनीं सहवासतोऽपि त्यजेत्' (व्यवहार, पृ०५८०) अर्थात् अप्रियवादिनी के साथ सहवास भी न करे।

आत्मा वै जायते— इसका जो पता शतपथब्राह्मण का दिया है, उस स्थल में यह पाठ नहीं है। वहाँ केवल अगले 'अंगादंगात्' इत्यादि उद्धृत प्रमाण का उत्तरार्द्ध पठित है। शतपथ० १४।६।४।२६ में 'आत्मा वै पुत्रनामासि' मिलता है। सत्यार्थप्रकाश का आधारभूत माने जानेवाले द्वितीय संस्करण में यही पाठ था जो वर्तमान में प्रचलित है। तृतीय संस्करण में उक्त प्रमाण के तीसरे चरण का 'आत्मासि पुत्र मा मृथाः' हटाकर उसकी जगह 'आत्मा वै नामासि' कर दिया गया। इसके अनन्तर पंचम संस्करण में यह पाठ भूल से निकाल दिया गया। तबसे सभी संस्करणों में यही पाठ छपता चला आ रहा है जो द्वितीय संस्कारण के अनुसार है।

अङ्गादङ्गात्— ग्रन्थकार ने इसे 'सामवेद का वचन' बताया है परन्तु सामवेद में यह वचन उपलब्ध नहीं होता। निरुक्त ३।४ में भी इसे अन्यन्त्र से उद्धृत किया गया है। यह वर्तमान पाठ निरुक्त से अतिरिक्त शतपथ में भी मिलता है। उसका पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध यथाक्रम शतपथ में १४।६।४।८ पर तथा १४।६।४।२६ पर उपलब्ध है। वहाँ की आनुपूर्वी से स्पष्ट होता है कि उन स्थलों में भी ये सन्दर्भ कहीं और से उद्धृत किये गये हैं। निरुक्त में जहाँ इसे उद्धृत किया गया है वहाँ इसका निर्देश 'ऋक्' पद से किया है। मीमांसा के अनुसार वेद की छन्दोबद्ध रचना 'ऋक्' कही जाती है। उसमें अक्षर और पद नियत रहते हैं।

[विवाह आवश्यक कृत्य है]

प्रश्न—विवाह क्यों करना ? क्योंकि इससे स्त्री-पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना और दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए जिसके साथ जब तक जिसकी प्रीति हो, तब तक वे मिले रहे, जब प्रीति छूट जाए, तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे, तो सब गृहाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ। कोई किसी की सेवा भी न करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जाएँ। कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे, और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जाएँ। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहे— इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष रहेगा, तब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाए, तो फिर क्या करें ?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषय में दे चुके हैं और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए, तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दें, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें।

जो 'ऋक्' गाने में प्रयुक्त होती हैं, वे 'साम' कहाती हैं। सामवेद में इसी प्रकार की ऋक् हैं। उपर्युक्त प्रमाण सामवेद में उपलब्ध नहीं है, पर सामवेद के एक ब्राह्मण में उपलब्ध होता है जो 'साममन्त्र ब्राह्मण' अथवा 'मन्त्रब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त प्रमाण को ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में भी उद्धृत किया है। वहाँ भी यह द्वितीय संस्करण के अनुसार है। 'साममन्त्रब्राह्मण' सामवेद का होने से यहाँ 'यह सामवेद का वचन है' ऐसा लिखने में कोई असामंजस्य नहीं है।

'जहाँ तक हो ....किया करें' का मूल यह श्लोक है—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ —मनु० ७।९९

'पतितोऽपि' इत्यादि— पाराशरी स्मृति के दो पाठ हैं —लघु और वृद्ध (बृहत्) उपर्युक्त श्लोकों में से पाराशरी लघु पाठ ८।३३ में इस प्रकार उपलब्ध है—

दुःशीलोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रियः ।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥

शब्द भेद होने पर भाव एक ही है। दूसरा श्लोक अलब्धमूल है। तृतीय श्लोक पाराशरी लघुपाठ ४।३५ में है। इन श्लोकों का अर्थ छूट गया है, जो इस प्रकार है—

पतितोऽपि—पतित भी द्विज (ब्राह्मण) श्रेष्ठ है, जितेन्द्रिय शूद्र नहीं। जैसे—दूध न देनेवाली अथवा मरखनी गाय पूज्य है, दूध देनेवाली और अच्छे स्वभाववाली गधी नहीं।

[गृहस्थ के कुछ अन्य कर्त्तव्य]

जहाँ तक हो वहाँ तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें। सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक, प्रयत्न से तन-मन-धन से सर्वदा परमार्थ किया करें। अपने माता-पिता, सासु-श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अड़ोसी-पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखके, और जो दुष्ट-अधर्मी हों उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न करें। जंहाँ तक बने वहाँ तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दे और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें और ऐसे-ऐसे श्लोकों को न मानें। जैसे—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः ।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी ॥१॥
अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥२॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥३॥

—ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं[1]॥

अश्वालम्भं — अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, मांसयुक्त पितृश्राद्ध तथा देवर से सन्तोनोत्पत्ति—ये पाँच कलियुक्त में निषिद्ध —त्याज्य हैं।

नष्टे मृते — पति के नष्ट (लापता) होने, मर जाने, प्रव्रजित होने (संन्यास लेने) नपुंसक होने तथा पतित (भ्रष्ट) होने पर—इन पाँच आपत्तियों में स्त्री के लिए दूसरे पति का विधान है।

पतितोऽपि— इसी प्रकार के अन्य वचन संस्कृत तथा भाषाग्रन्थों में पाये जाते हैं। ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख पूना प्रवचनों के अन्तर्गत अपने द्वादश उपदेश में इस प्रकार किया था—

"जब (ब्राह्मणों ने) देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते है, तब इन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्त्तिपूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जाएँ, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गये—

---

१. पाराशरी स्मृति के लघु और वृद्ध (बृहत्) दो पाठ हैं। उपर्युक्त श्लोकों में से प्रथम श्लोक पाराशरी लघुपाठ ८।३३ में इस प्रकार मिलता है—**'दुःशीलोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥'** शब्दभेद होनेपर भी भाव एक ही है। दूसरा श्लोक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तृतीय श्लोक पाराशरी लघुपाठ ४।३५ में है। स्वामी वेदानन्दजी ने अपने संस्करण में प्रथम दो श्लोकों का पता ८।३३; ४।३२ दिया है, वह अशुद्ध है। इसी प्रकार तृतीय श्लोक का पता ब्रह्मवैवर्त पु० १।४।११२, ११३ दिया है, वह भी अशुद्ध है। ये सभी सन्दर्भ अन्वेष्टव्य हैं।

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच माने, तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा ? क्या जैसे दूध देनेवाली वा न देनेवाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती ? और यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्यजाति, गाय और गधही भिन्न जाति हैं। कथञ्चित् पशुजाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से ये श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते ॥१॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ —मनु० ६।३१७-३१८

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण हो या मूर्ख, वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएँ करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिये। यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ —मनु० ६।३१६

निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयाँ इन्हीं में घर कर गयीं। सदाचार लुप्त हो गया, धूर्तता और अत्याचार बढ़ गया और मूर्खता ने देश में अपना डेरा-डण्डा जमा दिया।

इसी प्रसंग में रामचरितमानस में तुलसीदासजी की यह चौपाई द्रष्टव्य है—

पूजिये विप्र शीलगुणहीना ।
शूद्र न गुणगणज्ञानप्रवीणा ॥

इस प्रकार के कथन समाज के प्रति घोर अपराध हैं। इसी प्रकार की दूषित विचारधारा के कारण आर्य (हिन्दू) समाज क्षीण होता जा रहा है।

अश्वालम्भम्—वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं जिनमें पशुओं की रक्षा का स्पष्ट निर्देश है। यजुर्वेद के आरम्भ (१।१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है —'पशून् पाहि,' पशुओं की रक्षा करो। इसी मन्त्र में गौ को 'अध्न्या' (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद ६।११ में पति-पत्नी के लिए आदेश है—पशूंस्त्रायेथाम्', पशुओं की रक्षा करो। यजुर्वेद १४।८ में आदेश दिया है—'द्विपादव चतुष्पात् पाहि' अर्थात् दो पैरवालों (मनष्यादि) तथा चार पैरवाले (पश्वादि) की रक्षा करो। पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वचन भी यत्र-तत्र अनेकत्र मिलते हैं —

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । —यजुः० १३।४३
इमं मा हिंसीद्विपादं पशुम् । —यजुः० १३।४६
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । —यजुः० १३।४८
मा गामनागामदितिं वधिष्ट । —ऋ० ८।१०१।१५
अन्तकाय गोघातम् । —यजुः० ३०।१८

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके अथवा गवालम्भ गाय को मारके होम करना ही वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाए, तो त्रेता आदि में विधि आ जाए। तो इसमें ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठयुग में होना सर्वथा असम्भव है। और संन्यास की वेदादिशास्त्रों में विधि है, उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है, तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करनी वेदों में लिखी है, तो यह श्लोककर्त्ता क्यों भोंखता है ? ॥२॥

यदि नो गां हंसी यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ —अथर्व० १।१।६४
यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
योऽघ्न्या भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ —ऋग० १०।८७।१६

इन मन्त्रों में न केवल पशुमात्र की हिंसा न करने का स्पष्ट निर्देश है, अपितु पशुवध करनेवालों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था है।

यज्ञों में पशुहिंसा के समर्थक 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' (यजु० २४।२६) आदि वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं। 'आलम्भ' शब्द का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है 'आङ्' पूर्वक 'लभ्' धातु से 'आलम्भ' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ स्पर्श करना— अच्छी तरह प्राप्त करना है। निघण्टु तथा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में 'आलभ् ' का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमासं च गन्धमाल्यं रसांस्त्रियः ।
शुक्लानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७६॥

ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट उपर्युक्त कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिसां का सर्वथा निषेध करनेवाले (प्राणिनां चैव हिंसनम् वर्जयेत्) श्लोकों में स्त्रियों का 'आलम्भ न करने' का अर्थ 'स्पर्श न करने ' के सिवा और क्या हो सकता है ?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणासं अधिहृदयमालभते ।

पारस्करगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है— आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' किया है।

'वरो वध्वा दक्षिणासं अधि-हृदयमालभते' विवाहप्रकरण
'कुमारं जातं पुरान्यैर्लम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत्' । — जातकर्म

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसादर्शन (२।२।७०) की सुबोधिनीटीका में आये 'वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवतीति' वाक्य में सर्वत्र आलम्भ का अर्थ स्पर्श करना है। तब 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए वीर पुरुषों तथा हाथियों को प्राप्त करता है' होगा। इसी प्रकार 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' आदि ब्राह्मण वाक्यों में भी 'आलभेत' स्पर्श अथवा

यदि नष्ट अर्थात् पति किसी देश-देशान्तर को चला गया हो और घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ जाए, तो वह किस की स्त्री हो ? कोई कहे कि विवाहित पति की । हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में तो नहीं लिखी । क्या स्त्री के पाँच ही आपत्काल हैं ? जो रोगी पड़ा हो, वा लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्-काल पाँच से भी अधिक हैं । इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिए ॥३॥

प्राप्ति अर्थ का ही द्योतक होगा, मारने का नहीं ।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेघ, गोमेध , अजमेध पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम हुआ है । वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध शब्द के सिवा अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । 'मेधृ' धातु के 'मेधृसंगमनयोर्हिंसायाम्' —इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा ये तीन अर्थ है, परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या का विधान सर्वथा असंगत है । अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता । शतपथब्राह्मण (१३।१।६) में कहा है —'राष्ट्रं वा अश्वमेधः, वीर्यं वा अश्वः' —अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है । इसलिए अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के वीर्य व बल की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है । यजुर्वेद (२३।१६।४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधर आदि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है । वस्तुतः मन्त्रों के देवता (या तेनोच्यते सा देवता) गणपति, राजप्रजे, प्रजा, प्रजापति, श्री, विद्वांसः, सभासदः इत्यादि हैं । इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य वा वर्ण्य विषय राष्ट्र व उसकी शासन-व्यवस्था है । महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में महाराजा वसु के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था । उसके विषय में वहाँ बड़ा स्पष्ट लिखा है—'न तत्र पशुघातोऽभूत्' । वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में लिखा है —

> अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
> अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ।
> नैषः धर्मः सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः ॥

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है । बकरों का वध करना उचित नहीं । पशुओं का वध करना भले आदिमियों का धर्म नहीं ।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र गोवध महापाप माना गया है । जैसे यज्ञ की संज्ञा 'अध्वर' (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की संज्ञा 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) है, अतएव वेद में तथा अन्यत्र गोहत्या करने वाले के लिए मृत्युदण्ड दिये जाने का आदेश है । ऐसी अवस्था में गोवध करके गोमेध की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वस्तुतः गो शब्द अनेकार्थक हैं । इसलिए गोमेध के 'वाणी का संस्कार करना, धरती को कृषियोग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होनेवाले दूध, घी आदि की वृद्धि करना तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की व्यवस्था करना आदि' अनेक अर्थ हो सकते हैं । महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥ —महा० शान्ति० २६५।६

भावार्थ—शराब, मछली, आसव, मांस आदि वस्तुएँ धूर्त लोगों ने यज्ञ में शामिल करदी हैं। यह सब वेदों में लिखा हुआ नहीं है। अन्यत्र—

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात् पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्यमांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं नहीं है।

विवाहसूक्त अथवा सूर्यासूक्त (ऋ०१०।८५) का तेरहवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावो ऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

इस मन्त्र के आधार पर अनेक पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने विवाह के अवसर पर गौवों अथवा साँडों के वध की कल्पना की है। वस्तुतः इस मन्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए इसके पूर्वापर मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्णन किसी लौकिक विवाह का वर्णन नहीं है, अपितु आकाशीय तत्त्वों के विवाह का आलंकारिक वर्णन है।

इन मन्त्रों में सूर्य, द्युलोक, भूमि, सोम, अश्विनौ, सविता आदि का उल्लेख है तथा सविता द्वारा सूर्या (उषा) को पति सोम के पास भेजे जाने का वर्णन है। एक मन्त्र (१५) में सूर्या के दो बारातियों (अश्विनौ) के उसके पास आने का वर्णन है और उनके रथ के दो चक्रों में एक के ही विद्यमान होने तथा दूसरे के गुह्य होने (मन्त्र १६) का उल्लेख है। इस प्रकार इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ भी अभिप्रेत होता है। तदनुसार सूर्या बुद्धि-शक्ति है और उसका पिता सूर्य परमपिता परमेश्वर है तथा वर सोम षोडश कलायुक्त आत्मा है। वधू के पास बारात में आने वाले दो अश्विनौ श्वासोच्छ्वास हैं, इत्यादि (प्राचीन भारत में गौमांस)।

स्वयं सायण और तदनुसारी विल्सन ने भी 'गावो हन्यन्ते' का अर्थ 'गौवें मारी जाती हैं' न करके 'गौवें हाँकी जाती हैं' किया हैं — 'मघानक्षत्रेषु गावो हन्यन्ते दण्डैः ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्' (सायण); 'Are whipped along' (Wilson)। इस मन्त्र में 'मारने' अर्थ की भ्रान्ति का मूल कारण हन् धातु का अधिक प्रचलित अर्थ हिंसा है। प्रायः इस अर्थ को भुला दिया जाता है कि पाणिनीय धातुपाठ में इसके हिंसा तथा गति दोनों अर्थ दिये हैं (हन् हिंसागत्योः)। यह सर्वसामान्य नियम है कि जहाँ किसी पद के एक से अधिक अर्थ उपलब्ध हो, वहाँ प्रकरणानुसार संगत अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। सूक्त पर समग्रता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि (चाहे उसे पार्थिव विवाह के प्रसंग में ही क्यों न माना जाए) सम्पूर्ण सूक्त की भावना के अनुसार "मघा नक्षत्र में गौवें मारी जाती हैं और अर्जुनी अथवा फाल्गुनी नक्षत्र में वधू ले जाई जाती है" अर्थ की संगति नहीं होती। इस मन्त्र से पहले मन्त्र में सूर्या द्वारा मन के रथ पर आरोहण का वर्णन है — 'अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम्।" —ऋ०१०।८५।१२

वस्तुतः इस मन्त्र में वधू के पतिगृहगमन का क्रम बताया है, अर्थात् सविता ने सूर्या को जो दहेज (स्त्रीधन आदि) दिया, पहले वह गया। उस स्त्रीधन के रथ के बैलों को मघा नक्षत्र में हाँका जाता है और फाल्गुनी में वधू को ले जाया जाता है। भाव यह है कि मघा नक्षत्र होते ही पूर्वा और उत्तरा— ये फाल्गुनी नक्षत्र आते हैं जो अगले दिन अथवा उससे अगले दिन के द्योतक हैं। आकाशीय सन्दर्भ में सूर्या और कुछ नहीं, सूर्य की प्रभा है जो अपने पति चन्द्रमा में जाकर वहाँ रहती है (प्राचीन भारत में गोमांस, पृ० १६४)

नष्टे मृते— पाराशरी स्मृति अनार्ष ग्रन्थ होने से ग्रन्थकार को अमान्य है। स० प्र० के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"यद्वै किञ्चन मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः" यह ताण्ड्यमहाब्राह्मण (२३।१६।७) का वचन है। जो कुछ मनुजी ने उपदेश किया है, वह यथावत् वेदोक्त और सत्य ही है। जैसेकि रोग के नाश करने का औषध वैसा ही है यह। एक मनुस्मृति का ही वेद में प्रमाण मिलता है, और किसी स्मृति का नहीं। और सब लोगों को भी यह बात सम्मत है कि 'वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न शस्यते।' जो यह बात कहते हैं कि 'कलौ पाराशरी स्मृतिः' सो तो अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि द्वापर के अन्त में व्यासजी ने मनुस्मृति का ही प्रमाण लिखा है, सो क्यों लिखा ? शंकराचार्यजी ने भी मनुस्मृति का ही प्रामाण्य लिखा है।"

ग्रन्थकार को अपवादरूप में अक्षतवीर्य पुरुष तथा अक्षतयोनि स्त्री को छोड़कर द्विजों का पुनर्विवाह अमान्य है, परन्तु समाजसुधार के क्षेत्र में कार्य करते हुए आर्यसमाज ने बाल-विवाह के कारण एक-एक, दो-दो वर्ष की बाल-विधवाओं को आजीवन नारकीय जीवन बिताते देखा। अल्पायु में विधवा होनेवाली विधवाओं की संख्या सन् १६३२ में लगभग दो करोड़ थी। जीवनभर मिलनेवाली शारीरिक तथा मानसिक यातनाओं से त्राण पाने के लिए वे इस्लाम की शरण में जाने को विवश थीं। पौराणिक मतावलम्बियों को इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। आर्यसमाज इसे सहन नहीं कर सका और आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के प्रति पूर्ण आदरभाव रखते हुए भी विधवा-विवाह को आपद्धर्म —युगधर्म के रूप में अपनाया। कट्टरपन्थियों ने इसका प्रबल विरोध किया। तथाकथित सनातनधर्मियों को विधवा-विवाह होने से हिन्दू-धर्म का विनाश होता दीखा तो आर्यसमाज को इसके न होने में वैदिक धर्म का सर्वनाश होता दीखा। इसलिए उसने इसे शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का बीड़ा उठाया। आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच विधवा-विवाह विषय पर शास्त्रार्थ होने लगे। पौराणिकों (सनातनधर्मियों) की मान्यता थी—'कलौ पाराशरी स्मृतिः' अर्थात् कलियुग में पाराशर स्मृति का ही प्रामाण्य सर्वोपरि है। इसलिए आर्यसमाज की ओर से व्याख्यानों और शास्त्रार्थों में 'उष्ट्रलष्टिकान्याय' से उन्हीं के मान्य ग्रन्थ पाराशरस्मृति से विधवा-विवाह का समर्थक यह श्लोक प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता था।

पौराणिक विद्वानों का कहना है कि व्याकरण के नियम से 'पतौ' शब्द नहीं बनता, शुद्ध शब्द 'पत्यौ' है। इसलिए यहाँ 'पतिते पतौ' के स्थान पर 'पतितेऽपतौ' होना चाहिए। तब उसका अर्थ होगा— 'जो अभी पति नहीं बना, वाग्दानमात्र हुआ है, वह यदि लापता हो गया है........इत्यादि'। पर यह श्लोक पाराशरस्मृति में ही नहीं, नारदसंहिता तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (१।४।११२, ११४) में पाया जाता है। सर्वत्र 'पतौ' शब्द ही पढ़ा गया है जिसे 'अपतौ' नहीं बनाया जा सकता। दूसरे किसी भी प्राचीन टीकाकार ने ऐसी कल्पना नहीं की। यह आर्ष प्रयोग भी हो सकता है, परन्तु वाग्दानमात्र से किसी की 'पति' संज्ञा नहीं हो जाती। कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड में उद्धृत यमस्मृति के वचन में कहा है—

[वेदविरुद्ध वचन अमान्य हैं]

प्रश्न—क्योंजी, तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते ?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो, परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते[1] और यह तो पराशर का वचन भी नहीं है, क्योंकि जैसे **ब्रह्मोवाच, वशिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच** इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिए करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे, और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिए अनर्थ-गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। **कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है, अन्य स्मृति नहीं**। ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की व्यवस्था समझ लो।

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरुच्यते ।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ॥

अर्थात् उदक (अर्घ्य, पाद्य तथा आचमनीय जल देने) से अथवा वाणी (वाग्दान) से कन्या का पति नहीं बनता, अपितु पाणिग्रहण (विवाहसंस्कार) द्वारा सप्तपदी के सातवें पद के हो चुकने पर ही 'पतित्व' प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि वाग्दानमात्र से कोई पति नहीं बन जाता। इसलिए उक्त श्लोक में जो कुछ कहा गया है वह विधिवत् विवाहित पति को लक्ष्य करके ही कहा गया है।

किसी भी कारण से सन्तान के अभाव में अन्य पुरुष या सन्तानोत्पत्ति का विचार सार्वभौम तथा सार्वकालिक है। इसी को नियोग कहते हैं। 'किराये के गर्भ'(Surrogate mother के रूप में पाश्चात्य जगत् में पनप रही प्रथा प्राचीन भारतीय नियोग पद्धति का ही आधुनिक संस्करण है। इस प्रसंग में १७ फरवरी १९८५ के Indian Express में प्रकाशित यह समाचार द्रष्टव्य है—

"One of the first recorded instances of surrogate motherhood is found in the Bible. Abraham's wife Sarah who could not concieve sent her husband to the Egyptian maid Hagar, saying, "It may be that I may obtain children from her" and Hagar bore Ismael. This is almost 4000 years ago. It is interesting to know that in Topeka, kansas (U.S.A.) there is an institute known as Hagar Institute which takes its name from the Biblical story that provides surrogate mother service."

The Lucknow edition of the Times of India, dated 18-19 th march 1989, carried an advertisement for a healty lady of child bearing age for an educated, cultured wealthy childless couple" and it proceeded to say that the applicant will be suitably rewarded and looked after for life" and it was a "good opportnnity for a widow with children," this was obvionsly an advertisement for 'a surrogate mother.'

A complaint against this advertisement was refferred to the editor of the paper by a reputed social service organisation, but the management 'did not find anything really objectionable'.

—The times of India, New Delhi dated 18th December, 1989.

अंग्रेजी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश Oxford English Dictionary के अनुसार Surrogate शब्द का अर्थ है — 'A person that acts for or takes the place of another, a substitute' अनियमित विवाह सम्बन्ध की चुपचाप अनुमति देनेवाले पादरी की संज्ञा भी Surrogate है। कोश के अनुसार इस शब्द का यह अर्थ सन् १६०४ ईस्वी से चला आता है। इससे स्पष्ट है कि नियोग का सिद्धान्त सार्वभौम एवं सार्वकालिक है, भले ही

१. 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।२) प्रमाण के अनुसार।

[गृहाश्रम की श्रेष्ठता]

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है ?

उत्तर—अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥२॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[1] चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥३॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥४॥ —मनु०६।९० ६;३।७७-७९

उसका व्यावहारिक रूप और उसके अवान्तर भेद देश-काल के अनुसार कुछ भी रहे हों।

दानेनान्नेन— मनस्मृति में 'ज्ञानेन्नानेन' पाठ मिलता है। मनुस्मृति के संवत् १९२६ के संस्करण में ग्रन्थकार ने 'ज्ञा' को काट कर 'दा' स्वहस्त से बनाया है। यह संस्करण वैदिक पुस्तकालय अजमेर में सुरक्षित है। प्रकरणानुसार 'दानेन' शब्द ही उपयुक्त भी है, 'ज्ञानेन' सर्वथा असंगत है।

स्वर्ग — मनु इस संसार से भिन्न किसी स्थान या लोकविशेष को स्वर्ग या नरक नहीं मानते। सुख की प्राप्त का नाम स्वर्ग और दुःख की प्राप्ति का नाम नरक है। ये दोनों समय-समय पर इसी जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के अन्तर्गत ग्रन्थकार लिखते हैं — "स्वर्ग नाम सुख-विशेष, भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है। जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है, वह नरक है।"

व्याकरणशास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ गतौ' धातु से 'प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते' अ० ३।२।४ —वार्त्तिक सूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। 'स्वः' सुख में गमन करना— प्रविष्ट होना अथवा सुख प्राप्ति होना ही सुख है इसी प्रकार सुख का प्राप्त होना स्वर्गलोक में जाना है। जहाँ स्वर्ग=सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है। नरक शब्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त में 'नरक शब्द की इसी रूप में निरुक्ति की है— 'नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, इति वा' (निरुक्त १।३।११) अर्थात् अधः, पतन या अवनति का नाम नरक है।

मनु ने स्वर्ग शब्द का प्रयोग लौकिक सुख तथा मोक्ष दोनों के लिए किया है। प्रस्तुत श्लोक में अक्षयसुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसके पर्यायवाची के रूप में ऐहिक सुख के लिए सामान्य 'सुख' शब्द का प्रयोग है।

अक्षय सुख— मोक्ष या स्वर्ग के लिए 'अक्षय' 'अपरिमित' 'अपुनरावृत्ति' न च 'पुनरावर्त्तते'आदि शब्दों

---

१. यही पाठ 'सं० वि०' पृष्ठ २३६ (सं० ३) पर उद्धृत है। मनु० में 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ है। मनु० के संवत् १९२६ के संस्करण में दयानन्द सरस्वती ने 'ज्ञा' को काटकर 'दा' स्वहस्त से बनाया है। यह संस्करण वैदिक पुस्तकालय अजमेर में सुरक्षित है।

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते[1] ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ॥१॥

[जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है,][2] वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥२॥

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है ॥३॥

इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है, उसको अच्छे प्रकार धारण करे ॥४॥

इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वह निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है, परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिए गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जाएगा ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषा-विभूषिते समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविषये

चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥४॥

का प्रयोग होता है। इन सबका तात्पर्य मोक्ष या स्वर्गसुख का सामान्य लौकिक सुख से वैशिष्ट्य दर्शाने मात्र से है, न कि सर्वथा नाशराहित्यद्योतन में, यह शास्त्रकारों का निश्चित मत है।

कात्यायन ने श्रौतसूत्र (२।६।१) तथा अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त 'अपरिमित' शब्द का अर्थ 'अपरिमितं परिमाणाद् भूयः' (शुल्ब० १।२३) (अपरिमित अर्थात् नियत प्रमाण से अधिक) सूत्र द्वारा स्वयं बताया है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२।१।१) की टीका में रुद्रदत्त ने कात्यायन के उक्त वचन को उद्धृत करके भारद्वाज मुनि का 'अपरिमितशब्दे संख्याया ऊर्ध्वमिति भारद्वाजः' वचन भी उद्धृत किया है। इस व्यवस्था के अनुसार यहाँ 'अक्षय' शब्द का अर्थ है — नष्ट होने की सामान्य सीमा से अधिक देर में नष्ट होनेवाला।

इति श्रीविद्यानन्दसरस्वती स्वामिकृते सत्यार्थभास्करे चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः।

---

१. अर्थात् चलते।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मूल कापी में दो स्थानों में 'वैसे' पद के कारण दृष्टिदोष से छूट गया। अतएव उपलब्ध नहीं होता। हमने यह पाठ ऋषि के शब्दों में ही 'सं० वि०' गृहाश्रमप्रकरण, पृष्ठ २३६-२३८ (सं० ३, रा० ला० कट्र०) से इन श्लोकों की व्याख्या से पूरा किया है। इस पाठ में प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध और द्वितीय श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या छूटी है।

अथ पञ्चम-समुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थ-संन्यासविधिं वक्ष्यामः

[वानप्रस्थ का काल]

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ शत० कां० १४॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम दोनों अवैदिक है, क्योंकि वेद में इनका विधान नहीं है। वेद तो जीवनपर्यन्त गृहस्थ में बने रहने का आदेश करता है। वानप्रस्थ और संन्यास इसलिए भी अवैदिक हैं, क्योंकि वेदों में ये शब्द तक नहीं हैं, गार्हस्थ्य का विधान तो शास्त्रों में प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम शास्त्र को मान्य होता तो वेदों तथा वेदानुकूल ब्राह्मणादि आर्षग्रन्थों में उसका विधान किया गया होता। ग्रन्थकार ने स्वयं इस शंका को प्रस्तुत करके अन्यत्र इसका समाधान किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ब्रह्मविद्याविषय' के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है— **वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति'?** वेदों में सब विद्याएँ हैं, किन्तु **'मूलोद्देशतः'** — मूलरूप में। तात्पर्य यह कि वेद में सब विद्याओं का मूल है, पर विस्तार नहीं। उसी वेदरूपी बीज को लक्ष्य में रखकर आगे ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का विस्तार करने के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग, उपाङ्ग, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्हीं मूलमन्त्रों का आशय लेकर ऋषियों ने स्मृतियों, श्रौतसूत्रों और गह्यसूत्रों में विधियों का विधान किया है। इस विषय में सम्भावित शंकाओं का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने स्वरचित संस्कारविध में लिखा है —

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥

वेदादि शास्त्रों का परमादर भाव से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए यह ग्रन्थ रचा है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वेदादि' में वेद के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर स्पष्ट कर दिया है कि वेदों के साथ-साथ वेदानुकुल अन्य धर्मग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। वानप्रस्थ के विषय में शतपथब्राह्मण काण्ड १४ का प्रमाण है जो यहाँ उद्धृत किया गया है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में पृष्ठ १५४ पर यह वचन 'बृहदारण्यकश्रुति' से उद्धृत बताया गया है, जबकि संस्कारविधि के संस्करण १, पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादिप्रमाणानि' पाठ उपलब्ध है, परन्तु

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलिपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

जाबालोपनिषद्, खण्ड ४ में यह वचन इस प्रकार मिलता है—**'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्'** । जाबालशाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेय-संहिता (शुक्लयजुर्वेद) की है, अतः उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलतः याज्ञवल्क्य-प्रोक्त है और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्वब्राह्मण में १०४ अध्याय होने पर भी वह शतपथ ही कहाता है।) जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक) का एक अंश हो सकती है। इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा इस वचन के लिए शतपथ अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग किये जाने में कोई असामंजस्य नहीं है। संस्कारविधि के १७वे संस्करण तक शतपथब्राह्मण ही पाठ था। संस्करण १८ में जाबालोपनिषद् पाठ बनाया गया है। यही परिवर्तित पाठ आगे संस्करण २४ तक छपता रहा, २५ वें में पुनः शुद्ध किया गया।

आर्षग्रन्थों में मनुस्मृति का प्रामाण्य सर्ववादीसम्मत है। ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—**'यत्किञ्चिद्वै मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः'** मनुस्मृति के अनुसार—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।
वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ —मनु० ६।२-३

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि अपनी देह की खाल ढीली और केश श्वेत हो गये हैं और पुत्र का पुत्र हो गया है तो वन का आश्रय ले। वन में जाते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे अथवा साथ ले-जाए इस प्रकार आयु का तृतीय भाग वन में बिताए।

वेद में भी वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ वानप्रस्थ के पर्यायरूप में 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ —

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ —ऋ० १०।१३६।५
मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ —ऋ० १०।१३६।२

प्रथम मन्त्र में 'पूर्वः' तथा 'अपरः' पदों से क्रमशः वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम अभिप्रेत हैं। वेद में 'मुनि' शब्द वानप्रस्थ का वाचक है, यह वानप्रस्थाश्रम का वर्णन करनेवाले मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द से सिद्ध है—**'मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः'** (६।५); **'मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः'**; (६।१२); **'मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्'** (६।१५); **'मुनिर्मूलफलाशनः'** (६।२५)। निश्चय ही वेद में मुनि शब्द से वनी का बोध होता है।

जिस प्रकार वेद में मुनि शब्द वानप्रस्थ का बोधक है उसी प्रकार 'यति' शब्द से संन्यासी का ग्रहण

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५॥ —मनु० ६।१-५

होता है। ग्रन्थकार ने यहाँ 'यतयः, ब्रह्मणासः, विजानतः' पदों से संन्यास का उल्लेख किया है। मुख्यरूप से 'यति' शब्द संन्यासी का वाचक है—**'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः'** (मुण्डक ३।२।६);**'एष धर्मोनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्'** (मनु० ६।८६) **भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति'** (मनु०६।५५) **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्''** (मनु० ६।५६);**'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा'** (मनु० ६।८७) आयु का चौथा भाग मनुष्य संन्यासी बनकर व्यतीत करे— **'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्'** (मनु०६।३)। उस अवस्था में संन्यासी को तीन प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके भिक्षाचरण से रहने का आदेश है— 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (शतपथ० १४।६।२।२६)।

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में संन्यास का उल्लेख पाया जाता है—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ —ऋ० १०।७२।७

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः ।
ममेदुग्र श्रुधी हवम् ॥ —ऋ० ८।६।१८

अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः । —ऋ० १।१५८।६

वैश्वानराय यतये मतीनाम् । —ऋ०७।१३।१

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते । —ऋ० ८।३।६

गृहस्थाश्रम सम्बन्धी एक प्रसिद्ध मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ —अथर्व० १४।१।२२

इस मन्त्र के आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का आदेश देता है, अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमों की परम्परा अवैदिक है। वैदिक वचनों में जहाँ अर्थ अस्पष्ट हो अथवा विरोध की प्रतीत हो, उसके स्पष्टीकरण के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र रचा है, अतः ऐसे विवादास्पद वचनों का अभिप्राय जानने के लिए उसका आश्रय लेना चाहिए। ब्राह्मण का एक वचन है —**'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'**। यदि इसका सामान्य अर्थ लिया जाए तो पूर्णाहुति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से अन्य सब यज्ञकर्म व्यर्थ हो जाएँ, अतः जैमिनि ने 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१।२।१६) इस सूत्र की रचना करके स्पष्ट कर दिया कि जिस कर्म का जितना अधिकारक्षेत्र है, तद्विषयक सर्वत्व वहाँ ग्रहण किया जाता है। 'सर्व' और 'विश्व' शब्द एकार्थक हैं, अतः **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा— 'इह' गृहाश्रम में रहने की जितनी अवधि है, उतने पूर्ण काल तक गृहस्थ में रहो, उसके

अर्थ—इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्ता द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वन में वसे ॥१॥

परन्तु जब गृहस्थ के शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाए, और लड़के का लड़का भी हो गया हो, तब वन में जाके वसे ॥२॥

ग्राम के सब आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके वन में निवास करे ॥३॥

मध्य पति-पत्नी का वियोग नहीं होना चाहिए।

वानप्रस्थ तथा संन्यास का वेदविहित होना बहुत समय से विवादाहपद रहा है। भगवान् वात्स्ययान ने अपने न्यायदर्शन (४।१।६०-६२) के भाष्य में इस प्रवाद का बलपूर्वक सप्रमाण निराकरण करके संन्यास-आश्रम का प्रतिपादन किया है।

प्रव्रज्या के लिए तीव्र वैराग्य होना अपेक्षित है। लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास लिया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण अथवा जाबालोपनिषद् के प्रमाण से संन्यास का विधान ऊपर उद्धृत किया गया है। उपनिषद् में आगे लिखा है—**"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रेजत् गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"**—यदृच्छया ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करले अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से। चाहे ब्रह्मचर्यव्रत का विधिवत् पालन कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक हो चुका हो अथवा न हुआ हो, अग्निहोत्र आदि छोड़ चुका हो अथवा करता ही न हो— पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य हो जाए उसी दिन प्रव्रज्या करले। ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण करने की वरीयता (श्रेष्ठत्व)का प्रतिपादन करते हुए संस्कारविधि में **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है —"यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जाए, पक्षपातरहित होके सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।" गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमों में जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हो जाता है जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिए अनुष्ठानों में किया जाता है। प्राचीन काल में एषणाओं से छुटकारा पाकर मोक्षसाधना में प्रवृत्त होने के लिए आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप जीवन-निर्वाह करने की परम्परा रही है। रघुकुल की परम्परा के विषय में कालिदास ने लिखा है —

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनूत्यजाम्॥ —रघुवंश

जब रघु बूढ़ा हो गया और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है —**'न हि कुलधूर्ये सूर्यवंश्या गृहाय'** अर्थात् यदि कुल की धुरी, कुलस्तम्भ-पुत्र विद्यमान हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में बैठने की परम्परा नहीं है।

जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह हो गया तो विदा होते समय उसने अपने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलाएँगे तो ऋषि ने उत्तर दिया—

साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके वसे ॥४॥

नाना प्रकार के सामा[1] आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे ॥५॥

[वानप्रस्थ के कर्तव्य]

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२॥ —मनु० ६।८, २६

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा, और सबपर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे। इस प्रकार सदा वर्तमान करे ॥१॥

शरीर के सुख के लिए अति प्रयत्न न करे, किन्तु ब्रह्मचारी रहे, अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय-चेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे ॥२॥

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यासि पदं पुनराश्रमे ॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।२०

चक्रवर्ती सम्राट् की पत्नी होने के उपरान्त दुष्यन्त के अप्रतिम योद्धा पुत्र को सिंहासन पर अभिषिक्त कर तथा परिवार का उत्तरदायित्व उसे सौंपकर, वानप्रस्थ होकर फिर इस शान्त आश्रम में आकर रहना।

वस्तुतः यहाँ कण्व ने वैदिक कालीन आश्रमव्यवस्था को लक्ष्य करके यह उत्तर दिया है जिसके अनुसार पुत्र का पुत्र उत्पन्न होने पर वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर अरण्य में निवास करना चाहिए।

सामा आदि अन्न —'सावां' नाम से प्रसिद्ध चावल को यहाँ 'सामा' कहा गया है। 'आदि' से यहाँ तत्सदृश स्वयं उत्पन्न आरण्य अन्न अभिप्रेत हैं।

स्त्री का साथ —प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है —"जो स्त्री कहे कि सेवा के वास्ते मैं चलूँगी तो संग में लेके वन को दोनों जाएँ। जो स्त्री कहे कि मैं पुत्रों के पास रहूँगी तो उसको छोड़के एकाकी जाए।'' इस प्रकार पति के वानप्रस्थ ग्रहण करने पर उसके साथ जाना, न जाना स्त्री की इच्छा पर है।

स्वाध्याये —संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है —'वहाँ जंगल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर, यदि स्वस्त्री भी संग हो, उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे। सबसे मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा और किसी से कुछ भी न लेवे। सब प्राणिमात्र पर अनुकम्पा=कृपा रखनेहारा होवे।'

---

१. 'सांवा' नाम से प्रसिद्ध चावल। आदि से 'कोदों' का ग्रहण जानना चाहिए। यहाँ सांवा आदि के समान स्वयं उत्पन्न आरण्य अन्नों का ग्रहण अभिप्रेत है।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥१॥

—मुण्ड० १ ख० २ । मं० ११

जो शान्त, विद्वान् लोग वन में तप-धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में वसते हैं, वे जहाँ नाशरहित, पूर्ण-पुरुष, हानि-लाभ-रहित परमात्मा है, वहाँ निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥१॥

अप्रयत्नः— धराशयः = कोमल सुखद बिस्तर का परित्याग करके कठोर भूमि पर शयन करे। ब्रह्मचारी=पत्नी के साथ होने पर भी विषय-चेष्टा न करे। वनस्थ को सुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-ममता से छुटकारा पा सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—**'भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति'**। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थी और संन्यासी को भिक्षा का लालच कभी न करना चाहिए। ऐसा करने पर उसके विषयों में फँस जाने की आशंका बनी रहती है।

वृक्षमूल—कृत्यकल्पतरु के लेखक लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में इस वृक्षमूल शब्द का अर्थ किया है **'वृक्षो वेदः तस्य मूलं प्रणवः'** अर्थात् वृक्ष का अर्थ है वेद और उसका मूल प्रणव=ओम्। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थाश्रमी वेदाभ्यास तथा प्रणव का ध्यान करता हुआ ब्रह्मनिष्ठ होवे।

तपः श्रद्धे—'भैक्षचर्यां चरन्तः' के अनुसार वानप्रस्थ को भिक्षाचरण करते हुए वन में रहना चाहिए। इससे पूर्व मनु (६।८) में 'अनादाता' पद का अर्थ 'किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे' ऐसा किया है। इस प्रतीयमान परस्पर विरोध का परिहार करने के लिए यह कहा जाता है कि यह विधान संन्यासियों के लिए है, वानप्रस्थों के लिए नहीं, परन्तु यह समाधान सर्वथा असंगत है, क्योंकि यह वचन वानप्रस्थ के प्रसंग में उद्धृत हुआ है। इसमें 'उपवसन्त्यरण्ये' (जो वन में रहते हैं) कहा है। संन्यासी को तो मनु ने 'अनिकेत' (६।४३) कहा है। उसके लिए तो 'बेघर' होकर भ्रमण करते हुए उपदेश देते रहने का निर्देश किया है। अतः यह विधान वानप्रस्थों के लिए ही है। इसका समाधान यह हो सकता है कि 'वानप्रस्थ को किसी से कुछ न लेना चाहिए', यह समान्य नियम है। विशेष अवस्था में आपद्धर्म के रूप में भिक्षा ली जा सकती है, परन्तु यह भिक्षा भी वनवासियों से ली जानी चाहिए, ग्राम या नगरवासियों से नहीं—

तापसेष्वपि विप्रेषु याचिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥

—मनु०६।२७

जो पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी, धर्मात्मा, विद्वान् लोग जंगल में रहते हों और जो गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, जीवन-यात्रा चलाने योग्य भिक्षा उन्हीं के घरों से ग्रहण करे।

यह श्लोक वानप्रस्थ संस्कार में संस्कारविधि में भी उद्धृत है।

इस श्लोक पर कुल्लूकभट्ट अपनी टीका में कहते हैं —**'फलमूलासम्भवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितं भैक्षमाहरेत्, तदभावे चान्येभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः,** अर्थात् वानप्रस्थ को यदि जंगली फल-मूल न मिल सकें और प्राण संकट में हों तभी वानप्रस्थ केवल प्राणधारण के योग्य भिक्षा तपस्वी वनवासियों, वानप्रस्थों से लेवे, उनसे भी न मिले तो अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजों से लेवे। बहुत ही संकट की स्थिति में मनु का आदेश है— **'ग्रामादाहृत्याश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्'** अर्थात् यदि वन में भिक्षा न

मिले तो ग्राम से भिक्षा लाकर खाये, किन्तु आठ ग्रास से अधिक नहीं। तात्पर्य यह कि विशेष अवस्था को छोड़कर वानप्रस्थ को भिक्षा नहीं करनी चाहिए।

यहाँ भैक्षचर्या से संग्रह की प्रवृत्ति का परित्याग करके **'यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः'** की भावना से मात्र उदरपूर्त्ति के लिए भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करना अभिप्रेत है। इस वाक्य में उपनिषद् ने उन लोगों की बात कही है जो अल्पाहारी रहकर श्रद्धापूर्वक तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए अव्ययात्मा पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं। विरजाः=मलरहित होकर स्वच्छ एवं पवित्र जीवन बताते हैं।

तपः श्रद्धे—(ये हि) जो (शान्ताः) उद्वेगशून्य (विद्वांसः) ज्ञानी (वने) वन में रहकर (भैक्षचर्यं चरन्तः) जीवन-निर्वाह करते साधना और श्रद्धा=आत्मिक साधन का (उपवसन्ति) अनुष्ठान करते हैं (ते) वे विरजाः, सब प्रकार के दोषों से छूटकर (सूर्यद्वारेण) सूर्यद्वार=प्राणद्वार से, उदान द्वारा, सुषुम्णा द्वारा वहाँ पहुँच जाते हैं (यत्र) जहाँ (सः) वह (अमृतः) अमर (अव्यात्मा) अविनाशी-अक्षर-निर्विकार (पुरुष) ब्रह्म है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासना-विषय) में इसका अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

"तपः श्रद्धे— जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग धर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य आदि कर्म करके संन्यास या किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्यद्वार) प्रणद्वारा से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजाः) सब दोषों से छूटके, परमानन्द=मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्णपुरुष सबमें भरपूर, सबसे सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी, और जिसमें हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।"

सूर्यद्वारेण प्रयान्ति— ऐसे लोग योगाभ्यास के द्वारा सूर्यद्वार= प्राणद्वार से = सुषुम्णा नाड़ी से प्राण त्यागकर मोक्षलाभ करते हैं। इन स्थानों पर सर्वत्र सूर्य का अर्थ प्राण करना ग्रन्थकार का ऋषित्व है। जैसे बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि हैं, वैसे ही शरीर में मेरूदण्ड में योगी महात्मा सूर्य आदि पदार्थों के अंश को जानते हैं। मेरुदण्ड के इसी सूर्यस्थान पर योगिजन प्राणों की शक्ति को नियन्त्रित करके प्राणों के द्वारा आनन्द-लाभ करते हैं, यह नहीं कि पृथिवीलोक से सूर्य-लोक में जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सूर्य शुद्धता तथा प्रकाश का प्रतीक है। अन्य किसी वस्तु में मलिनता की सम्भावना हो सकती है, सूर्य में नहीं। जो शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, वे सूर्य के अर्थात् शुद्ध ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं। संसार की किसी वस्तु में उनकी आसक्ति नहीं होती। इसलिए वे परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यही बात प्रश्नोपनिषद् में इन शब्दों में कही—**"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते"** (१।१०) अर्थात्—उत्तर =उत्कृष्टतम मार्ग से जानेवाले तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा के साथ ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को जानकर आदित्यलोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ से उन्हें लौटना नहीं पड़ता —न पुनरावर्त्तते, ('न पुनरावर्त्तते' की व्याख्या आगे नवम समुल्लास में 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' के प्रसंग में की गयी है)। इससे पहले मन्त्र में बताया है — **"तद्ये वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः"** (१।६) अर्थात्—जो लोग इष्ट-आपूर्ति (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' तथा कूप-तडाग, मन्दिर, धर्मशाला आदि का बनवाना 'आपूर्त' कहाते हैं) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य मानते हैं और यह सब करके फल-लाभ की कामना करते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। चन्द्र भोग्य पदार्थों का प्रतिनिधि है। इसे 'रयिमार्ग' या 'पितृयाण' कहते

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥२॥
—यजुर्वेद अध्याय २०। मन्त्र २४

हैं। ऐसे लोग कर्मफल के बन्धन में बँधे होने के कारण सर्वथा शुद्ध नहीं हो पाते। वे संसार को तो पा जाते हैं, अमृत को नहीं पा सकते। इसलिए जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँसे होने के कारण मरणोपरान्त फिर मर्त्यलोक में लौट आते हैं। जिन लोगों में त्याग की—निवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, वे पितृयाण को छोड़कर देवयान का आश्रय लेते हैं। सूर्य अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उनमें दिव्य भाव उत्पन्न करता है। चन्द्र रयि प्रधान है, इसलिए चन्द्रलोक का जीवन सकाम जीवन है—प्रेय-मार्ग है, सूर्यलोक प्राण प्रधान है, इसलिए आदित्यलोक का जीवन है— श्रेयमार्ग है। इस मार्ग से जानेवाला लौटता नहीं, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसे लोगों का उत्तरायण छह मास नहीं, हर समय बना रहता है। तभी वे सूर्यमार्ग से जा पाते हैं।

मरणोपरान्त सूर्यद्वार से जाने की चर्चा कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनों करते हैं। इस सम्बन्ध में कई ऐसे व्यक्तियों के अनुभवों का वर्णन रेमाण्ड ए० मूडी (Ramond A. Moody) ने अपनी पुस्तक 'Life After Death' में किया है जिससे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उक्त पुस्तक के विषय में इलस्ट्रेटिड वीकली (Illustrated Weekly of India, Bombay) के ६ मई १९७६ के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें ऐसे कई व्यक्तियों के अनुभव दिये गये थे जो लगभग मृत घोषित किये जा चुके थे, परन्तु कुछ देर बाद जीवित हो उठे थे। उनमें से एक व्यक्ति ने अपने मरण का अनुभव इस प्रकार बताय था—

"A pink mist began to gather around me and I floated right through the screen just as if it weren't there, and up into this crystel light an illuminating white light. It was so radiant, but it didn't my eyes. It's not any kind of light you can describe on earth. I didn't actually see a person in the halo, yet it has a special identity. It is a light of perfect understanding and perfect love."

संक्षेप में इसका अभिप्राय यह कि मरने के बाद अत्यन्त शुभ्र प्रकाश दीखता है जिसकी ओर मृत-व्यक्ति खिंचता चला जाता है। इस घटना की प्रमाणिकता के विषय में यहाँ कुछ नहीं कह सकते। किन्तु 'क्या वह व्यक्ति वैसा था जैसा इस श्लोक में वर्णित है? सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' और इससे पूर्व छठे श्लोक में 'सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति'। पहला मत ज्ञानकाण्डियों का है और दूसरा कर्मकाण्डियों का। दोनों ने ब्रह्मलोक पहुँचाने की बाते कही है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अथवा मुक्ति से पुनरावर्त्ति प्राप्त पुरुष ही समाधान कर सकते हैं।

अभ्यादधामि—संस्कारविधि के वानप्रस्थ प्रकरण में इस मन्त्र का पूरा अर्थ इस प्रकार है — हे (व्रतपते अग्ने) व्रतपालक परमात्मन्! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझमें स्थिर होकर (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। इसलिए जैसे अग्नि में (समिधम्) समिधा को (अभ्यदधामि) धारण करता हूँ, वैसे ही विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ और (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूँ।

वृद्धावस्था में आकर मनुष्य की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। अपने शरीर को स्वस्थ रखने और दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक है कि वह गृहस्थ की चिन्ताओं से मुक्त होकर कहीं दूर जाकर धर्माधर्म और

वानप्रस्थ को उचित है कि—'मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत-सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ', ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे ॥२॥

पश्चात् जब संन्यासग्रहण की इच्छा हो, तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे ।

॥ इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः ॥

सत्यासत्य के चिन्तन में प्रवृत्त हो । प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही वानप्रस्थ की भावना है । भोगवाद से त्यागवाद की ओर बढ़ना वानप्रस्थ है ।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतन्त्रता चाहता है । यदि माता-पिता घर में रहें तो उनके बहू-बेटे की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है । परिणामतः बाप-बेटे में और सास-बहू में लड़ाई रहती है और आस-पास के लोग तमाशा देखते हैं । अपने समय में माँ-बाप घर के मालिक रहे । अब उचित कि घर की ज़िम्मेदारियाँ बहू-बेटे को सौंपकर घर से दूर चले जाएँ । इसी में सबका हित है ।

समाज व्यवस्था की दृष्टि से भी आवश्यक है कि पुराने लोग अपने-अपने काम से रिटायर हों, जिससे अगली पीढ़ी को काम करने का अवसर मिले—वह चाहे सरकारी या ग़ैरसरकारी नौकरी हो, व्यापार हो या राजनीति हो । वानप्रस्थ समाजसेवा का आश्रम है । जो व्यक्ति अब तक अपने और अपने परिवार के लिए जीता था, वानप्रस्थ में दीक्षित होकर वह समाज के लिए जिएगा । उसकी योग्यता, अनुभव और दक्षता समाज को समर्पित होगी ।

आश्रम-व्यवस्था मानवता के लिए अमूल्य वरदान है । मानव केवल पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है, मन, बुद्धि और आत्मा भी है । इसलिए मानव जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता । धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं के जुटाने के लिए होता है । वस्तुएँ, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं । शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधन भूत होता है । उपभोग भी, उपभोग के लिए नहीं, उससे होनेवाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है । इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है । वर्णाश्रम व्यवस्था इसी ध्येय की प्राप्ति की क्रमबद्ध योजना है । इस व्यवस्था में धन कमाने का अधिकार मर्यादित है । चार वर्णों में केवल एक वर्ण वैश्य धन कमा सकता है और वह भी चार अवस्थाओं में से केवल एक में—गृहस्थाश्रम में । वह यह भी जानता है कि अभी जो कुछ मैं कमा रहा हूँ, उसे एक-न-एक दिन मुझे छोड़ना ही है, वानप्रस्थ बनना ही है । राजा भी जानता है कि एक दिन मुझे सब-कुछ छोड़कर वन में वास करने चले जाना है —**'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्'** (रघुवंश १।८) । इस प्रकार इस व्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार को मर्यादित कर दिया गया है । इसमें धन ऐहिक भोग का साधनमात्र है, साध्य नहीं । जब पैसा साध्य बन जाता है, भगवान् या आराध्य बन जाता है तब न भगवान् रहता है, न मानव या मानवता । तब उसे पाने के लिए सुपथा-कुपथा में कोई अन्तर नहीं रहता । भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार बन जाता है । वर्णाश्रम-व्यवस्था में ही समाज का समग्र सुख निहित है ।

अथ संन्यासविधिः

[संन्यास का काल]

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ —मनु० ६।३३

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग, अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में सङ्गों को छोड़के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे ॥

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता वा नहीं ?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं, क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फँसे वह महापापी और

अथ संन्यासविधिः

वैदिक ऋषियों ने मनुष्य के लिए सामान्यतः सौ वर्ष के जीवन की कल्पना की थी।**'जीवेम शरदः शतम्'**—हर कोई सौ वर्ष तो जीना चाहता ही था, इसलिए प्रभु से अपने लिए इतने दिन जीने की प्रार्थना करता था। परमेश्वर का कहना था—सौ वर्ष जीने की इच्छा करना बुरा नहीं, किन्तु कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः'** (यजुः० ४०।२)। तुम्हारी सौ वर्ष की यात्रा में चार पड़ाव आएँगे। वे आश्रम होंगे। 'आश्रम' शब्द कह रहा है कि ये आराम करने के लिए नहीं, अपितु निरन्तर अथक श्रम करते रहने के लिए हैं। इनमें तुम्हें कोई असुविधा नहीं होगी, क्योंकि इनमें तीन पड़ावों में तुम्हें प्रकृति माता की गोद में बिताने का अवसर मिलेगा। जीवन का तीन चौथाई भाग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास खुले मैदानों, जंगलों और पहाड़ों के शुद्ध जल-वायु में बीतने के कारण तुम्हारे सौ वर्ष हँसते -खेलते निकल जाएँगे और यदि तुम परमेश्वर की आज्ञा मानते रहे तो तुम्हें ब्रह्मलोक में प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। सारी यात्रा की थकावट मिट जाएगी।

इस जीवन-यात्रा का अन्तिम पड़ाव संन्यास हैं। 'संन्यास' का अर्थ है —'सं-न्यास' अर्थात् कन्धों पर पड़े बोझ को उतारकर फेंक देना। संस्कारविधि में संन्यासी की परिभाषा ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है —"जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे, अर्थात् **''सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थरीभवति येन स संन्यासः। संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी।''**

अर्थात् जिसके द्वारा अधर्म के आचरणों को भली प्रकार दूर करते हैं, अथवा जिससे भली-भाँति नित्य सत्कर्मों में स्थिर होता है, वह संन्यास है— संन्यासवाला संन्यासी। **'न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्'** यह तैत्तरीयारण्यक का वचन संस्कारविधि में उद्धृत है इसका स्थूल अर्थ है—बुद्धिमान् लोग ब्रह्म को न्यास कहते हैं, अर्थात् सम्यक् प्रकार से जिसने ब्रह्म को अपना लिया है वह संन्यासी है।

वनेषु विहृत्यैवम्— संस्कार-विधि में इस शलोक के अर्थ में लिखा है—

जो न फँसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है ।

[संन्यास-ग्रहण के तीन पक्ष]

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ।।

—ये ब्राह्मण-ग्रन्थ के वचन हैं[1] ।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन ब्रह्मचर्य, घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे ।

पहले वचन में संन्यास का **क्रमपक्ष** कहा, और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे यह **द्वितीय पक्ष** और **तृतीय पक्ष** यह है कि जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय=विषयभोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों में भी **'यतयः'**, **'ब्राह्मणासः'**, **'विजानतः'** इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तु—

"इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक-से-अधिक २५ (पच्चीस) वर्ष अथवा न्यून-से-न्यून १२ (बारह) वर्ष तक विहार करके, आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० (सत्तर) वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे।" **परिव्रजेत्** = 'परिव्रजति इति परिव्राजकः' = जो सांसारिक एषणाओं को त्यागकर लोकोपकार के लिए विचरे, वह परिव्राजक कहाता है ।

यदहरेव—ब्राह्मणग्रन्थों में भी काफी फेरफार हो चुका है । आजकल यह वचन अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में मिलता है। पूरा पाठ इस प्रकार है— **"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत्** । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा ऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् । अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्यः अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः, इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा ।" अर्थात्—ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ होवे । वानप्रस्थ होकर संन्यासी होवे । अथवा दूसरा प्रकार यह है कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी हो जावे अथवा गृहस्थाश्रम से ही वा वानप्रस्थाश्रम से ही और पुनः यदि वह व्रती हो वा व्रतरहित हो, स्नातक हो वा अस्नातक हो अथवा जिसका अग्निहोत्र नष्ट हो चुका हो, जिस दिन उसे वैराग्य हो, उसी दिन संन्यासी हो जावे । यज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यज्ञोपवीत से रहित मनुष्य ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? याज्ञवल्क्य बोले—यह जो आत्मा है, वही उसका यज्ञोपवीत है । संन्यासी को संन्यास की दीक्षा लेते समय यज्ञोपवीत त्यागना पड़ता है और उधर श्रमणब्राह्मण-न्याय प्रचलित है कि ब्राह्मण संन्यासी होकर भी (और यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके भी) ब्राह्मण रहता है । अत्रि का प्रश्न है कि बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण कैसे ? याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि आत्मा अर्थात् आत्मज्ञान ही उसका यज्ञोपवीत है । इसका संकेत संस्कारविधि में संन्यास के प्रकरण में अथर्ववेद ६।६ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४ से उद्धृत प्रमाणों में उपलब्ध है । इस प्रकार संन्यास ग्रहण के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं —

१.अनुक्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ-आश्रमों का अनुष्ठान करते हुए वृद्धावस्था में पहुँचकर संन्यास की दीक्षा ले । इसे क्रम संन्यास कहते हैं ।

२.**'यदहरेव विरजेत् तदहरेव वनाद्वा गृहाद्वा'** जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन, चाहे गृहस्थ का

---

१. जाबालोपनिषद् खं० ४ में आगे-पीछे पाठ मिलता है ।

समय भी पूरा न हुआ हो और चाहे वानप्रस्थ का अनुष्ठान न भी किया हो, गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य अथवा यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य हेतु है। यही आनुपूर्वी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में है वहाँ 'इति ब्राह्मणः श्रुतिः' निर्देश किया है।

३. 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' —यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहाश्रम करे और न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके ही संन्यास ग्रहण करले।

स्वयं ग्रन्थकार ने इसी प्रकार संन्यास ग्रहण किया था। उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'जितना ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके उपकार कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।' यह प्रश्न किये जाने पर कि जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, ग्रन्थकार का उत्तर है कि जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न ले, परन्तु जो रोक सके वह क्यों न ले।

यतयः—'यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन' (ऋ० १०।७२।६)। अर्थात् हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो! तुम (यथा) जैसे (अत्र समुद्रे) इस आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्य आदि का प्रकाशक परमात्मा है, उसको (आ अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्मा में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थ आदि मनुष्य हैं, उनको (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से सदा संयुक्त किया करो। यही तुम्हारा परम धर्म है।

'य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्' (ऋ० ८।६।१८) अर्थात्—हे इन्द्र! जो यति (संन्यासी) और परिपक्व तपवाले हैं और जो तेरी स्तुति करते हैं, उन सबकी और मेरी पुकार को सुन।

ब्राह्मणस्य—'ब्राह्मणस्य' पद ऋग्वेद में केवल एक स्थान (१०।१०९।४) पर आया है—'जाया ब्राह्मणस्योपनीता'। निश्चय ही यहाँ संन्यास का प्रसंग नहीं है। अथर्ववेद में अनेकत्र यह शब्द मिलता है, किन्तु वहाँ भी कहीं संन्यास का संकेत नहीं है। यजुर्वेद तथा सामवेद में कहीं भी यह शब्द नहीं आया है। ध्वनिसाम्य के कारण लिपिकर अथवा मुद्रक की भूल के कारण ब्राह्मणासः के स्थान पर 'ब्राह्मणस्य' हो गया प्रतीत होता है। 'ब्राह्मणासः' पद ऋग्वेद ७।१०३।८ में उपलब्ध है—**'ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्'** अर्थात्—शान्तिशील ब्रह्मवेत्ता संन्यासी ब्रह्मज्ञान को विश्वव्यापी बनाने के लिए वेद का उच्चारण करते अथवा वेद की बात करते हैं।

विजानतः—**'यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** (यजुः० ४०।७) अर्थात् जिस समय सब भूतों पर आत्मा=परमात्मा का अधिष्ठान है, ऐसा ज्ञान होता है, तब उस विज्ञानी, समदर्शी संन्यासी को कैसा मोह, कैसा शोक?

संस्कारविधि में 'अथ वेदप्रमाणानि' शीर्षक से ऋग्वेद के नवम् मण्डल के सूक्त ११३ के १, २, ४ व ६ से ११, मण्डल १० सूक्त ७२ का मन्त्र ७ तथा अथर्ववेद के १६वें काण्ड के सूक्त ४१ के मन्त्र १ को उद्धृत किया है।

[निरर्थक संन्यास]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—कठ० वल्ली २। मं० २४

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है, वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता, इसलिए—

[संन्यासी के कर्त्तव्य]

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥

—कठ० वल्ली ३। मं० १३

बुद्धिमान् संन्यासी वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ॥१॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥२॥

—मुण्ड० खं० २ । मं० १२

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे, क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा, कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता, इसलिए कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जाननेवाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे। जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे ॥२॥

ना विरतः—एतदनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए आवश्यक है कि (१) मनरूपी दर्पण शुद्ध व निर्मल हो, (२) स्थिर हो, (३) आवरण रहित हो (४) ज्ञानरूपी प्रकाश से दीप्त हो और (५) शान्त अर्थात् हर प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो। संन्यासी का परम लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति है, अतः उसमें इन सभी गुणों का होना आवश्यक है।

यच्छेत्—यहाँ वाक्=वाणी समस्त इन्द्रियों का उपलक्षणरूप है। कठोपनिषद् के प्रवक्ता यमाचार्य के अनुसार अध्यात्ममार्ग के पथिक संन्यासी के लिए आवश्यक है कि वह इन्द्रियों के पीछे चलने के स्थान में उन्हें अपने मन के नियन्त्रण में रक्खे —'यच्छेद् वाक् मनसि', मन को इधर-उधर भटकने न देकर प्रबुद्ध आत्मा के अधीन रक्खे—'तत् यच्छेत् ज्ञान-आत्मनि' और शान्त आत्मा को परमात्मा के हवाले करदे—'तत् यच्छेत् शान्त आत्मानि'। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों को मन के अधीन, मन को बुद्धि के अधीन, बुद्धि को आत्मा के अधीन और आत्मा को परमात्मा के अधीन कर दे।

परीक्ष्य लोकान्—ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद्या के अधिकारी में किन गुणों का होना अपेक्षित है उपनिषद् के इस वाक्य में उनका उल्लेख करते हुए बताया है कि—

१. वह ब्रह्मविद्या में श्रद्धा रखता हो तथा वैराग्यवान् हो।

२. सकाम कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों की असारता या अस्थिरता को जान चुका हो।

[किनका सङ्ग न करे]

परन्तु सदा **इनका सङ्ग छोड़ देवे**, कि जो—

> **अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।**
> **जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥१॥**
> **अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।**
> **यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥२॥**
>
> —मुण्ड० १ । खं० २। मं० ८,६

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़, जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को पाते हैं ॥१॥

जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले, बालबुद्धि, हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं । जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरणरूप दुःख में गिरते रहते हैं ॥२॥ इसलिए—

यहाँ 'अकृत' का अर्थ परमात्मा है और 'कृत' का कर्मकाण्ड, अतः 'न अस्ति अकृतः कृतेन' का अर्थ हुआ जो कर्मकाण्ड से नहीं पाया जा सकता । (तत् विज्ञानार्थम्) हाथों में समिधा लेकर किसी (ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुं अभिगच्छेत्) ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाए ।

श्रोत्रिय—धर्मज्ञान में सुविज्ञ विद्वान् ब्राह्मण । द्रष्टव्य—

> **जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।**
> **विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥**

यहाँ 'जन्मना ब्राह्मण' से सामान्य अथवा प्रचलित अर्थों में ही ब्राह्मण अभिप्रेत है । वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणपदवाच्य पुरुष तो संस्कारों से ही बनता है । उद्धृत वचन तो श्रोत्रिय का श्रेष्ठत्व अथवा उत्कर्ष दिखाने के लिए 'समित्पाणि' गुरु के प्रति श्रद्धा एवं विनय का द्योतक है । अन्यत्र बोधायनगृह्यसूत्र (२।६) में उपलब्ध परिभाषाओं के अनुसार—

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः, एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः, अङ्गाध्याय्यनूचानः, कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः, सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः, चतुर्वेदादृषिः, अतः ऊर्ध्वं देवः ।

अर्थात्—जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ हो, ऐसा ब्रह्मचर्यव्रतधारी वेदों का कुछ भाग पढ़ने से ब्राह्मण, एक सम्पूर्ण शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय, अंगों को पढ़नेवाला अनूचान, कल्प का पढ़नेवाला ऋषिकल्प, सूत्रों और भाष्यों को पढ़नेवाला भ्रूण, चारों वेदों को पढ़ने से ऋषि, उससे आगे देव कहाता है ।

अविद्यायामन्तरे—(यथा) जैसे (अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (स्वयं) अपने आपको (धीराः) धीर (पण्डितम् मन्यमानाः) पण्डित=विद्वान् मानने—समझनेवाले (जंघन्यमानाः) दुःखों के मारे (मूढाः) मूढ़ पुरुष (अन्धेन) अन्धे से (नीयमानाः) ले जाए जाते हुए (अन्धाः इव) अन्धों के समान (परियन्ति) इधर-उधर भटकते हैं ।

अविद्यायां बहुधा—(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) अविद्या में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) फँसे हुए 'वयं कृतार्थाः=हम कृतार्थ हैं' (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) अभिमान करते हैं ।

[संन्यास का फल]

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

—मुण्ड० ३ । खं० २ । मं० ६

जो 'वेदान्त' अर्थात् परमेश्वर-प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहाँ से छूटकर संसार में आते हैं । मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता ।

क्योंकि—

'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ॥

—छान्दो० ८ ।१२ ।१ ॥

जो देहधारी है, वह सुख-दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता, इसलिए—

(यत्कर्मिणः) जिस कारण सकाम कर्म के करनेवाले (रागात्) फलासक्ति के कारण उसके परिणाम को (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इससे (आतुराः) दुःख से आतुर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ।

इन श्लोकों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए इन दोनों से पहले निम्न श्लोक को समझना आवश्यक है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो ये ऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मु० १।२।७

अर्थात्—यज्ञ के विषय में याज्ञिक लोग यह सब-कुछ कहते हैं जो ऊपर कहा गया है । परन्तु अंगिरा ऋषि का कथन है कि भवसागर को पार करने के लिए ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं हैं । ये अपरा विद्या हैं, विद्या क्या, ये अविद्या हैं । इनमें १८ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, परन्तु ये सब प्रवर कर्म हैं । जो मूढ़ व्यक्ति इन यज्ञकर्मों को श्रेयस्कर मान-कर इनमें आनन्दित होते हैं, वे बार-बार जरा-मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं, मोक्षलाभ नहीं करते ।

इन वाक्यों में यज्ञों की निन्दा नहीं की गई है । सकाम यज्ञों की भी उपयोगिता है, परन्तु उपयोगी होने पर भी उनकी अपनी सीमा है । अभ्युदय अर्थात् ऐहिक जीवन की सुविधा जुटाने में वे सहायक हैं, परन्तु उनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । जो लोग स्वर्ग आदि की कामना से यज्ञादि सकाम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे कामना पूरी न होने पर आतुर=दुःखी होते हैं । 'आतुर' पद से भ्रान्त होकर अर्वाचीन लोगों ने 'आतुर संन्यास' की कल्पना कर डाली । वे समझते हैं कि संन्यास के बिना मोक्ष नहीं मिलता और संन्यास ग्रहण करने पर मोक्ष मिल जाता है । इस भ्रान्ति से प्रेरणा पाकर ऐसे लोग जब रोगादि के कारण मरण निश्चित समझ लेते हैं तो वे मृत्यु से पूर्व संन्यासी हो जाते हैं । इसी को 'आतुर संन्यासविधि' कहते हैं ।

[त्रिविध एषणाओं का परित्याग]

'लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति' ।

—शत० १४।६।४।१

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ।

वेदान्तविज्ञान—(वेदान्त) वेद की ब्रह्मप्राप्ति विषयक अन्तिम शिक्षा और (विज्ञान) विज्ञान के निश्चित अर्थों को जाननेवाले और संन्यासयोग से शुद्ध अन्तःकरणवाले संन्यासी मरणोपरान्त नियत काल तक (परान्तकाले) मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं और अवधि पूरी होने पर ही लौटते हैं ।

परामृताः—यहाँ भी नवम् समुल्लास में मुक्ति प्रकरण के समान 'परामृताः' के स्थान पर 'परामृतात्' पाठ होना चाहिए । यहाँ भाषा (वहाँ से छूटकर) इसी पाठ के अनुसार है । यह ठीक है कि मुण्डकोपनिषद् में प्रायः 'परामृताः' भी पाठ मिलता है । तथापि 'परामृतात्' पाठ अनेकत्र मिलता है । सन् १९२५ के निर्णयसागर प्रेस में छपे १०८ उपनिषदों के संकलन में भी यही पाठ मिलता है । 'परिमुच्यन्ति' क्रियापद के साथ पञ्चमी विभक्त्यन्त पद का प्रयोग ही व्याकरण सम्मत है ।

न वै सशरीरस्य—इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख से आक्रान्त रहना उसकी विवशता है । अशरीरी जीवात्मा को ही प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करता । मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं—'अभावं बादरिराह ह्येवम्' (वेदान्त ४।४।१०) । एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करनेवाले शरीर के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी यहीं रह जाता है । मन भी सूक्ष्म शरीर का अंग है, अतः वह भी साथ नहीं जाता । मोक्षलाभ होने पर आत्मा के साथ प्राकृत शरीर, इन्द्रिय आदि का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु मननात्मक शक्ति से सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द में मग्न रहता है—'दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१२।५) । वहाँ शरीर, इन्द्रिय आदि का अस्तित्व रहता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ था । मन शब्द से यहाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन न होकर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिप्रेत है । आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है ।

लोकैषणायाश्च—शतपथ १४।६।४।१ में 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय' पाठ है । यही पाठ संस्कारविधि में उद्धृत है । लोकैषणादि की व्याख्या प्रथम संस्करण में विस्तारपूर्वक लिखी है, यथा—

'लोकैषणा अर्थात् लोकजन निन्दा करें वा स्तुति करें और प्रतिष्ठा करें वा अप्रतिष्ठा करें तो भी जिसके मन में कुछ हर्ष वा शोक न होय उनको तुच्छ जानके जैसे ये हर्ष-शोक के देनेवाले हैं वैसे यथावत् समझके सत्य धर्म मुक्ति अर्थात् सब दुःखों की निवृत्ति और परमेश्वर की प्राप्ति इनमें स्थिर रहके आनन्द में रहे और किसी का पक्षपात अथवा किसी से भय कभी न करे । वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा और धन की प्राप्ति में प्रयत्न और लोभ कि मुझको धन अधिक होय और जितने धनाढ्य हैं उनसे धन की प्राप्ति के वास्ते बहुत प्रीति करे, द्रव्य को बड़ा पदार्थ जानके संचय करना और दरिद्रों से धन के नहीं होने से प्रीति का न करना और धनाढ्यों की स्तुति करना इन सब बातों को छोड़ना उसका नाम वित्तैषणा का त्याग है । पुत्रैषणा अर्थात् अपने पुत्रों में मोह करना वा जो सेवक लोग हैं उनसे मोह अर्थात् प्रीति करना और उनके सुख में हर्ष का होना और दुःख में शोक का होना ॥'

'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' ॥१॥

—यजुर्वेदब्राह्मणे[1]

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

—मनु० ६।३८,३९

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत-शिखादि **चिह्नों** को छोड़, आहवनीयादि **पाँच अग्नियों** को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन **पाँच प्राणों** में आरोपण करके, ब्रह्मवित् ब्राह्मण घर से निकलकर संन्यासी हो जावे ॥१,२॥

जो सब भूत=प्राणिमात्र को अभयदान **देकर** घर से निकलके संन्यासी होता है, उस **ब्रह्मवादी** अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है ॥३॥

डा० राधाकृष्णन् ने संन्यासी के जीवन-दर्शन के विषय में लिखा है—

"The aim of the Sanyasin is not to free himself from the cares of outward life, but to attain a state of spiritiual freedom when he is not tempted by riches or honour and is not elated by sucess or depressed by failure."

—Hindu View of Life, p. 64

प्राजापत्यामिति—सर्ववेदस होम वह होता है जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व किया जाता है। इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत चलाचल समस्त सम्पत्ति का त्याग कर देता है अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान कर देता है। सर्ववदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल काल में कर लिया करते हैं। कठोपनिषद् के प्रारम्भ में नचिकेता के पिता के द्वारा तथा कालिदासकृत रघुवंश के पञ्चम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है—

'सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच । प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति । ....उक्तानुशासनासि मैत्रेय एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ।' —शत०१४।७।३।१,२५

एक बार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवनचर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा और कहा—मैं अब इस स्थान से प्रवृज्या लेनेवाला हूँ। मैं चाहता हूँ कि अब तुम कात्यायनी के साथ रहो। मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—जिस अमृतपद को प्राप्त करने के लिए आप अपने चालू जीवन में परिवर्तन कर रहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश दीजिए। याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया। अन्त

---

१. न्यायसूत्र ४।१।६१-६२ के वात्स्यायनभाष्य में उद्धृत—

प्राजायत्यामिष्टिं निरुप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥

में याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयि ! पूर्ण उपदेश कर दिया गया है, यही अमृतपद का स्वरूप है । इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया, अर्थात् परिव्राजक हो गये ।

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिमिति—संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इष्टिं निरुप्य) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (अग्नीन् आत्मनि समारोप्य) आहवनीय, गार्हपत्य तथा दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके (ब्राह्मणः गृहात् गच्छेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से संन्यास लेवे ।

जब मोक्षकाम व्यक्ति को सांसारिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब कर्मानुष्ठान के लिए आधान की गयी आह्वनीय आदि अग्नियों का समारोपण उस मोक्षकाम आत्मा में कर लिया जाता है । आत्मा में आह्वनीय आदि अग्नियों के समारोपण की कल्पना का तात्पर्य है—तब बाह्य अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का परित्याग, तथा केवल आत्मज्ञान सम्बन्धी अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना । यह आत्मा में अग्नियों के समारोपण का विधान संन्यास ग्रहण करने के लिए होता है । जब इस प्रकार संन्यास आश्रम का ग्रहण करना सिद्ध है तो अपवर्ग का होना स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि संन्यासग्रहण उसी की प्राप्ति के लिए किया जाता है । वैदिक साहित्य में बताया गया है कि प्राजापत्य इष्टि का सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस होम करने के अनन्तर कर्मकाण्ड साधक आह्वनीय आदि अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्ययुक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण करले ।

न्यायदर्शन के ४।१।६१ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने लिखा है—'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते, तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयते ।' अर्थात् ब्राह्मण में आता है कि 'प्राजापत्यां प्रव्रजेत्' । इससे हम जानते हैं कि सन्तान, धन तथा मान की एषणाओं से ऊपर उठे हुए और जिसको फल की आकांक्षा भी नहीं रही,ऐसे के लिए समारोपण का विधान है । बोधायनधर्मसूत्र २।१०।१८।८ में कहा है—**'तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान आहवनीय उदानसमानो सभ्यावसथ्यौ'**अर्थात् संन्यास का प्राण गार्हपत्य अग्नि अपान अन्वाहार्यपचन अग्नि, व्यान आह्वनीय अग्नि, उदान सभ्य अग्नि और समान आवसथ्य अग्नि है ।

ऐसे प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुक्त हो जाते हैं और कर्मफलों की कामना से दूर हो जाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के आत्मा में अग्नि स्थापना की कल्पना का विधान है ।

इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

'संन्यासी परमेश्वर देवतावाली इष्टि को करके, हृदय में यह सब-कुछ निश्चय करके, उस इष्टि (सर्ववेदस) में शिखा-सूत्र आदि का होम करके, मनस्वी होकर संन्यास ग्रहण करता है, परन्तु यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं । यह अधिकार अल्पविद्यावालों को नहीं है । संन्यासियों का प्राणायाम होम, दोषों से मन तथा इन्द्रियों को रोकना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान ही अग्निहोत्र है, किन्तु पहले तीन आश्रमियों के अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी है, चाहे वह क्रियामय न भी हो तो भी वह सब-कुछ संन्यासियों के लिए नहीं है । सत्योपदेश ही संन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है, ब्रह्म की उपासना करना देवयज्ञ है, विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना

[संन्यासी का विशेष धर्म]

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है ?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित-न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है, परन्तु **संन्यासी का विशेष धर्म** यह कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वेदद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥१॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥२॥

पितृयज्ञ है, अज्ञानियों को ज्ञान देना तथा सब प्राणियों पर उपकार करना, उनपर कृपा करना तथा उन्हें पीड़ा न देना ही भूतयज्ञ है और सब मनुष्यों के उपकारार्थ भ्रमण करना, निरभिमानता, सत्योपदेश करने से सब मनुष्यों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है । संन्यासियों के लिए इस प्रकार के विज्ञान और धर्मानुष्ठानवाले ही पाँच महायज्ञ होते हैं, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु विशेषता यह है कि एक अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त परब्रह्म की उपासना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान करना—यह सब आश्रमियों में समान है ।

यो दत्वा—संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है । ब्राह्मणग्रन्थों में अभयदान की प्रतिज्ञा पुत्रैषणा आदि के परित्याग के समान ही संन्यास की दीक्षा का अंग है—

'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता । मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु' ।

—शत० १४।६।४।१

संसार में सन्तान, धन और यश की प्राप्ति ये तीन इच्छाएँ प्रधान हैं । इन्हीं के वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फँसता है । इनसे मुक्त होकर ही वह संन्यासी बनता है । तब उससे किसी प्राणी को भय नहीं होता और उसे भी भय नहीं होता, क्योंकि—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** । (योगसूत्र २।३५)।

'ब्रह्मवादी संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है'—'ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति' छान्दोग्य प्रपाठक २, खण्ड २३, मन्त्र १ के इस वचन को ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में उद्धृत करके लिखा है—('ब्रह्मसंस्थः) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) मोक्षं (एति) प्राप्नोति' ।

सब आश्रमी, विशेषकर संन्यासी, सबके स्वामी परमेश्वर को वेद के अध्ययन, श्रवण तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने से जानना चाहते हैं—यही 'ब्रह्मसंस्थ' होना है, क्योंकि 'ब्रह्म' पद ईश्वर और वेद दोनों का वाचक है । ब्रह्मचर्य, तप अर्थात् धर्मानुष्ठान, श्रद्धा अर्थात् प्रेम, यज्ञ अर्थात् नाशरहित विज्ञान या धर्म के क्रियाकाण्ड के द्वारा उस परमेश्वर को जानकर ही मुनि होता है । संन्यासी इस यथोक्त परमेश्वर को ही चाहते हुए संन्यास आश्रम को ग्रहण करते हैं । जो इस ब्रह्म की इच्छा करते हुए अत्युत्तम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ विद्वान् तथा दूसरों की शंका निवारण करनेवाले मनुष्य गृहाश्रम की इच्छा नहीं रखते, वे ही ज्ञानप्रकाशयुक्त यह कहते हैं कि हमें प्रजा से कुछ भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि हमें तो परमेश्वर को पाना

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥३॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्[1] ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥५॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥७॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः ॥८॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥९॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१०॥

है । इस प्रकार वे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, जड़-धन की प्राप्ति और उसे प्रयोग में लाने की इच्छा तथा संसार में अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करते है । जिसे पत्रोत्पत्ति की इच्छा होती है, उसे निश्चय ही अपनी प्रतिष्ठा की भी इच्छा होती है । जिसे एक अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा होती है उसे पूर्व की दोनों—पुत्र तथा धन की इच्छा होती है । जिसे परमेश्वर की और मोक्ष की इच्छा होती है उसकी उपर्युक्त तीनों इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं । ब्रह्मानन्दधन के बराबर लोकधन कभी नहीं हो सकता । जिसकी परमेश्वर में संस्थिति=प्रतिष्ठा होती है, उसे और कोई प्रतिष्ठा नहीं रुचती । उसका उद्देश्य केवल परोपकार तथा सत्यप्रवर्त्तन होता है ।

क्लृप्तकेश—इस प्रसंग में ग्रन्थकार के जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है—"सन् १८७३ में बड़ौदा में महर्षि एक दिन क्षौर करवा रहे थे । एक पण्डित ने आकर कहा कि संन्यासियों का धर्म तो त्याग है, आप देह-विभूषा में क्यों लगे हैं ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी है । यह कहकर उसे उपदेश दिया कि देह की रक्षा के लिए उसे संवारना पाप नहीं है ।"

—महर्षि का जीवनचरित्र भा० १, पृ० ३६१

कुसुम्भवान्=संन्यासी के कुसुम्भी या गेरुवे वस्त्र धारण करने का एक लाभ तो यह है कि इससे उसकी स्पष्ट पहचान बनती है । गेरुए रंग में रक्त को शान्त करने और खुजली आदि को दूर करने की शक्ति है । इस विषय में आयुर्वेद का मत है—

---

१. संस्करण २ में 'कुशुम्भवान्' पाठ है ।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥११॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥१२॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१३॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥१४॥

सुवर्णगैरिकं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम् ।
चक्षुष्यं शीतलं बल्यं व्रणरोपणकारकम् ॥
विशदं कान्तिकृत्प्रोक्तं दाहं पित्तं कफं जयेत् ।
हिक्कां रक्तरुजां जूर्तिविषं विस्फोटकं वामिम् ।
अग्निदग्धव्रणं चार्शं रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥

—शालिग्रामनिघण्टुभूषण पृष्ठ ७३१

अर्थ—पीला गेरु स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी, शीतल, बलकारक, व्रणरोपणकर्त्ता, विशद, कान्तिजनक तथा दाह, पित्त, कफ, रक्तविकार, ज्वर, विष, विस्फोटक, वमन,अग्निदाह, व्रण, बवासीर और रक्तपित्त को हरनेवाला है।

गेरु की दो जातियाँ हैं पीली और लाल। इनमें से पीले गेरु के गुण ऊपर दिये हैं। लाल गेरु के गुण इस प्रकार हैं—

गैरिकं द्वितीयं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम् ।
चक्षुष्यं दाहपित्तासृक्कफ हिक्काविषापहम् ॥

—तदेव पृ० ७३२

अर्थ—दूसरे प्रकार का गेरु स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी तथा दाह, पित्त, कफ, हिचकी और विष के हरनेवाला है।

भावप्रकाश में कुसुम्भ के गुण लिखे हैं—**'कुसुम्भं वातलं कृच्छ्रकृमिपित्तकफापहम् ।'** अर्थात् कुसुम्भ वातकर्त्ता तथा मूत्रकृच्छ, रक्तपित्त और कफ नाशक है। इससे स्पष्ट है कि दोनों वस्तुओं का उपयोग रक्तशोधक, नेत्रों के लिए हितकर कफ व पित्त सम्बन्धी रोगों को दूर करनेवाला तथा त्वचा के रोगों से बचानेवाला है।

प्राणायाम—व्याहृति=व्याहृतियाँ सात हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् जिनका ओंकारपूर्वक प्रयोग प्राणायाम में किया जाता है।

धृतिःक्षमा—धर्म के इन दस लक्षणों की व्याख्या कुल्लूकभट्ट ने इस प्रकार की है—संतोषो धृतिः, परेणापकारे कृते तस्य प्रत्युपकाराचरणं क्षमा, विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमनं दम इति सनन्दनवचनात् । शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः । अन्यायेन धनादिग्रहणं स्तेयं

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥१५॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्शनैः शनैः[1] ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥१६॥

—मनु० अ० ६ । ४६, ४८, ४६, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०—७३, ७५, ८०, ६१, ६२,८१ ॥

अर्थ—जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले । सदा वस्त्र से छानके जल पिये । निन्तर सत्य ही बोले । सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥१॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उसपर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥२॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादिवर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे ॥३॥

केश, नख, डाढ़ी, मूँछ का छेदन करवावे । सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ[2] आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके, निश्चितात्मा, सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे, तो भी जिस-किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण धर्म का कारण नहीं है । मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥६॥

क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीसके गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना उसके डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥७॥

इसलिए ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्त व्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे, परन्तु तींन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे । यही संन्यासी का परम तप है ॥८॥

तद्भिन्नमस्तेयं यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं विषयेभ्यश्चक्षुरादिधारणमिन्द्रियनिग्रहः शास्त्रादि-तत्त्वज्ञानं धीः, आत्मज्ञानं विद्या यथार्थसधानं सत्यं क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥

---

१. संस्कार विधि में भी यही पाठ है । मनु० में 'छनैः शनैः' पाठ है ।
२. संस्करण २ में कुशुम्भ पाठ है । संस्कार विधि में शुद्ध पाठ है ।

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते है, वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥६॥

इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से सङ्गदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष-शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥१०॥

इसी ध्यानयोग से, जो अयोगी, अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य, छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको, और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥११॥

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्ष-पद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं ॥१२॥

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह, कांक्षारहित, और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥१३॥

इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से **दशलक्षणयुक्त** निम्नलिखित **धर्म** का सेवन करें ॥१४॥

पहिला लक्षण—(धृतिः) सदा धैर्य रखना । **दूसरा**—(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति, मानापमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना । **तीसरा**—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना, अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे । **चौथा**—(अस्तेय) चोरी-त्याग, अर्थात् विना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना **चोरी**, और उसको छोड़ देना **'साहूकारी'** कहाती है । **पाँचवाँ**—(शौच) राग-द्वेष, पक्षपात छोड़के भीतर, और जल-मृत्तिका-मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी । **छठा**—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना । **सातवाँ**—(धीः) मादकद्रव्य, बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य-प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना । **आठवाँ**—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों का यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना विद्या, इससे विपरीत 'अविद्या' है । **नववाँ**—(सत्य) जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना[1], अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी । तथा **दशवाँ**—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना **धर्म का लक्षण** है । इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित, न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना, और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥१५॥

इसी प्रकार धीरे-धीरे सब सङ्गदोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है । संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के

इससे अगले श्लोक में कहा है—

दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्त्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥

---

१. **'मानस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'** । वृद्धचाणक्य २।६०

व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म-व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदनकर सत्य-धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥१६॥

[संन्यास-ग्रहण का अधिकार]

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है। विना पूर्ण विद्या के, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं। यह मनु का प्रमाण भी है—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत ॥ —मनु० ६।९७

यह मनुजी महाराज कहते हैं कि—'हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहाँ वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप, और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास-धर्म है इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो' ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यास-ग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि का है।

अर्थात्—जो द्विज धर्म के इन दस लक्षणों का अध्ययन-मनन और पालन करते हैं वे परमगति=मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

एष वोऽभिहितः—किन्हीं विद्वानों की मान्यता है कि इस श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द का द्विजमात्र के उपलक्षणरूप में प्रयोग हुआ है, क्योंकि इससे पूर्व ब्राह्मणवर्ण के साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों के धर्मों का उल्लेख हो चुका है। इसलिए ब्राह्मण शब्द से क्षत्रिय और वैश्य का भी ग्रहण होता है और सभी को समान रूप से संन्यास ग्रहण करने का अधिकार स्वतः प्राप्त है। यह ठीक है कि विभिन्न स्थानों पर द्विज, विप्र आदि शब्दों का ब्राह्मण के पर्यायवाची रूप में व्यवहार हुआ है, किन्तु वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों = कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख होने से गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर प्रत्येक की अपनी-अपनी पहचान है। समाज का मुखिया कौन है ? वेद का उत्तर है—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'**। अथर्ववेद ने इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा—'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' (अथर्व० ५।१७।९)—ब्राह्मण ही, न क्षत्रिय और न वैश्य। भगवान् मनु कहते हैं—'**ब्रह्मणस्य चुतर्विधः धर्मः अभिहितः** और अब **'राजधर्मं निबोधत'**। ब्राह्मण का चतुर्विध धर्म बता चुके, अब राजा (क्षत्रिय) का सुनो। ब्राह्मण का धर्म चतुर्विध इसलिए कहा, क्योंकि उसी को चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में प्रवेश का अधिकार है। शेष वानप्रस्थ से आगे नहीं जा सकते।

ग्रन्थकार ने 'ही' और 'भी' के साथ प्रश्न करके और उत्तर में भी 'ही' का प्रयोग करके बिल्कुल असन्दिग्ध शब्दों में अपनी बात कह दी—

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण **ही** का धर्म है वा क्षत्रियादि का **भी** ?

उत्तर—ब्राह्मण **ही** को अधिकार है।

साथ ही अपने मत के पक्ष में हेतु दे दिया—'क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक परोपकार

[संन्यासाश्रम की आवश्यकता]

प्रश्न—संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है[1] ?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि इसके विना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता, परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य-शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है।

यही मत ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में व्यक्त किया है—**'परन्त्वयं पूर्वविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारे भवति'** अर्थात् यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं। संन्यासी का मुख्य कर्त्तव्य अध्यापन तथा उपदेश करना है। जो विद्वान् नहीं वह न अध्यापन कर सकता है, न उपदेश। इसलिए ग्रन्थकार ने 'पुर्णविद्यावताम्' के साथ 'नाल्पविद्यानाम्' का निर्देश भी आवश्यक समझा।

उत्तरोत्तर गौणिक उत्कृष्टता के आधार पर श्रेष्ठता के निदर्शनार्थ मनु ने लिखा है—

> **भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।**
> **बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥**
> **ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।**
> **कृतबुद्धिषु च कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥** —मनु० १।९६-९७

अर्थ—समस्त स्थावर तथा जंगम भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं, प्राणधारी जीवों में बुद्धिजीवी पश्वादि श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणों विशिष्ठ विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विशिष्ट विद्वानों में कर्त्तव्यनिष्ठ बुद्धि अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ हैं, कर्त्तव्यनिष्ठ बुद्धि रखनेवालों में तदनुकूल आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं और आचरण करनेवालों में मोक्ष के अधिकारी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः इस स्तर तक पहुँचनेवाले ब्राह्मण संन्यास के अधिकारी हैं। ऐसे ही आप्त पुरुषों को संन्यास ग्रहण करके उपदेश करने का अधिकार है।

संन्यासग्रहण की आवश्यकता—ग्रन्थकार ने समाज में संन्यासी की तुलना शरीर में सिर से की है। अर्थात् शरीर में जो स्थान सिर का है, वही स्थान समाज में संन्यासी का है। चेतन तत्त्व के बिना जड़ पदार्थों में क्रिया नहीं हो सकती। पाँच भौतिक जड़ शरीर जो कुछ करता है वह चेतन आत्मा की प्रेरणा और उसके सहयोग से करता है। एक देश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों के द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना उसकी इस प्रकार की प्रक्रिया में सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्मरूप में व्याप्त है जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र मस्तिष्क के साथ-जुड़ा रहता

---

१. इस प्रश्न पर सविस्तर विचार न्यायदर्शन के ४।१।५८-६१ के वात्स्यायनभाष्य में भी किया है। भ० द०।

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा, तो उससे सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है, और सब मनुष्य करें, तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जाएगा।

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करनेवाला हुआ। जो तुम कहो कि **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'**[1] यह किसी कवि का वचन है। अर्थ—'जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो, तो इसमें क्या दोष, अर्थात् कोई भी नहीं'। तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें, तो हानि कितनी बड़ी होती है? समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है।

जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा, तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा और सब मनुष्य संन्यास-ग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि सबकी विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदश से धार्मिक मनुष्य होगें, वे सब जानो संन्यासियों के पुत्र-तुल्य हैं।

[क्या संन्यासी कुछ भी कार्य न करें]

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-वस्त्र लेकर आनन्द में रहना। अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना। कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि—'तू भी ब्रह्म है, तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता, क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा-तृषा प्राण और सुख-दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं। इसलिए इसमें फँसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं" इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है। अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें?

है। पैर में काँटा चुभने पर उसकी सूचना ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क को मिलती है, परन्तु इन्द्रियों की भाँति मन-मस्तिष्क सभी जड़ हैं। इसलिए दर्द की अनुभूति चेतन आत्मा को होती है। दर्द होने पर आत्मा की प्रेरणा से हाथ काँटे को निकालने के लिए पैर की तरफ बढ़ता है। आँख काँटे को निकाल नहीं सकती तो रो पड़ती है। इन सब गतिविधियों का केन्द्र मस्तिष्क है जो सिर में स्थित है। जिस प्रकार शरीर का संचालन शिर के द्वारा होता है उसी प्रकार समाज का संचालन ब्राह्मण और ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ संन्यासी द्वारा होता है। वही समाज को ज्ञान देता है और सबको अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता है। जिस प्रकार सिर-मस्तिष्क में विकार आने पर शरीर की क्रियाएँ बिगड़ जाती हैं, उसी प्रकार संन्यासी के न रहने पर समाज कुमार्गगामी हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग में कष्ट होने पर नेत्र रो देते हैं, उसी प्रकार समाज में किसी पर भी आपत्ति आने पर संन्यासी द्रवित हो उठता है।

जहाँ क्रम संन्यास में समाज की सेवा के लिए सामान्यतया २५ वर्ष का समय मिलता है वहाँ ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास की दीक्षा लेने पर प्रायः ७५ वर्ष का समय मिलता है। यह भी सत्य है कि चाहने पर भी अन्य आश्रमी संन्यासी के समान सत्यनिष्ठ, निष्पक्ष एवं निर्भीक नहीं हो सकते। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं

---

१. द्र० —पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४ में उद्धृत श्लोक २१७॥

उत्तर—क्या उसको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं ? देखो—**'वैदिकैश्चैव कर्मभिः'** (६।७५), मनुजी ने वैदिक कर्म जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे ? जो ये कर्म नहीं छूट सकते, तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होगें ? जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं, और उनका प्रत्युपकार नहीं करते, तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ? जैसे आँख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आँख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे ही जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं।

[जीव और ब्रह्म एक नहीं]

जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है वह सब आत्मा ही का, और उसके फल का भोगनेवाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्या-निद्रा में सोते हैं, क्योंकि जीव अल्प[1], अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती, और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्म-मरण-दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता, और जीव प्राप्त होता है। इसलिए वह उनका उपदेश मिथ्या है।

सामाजिक दायित्वों के कारण उन्हें उतना समय भी नहीं मिल सकता।

सबके संन्यास लेने और इस कारण मनुष्यों की संख्या में कमी हो जाने का भय सर्वथा काल्पनिक (hypothetical) है। **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** संन्यास के मार्ग पर चलना क्षुरे या उस्तरे की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है। उसके लिए अर्हता की परीक्षा में विरला ही सफल हो पाता है। तीनों प्रकार की एषणाओं से मुक्त होना और यम-नियमों का पालन करते हुए निष्कलंक जीवन व्यतीत करना असंभव नहीं तो नितान्त कठिन अवश्य है।

जीव और ब्रह्म एक नहीं— इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे सप्तम, नवम तथा एकादश समुल्लासों में किया जाएगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि क्योंकि 'जीव अल्प (एकदेशी) ....जीव प्राप्त होता है' इस प्रकार जीव और ब्रह्म के गुणों में समानता नहीं है, इसलिए वे दोनों एक नहीं हो सकते।

वैदिकैश्चैव कर्मभिः—यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥

—मनु० ६।७५

अर्थ—(अहिंसा) सब भूतों से निर्वैर (इन्द्रिय+असंगैः) इन्द्रियों के विषयों का त्याग (वैदिकैः कर्मभिः) वेदोक्त कर्म और (उग्रैः तपश्चरणैः) अत्युग्र तपश्चरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं।

कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है—'काम्यकर्मता न प्रशस्तेति' अर्थात् संन्यासी के

---

1 अर्थात् एकदेशी।

लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना निषिद्ध है। तृतीय समुल्लास के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने स्वरचित श्लोक में कहा है—'संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः''—जो संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित हैं, वेदविहित कर्मों में पराये उपकार करने में तत्पर रहते हैं, वे नर धन्य हैं। वेद के अनुसार तो ' अकर्मा दस्युः' जो निष्क्रिय है वह दस्यु है और समाज पर भाररूप है। आगे एकादश समुल्लास में लिखा है—''धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह संन्यास आश्रम है।'' संन्यासी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अनेकत्र उनके परोपकार में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया है—

"संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। पंचाशिख और शंकराचार्य का जीवन देखो। उन्हों ने सदा सदुपदेश ही किये हैं।''

'उपदेश कर अधर्म की निवृत्ति करना यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। .... मूढ़ लोग जनपद में दुराचार करके किसी आपत्ति में पड़ेंगे, सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।''

पूना में प्रवचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—'संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थ आदि आश्रमों को सब प्रकार से व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों को छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्यधर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें। .... संसार को एक ओर रखके अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे, वह संन्यास है। गृहस्थियों को इन सब कार्यों को करने का समय नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है, बस यही मुख्य भेद है।''

''जो संन्यारी विद्याहीन, दण्ड-कमण्डलु ले भिक्षामात्र करते फिरते हैं, जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते, छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते हैं और विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं, वे संन्यासी इधर-उधर, जल-स्थल, पाषाण आदि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते फिरते या विद्या जानकर भी मौन रहते, एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष में फँसकर निन्दा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते और सर्वोत्कृष्ट जानकर उत्तम कर्म नहीं करते, वैसे संन्यासी भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।''

—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ २१३

सन् १८७८ में प्रयाग में कुम्भ मेले में निष्क्रिय साधुओं को देखकर ग्रन्थकार ने कहा था—''परोपकार के बिना नर-जीवन मृगजीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस मेले में आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जंगल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है ? मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है ? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही उपलब्ध है।''

उसी वर्ष अमृतसर में उन्होंने निर्मले साधुओं से कहा था—"सहस्रों भारतवासी पेट-भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे कुत्ते-बिल्ली की मौत मरते रहते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ाधड़ लोहेशाही और तूंबेशाही की क्या आवश्यकता है ? इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।''

—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ ३५६

[संन्यास-सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण]

प्रश्न—'संन्यासी सर्वकर्म-विनाशी' और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते —यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं । **'सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन्, यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी'** जो ब्रह्म और [उसकी आज्ञा में नित्य सम्यक् उपविष्ट अर्थात् स्थित होना, वह संन्यास, और[1]] जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाए, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह 'संन्यासी' कहाता है । इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला 'संन्यासी' कहाता है ।

[संन्यासी का होना आवश्यक है]

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें, परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों को नहीं । हाँ जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश किया और पढ़ाया करें । जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता । जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करे, तब उनका नियन्ता संन्यासी ही होता है, इसलिए संन्यास का होना उचित है ।

संन्यासी के लिए परोपकार कर्म को ग्रन्थकार कितना महत्त्व देते थे, यह उनके जीवन की एक घटना से पता चलता है । "सन् १८६८ में सोरों में एक दिन गंगाघाट पर एक साधु कमण्डलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था । वह था एक घुटा हुआ मायावादी । दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामीजी वहाँ जा पहुँचे । उसने स्वामीजी को सम्बोधन करके कहा—'इतने परमहंस, अवधूत होके आप खण्डन-मण्डनरूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो ? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते ?' महर्षि मुस्कराकर बोले—'हम तो यह सब करके भी निर्लेप हैं । अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित होकर सब ही को करनी उचित है ।' साधुजी ने कहा—प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो ? आत्मा से प्रेम करो जिसके लिए कि श्रुति पुकार रही है ।' उस समय उसने याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के भी वाक्य बोले । तब स्वामीजी ने पूछा—'महात्मन् ! आप किससे प्रेम करते हैं ?' साधु बोला—आत्मा से । स्वामीजी ने पूछा-वह प्रेममय आत्मा कहाँ है ? साधु ने कहा—वह राजा से लेकर रंक-पर्यन्त और हस्ती से लेकर कीटपर्यन्त ऊँच-नीच में सर्वत्र परिपूर्ण है । स्वामीजी बोले—जो आत्मा सबमें रमा हुआ है, क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं ? साधु ने उत्तर दिया—तो क्या हम मिथ्या वचन बोलते हैं ? तत्पश्चात् स्वामीजी ने गम्भीरता से कहा—'नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते । आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्ज्वल करने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है । क्या आपने कभी उन बन्धुओं की भी चिन्ता की है जो लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन, कारहों

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४-३५ में 'उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित, और जिससे दुष्टकर्मों का त्याग किया जाए वह संन्यास और इस प्रकार कुछ आगे पीछे हैं । संस्करण २ में सम्भवतः आद्यन्त में 'और' शब्द के पाठ से लेखक-प्रमाद से प्रेस-कापी में, अथवा संशोधक के दृष्टिदोष को मुद्रण में छूट गया होगा । अतएव संस्करण २ से ३३ तक नहीं मिलता है ।

[जन-लाभार्थ संन्यासी एकत्र अधिक भी ठहरे]

प्रश्न—**'एकरात्रिं वसेद् ग्रामे'** इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एक रात्रिमात्र रहना, अधिक निवास न करना चाहिए।

उत्तर—यह बात थोड़े-से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानविशेष का अभिमान भी होता है, राग-द्वेष भी अधिक होता है, परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहाँ चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आज-कल के पाखण्डी, सम्प्रदायियों ने बनाई है, क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा, तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

महीने, भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो रहे हैं ? उनके तन पर गले-सड़े, मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों दीन-हीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भाँति गन्दे कीचड़ और कूड़ों के ढेरों से घिरे हुए गले-सड़े झोंपड़ों में दिन काट रहे हैं। महात्मन् ! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करते हैं तो अपने अंगों की भाँति उन्हें भी अपनाना होगा। अपनी भूख-प्यास की तरह उनकी भूख-प्यास की भी चिन्ता करनी होगी। भगवान् का सच्चा प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। यह सुनकर वह साधु स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ा।" इस प्रकार महर्षि के मत में संन्यासी का जीवन मानवता की सेवा के लिए होता है। वह घर-परिवार की देश-परदेश की सीमाओं को लाँघकर जन-जन की सेवा में प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति ख़ाली कैसे बैठ सकता है ?

एकरात्रिम्—यह नारदपरिव्राजकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के १४वें श्लोक का अंश है। इतना श्लोकांश अनेकत्र (गौतमधर्मसूत्र ३।११; संन्यासोपनिषद् अध्याय १; परमहंसपरिव्राजोपनिषद् आदि) में भी उपलब्ध है। 'एकरात्र' के स्थान में यहाँ 'एकरात्रि' पाठ में **'विभाषा समासान्तो भवति'** अथवा समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा से समासान्त 'टच्' का प्रभाव मानना चाहिए।

पूरा पाठ इस प्रकार है—

'एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्'। —नारदपरिव्राजक
एकरात्रं वसेद् ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ॥ —नारदपरिव्राजक० ४।२०-२१
ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं चतुरो मासान्वार्षिकान् वा नगरे वापि वसेत्।
—संन्यास० प्र० १

ग्राम एकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रम्।—परमहंस०

यहाँ सर्वत्र 'पत्तन' से क़स्बे का ग्रहण होता है और 'पुर' से महानगर (जिसका विस्तार एक कोस से कम न हो) का। 'वर्षास्वेकत्र संवसेत्' इसमें सबमें एक मत हैं।

कालावधि में भिन्नता का कोई नियामक सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता। वर्षा-सम्बन्धी निर्देश निर्विवाद है। सिद्धान्ततः परिव्राजक (परितः व्रजतीति परिव्राजकः) की गतिविधियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। वह स्वेच्छाचारी है—अपना कार्यक्रम बनाने में सर्वथा स्वतन्त्र। प्रकृत्त विषय में ग्रन्थकार का निर्देश सर्वथा संगत, तर्कप्रतिष्ठित तथा व्यवहार्य है। ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट

[संन्यासी को धनादि देना]

प्रश्न— **यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।**
चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत् ॥

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे, तो दाता नरक को प्राप्त होवे ।

स्थानविशेष के अभिमान तथा कालान्तर में राग-द्वेष की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । इसका संकेत नारदपरिव्राजकोपनिषद् (४।१५-१६) में किया है । तद्यथा—

द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥

यह कोई सार्वभौम अथवा सार्वकालिक सिद्धान्त नहीं है । देश-काल-पात्र के अनुसार इसका ग्रहण किया जा सकता है ।

संन्यास के प्रसंग में मनुस्मृति का एक अन्य श्लोक विवेच्य है—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ —मनु० ६।४३

संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

वह संन्यासी (अनग्निः) आह्वनीय आदि अग्नियों से रहित (अनिकेतः) स्वाभिमत घर के बिना (अन्नार्थं ग्रामाश्रयेत्) अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे । (उपेक्षकः) दुर्जनों की उपेक्षा करता हुआ (असंकुसुकः) स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमहितः) परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ (स्यात्) विचरे ।

श्लोक में आये 'अनग्निः' शब्द पर **टिप्पणी करते हुए** ग्रन्थकार ने इस प्रकार टिप्पणी दी है—

"इसी पद से भ्रान्ति में पड़कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते । यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहाँ आह्वनीय आदि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ।"

—संन्यासविधिः

संन्यासविधि—पूना में किये गये चौथे प्रवचन में ग्रन्थकार ने कहा था—"संन्यासी को आग को न छूना चाहिए, ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ेंगे, क्योंकि वह तो उनमें बना ही रहेगा । आधुनिक 'विश्वेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है ।"

अनिकेतो गृहशून्यः, असंकुसुकः स्थिरमतिः; मुनिर्ब्रह्ममननात् ।

कुल्लूकभट्ट

अज्ञानी लोग संन्यासियों के शव को धरती में समाधिस्थ कर देते हैं अथवा जल में प्रवाहित कर देते हैं । 'भस्मान्त ँ शरीरम्' (यजुर्वेद) के अनुसार शरीर को (चाहे किसी का हो) चिता में भस्म करना ही शास्त्रानुमोदित तथा विज्ञानसम्मत है ।

अनिकेतः—आत्मजिज्ञासु संन्यासी के लिए निवास के लिए किसी स्थान विशेष को अपना मानना उसमें

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी, सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धुवाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा, तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे, और हमारी हानि होगी, तथा वे हमारे अधीन भी न रहेंगे और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे अधीन रहेगा, तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं, तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्। —मनु० ११।६

नाना प्रकार के रत्न, सुवर्णादि धन 'विविक्त' अर्थात् संन्यासियों को देवें।

और वह श्लोक भी अनर्थक है, क्योंकि संन्यासियों को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे, तो चाँदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जाएगा।

प्रश्न—यह पण्डितजी इसका पाठ बोलते भूल गये। यह ऐसा है कि—**'यतिहस्ते धनं दद्यात्'** अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है।

उत्तर—यह भी वचन किसी अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है, क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाए, तो पग पर धरने वा गठरी बाँधकर देने से स्वर्ग को जाएगा। इसलिए ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हाँ, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा, तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जाएगा, परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करेगा, न मोह में फँसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम मे अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है, और जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी नहीं फँसता।

मोह का उत्पादक बन जाता है। उसे तो जहाँ स्थान मिले वहीं निवास कर लेना चाहिए। सांख्य- दर्शन का एक सूत्र है—**'अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्'** (सां० ४।१२) साँप अपने रहने के लिए कोई स्थान नहीं बनाता। घूमता-फिरता रहता है। जहाँ अवसर पाता है, वहीं दूसरे के बनाये स्थान (बिल) में घुस पैठ कर अपना नियत समय निकाल देता है। अपने लिए मकान या मठ खड़ा करने की प्रवृत्ति संन्यासी को संसारी के स्थान पर ला पटकती है। फिर संन्यासी में और संसारी में कोई अन्तर नहीं रहता।

यतीनां काञ्चनं—लघुपाराशरी में पाठ इस प्रकार है—

यतये काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥ —१।६०

अर्थात् संन्यासी को सुवर्ण आदिक धन का दान करने, ब्रह्मचारी को ताम्बूल पान देने और चोरों को अभयदान देने से दाता भी नकर को प्राप्त होता है।

विविधानि च रत्नानि—आजकल मनु० ११।६ में यह श्लोक इस प्रकार मिलता है—

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥

'विविक्तेषूपपादयेत्' इस प्रमाण से ग्रन्थकार ने दो बातों की सिद्धि की है—

(१) 'विविक्त' शब्द से संन्यासी का ग्रहण होता है।

(२) संन्यासी को धन देना अनुचित नहीं है।

[क्या श्राद्ध में संन्यासी का आना हानिकर है ?]

प्रश्न—लोग कहते है कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे, तो उसके पितर भाग जाएँ और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना, और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचना ही असम्भव है, और वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है और जब आते ही नहीं, तो भाग कौन जाएँगे ? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं, तो उनका आना कैसे हो सकता है ? इसलिए यह भी बात पेटार्थी, पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हाँ, यह तो ठीक है कि जहाँ संन्यासी जाएँगे, वहाँ यह मृतकश्राद्ध करना वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जाएगा।

प्रस्तुत श्लोक में आये 'विविक्त' शब्द का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने अपनी 'मन्वर्थमुक्तावली' व्याख्या में इस प्रकार किया है—'पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु' अर्थात् पुत्र, पौत्र, कलत्र आदि में जिनकी आसक्ति नहीं उनमें। यहाँ प्रकारान्तर से, किन्तु स्पष्टतः, 'विविक्त' पद से संन्यासी का ग्रहण किया है। किसी गृहस्थ के विषय में इस प्रकार की अनासक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। सन् १८२५ में हाटन ने बड़े परिश्रम से लन्दन में मनुस्मृति का प्रकाशन कराया और उसपर अंग्रेजी में टीका स्वयं लिखी। उस टीका में 'विविक्त' पद पर अपनी टीका में उन्होंने लिखा—'Detached from the world' अर्थात् सांसारिक व्यवहार से उपरत=असक्त। यह गुण संन्यासी में ही घट सकता है। श्री हाटन का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—'Let every man, according to his ability, give wealth to Brahmanas, learned in scriptures detached from the world. Such a giver shall attain heaven after death.' संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों व्याख्याओं से 'विविक्त' का संन्यासी अर्थ ही प्रसंगतः युक्तियुक्त है। श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि ऐसे संन्यासियों को धन देनां विहित ही नहीं, उचित भी है।

संवत् १९६२ (सन् १८३५) में छपी मनुस्मृति तथा कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका सम्पादन-संशोधन काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापक पं० नेने गोपालशास्त्री ने किया था। उसमें परिशिष्ट के रूप मे उन सैकड़ों श्लोकों की सूची दी गयी है जो मनु के नाम से अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु वर्त्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति में नहीं मिलते। साथ ही अनेक ऐसे श्लोकों का भी पता दिया है जिनमें पाठ भेद है। इस प्रकार समय-समय पर मनुस्मृति में श्लोक मिलाये भी जाते रहे हैं और निकाले भी जाते रहे हैं। बम्बई, कलकत्ता और अन्यत्र प्रकाशित मनु के विभिन्न संस्करणों के श्लोकों में भी न्यूनाधिक्य है। ऊपर दिये ११।६ श्लोक के विषय में उक्त हाटन के अनुसार यह श्लोक कलकत्ता संस्करण में है, बम्बई संस्करण में नहीं—'Only to be found in the Calcutta edition. It is not in the Bombay copy.' इतना ही नहीं वह क्षुब्ध होकर लिखता है कि क्या हम यह परिणाम निकालें कि यह एक पवित्र धोखा है—'Are we to conclude it is a pious fraud.'

कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ 'विविक्त' पद से ब्राह्मण का ग्रहण करना चाहिए, संन्यासी का नहीं। इस कल्पना का प्रत्याख्यान विवेच्य श्लोक से पहले (११।४) आये श्लोक से हो जाता है जो इस प्रकार है—

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥

इसमें स्पष्ट कह दिया है कि यज्ञ करानेवाले वेद के विद्वान् ब्राह्मणों को राजा यथायोग्य सब प्रकार

[ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने का अधिकारी]

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा, उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, इसलिए गृहाश्रम, वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाए, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे, परन्तु जो रोक सके, वह क्यों न लेवे ? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-संरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिए होती है, वैसी नीरोगी के लिए नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री का विद्या, धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे, जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियाँ हुई थीं। इसलिए संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा, तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा।

[सम्राट् और परिव्राट् की तुलना]

जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है—

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

—यह चाणक्यनीतिशास्त्र का श्लोक है।

विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती, क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है, और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

के रत्न देवे। इस श्लोक में गृहस्थ ब्राह्मणों को दिये जानेवाले धन का निर्देश कर दिया गया, अतः इसके आगे ११।६ में परिशेषन्याय से संन्यासियों की ही दक्षिणा का विधान किया गया है।

यदि यह आग्रह हो कि आजकल के उपलभ्यन पाठ में 'विप्राः' पद है जिसका अर्थ ब्राह्मण है तो हमारा यह कहना है कि ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय (ब्राह्मण संन्यास लेने पर भी ब्राह्मण बना रहता है) से 'विविक्तेषु' विशेषण के बल से 'विप्राः' शब्द का अर्थ 'संन्यासिनः' ही होगा। दूसरे, जिस आधार पर शंकराचार्य आदि मठाधीशों एवं अभ्यागत साधुओं को धनादि का दान किया जाता है, उसी आधार पर संन्यासी दान के पात्र क्यों नहीं ?

कुछ लोगों की मान्यता है कि संन्यासी को धातु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने इसका उत्तर बड़े विनोदपूर्ण ढंग से दिया है। उन्होंने लिखा है—"धातुओं के स्पर्श के बिना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। 'भू' आदि धातुओं का स्पर्श भाषा वा संस्कृत बोलने में अवश्य ही करेगा और वीर्यादि सात धातुओं का भी स्पर्श निश्चित होगा। और सुवर्णादिक जितनी भी धातु हैं उनका भी स्पर्श होगा।" मुण्डन कराने में उस्तरे के रूप में भी धातु का स्पर्श बना रहेगा।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—संस्कारविधि में इसकी व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"यह भी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबका उपकार

[चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का संक्षेप से कथन]

इसलिए विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने, और बलवान् होने आदि के लिए **ब्रह्मचर्य;** सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ **गृहस्थ;** विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिए **वानप्रस्थ;** और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट-व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश, और सबको निःसन्देह करने आदि के लिए **संन्यासाश्रम** है, परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्का-समाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन, और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।

[वैरागी, गुसाईं खाखी आदि संन्यासी नहीं]

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाईं, खाखी आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जाएँगे वा नहीं ?

करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़-निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का पालन कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्य को पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।''

इस विषय में प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा था—'जिसको भोजन करने की इच्छा न होय उसको कोई बल से कहे कि तू अवश्य भोजन कर, तो वह बिना क्षुधा के भोजन कैसे करेगा ? किन्तु कभी न करेगा। ऐसे ही जिसको विषयभोग और संसार के व्यवहारों की इच्छा नहीं, वह विवाह और संसार के व्यवहार कैसे करेगा ? कभी न करेगा। संसार के जनों से कुछ प्रयोजन न होने से सबके मुख पर सत्य ही कहेगा।' इस वास्ते जिस पुरुष को विद्या, ज्ञान, वैराग्य, पूर्ण जितेन्द्रियता होय और विषय-भोग की इच्छा न होय उसको संन्यास लेना उचित है।"

नरसिंहपुराण (५८।३७) में लिखा है-

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं गिरा ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥

अर्थात् जिसके जिह्वा, उपस्थ, उदर, वाणी सुरक्षित हैं—वश में है वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण विवाह न करके संन्यास ले ले। पूना में प्रवचन (४) करते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—"जिस पुरुष को विषयसक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी नहीं तो उसे नया संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं। वह तो बना-बनाया संन्यासी है।''

इसी प्रवचन में उन्होंने कहा था— [इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म—अत्याचार हो रहे हैं, अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए। एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहे इत्यादि प्रतिबन्ध हैं।

पाप का नाश केवल दण्ड से नहीं किया जा सकता। लोगों की वृत्तियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना आवश्यक है। धर्मोपदेश द्वारा यह काम संन्यासी करता है। पाप का निवारण करना राजा का कर्त्तव्य है। इस काम में राजा संन्यासियों की सहायता लेता है। इसलिए धर्मोपदेश के लिए संन्यासियों के विचरण तथा योगक्षेम की समुचित व्यवस्था करना राजा का दायित्व है। इस दायित्व को राजा अपने ऊपर लेगा तो यह देखना भी उसका कर्त्तव्य होगा कि संन्यासी के रूप में विचरण करनेवाले उपयुक्त प्रकार के धर्मोपदेशक हैं या नहीं। ऐसी अवस्था में संन्यास ग्रहण करनेवालों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते, और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या-प्रपञ्च में फँसकर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को अपने-अपने मत में फँसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले में संसार को बहकाकर अधोगति को प्राप्त कराते, और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिए इसको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते, किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं, वे ही धर्मात्माजन संन्यासी और महात्मा हैं।

यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी। अब इसके आगे 'राजप्रजाधर्म-विषय' लिखा जाएगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषा-

विभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये पञ्चमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥५॥

करनी होगी। संन्यास के लिए स्वीकृति देने से पूर्व राज्याधिकारी देखेंगे कि प्रार्थी ने पहले आश्रमों में अपने कर्त्तव्यों का यथावत् पालन किया है या नहीं। और संन्यासी के लिए अपेक्षित ज्ञान और तदनुकूल आचरण उसका हैं या नहीं। सब प्रकार से पात्र सिद्ध होने पर ही राज्याधिकारी उसे संन्यासी बनने की अनुमति प्रदान करेंगे। कालान्तर में संन्यासाश्रम की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला दण्डनीय होगा। प्राचीन काल में ऐसी व्यवस्था रही है। उदाहरणार्थ—चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति संन्यास लेना चाहे उसे इसके लिए राज्याधिकारियों से स्वीकृति लेनी होगी—

पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वःसाहसदण्डः ॥३६॥ स्त्रियं च प्रव्राजयतः ॥३७॥ लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान् ॥३८॥ —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१।१६

कुपात्रो को दान न देवे सुपात्रो को देवे.

ACCEPTED HERE

Scan & Pay Using PhonePe App

आपके दान की हमे अत्यंत आवश्यकता हे.